THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186397

UNIVERSAL
LIBRARY

लेखक

जयराम सिंह

किताब महल प्रकाशन

इलाहाबाद, बम्बई, देहली

१९५७

प्रथम संस्करण १९५७

मुद्रक—सरयू प्रसाद पाण्डेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।
प्रकाशक—किताब महल प्रकाशन, ५६ ए जीरो रोड, इलाहाबाद

विषय सूची

विषय			पृष्ठ
१. फलोत्पादन और उसका महत्व	.....	.....	१
२. फलोत्पादन विज्ञान का इतिहास	.....	.....	६
३. बाग की योजना	....	...	१८
४. पौधों का वानस्पतिक प्रजनन	.....	.....	२७
५. वृक्षारोपण	...	.....	४२
६. उद्यान की भूमि का प्रबन्ध	.....	.....	५०
७. उद्यान की सिंचाई और खाद	...	.....	५४
८. पौधों की छँटाई (Pruning)	.....	.....	६२
९. प्रतिकूल दशाओं से उद्यान की सुरक्षा	...	.....	७३
१०. फलों की तोड़ाई और उनका विक्रय	....	.....	८०
११. उद्यान का स्वास्थ्य	...	...	९०
१२. फल की वस्तुएँ	.....	.....	१०१
१३. फलन की समस्या	.....	.....	१११
१४. आम	...	...	११९
१५. नीबू जाति के फल (Citrous Fruits)	.....	.....	२०८
१६. केला (Banana)	...	...	२७८
१७. अमरूद (Pridium Guayaval)	...	...	३१०
१८. पपीता	...	...	३२८
१९. लीची (Litch-ilitchi thinenesis)	...	...	३५१
२०. खजूर (Date)	...	...	३५७
२१. अनार (Pomagranate punica granatum)		...	३६४
२२. अंगूर (Vitis vinifera)	...	...	३७६
२३. अंजीर (Fig Ficus Carica)	.....	.....	४१०
२४. शरीफा या सीताफल (Cuslar Apples)	...	.....	४२०
२५. अनानास (Pine apple)	.....	.....	४२४
२६. बेर	.....	...	४२९
२७. सपोता या चीकू	...	.....	४३७
२८. लोकाट (Loquat Eriobotria Japonica)		.....	४४६
२९. शीतोष्ण कटिबन्धीय कुछ अन्य फल	...	.....	४५०
३०. सेव (Apple)	.....	...	४५८

अध्याय १

फलोत्पादन और उसका महत्व

हमारे देश में फलों की खेती बहुत प्राचीन काल से होती आ रही है किन्तु पिछले दिनों इसका वह महत्व नहीं था जो आज है। और न तो उन दिनों का फल-व्यवसाय ही आज की भाँति विकसित था। फलों की कृषि में पिछले २५ वर्षों से यथेष्ट प्रगति होने लगी है। सन् १९३० ई० में हमारे देश के कई राज्यों में अनेक फल-अनुसन्धान केन्द्रों की स्थापना हुई। इन केन्द्रों पर आज भी अनुसन्धान जारी है जिनके फलस्वरूप फल-व्यवसाय में दिन-प्रति-दिन प्रगति ही होती जा रही है। फल-अनुसन्धान केन्द्रों में आज कोदूर केन्द्र, मद्रास, पूना केन्द्र, सबौर केन्द्र, बिहार तथा सहारनपुर केन्द्र, उत्तर प्रदेश अधिक उत्साह के साथ फल-व्यवसाय की ओर प्रयत्न-शील हैं। इनके अतिरिक्त अनेक विद्यालय, विश्वविद्यालय और राज्य सरकारें भी फलोत्पादन की प्रगति में उद्योग कर रही हैं। लोगों की प्रवृत्ति भी इधर मुड़ रही है और वे इस ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ कर रहे हैं। लोगों की फलोत्पादन-कला ग्रहण करने की यह प्रवृत्ति जीवकोपार्जन अथवा अपने परिश्रम तथा भूमि से अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से ही नहीं बढ़ रही है अपितु वे इस कला से ऐसी बहुमूल्य वस्तु प्राप्त कर रहे हैं जिसका मूल्य पैसों में नहीं आँका जा सकता। यह तो निश्चित है कि मनुष्य का जीवन केवल कृषि की उपज पर निर्भर नहीं रह सकता। उसके भोजन में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, चर्बी, नमक तथा विटामिन की उचित परिमाण में उपस्थिति अत्यधिक आवश्यक है। बिना इनके उसका भोजन सन्तुलित भोजन हो ही नहीं सकता और न उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का भरण-पोषण ही पूर्णरूपेण हो सकता है। सन्तुलित भोजन में किसी आवश्यक तत्व का थोड़ा भी अभाव रोग का कारण होता है। अतः इन्हें उचित रूप से ग्रहण करना स्वास्थ्य के लिये हितकर है। सन्तुलित भोजन में फलों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें कई विटामिन पाये जाते हैं जिनसे अस्वस्थता दूर हो जाती है। इसी कारण इन्हें संरक्षक भोजन के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। सन्तरे तथा नीबू के फल में विटामिन C अधिक परिमाण में उपलब्ध होता है। किन्तु यह आँवले और अमरूद में नीबू जाति के फलों की अपेक्षा अधिक परिमाण में उपस्थित होता है। इनके अतिरिक्त आम, पपीता, स्ट्राबेरी, पाइनएपिल, जामुन, शरीफा और कैश्यूएपिल भी विटामिन C के अच्छे साधन हैं। किन्तु इन सभी फलों में विटामिन की

मात्रा समान नहीं होती, किसी में अधिक होती है तो किसी में कम। आम के फल में विटामिन A बनाने वाले केरोटिन (Carotene) और अन्य पिगमेंट (pigment) पाये जाते हैं। किन्तु पपीते में इनकी मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है और सन्तरे में तो और भी कम। सन्तरे तथा केले में थ्यामिन (Thiamin B) उपस्थित होता है।

बहुत से फल स्टार्च या चीनी के अच्छे साधन है। इनमें सेलुलोज की भी अधिक मात्रा पाई जाती है जो भोजन को गरिष्ठ बनाते हैं। फल नमक के अच्छे साधन हैं जो शरीर में दाँतों और हड्डियों के निर्माण के लिए बहुत आवश्यक है। इसकी आवश्यकता विशेषकर बच्चों को अधिक होती है। फलों में प्रोटीन की बहुत कम मात्रा उपलब्ध होती है। फलों में पेक्टिन (Pectin) उपस्थित होता है जिसके देने से अतड़ियाँ तीव्र गति से कार्य करने लगती हैं। फलों से चर्बी की मात्रा प्राप्त हो सकती है। चर्बी देने वाले फलों में जैतून, नारियल तथा एवोकेडो अधिक मुख्य हैं। कुछ खट्टे फल भोजन में क्षार प्रतिक्रिया करते हैं तथा उसके पाचन में सहायता करते हैं। इनके खाने से दाँत ताजे हो जाते हैं। बहुत से फलों का औषधियों में अधिक महत्व है। इन समस्त बातों के अतिरिक्त बहुत से फल इस कोटि के होते हैं कि उनका स्वाद इतना आनन्ददायक और रुचिकर होता है कि उन्हें देखते ही जी ललचा उठता है।

भोजन के दृष्टिकोण से फल का जितना महत्व है, उससे इसका आर्थिक महत्व भी कम नहीं है। जिन देशों में अधिक उपज होती है वहाँ इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय होता है और उन देशों के लिये यह लाभ का उत्तम स्रोत है। संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्यात में फलों का स्थान अग्रगण्य है। वहाँ इतने परिमाण में अन्य कोई भी वस्तु नहीं निर्यात होती है। जापान, ब्राजील, दक्षिणी अफ्रीका, इटली, स्पेन और आस्ट्रेलिया में भी फल-व्यवसाय काफी उन्नत है और इससे वहाँ अधिक परिमाण में लाभ प्राप्त किया जाता है। उन्नत फल-व्यवसाय वाले देशों में फल-पदार्थ तैयार करने के अनेक उद्योग-धन्धे खुल गये हैं। वहाँ इससे जैम, जेली, सिरका, मुरब्बा, अँचार, चटनी, कैंडी, रस, शर्बत आदि उपयोगी पदार्थ तैयार किये जाते हैं। इन पदार्थों के तैयार करने में दो लाभ होते हैं, प्रथम तो इनसे अधिक लाभ प्राप्त होता है क्योंकि विश्व के बाजार में इनकी माँग अधिक है और दूसरे इन्हें बनाने के उद्योग में कितने ही लोग लगे हुए हैं और जीविकोपार्जन कर रहे हैं।

फल-व्यवसाय के लाभ का उल्लेख करते हुए के०सी० नायक ने कहा है कि "केवल मद्रास प्रदेश पर ही विचार करने पर विदित होता है कि उस प्रदेश में कृषि के पूर्ण क्षेत्रफल के केवल १.१% क्षेत्र में ही फलों की खेती होती है। दूसरी ओर प्रदेश की सम्पूर्ण कृषि से कुल आय का अनुमान ३५० करोड़ रुपये लगाया गया है, जिसमें फलों

से प्राप्त आय २१७० लाख रुपये है जो फसलों द्वारा प्राप्त आय का ७·४% है। इससे ज्ञात होता है कि फलों के उपज की आय अन्य फसलों से ६ या ७ गुनी अधिक होती है। दक्षिण-भारत के कुछ उद्यानों से प्रति वर्ष प्रति एकड़ १०,००० रुपये प्राप्त करना असम्भव नहीं है।" इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छोटे क्षेत्र पर फसलें उगाने की अपेक्षा फलों के उद्यान अधिक लाभकर सिद्ध होंगे। पपीते की खेती से ४वर्षों में ३ फसलें सरलतापूर्वक ली जाती हैं और इलाहाबाद में प्रत्येक फसल से लगभग ४,००० रुपये प्रति एकड़ वृक्ष पर की बिक्री से प्राप्त किये गये हैं। यद्यपि यह आय नायक के आँकड़े से अधिक कम है तथापि बाजार की स्थिति ठीक होने पर इससे अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। सभी उद्यान समान मात्रा में आय नहीं प्रदान करते अपितु वे उनमें से ही अधिक लाभ देते हैं जिनके उगाने में वैज्ञानिक विधियों तथा अन्यान्य आवश्यक सावधानियों का उपयोग किया गया है। अन्य उद्यान भी उस स्थिति में अधिक लाभकर सिद्ध हो सकते हैं जब कि उन्हें उगाने में अधिक वैज्ञानिक विधियों का आश्रय लिया जाय।

फलों की खेती उपज के आधार पर भी अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक उपादेय सिद्ध होती है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि यदि समान उर्वर क्षेत्र में फसलें और फल उगाये जायँ तो अपेक्षाकृत फल अधिक उपज देता है। नायक के अनुसार जिस उर्वर भूमि से प्रतिवर्ष प्रति एकड़ धान की ८००० पौंड मिलती है उससे केला की उपज २०,००० पौंड ली जा सकती है। केला की भाँति आम, पपीता, कटहल आदि के उद्यानों से भी अच्छी आय प्राप्त की जा सकती है। घनी जनसंख्या वाली भूमि में थोड़े से क्षेत्र में भी उद्यान लगाने पर अपनी आवश्यकतानुसार फल प्राप्त किये जा सकते हैं। लाभ के अतिरिक्त इनसे स्वास्थ्यकर आहार भी प्राप्त किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में यह ज्ञात किया गया था कि भारतवर्ष की फलों की उपज यहाँ के लोगों के लिये ही पर्याप्त नहीं होती। तत्पश्चात् अधिक अन्न उपजाओ और वन महोत्सव आन्दोलनों का श्रीगणेश किया गया जिनसे अधिक फल लगाने के क्षेत्र में अधिक उत्साह प्रदर्शित किया गया। आज भी ये आन्दोलन काफी सफलतापूर्वक चल रहे हैं। किन्तु इनकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

शरीर की वृद्धि के लिये आहार से प्राप्त ताप और शक्ति अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनकी नाप कैलोरी में की जाती है। एक अमेरिकन विशेषज्ञ के अनुसार एक व्यक्ति के लिए प्रति वर्ष १,४००,००० कैलोरी आहार की आवश्यकता होती है। इस आधार पर फसलों के दाने अच्छे साधन समझे जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए १.४५ एकड़ गेहूँ का खेत .५ एकड़ आम या .०६ केला पर्याप्त होता है। इस प्रकार एक व्यक्ति को अपने आहार के लिए जहाँ लगभग १½ एकड़ गेहूँ उगाना पड़ रहा है वहाँ ½ एकड़

आम काफी होगा। आम गेहूँ की अपेक्षा २.६ गुनी आहार-शक्तिप्रति एकड़ क्षेत्र अधिक प्रदान करता है। कुछ फसलों की प्रति एकड़ कैलोरी संख्या का उल्लेख करते हुए डब्ल्यू० बी० हेज ने निम्नलिखित सारिणी दी है :—

फसलें	प्रति औंस कैलोरी	उपज प्रति एकड़ कैलोरी	विवरण
गेहूँ	६८	६६० पौं० १०,३४,८८०	भारत का औसत
केला	४२	१० टन १५,०५२,८००	,,
		५.४ टन ८,१२८,५१२	दक्षिण भारत
अमरूद	१६	२.२ टन १,५११,५३२	भारत
		२३.०४८ पौं० ७,००६,५६२	इलाहाबाद
आम	१४.१६	५ टन २,६८८,०००	भारत
		३.४ टन १,८२७,८४०	मद्रास
पपीता	११	४८ टन १८,६२३,५२०	अधिक त्रिनिदाद
		३०,००० पौं० ५,२८०,०००	अनुमान मद्रास
		६०,००० पौं० १०,५६०,०००	

बहुत सी फसलें ऐसी होती हैं जिन्हें कुछ ही महीनों में तैयार कर लिया जाता है और वर्ष के शेष माह खाली बीतते हैं। फलों की खेती में ऐसी बात नहीं होती। यदि उद्यान में विभिन्न जाति के फल उत्पन्न किये जायँ तो लगातार बारहों महीने किसान उद्यान से फल लेता रहेगा और उसे बहुत थोड़ा खाली समय मिल पायेगा। फल की खेती से न तो केवल बौद्धिक विकास ही होता है अपितु आर्थिक एवं शारीरिक लाभ भी होता है। फलोत्पादन इस दृष्टिकोण से अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक उपादेय है। यद्यपि कुछ लोग इसे संतुलित भोजन का एक अंग न मानकर विलासिता की वस्तु स्वीकार करते हैं किन्तु उनका यह भ्रम है। फल स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अधिक उपयोगी हैं। इस प्रकार संक्षेप में हम फलोत्पादन के महत्व का इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं कि यह अत्यन्त स्वास्थ्यकर आहार, वर्ष के पूरे समय का उद्योग-धंधा, जीविकोपार्जन का अच्छा साधन, बौद्धिक विकास का उत्तेजक, आर्थिक दृष्टि-कोण से लाभकर और एक प्राकृतिक सौन्दर्य का निर्माण है।

फलों का इतना महत्व होते हुए हमारे देश में फलोत्पादन का बहुत अभाव है। हमारे यहाँ फलों की जो भी खपत होती है वह केवल यहीं के उत्पन्न फलों से नहीं पूरी होती अपितु पूर्ति के लिए बाहर से फल मँगाये जाते हैं। यहाँ जो फल या उद्यान हैं, उनमें अधिक उपज नहीं मिलती और न उत्पादक को अधिक लाभ ही हो पाता है। इसका कारण यह है कि इन उद्यानों में अवैज्ञानिक और प्राचीन विधियाँ ही प्रचलित हैं। उत्पादक घटिया जाति के पौधे उगाते हैं जिनसे अधिक उपज की कभी आशा

नहीं की जा सकती। यदि किसी उद्यान में अच्छे जाति के पौधे भी लगें तो उनके आपस की दूरी इतनी कम कर दी जाती है कि उन्हें न तो बढ़ने का पर्याप्त स्थान मिल पाता है और न प्रचुर मात्रा में आहार ही। अतः उनकी बाढ़ रुक जाती है और वे अधिक उपज नहीं दे पाते। उनमें खाद देने और सिंचाई करने आदि की विधियाँ भी उपयुक्त नहीं होती। वे कभी तो खाद देते ही नहीं और जब देते हैं तो बिना उचित-अनुचित का विचार किये ही। सिंचाई की भी वही दशा होती है। वृक्षों की छँटाई (pruning) या फसल की तोड़ाई आदि का इतना त्रुटिपूर्ण ढंग प्रचलित है कि उद्यान से फसल अधिक नहीं ली जा सकती। उन्हें बाजार के भाव-ताव का भी ज्ञान नहीं होता। मोल भाव में शहर के व्यापारी या कुँजड़े उन्हें सरलतापूर्वक ठग लेते हैं। उत्पादक के ये अवगुण तब तक नहीं दूर किये जा सकते जब तक कि उन्हें उद्यान-विज्ञान का पूर्ण ज्ञान न हो। उन्हें इस ज्ञान के अतिरिक्त कुछ धन की भी सहायता होनी चाहिये जिससे वे उद्यान की स्थिति संतोषप्रद बना सकें। इस प्रकार उपयुक्त परिस्थिति में उन्नति की अधिक संभावना की जा सकती है।

विभाजन के पूर्व फलों का कुल क्षेत्रफल २००लाख एकड़ था। उत्तर प्रदेशीय एग्री-कल्चरल पाकेट बुक १९४३ में फल और तरकारियों की खेती का क्षेत्रफल आम और कुछ अन्य फलों के अतिरिक्त ५,८२,६२३ एकड़ है। जबकि राव ने पपीता,लीची और खजूर के अतिरिक्त फलों का कुल क्षेत्रफल १,८३०,८०० एकड़ बताया है। उपर्युक्त आँकड़े एक दूसरे से अधिक अन्तर रखते हैं क्योंकि स्टैटिसटिक्स (Statistics) का कुछ ऐसा सिद्धान्त ही होता है कि भिन्न लोग भिन्न ढंग से अपनाते हैं। कुछ फल तो जंगलों, और कुछ फल आम, बड़हर, कटहल, जामुन जैसे फल सड़कों के किनारे पाये जाते हैं। ऐसा होने से फलों का सही आँकड़ा प्रस्तुत करना कठिन हो जाता है। डब्ल्यू० बी० हेज के अनुसार कुछ प्रारम्भ के आँकड़े इस प्रकार हैं जिनमें पाकिस्तान भी सम्मिलित है :—

राज्य	क्षेत्रफल	विवरण
उत्तर प्रदेश	१,१३२,०३८ एकड़	बाराबङ्की जिले के अतिरिक्त
मद्रास	५००,००० एकड़	अनुमानतः
बिहार	३२८,३१२ एकड़	
बम्बई	११२,२५० एकड़	
आसाम	९५,८७५ एकड़	
पश्चिमी बङ्गाल	५५,५०० एकड़	
पञ्जाब	५३,०१७ एकड़	
काश्मीर	१८५,०० एकड़	

जैसा कि हमने पढ़ा है, हमारे देश में फलोत्पादन जितने क्षेत्र में होता है वह यहाँ की जनसंख्या के अनुपात में बहुत ही कम है। जहाँ उद्यान हैं, वहाँ बहुत छोटे-छोटे, जिनमें कोई वैज्ञानिक विधि लागू नहीं की जा सकती। १६२८ ई० में गणना द्वारा ज्ञात किया गया था कि पंजाब में ३ एकड़ या अधिक क्षेत्रफल वाले उद्यान ३,१६४, १० एकड़ या अधिक क्षेत्रफल वाले केवल ४१३ और ५० एकड़ से ऊपर वाले केवल ६ थे। चन्द (Chand) ने उत्तर प्रदेश के उद्यानों का जिलेवार विवरण देते हुये कहा है कि उत्तर प्रदेश के मैदानी भागों में उद्यानों का माध्यम क्षेत्रफल .८ से ३.१ एकड़ है। किन्तु नैनीताल में उद्यान लगभग ६ एकड़ क्षेत्रफल के पाये जाते हैं। उद्यानों के इस क्षेत्रफल में क्रमशः प्रगति होती जा रही है। पंजाब में १६३८ से १६४२ तक उद्यानों का क्षेत्र फल ६८,२६० एकड़ से १००,३३६ एकड़ हो गया अर्थात् क्षेत्रफल में ४ वर्ष की ही अवधि में ४७ प्रतिशत की वृद्धि हुई। उत्तर प्रदेश में पंजाब की अपेक्षा कम प्रगति हुई है। कृषि संचालक श्री अलेन ने १६३२ अक्टूबर में एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने कहा है कि उत्तर प्रदेश के दौरे से प्रदेश में अनेक उद्यान दृष्टिगत होते हैं, जिन पर उनके उत्पादकों को गर्व होगा। किन्तु उनमें अधिक उद्यान ऐसे हैं जिनमें उपयुक्त प्रबन्ध का पूर्ण अभाव है। इसका कारण यह है कि वे उद्यान की सुव्यवस्था पर कम ध्यान देते हैं।

भारतवर्ष को उद्यान के क्षेत्र में अभी काफी प्रगति करनी है। यहाँ अनुमान लगाया गया है कि प्रति व्यक्ति नीबू की जाति के फल की खपत ६ पौण्ड प्रति मनुष्य (per capita) है जब कि अमेरिका में यह मात्रा ५४ पौण्ड है। फिर भी वहाँ इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि वह देश अपने फल की खपत दूनी कर दे। ब्रिटेन में जहाँ नीबू जाति के फल नहीं पैदा किए जाते वहाँ भी इसकी खपत २७ पौण्ड प्रति मनुष्य है, अतः उनकी अपेक्षा हमारी प्रति मनुष्य खपत बहुत ही कम है। फलों की खपत का यह अभाव प्रायः दो कारणों से है। प्रथम तो यह कि इनका उत्पादन बहुत ही कम होता है जिससे ये केवल शहरों के ही बाजारों में रह जाते हैं, देहातों तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती। दूसरे इनका मूल्य इतना ऊँचा होता है कि साधारण लोग इन्हें खरीदने में असमर्थ हो जाते हैं। अतः फलों की खपत बढ़ाने के लिए फलोत्पादन बढ़ाना और बाजारों में माँग की वृद्धि करना है। हमारे देश में जितने क्षेत्रफल में फल उगाये जाते हैं, वह क्षेत्रफल यदि दूना हो जाय तो अधिक अच्छा हो। १६४८ में इंडियन फार्मिङ्ग की सम्पादकीय टिप्पणी में फलों और तरकारियों का क्षेत्रफल भारत संघ में ३०७८००० बताया गया था। वास्तव में भारत में फलों का क्षेत्रफल ४,४००,००० एकड़ केवल फल में होने चाहिये किन्तु कुछ लोग यह क्षेत्रफल ६,०००,००० एकड़ स्वीकार करते हैं जो सम्पूर्ण कृषि क्षेत्रफल का ३.३% है। कुछ लोगों का तो कहना

यह है कि इस क्षेत्रफल में ही यदि वैज्ञानिक रीतियों तथा उपयुक्त व्यवस्था के साथ फल उगाये जायँ तो अधिक लाभ हो सकता है और देश की जनता के लिए यथेष्ट भी हो सकता है।

वास्तव में हमारे देश की भूमि और जलवायु ऐसी है जिनमें अनेक फल उगाये जा सकते हैं। यहाँ अनेक प्रकार की भूमि पाई जाती है। कहीं काली मिट्टी, कहीं चिकनी तो कहीं दोमट या मटियार-दोमट, किन्तु इन सभी प्रकार की मिट्टियों में फलोत्पादन के लिये गहरी दोमट भूमि अधिक उपयुक्त होती है। शेष अन्य भूमियों में भी फलों की खेती की जा सकती है। जलवायु के विचार से सम्पूर्ण देश में कई प्रकार की जलवायु पाई जाती है। यहाँ काश्मीर, कमायूँ, कुलूघाटी तथा हिमालय की पहाड़ियों में शीतकटिबन्धीय जलवायु पाई जाती है। शीतोष्ण जलवायु गंगा-यमुना के मैदानों तथा पश्चिमी-पूर्वी घाट में पाई जाती है। उष्ण जलवायु वाले कुछ भाग दक्षिणी भारत में हैं। दक्षिण के पठारी भाग शीत कटिबन्धीय जलवायु वाले हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण देश में शीत कटिबन्धीय, उष्ण कटिबन्धीय तथा शीतोष्ण कटिबन्धीय वृक्ष उगाये जाते हैं। कमायूँ, नैनीताल, हिमालय के तराई भाग, काश्मीर और दक्षिण भारत की पहाड़ियों में जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है, शीत कटिबन्धीय वृक्ष अंगूर, सेब आदि सफलतापूर्वक उगाये जाते हैं। गंगा-यमुना के मैदान में आम बहुत अच्छी फसल देता है। उत्तर प्रदेश के फल के पूरे क्षेत्रफल में आम की फसल अधिकांश रूप से उगाई जाती है। पश्चिमी और पूर्वी घाट में भी आम की फसल सफलतापूर्वक ली जाती है। उत्तर प्रदेश के सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, देहरादून और मेरठ जैसे स्थानों की सम शीतोष्ण जलवायु में आड़ू, बेर, बेरी आदि अधिक परिमाण में उत्पन्न होते हैं।

हमारे देश में भूमि और जलवायु की उपयुक्तता के साथ-साथ सिंचाई और खाद की भी व्यवस्था उत्तम हो सकती है। मैदानी भागों में सिंचाई के अच्छे साधन उपलब्ध हैं, वहाँ कुएँ, तालाब, नदियाँ, नहरें, ट्यूबवेल आदि का प्रबन्ध है। कृत्रिम ढङ्ग से बिजली पैदा कर बहुत सस्ते में सिंचाई की जा सकती है। सिंचाई की व्यवस्था हिमालय के पहाड़ी भागों और दक्खिन के पठार पर कुछ कठिन है किन्तु वहाँ चूँकि शीत कटिबन्धीय वृक्ष उगाये जाते हैं अतः उन्हें सिंचाई की विशेष आवश्यकता नहीं होती।

अन्य देशों की अपेक्षा क्षेत्रफल के अनुसार हमारे देश में जनसंख्या अधिक है। इससे फलों की माँग की भी अधिक सम्भावना है, और केवल थोड़ी-सी शिक्षा की आवश्यकता है जो लोगों में यह भाव पैदा कर दे कि फल उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत हितकर हैं। देहातों में तो कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिलते हैं जो सम्पूर्ण वर्ष भर में बीजू फलों

के अतिरिक्त कोई फल नहीं खा पाते। इसके दो कारण है जैसा कि हमने पहले ही कहा है, प्रथम तो मूल्य का ऊँचा होना और दूसरे फलों का अव्यवस्थित वितरण। शिक्षित लोगों में फलों का अधिक प्रचार है क्योंकि उन्हें इसका महत्व मालूम है किन्तु फिर भी बम्बई जैसे शहर में चीभा के अनुसार फल और तरकारियों के विक्रय की मात्रा आधा औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन है जब कि यह मात्रा लन्दन में साढ़े चार औंस और न्यूयार्क में १ पौंड है। हमारे देश में माल आने-जाने के प्रचुर साधन हैं, केवल कुछ पहाड़ी भागों में ही उनका अभाव है। जिन स्थानों पर यातायात के साधनों का अभाव है वहाँ मोटर, बस और लारी का प्रबन्ध कर इसमें सुविधा लाई जा सकती है। जिन स्थानों पर रेलगाड़ियाँ, स्टीमर या हवाई जहाज हैं वहाँ सामान भेजने का उत्तम प्रबन्ध किया जा सकता है और इस प्रकार फलों की माँग के साथ-साथ उनका उत्पादन भी बढ़ाया जा सकता है।

अध्याय २

फलोत्पादन-विज्ञान का इतिहास

(History of Pomology)

फलों का इतिहास बहुत प्राचीन है। फल प्रायः उस समय से भी पहले से उगाया जा रहा है जब से मानव जीवन का इतिहास प्रारम्भ होता है। किन्तु उस समय ये फल आज की भाँति उद्यानों में वैज्ञानिक विधि द्वारा नहीं उगाये जाते थे अपितु ये जङ्गली थे और स्वतः उगते, बढ़ते, फूलते और फलते थे। इनकी जाति स्थिर रखने का एकमात्र साधन प्रकृति थी। आदि मानव जिन्हें 'आदम और हौव्वा' या 'मनु' कहा जाता है इन्हीं जङ्गली फलों के बाग में रहते थे और उनके फलों पर अपना जीवन निर्वाह करते थे। आदि मानव का इतिहास भी यही बतलाता है कि जङ्गली लोग इन्हीं जङ्गली फलों के बाग में घूमते-फिरते थे; कन्द, मूल और फल खाते थे और नदी या सोते के जल से अपनी प्यास बुझाते थे। इनके ग्रीष्म और सर्दी के दिन इन्हीं वृक्षों के तले या गुफाओं-कन्दराओं में बीतते थे। समय की एक लम्बी दूरी के पश्चात् जब इन्हें पत्थर के कुछ हथियार बनाने का ज्ञान हो गया तो ये शिकारी बन गये और छोटे-मोटे जानवरों का शिकार भी करने लगे। इस प्रकार इनका आंशिक आहार कन्द, मूल, फल रहा और आंशिक मांस बना। धीरे-धीरे इनका मस्तिष्क विकसित होता गया और पत्थर के बाद इन्होंने ताम्र का अन्वेषण कर लिया। अब इनके हथियार ताम्र के बनने लगे। ताम्र के साथ-साथ इन्हें लोहा आदि अन्य धातुओं का भी ज्ञान हो गया। इन धातुओं से इन्होंने भाँति-भाँति के औजार बनाने सीख लिये। इनका मस्तिष्क निरन्तर प्रगति करता गया और इन्होंने बीज बो कर पौधा उगाने की भी कला का ज्ञान प्राप्त कर लिया। बस यहीं से कृषि कला के इतिहास का प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस प्रारम्भिक इतिहास के विषय का बहुत थोड़ा ज्ञान है पर यह अनुमान किया जाता है कि मनुष्य ने कृषि-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सर्वप्रथम भोजन में काम आने वाली फसलें ही उगाई होंगी और जब उसने अपने निवास के लिए स्थायी घर बना लिया होगा तो उसके अगवाड़े-पिछवाड़े एक-दो फल के वृक्ष भी उगते हुये देखे होंगे। इन वृक्षों को देखकर निश्चय ही उसे बाग लगाने का शौक हुआ होगा और उसने भोजन में काम आने वाली फसलों के साथ फलों के भी उगाने का धन्धा शुरू किया होगा।

सभ्यता का विकास नदियों की घाटियों में प्रारम्भ हुआ क्योंकि लोगों को नदियों के तट पर जीवन की प्रत्येक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। उनके कृषि कार्यों के लिए उर्वरा भूमि नदियों के किनारे ही मिलती थी। सिंचाई के लिए पानी भी यहाँ सहज ही में प्राप्त हो जाता था। पशुओं के नहाने, पानी पीने आदि की भी यहाँ अधिक सुविधा थी। नदी घाटियों में सभ्यता के केन्द्र भूमध्य सागरीय प्रदेशों—दजला-फरात की घाटी, मिश्र, चीन, भारत और उष्ण कटिबन्धीय अमेरिका—तक ही सीमित थे। धीरे-धीरे कृषि-शास्त्र में प्रगति हुई और इन सीमित क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व अधिक हुआ। जनसंख्या के बढ़ने पर ये लोग फैलने लगे और धीरे-धीरे इन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी तल पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यह निर्विवाद है कि फलों की खेती सर्वप्रथम नदियों की घाटी में प्रारम्भ हुई। इस पर अपना मत देते हुये कैसन (Casson) ने कहा है कि "वह भाग जहाँ आजकल ईराक है, वहाँ ३५०० ई० पू० में सुमेरियन सभ्यता का प्रसार था। इस शहर में कृषि के महान अन्वेषण के साक्ष्य प्रत्येक स्थल पर प्राप्त होते हैं।.....सुमेरियन राजाओं के सोने के आभूषणों पर दानों—गेहूँ, जौ, अनार—प्राचीन काल से उगाये जाने वाले विश्व के फलों में से एक और पालतू जानवर आदि के चित्र खुदे हैं।" परन्तु अनार से भी पहले खजूर की खेती का विवरण मिलता है। यह साक्ष्य इसी स्थान से प्राप्त होता है जिसमें खजूर की खेती के ७००० ई० पू० से प्रारम्भ होने का उल्लेख है। खजूर का वितरण समुद्र द्वारा ही सम्पूर्ण भूमध्य सागरीय प्रदेशों में हुआ। यूनानी और रोम लेखकों द्वारा इस बात का पता चलता है कि मिश्र की एक हस्तलिपि में इस बात का विवरण है कि यहाँ १३०० ई० पू० में आड़ू (शफतालू) और बादाम की खेती अधिक क्षेत्र में होती थी। ४०० ई० पू० में ज़ेनोफन Xenophon) और थ्योफरेस्तस(Theophrastus) ने, जिन्हें लाइनियस(Linnaeus) वनस्पति-शास्त्र का पिता कहता था,यूनान में उद्यान-विज्ञान के साहित्य का संग्रह किया। रोम वाले पौधे और तत्सम्बन्धी सत्य-असत्य बातों को एकत्र करने में बहुत रुचि रखते थे। इसी रुचि के कारण उन्होंने अपने साम्राज्य में या बाहर इन्हें इकट्ठा करने का प्रयत्न किया और उन्हें सफलता भी मिली। उन्होंने बादाम, अंजीर, आलू, आलू-बुखारा आदि फलों का संकलन भी किया। कैटो (Cato)ने २३६ ई० पू० से १४६ ई० पू० तक अपने कृषि सम्बन्धी अनुभव लिखे हैं। वैरो (Varro ११६ ई० पू० से २८ ई०पू०) ने अपने Rerum Rusticarum में अंगूर का उल्लेख करते हुये बताया है कि इसे बीज, कटिंग (cutting), कलम (grafting) और इनार्चिङ्ग (inarching) चारों विधियों से उत्पन्न किया जा सकता है। उन्होंने अंगूर की शराब और जैतून के तेल (Olive oil) बनाने की विधियों पर भी प्रकाश डाला और यह बताया कि नमक के पानी, तेल या नमक में फल कैसे सुरक्षित रखे जा सकते हैं। रोम की कृषि

की बातों को जानने का सब से बड़ा साधन प्लिनी (Pliny) की 'नेचुरल हिस्ट्री' (Natural History) है जिसकी उसने १००० प्रतियाँ लिखीं थी।

चीन में फलोत्पादन विज्ञान ने अधिक उन्नति की। वहाँ बागवानी, फल, फूल, पौधे आदि उगाना कवियों और लेखकों के लिए मनोरञ्जन का विषय था और उनकी कुछ कविताएँ तो आज से लगभग ४००० ई० पू० की प्राप्त होती हैं। सिल्क के कीड़ों की खेती वहाँ बहुत पुराने समय में ही शुरू हो गई थी जब कि विश्व के अन्य देशों के लोगों को उसका थोड़ा भी ज्ञान नहीं था। वहाँ के लोगों को कई शताब्दियों पूर्व ही लीची और नीबू जाति के अनेक फलों की खेती का ज्ञान था। चीन में सन् १०५६ ई० में लीची की खेती पर एक लेख लिखा गया जो विश्व की फलोत्पादन की सबसे प्राचीन पुस्तक कही जाती है।

नदी घाटी की सभ्यताओं में अमेरिका का उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश सबसे नया है। यद्यपि यहाँ कृषि-कार्य का प्रारम्भ यूरोप और एशिया के बहुत बाद में हुआ तथापि यहाँ अनेक प्रकार के बहुमूल्य फल उगा लिये गये हैं। इन फलों में अमरूद, पपीता, शरीफा, एवोकाडो आदि का उल्लेख मिलता है जिनमें से कुछ अमेरिका में यूरोपियनों के प्रवेश के पूर्व ही काफी उन्नति कर गये थे।

भारतीय साक्ष्य

भारत में फल-उत्पादन कला का प्रारम्भ बहुत प्राचीन काल से ही हो गया था। प्राचीन संस्कृत पुस्तकों में इन फलों का अत्यधिक विवरण भी दिया गया है किन्तु पुस्तकों के संस्कृत भाषा में होने के कारण विदेशी विद्वानों को इनसे अधिक ज्ञान न मिल सका। इसके अतिरिक्त देशी लेखकों ने अन्य किसी भाषा में इन्हें अनुवाद करने का प्रयत्न भी नहीं किया। इन पुस्तकों में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि फलों का विवरण पहले तो लगातार रूप में नहीं किया गया है, जहाँ वैसी बात आई वहाँ थोड़ा-बहुत प्रकाश डाल दिया गया है और दूसरे इन फलों के नाम और तिथियाँ भी सन्देहपूर्ण हैं। ऐसा होने से इन्हें एकत्र करना और एक क्रम में रखना बहुत बड़ी समस्या है। पुस्तकों के बहुत प्राचीन होने के कारण इनमें से कुछ तो उपलब्ध हो नहीं सकतीं, जो उपलब्ध भी होती हैं उनके आधारों पर फसल या फूल की पहचान सरल नहीं होती। उदाहरणतः संस्कृत ग्रन्थों में 'सीताफल' का प्रयोग मिलता है जिसका नाम आज तक एक मत से स्वीकार नहीं किया गया है। कुछ लोग इसे शरीफा और दूसरे लोग ककड़ी (Pumpkin) कहते हैं।

वृक्षों और फलोत्पादन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान देने वाला संस्कृत का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'वृक्षायुर्वेद' है जिसका प्रणयन कौशिक मुनि ने किया था। इस ग्रन्थ की

रचना तिथि ३०० ई० पू० मानी जाती है। किन्तु अर्थशास्त्र इससे भी पुराना ग्रन्थ है जिसकी रचना ४०० ई० पू० विश्वास की जाती है। इस ग्रन्थ में अंगूर की खेती के लिए उपयुक्त भूमि का संकेत किया गया है। गंगोपाध्याय के शब्दों में वृहद् संहिता में कटहल, केला और अन्य प्रकार के फलों के कलम द्वारा वानस्पतिक प्रजनन करने का उल्लेख है। यद्यपि कलम करने का यह ढंग आज के दृष्टिकोण से बिल्कुल दोषपूर्ण है किन्तु इनका केवल इसलिये अधिक महत्व है कि वानस्पतिक प्रजनन की विधि हमारे देश में इतने प्राचीन समय में भी प्रचलित थी।। वृहद् संहिता की रचना कब हुई, इस पर मतैक्य नहीं है क्योंकि इसकी रचना धीरे-धीरे बहुत दिनों में हुई। यह अवधि १२०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक मानी जाती है। 'धन्वन्तरि कोष' में उद्यान-विज्ञान पर काफी प्रकाश डाला गया है। चिकित्सा के दृष्टिकोण से चरक की कृतियाँ अद्वितीय हैं। चरक संहिता में अनेक प्रकार के पौधों का वर्णन है। इन ग्रन्थों में कुछ फलों का भी विवेचन किया गया है किन्तु इनकी रचना कब हुई इसमें सन्देह है। भिन्न-भिन्न विद्वानों की भिन्न-भिन्न रायें हैं। टोलकुस (Tolkowsky) ने, जिसका कथन सत्य के निकट माना जाता है, इसकी तिथि ईसा की चौथी शताब्दी बताई है। इस ग्रन्थ में अनेक प्रकार के फलों का नाम आया है, जिनमें बेल, आंवला, अंगूर, जंगली अंजीर, जंगली खजूर, कटहल, जामुन, खिरनी, नीबू, आम, बड़हल, शहतूत, नारङ्गी, केला, फालसा, अनार, चिरौंजी, नारियल आदि हैं। इन कथित नामों को पहचानने में कठिनाई भी होती है। किन्तु इतना तो मान्य है कि चरक को बहुत से फलों का ज्ञान था और इनमें से बहुत से फल उनके आसपास बोये जाते थे। कुछ ग्रन्थों में तो बगीचा लगाने पर अधिक जोर दिया गया है। वृक्षों के लगाने के लिए आवश्यक गड्ढे की लम्बाई-चौड़ाई भी बताई गई है और अन्य आवश्यक बातों पर जोर दिया गया है। उन्हें वैदिक काल में ही खाद का ज्ञान था और वे तिल या उर्द की फसलों को उगाकर हरी खाद बनाना जानते थे।

उत्तर वैदिक काल में भी इस विज्ञान में अबाध गति से प्रगति हुई। 'धन्वन्तरि कोष' 'वृक्षायुर्वेद' इस काल की ही देन हैं। कुछ प्रमाण तो ऐसे भी मिलते हैं जिनसे यह विदित होता है कि इस काल में फलोत्पादन का कार्य धार्मिक कार्यों के तृप्ति का साधन समझा जाता था। फल की खेती स्वास्थ्य के लिये आवश्यक समझी जाती थी। अधिक फल उत्पादित करने वाले व्यक्ति पुरस्कृत भी किये जाते थे, पुराणों में अनेक प्रकार के फलों का उल्लेख है किन्तु इन फलों की पहचान कुछ कठिन सी है। पुराणों का काल ईसा की १३ वीं शताब्दी तक माना जाता है। भविष्य पुराण तथा मनुस्मृति में वृक्षों को क्षति पहुँचाना दोष बताया गया है, और उन्हें क्षति पहुँचाने वाला व्यक्ति जनता की दृष्टि में दोषी समझा जाता था। मत्स्य पुराण में अंजीर, ब्रेडफ्रूट (Bread-fruit)

और रोज़ एपिल (Rose-apple) का उल्लेख मिलता है। एक अन्य ग्रन्थ 'कृषि प्रसार' में आम, नारियल,लीची और केला का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ की तिथि ६०० ई० पूर्व मानी जाती है। 'शुक्र नीति' में खजूर की जातियों का वर्णन है जिन में से एक जाती-बोई जाने वाली जाति है।'शुक्रनीति'की तिथि १६०० ई० मानी जाती है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में वृक्षारोपण पर काफी जोर दिया गया है। उन में इस बात का उल्लेख है कि वह व्यक्ति अतिशय भाग्यवान है जिसका घर तालाब के तट पर हो और जहाँ कमल के फूल खिले हों। इन ऋचाओं में इस बात का भी उल्लेख है कि इस समय उद्यानों का उद्घाटन बड़े सजधज से होता था और घर की मालकिन फल-फूल की देखभाल किया करती थी। इनमें बीज बोने के ढंग पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। निम्नलिखित श्लोक द्वारा जामुन, आम, कटहल और बड़हल के बीज को दूध में भिगोने और तब सरसों का तेल, गोबर और घी के मिश्रण लगा कर बोने की राय दी गई है :—

जम्बुक पनस चूतानाम सरल लचुकस्य च।
क्षीरे सिक्तम वपेत बीजम् घृति गोबिर बिरविड़वत्॥

एक अन्य श्लोक में अंकुरण-विधि पर प्रकाश डालते हुए शीघ्र अंकुरण होने की विधि बताई गई है। उसमें कहा गया है कि लकड़ी की सूखी राख में बीज को बोने के पूर्व सुरक्षित रखना चाहिये और बोते समय राख में लपेट लेना चाहिये। इस से अंकुरण शीघ्र होता है।

संस्कृत में 'वृक्षारोपण-विधि' और 'वृक्षायुर्वेद' का ५०५ वाँ अध्याय से कुछ मुख्य फलों की खेती और उत्पादन पर प्रकाश पड़ता है।

अशोक के काल में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि उसने फल लगाने पर अधिक जोर दिया था। उसके समय में सड़कों के किनारे आम,पपीता और वट वृक्ष आदि लगाये जाते थे। गुप्त काल में चीनी-यात्री ह्वेनसाँग ने जो भारत में ६२९ ई० से ६४५ ई० तक रहा, भारत के फलों पर काफी प्रकाश डाला है। उसके अनुसार भारत में उस समय आम, इमली, जामुन, आँवला, कटहल, नारियल, केला, अनार, नारंगी आदि फल उगाये जाते थे। उसने काश्मीर में उगाये जाने वाले बेर, नाशपाती, आड़ू तथा अपरीकाट का भी उल्लेख किया है किन्तु उसने इन फलों के साथ स्पष्ट नहीं किया है कि काश्मीर में चीन की ओर उगाये जाते थे या भारत की ओर।

मुस्लिम काल में १६वीं शताब्दी के द्वितीय चरण में वृक्षोत्पादन पर काफी लिखित विवरण उपलब्ध होता है। इसके पहले भी अलाउद्दीन और फीरोज तुगलक के समय में इस पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। फीरोज तुगलक को बाग लगाने का बहुत शौक

था। उसने अनेक स्थानों दिल्ली, चित्तौड़,जोधपुर, ग्वालियर आदि में बाग लगवाये। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण देन मुगल सम्राट बाबर की है जिसने अपने संस्मरण में भारत के फलों पर अत्यधिक प्रकाश डाला है। उसका 'फलों का विवरण' सन्देहात्मक नहीं है, अपितु उसने इस सर्तकता से फलों का विवेचन किया है कि इसमें सन्देह की कोई गुञ्जाइश ही नहीं रह जाती। उसने लिखा है,"भारत में आम के फल बहुत अच्छे और स्वादिष्ट हैं, इनमें से अनेक खाये जाते हैं और कुछ की अन्य चीजें तैयार की जाती हैं। लोग बहुधा इन्हें कच्चा ही तोड़ लेते हैं और घर में पकाते हैं। कच्चे आम बहुत बढ़िया अँचार और मुरब्बा या मार्मलेड(marmalade) बनाने के काम आते हैं।' उसने आगे भी कहा है, "संक्षेप में यह हिन्दुस्तान का सर्वश्रेष्ठ फल है। आम का वृक्ष फलों का अत्यधिक भार वहन करता है। बहुधा लोग आम की इतनी प्रशंसा करते हैं कि प्रत्येक प्रकार के फलों में इसे प्राथमिकता देते हैं, किन्तु मुझे उनकी प्रशंसा पसन्द नहीं।" उसने आमों की दो जातियाँ—खाने वाली और चूसने वाली बतलाई हैं और विशेषतः गुजरात तथा बङ्गाल के आमों की अधिक प्रशंसा की है।

बाबर ने नीबू जाति के फलों का सर्वप्रथम उल्लेख किया है और कुछ पर तो अच्छा विवरण भी दिया है। उसने केला पर भी कुछ प्रकाश डाला है। उसका कथन है कि केला के दो प्रधान गुण हैं—प्रथम यह शीघ्र छीला जा सकता है और दूसरे इसमें गुठली नहीं होती। आँवला पर भी विचार प्रकट करते हुए उसने कहा है कि जब इसका मुरब्बा बनता है तो बहुत सुन्दर होता है किन्तु जामुन और कटहल उसकी दृष्टि में अच्छे फल नहीं थे। जामुन के लिए उसने कहा है कि यह काले अंगूर से बहुत कुछ मिलता-जुलता है किन्तु इसमें अम्ल की अधिक मात्रा पाई जाती है और अधिक अच्छा नहीं है। कटहल पर दृष्टि डालते हुए उसने बताया है कि इसमें कुछ भी अच्छाई नहीं है। वह न तो इसका गूदा और न इसका आकार ही पसन्द करता था।

बाबर के संस्मरण के पश्चात् १६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में 'आईने-अकबरी' द्वारा फलों पर कुछ प्रकाश मिलता है। अकबर ने 'एकलखा वृक्ष वाले बाग' लगाये थे जिनमें अनानास और शरीफा के अधिक वृक्ष थे। दोनों वृक्ष भारत के अन्य फलों से जिनका ज्ञान बाबर के समय में ही था, नये थे। संम्भवतः इन नये वृक्षों का ज्ञान विदेशियों के कारण हुआ, क्योंकि वास्कोडिगामा ने १४९८ ई० में ही कालीकट पर अपना झण्डा गाड़ दिया था और इस समय तक उनका व्यापार भी काफी बढ़ चुका था। कुछ वर्षों पश्चात् एक अन्य लेखक द्वारा एक नये फल अमरूद का भी वर्णन मिलता है जो संम्भवतः अमेरिका से लाया गया।

मुगल काल में ही योरोप में नये देशों की खोज और सुसमृद्ध देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने और अपने उपनिवेश स्थापित करने की धूम मची हुई थी।

बहुत से यात्री भिन्न-भिन्न दिशाओं में निकले, जिनमें से कुछ एक को ही सफलता मिली। कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया। अमेरिका का पता लगने से वहाँ के उष्ण कटिबन्धीय फल भारत भी लाये गये, जिनमें अमरूद, शरीफा, अनानास, बेर पपीता, सपोटा आदि मुख्य हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत में कुछ ऐसे विदेशी पधारे जिन्होंने यहाँ के फलों की अनन्य जातियों को संकलित करने की चेष्टा की। इसके कुछ ही दिनों पश्चात् इडेन (Eden) ने १५७७ ई० में कटहल और केला का कालीकट में उल्लेख किया था। जान हीगन-वान-लिनचोटेन (John Huighran Von Linschoten) ने भारत के फलों पर (१५७६) काफी प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है कि अनानास पुर्तगालियों द्वारा भारत लाया गया था और पपीता फिलीपाइन और मलाया के पश्चात् स्पेन वालों द्वारा भारत पहुँचा। उसने भारत की नारङ्गियों, नीबू और सिट्रान (Citron) को स्पेन के इन फलों से स्वादिष्ट बताया है। यह यात्री भारतीय केला से अधिक प्रभावित हुआ। वह इन्हें Indian figges कह कर पुकारता था और उसने इसे एक अच्छा फल भी कहा है। आम के विषय में उसने अधिक प्रकाश नहीं डाला है। उसने केवल हरे आमों के अँचार का ही उल्लेख किया है। इन फलों के अतिरिक्त उसने जामुन, कटहल, आँवला आदि का भी विवरण प्रस्तुत किया है।

पायराड (Pyrard) ने लगभग १७ वीं शताब्दी के प्रथम वर्षों में समुद्र की यात्रा की। इस यात्रा में वह भारत भी पहुँचा। उसने कोचीन और कालीकट के कुछ फलों का वर्णन किया है किन्तु इसके उल्लेख कोई विशेष महत्व के नहीं है क्योंकि यह मलाया को भी भारत में सम्मिलित करता था। बृटिश निरीक्षकों में एडवर्ड टेरी (Edward Terry) ने जो भारत में १६१६ ई० से १६१९ ई० तक मुगल दरबार में बृटिश राजदूत पद पर रहा, भारत के फलों पर काफी प्रकाश डाला है। उसने केला और आँवला की अधिक प्रशंसा की है। आँवला को तो उसने नीबू और नारंगी से भी उत्तम बताया है। उसके शब्दों में, "आम भी एक बहुत स्वादिष्ट फल था। इस फल में स्वादिष्ट गूदों के बीच स्वादिष्ट गुठली भी पाई जाती थी।" इसके अतिरिक्त उसने अनानास, मकोय, रोजवाटर आदि का भी उल्लेख किया है। ब्रूटन (Bruton) ने कहा है कि भारत में अच्छे फल, जैसे नारियल, अनानास, अमरूद, आम, नारङ्गी आदि उगाये जाते हैं। उसने शहतूत का भी विवरण प्रस्तुत किया है जो केवल सिल्क के लिए उगाये जाते थे। मन्डी (Mundy) ने १६३२ ई० में आगरा के फलों पर दृष्टि डाली और कहा है कि वहाँ नारङ्गी, मकोय, आम, नारियल, केला आदि उगाये जाते हैं। उत्तरी भारत में उसने कहीं नाशपाती के वृक्ष नहीं देखे।

आम के नामकरण (nomenclature) पर प्रकाश डालते हुए १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मनूसी (Mannuci) ने लिखा है, "आम यहाँ

क फलों में सर्वश्रेष्ठ स्वादिष्ट फल है। गोआ में लोग इस फल की अच्छी किस्में पसन्द करते हैं और इन्हें उस किस्म के रखने वाले पहले व्यक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं जैसे निकलोअफोनको, मेलाजासोंमेंगोज आदि।" १७वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जान फ्रायर (John Fryer) ने, जो एक चिकित्सक था और वैज्ञानिक ढंग से फलों का संकलन कर रहा था, आम को बड़ी अच्छी औषधि बताई है। उसने इसके अँचारों को एक पाचक बताया है। अनानास को उसने बहुत कसाव स्वाद का बताया है। १७६०ई० में लोगों ने पौधों और फसलों को सिलसिलेवार ढंग से लिखना प्रारम्भ किया। विलियम केरी (William Cary) ने १८२० ई० में हार्टिकल्चरल सोसाइटी आफ इंडिया की स्थापना की और इसकी प्रगति में काफी हाथ बँटाया। उसने चार वर्षों पश्चात् राक्सबर्ग (Roxbourgh) का मानुमेन्टल फ्लोराइन्डिका का प्रकाशन किया। राक्सबर्ग भारत में मेडिकल आफीसर बन कर मद्रास सेना में सन् १७७६ ई० में आये और बाद में कलकत्ता के वानस्पतिक उद्यान के सुपरिन्टेन्डेन्ट हो गये। इन्होंने भारत में उत्पादित फलों की एक लम्बी सूची तैयार की थी और उन पर काफी प्रकाश भी डाला था।

वाट साहब (Watt) ने एक कोष की रचना की जिसमें भारत के महत्वपूर्ण पौधों और फलों का उल्लेख किया गया है। कलकत्ता में कृषि बागवानी सोसाइटी (Agricultural Society) और इसकी शाखाओं ने उद्यान-विज्ञान में काफी प्रगति की। अनेक पुस्तकें तथा जर्नल प्रकाशित किये गये जिनमें स्थानीय फलों की खेती पर प्रकाश डाला गया। इनमें मुख्य फल अनार, नारंगी, नीबू, अंजीर, लीची, अमरूद आड़ू, सेव, पपीता, केला, जामुन, अंगूर आदि पर लेख लिखे गये हैं। इलाहाबाद जिले के फलों पर भी काफी प्रकाश डाला गया है। आम और जामुन इस जिले के मुख्य फल थे; अमरूद की खेती तो बाद में होने लगी।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से शिक्षित भारतीयों और यूरोपियनों में उद्यान-विज्ञान पर उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित करने का अधिक उत्साह पाया जाता है। ये पुस्तकें भारतीय आधार पर ही लिखी जाती थीं। इस क्षेत्र में फर्मिंगर (Firminger) का मैनुअल अधिक प्रसिद्ध रहा है। उन्होंने यह पुस्तक अपने बङ्गाल और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के अनुभवों से लिखी। बाद में डाक्टर विलियम बर्न्स (Dr. William Burns) ने इसे संशोधित किया। इस क्षेत्र में अन्य पुस्तकें पागसन (Pogson) द्वारा रचित इन्डियन गार्डनिङ्ग (Indian Gardening), ऊडरो (Woodrow) की हिन्ट्स आन गार्डनिङ्ग इन इन्डिया (Hints on Gardening inIndia), रिडेल (Riddell) की मैनुअल आफ गार्डनिङ्ग फार वेस्टर्न

एण्ड सदर्न इन्डिया (Manual of Gardening for Western & Southern India) आदि हैं। १६०३ ई० में दरभंगा जिले में पूसा नामक स्थान पर कृषि अनुसन्धानशाला का शिलान्यास हुआ। १६३४ ई० भूकम्प के कारण इसे हस्तान्तरित कर दिल्ली लाया गया। इस अनुसन्धानशाला के अतिरिक्त कुछ अन्य राज्यों में भी अनुसन्धानशालायें तथा कृषि कालेज खोले गये, जहाँ फलों पर अन्वेषण होने प्रारम्भ हुए। पूना, कानपुर, नागपुर, कोयमबटूर, लायलपुर और सबौर में कृषि सम्बन्धी अनुसन्धान होने लगे। कृषि की उन्नति में भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) ने काफी योग दिया। इस परिषद द्वारा इन्डियन फार्मिङ्ग (Indian Farming) और इन्डियन जरनल आफ एग्रीकल्चरल साइन्स (Indian Journal of Agricultural Science) नामक पुस्तकें प्रकाशित हुई और अब भी हो रही है। अनेक बुलेटीन (Bulletins) और पुस्तकें अनेक भारतीय भाषाओं में लिखी गईं और प्रकाशित की गई। १६४२ ई० में हार्टिकल्चरल सोसाइटी आफ इन्डिया ने इन्डियन जरनल आफ हार्टिकल्चर (Indian Journal of Horticulture) का प्रकाशन किया जो उद्यान-विज्ञान के दृष्टिकोण में बहुत उपयोगी जरनल है।

भारत के कुछ मुख्य शहरों में विशेष फलों पर गहरा अध्ययन प्रारम्भ किया गया और उन पर अनुसन्धान किये जाने लगे। मैसूर में सेब, अनानास, मद्रास में केला, पंजाब में बेर तथा नीबू जाति, बिहार में आम पर अनुसन्धान होने लगे। पतझड़ वाले वृक्षों पर काश्मीर, पटियाला, कुमाऊँ आदि स्थानों पर खोजें होने लगीं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद ने लगभग सभी राज्यों में उद्यान-विज्ञान की योजनाएँ जारी कीं। इस परिषद ने केला के अनुसन्धान कार्य के लिये बम्बई, मद्रास और बङ्गाल (पश्चिमी बङ्गाल) में, नीबू जाति के फलों के लिए बम्बई, नागपुर, उड़ीसा, कुर्ग, आसाम और ट्रावनकोर-कोचीन, सब्जी सम्बन्धी खोज के लिए मद्रास, उत्तर प्रदेश, पहाड़ी क्षेत्रों में उत्पादित फलों के लिए उत्तर प्रदेश और काश्मीर की राज्य सरकारों ने खोजें प्रारम्भ करने के लिए योजनाएँ लागू कीं।

पंचवर्षीय योजनाओं में फलों और सब्जियों के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया है।

*

अध्याय ३

बाग की योजना

प्रत्येक फलोत्पादक के लिए अपने बाग की योजना बनानी आवश्यक होती है क्योंकि यदि वह कुछ विशेष प्रकार के फल लगाना चाहता है जो उस स्थान की जल-वायु और वहाँ की भूमि में सफलतापूर्वक नहीं उगाये जा सकते तो अर्थशास्त्रीय दृष्टि-कोण से उसका फलोत्पादन कोई मूल्य नहीं रखता। प्रत्येक फल प्रत्येक स्थान पर नहीं उगाये जा सकते। कोई फल बहुत ऊँचे तापक्रम पर जमता है और फल देता है तो कोई नीचे तापक्रम पर ही अच्छी फसल देता है। किसी फल को चिकनी मिट्टी अच्छी होती है तो कोई दोमट-मटियार में अच्छी उपज देता है। यही कारण है कि अफगानि-स्तान और काश्मीर में अंगूर और सेब के जितने बाग देखे जाते हैं, उतने हमारे देश में नहीं। केले के उद्यान बम्बई और बङ्गाल में जितने अधिक क्षेत्रफल में फैले हैं, उसका दशांश भी उत्तर प्रदेश में नहीं, अतः यदि कोई फलोत्पादक अपने बाग में आम, अमरूद और केला लगाना चाहता है तो उसे बाग लगाने के पहले देख लेना चाहिये कि ये वृक्ष उसके पड़ोस में उगाये जाते हैं या नहीं। यदि उगाये जाते हैं तो कैसी भूमि उनके लिए उपयुक्त पड़ती है। यदि नहीं उगाये जाते तो क्यों? क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि अकारण लोग किसी फल विशेष के नाम से मौन हो जाते हैं और उस क्षेत्र में उसकी खेती नहीं होती। इलाहाबाद क्षेत्र में पहले यह धारणा थी कि यहाँ पपीते की खेती नहीं की जा सकती क्योंकि कभी किसी ने इसे उगाया नहीं था। किन्तु जब इस क्षेत्र में पपीते का उत्पादन प्रारम्भ किया गया तो इसमें उत्पादक को बड़ी सफलता मिली किन्तु सदैव इसी वस्तु पर ध्यान नहीं दिया जाता। यदि उत्पादक बिना जलवायु और भूमि का अध्ययन किये ही आम की वह जाति जो बङ्गाल में उगाई जाती है, उत्तर प्रदेश में लगा दे तो सम्भव है कि उसे उत्पादन में सफलता न मिले क्योंकि कई एक प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि उत्तरी भारत का लँगड़ा आम बम्बई क्षेत्र में नहीं उगाया जा सकता। इसी प्रकार दक्षिण भारत की भी आम की कुछ जातियाँ उत्तर प्रदेश में नहीं पैदा की जा सकतीं।

सभी फल किसी एक विशेष स्थान पर नहीं उगाये जा सकते। यदि उत्पादक अपने उद्यान में ऐसे फल लगाना चाहता है जो वहाँ के वातावरण में उपयुक्त नहीं है तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र का कोई फल न तो शीत-

कटिबन्धीय क्षेत्र में उगाया जा सकता है और न शीत कटिबन्धीय फल उष्णकटिबन्धीय क्षेत्र में, यद्यपि कुछ फल ऐसे भी मिलते हैं जो विभिन्न प्रकार की जलवायु में उग सकते हैं किन्तु ये अपवादस्वरूप ही हैं, जैसे आम, मन्दारिन आदि। अमरूद की खेती के लिए इलाहाबाद की भूमि और जलवायु जितनी उपयुक्त होती है उतनी उत्तर प्रदेश में और कोई स्थान की जलवायु नहीं। यही कारण है कि उपभोक्ता अमरूद खरीदते समय पहले इलाहाबादी अमरूद की ही माँग करते हैं। इसी प्रकार लखनऊ का सफेदा आम, बनारस का आँवला और बेर, मुजफ्फरनगर की लीची, हाजीपुर का केला, भागलपुर का गुलाबखास तथा जर्दालू आम, नागपुर और सिलहट का संतरा, पूना का अलफैंजो आम, काश्मीर का सेब आदि अधिक प्रसिद्ध है और बाजारों में इनकी बहुत माँग भी है। यद्यपि अमरूद इलाहाबाद के अतिरिक्त भी अन्य कई स्थानों पर उगाया जाता है किन्तु वहाँ का अमरूद इसके रूप, रंग, गुण आदि में घटिया होता है। इसी प्रकार सेब काश्मीर के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी उत्पन्न किया जाता है किन्तु अन्य स्थानों के सेब काश्मीर के सेब के टक्कर में नहीं आ पाते। अतः प्रत्येक उत्पादक को उद्यान की योजना बनाते समय इन सभी बातों को ध्यान में रखना चाहिये। यदि वह अपना उद्यान इलाहाबाद में बनाना चाहता है तो उसे वे ही फल चुनने चाहिये जो वहाँ की जलवायु में अच्छी फसल दे सकते हों। किन्तु यदि वह सेब के फल लगाना चाहता है तो उसे अपना बाग काश्मीर में चुनना चाहिये। इलाहाबाद में सेब का लगाना कठिन होगा, वहाँ तो अमरूद का ही बाग अच्छा हो सकेगा।

बाग की योजना बनाते समय स्थानीय बाजार की दशा पर भी ध्यान देना चाहिये यदि बाजार में किसी फल विशेष की अधिक माँग है और वह वहाँ की भूमि तथा जलवायु में उगाई जा सकती है तो उस फल का लगाना अत्यधिक लाभप्रद होगा। यदि वह फल दूर से मँगा कर जनता की माँग पूरी की जाती है तो ऐसी दशा में उस फल की खेती और भी लाभदायक होती है। यदि कोई स्थान विशेष किसी एक फल के लिए प्रसिद्ध है तो उस स्थान पर उसी फल की खेती अधिक उपादेय होगी क्योंकि लोग वहाँ से उसी फल की माँग करेंगे। हाजीपुर में केला का उद्यान जितना सफल होगा उतना अन्य का नहीं। अतः प्रत्येक उत्पादक को बाग लगाने के पूर्व इन समस्त बातों का पूर्णरूपेण अध्ययन कर लेना चाहिये। यदि उसने इन्हें समझने में थोड़ी भी गलती की तो उसे लाभ के कम अवसर रहेंगे। उदाहरणतः स्थानीय बाजार का बिना अध्ययन किये ही उसने उद्यान लगाना प्रारम्भ कर दिया और बाजार में उस फल की पूर्ति जनता की माँग से बहुत अधिक है तो निःसन्देह वह एक असफल उत्पादक सिद्ध होगा। एक अनुभवी उत्पादक कभी भी ऐसी भयंकर भूल नहीं कर सकता।

किसी स्थान पर उद्यान बनाते समय वहाँ पर उगने वाले फल चुनने चाहिये या कोई विशेष फल चुनने पर उसके लिए उपयुक्त स्थान चुनना चाहिये। बाग की योजना पर निम्नलिखित तीन बातों का अधिक प्रभाव पड़ता है :

१. जलवायु
२. भूमि
३. बाजार

जलवायु

उद्यान की सफलता का उत्तरदायित्व सबसे अधिक जलवायु पर पड़ता है। प्रत्येक वृक्ष को फलने-फूलने के लिए तापक्रम की एक निश्चित मात्रा आवश्यक होती है। इस तापक्रम के कम या अधिक होने पर वृक्ष के विकास पर काफी प्रभाव पड़ता है। तापक्रम कम होने पर केले जैसे फलों के वृक्ष पर पाले का अधिक कुप्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार तापक्रम के बढ़ने पर भी पौधे की जल शोषण-शक्ति समाप्त हो जाती है और निरन्तर उत्स्वेदन (Transpiration) करते-करते उसमें मलांक (wilting point) आ जाता है और पौधा मुर्झाने लगता है। इस प्रकार सूर्य की किरणों से फलों के रङ्ग आदि के परिवर्तन के अवसर रहते है। वर्षा का भी फल की उत्पादन-शक्ति पर अधिक असर पड़ता है। सभी फल एक समान वर्षा नहीं चाहते। जितना पानी केला चाहता है उतना सेब और अंगूर नहीं। इसीलिए एक अधिक पानी बरसने वाले भागों जैसे बङ्गाल, बम्बई और मद्रास में अच्छी फसल देता है तो दूसरा काश्मीर और अफगानिस्तान जैसे कम पानी बरसने वाले स्थानों में। पानी का असमय बरसना भी फलों के लिए हितकर नहीं होता। आम उगाने वाले स्थानों में दिसम्बर-जनवरी की वर्षा बहुत हानिप्रद होती है। इससे फसल के सम्पूर्ण फूल ही गिर जाते हैं और उनके पराग धुल जाते हैं। वायु की मन्द और तीव्र गति का भी उनकी योजना पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जहाँ बराबर भयंकर आधियाँ चलती हों वहाँ उद्यान लगाने से वृक्षों के उखड़ने, डाल-शाखा के टूटने, पत्तियों के गिरने, फूल-फल के क्षतिग्रस्त होने का सदैव भय बना रहता है। वायु की नमी (humidity) के घटने-बढ़ने का भी फलों की स्थिति पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जाड़े के दिनों में बदली लगने और एकाएक नमी के बढ़ जाने से फलों पर अनेकानेक हानिकारक कीटों और रोगों का प्रकोप हो जाता है।

जलवायु के आधार पर फल वाले वृक्ष तीन श्रेणियों में विभक्त किये जाते हैं :

१. उष्ण या ग्रीष्म कटिबन्धीय (Tropical)
२. शीतोष्ण कटिबन्धीय (Sub-Tropical)
३. शीत कटिबन्धीय (Temperate)

उष्ण कटिबन्धीय वृक्ष—ये वृक्ष विषुवत् रेखा के निकट के देशों में उगाये जाते हैं जहाँ अधिक गर्मी पड़ती है और पानी भी खूब बरसता है। ये वृक्ष अधिक तापक्रम पर अच्छी उपज देते हैं। अतः ऐसे स्थानों पर जहाँ का तापक्रम बहुत कम होता है ये नहीं उगाये जा सकते। ये प्रायः ८०° फा० से १००° फा० तापक्रम अधिक पसन्द करते हैं। यद्यपि इनमें से कुछ ऐसे भी फल हैं जो इससे अधिक तापक्रम पर उगाये जा सकते हैं। जैसे, ताड़ का वृक्ष १००° फा० से अधिक तापक्रम पर फल-फूल देता है और यह ३२° फा० पर भी जीवित रहता है अर्थात् इसमें पतझड़ एक ही समय न होकर धीरे-धीरे होता रहता है। इस कटिबन्ध में उगने वाले मुख्य फल केला, आम, कटहल, पपीता, नारियल, सुपारी, सपाटू, जामुन, शरीफा, अमरूद, खजूर, अनानास, अंजीर, लीची आदि हैं। अनानास को अधिक वर्षा और अधिक सर्दी की आवश्यकता होती है, अतः इसे वैसे स्थानों पर उगाया जाता है जहाँ इसे दोनों बातें उपलब्ध हो सकें। विषुवत् रेखा के पास इसे नहीं उगाया जा सकता क्योंकि वहाँ इसे अधिक वर्षा तो मिल जाती है किन्तु सर्दी नहीं मिल पाती। अतः यह आसाम की पहाड़ियों पर अच्छी फसल देता है जहाँ पानी अधिक मिलता है और आवश्यकतानुसार सर्दी भी पड़ती है। आम की फसल जितनी सफलता से उष्ण जलवायु में मिलती है, शीतोष्ण जलवायु में भी उसी सफलता से प्राप्त की जाती है।

शीतोष्ण कटिबन्धीय वृक्ष—ये वृक्ष उष्ण कटिबन्धीय वृक्षों की अपेक्षा कुछ न्यूनतर तापक्रम पसन्द करते हैं और इसलिए ये शीतोष्ण कटिबन्ध में अच्छी उपज देते हैं। इनमें अधिक गर्मी सहन करने की शक्ति नहीं होती, अतः तापक्रम के अधिक होने पर ये मुर्झाने लगते हैं और इनके वृक्ष की पत्तियाँ सूखने लगती हैं। इन्हें वर्षा की समान मात्रा की आवश्यकता नहीं होती। इस कटिबन्ध के उगने वाले वृक्ष कुछ अधिक वर्षा चाहने वाले होते हैं और कुछ कम। खजूर और लीची दोनों ही उष्ण तथा शीतोष्ण भागों में उगाये जाते हैं किन्तु खजूर की फसल उस स्थान पर अच्छी मिलती है जहाँ पानी कम मात्रा में बरसता है किन्तु इसके विपरीत लीची की खेती उन स्थानों पर अधिक सफल होती है जहाँ पानी अधिक बरसता है। नीबू जाति वाले वृक्ष कम और अधिक वर्षा होने वाले दोनों प्रकार के स्थानों पर उगाये जाते हैं। अंजीर, लीची, जैतून, खजूर, नीबू जाति के फल जिसमें नारङ्गी, मौसम्मी, खट्टा नीबू, ग्रेपफ्रूट, कागजी नीबू आदि सम्मिलित होते हैं, तथा एवोकाडो, कमकट, अनार, बेर, अंगूर, शहतूत, फालसा, कटहल, बेल, आँवला, जामुन आदि इस श्रेणी के मुख्य फल हैं। इनमें भी पतझड़ धीरे-धीरे होता है, फलतः ये वर्ष भर हरे-भरे बने रहते हैं।

शीत कटिबन्धीय वृक्ष—इस श्रेणी के वृक्ष शीत कटिबन्ध में उगाये जाते हैं जहाँ तापक्रम न्यूनतम होता है। ये बर्फ जमने के नीचे के तापक्रम पर भी स्थिर रह सकते

हैं जब कि यह तापक्रम उनकी सुसुप्तावस्था में (dormant period) हो। इस श्रेणी के वृक्षों में वर्ष में एक समय सुसुप्तावस्था होती है जब कि ये अपनी पत्तियाँ भूमि पर गिरा कर क्रियाहीन हो जाते हैं किन्तु इस अवस्था में भी पौधों के जीवन के लिए तापक्रम की एक न्यूनतम सीमा होती है। यदि तापक्रम इस सीमा से भी नीचे गिरता जाता है तो वृक्ष का जीवन दूभर हो जाता है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि इन वृक्षों की जड़ें २०° फा० के नीचे के तापक्रम पर अपना बढ़ाव बन्द कर देती हैं। प्रायः ये वृक्ष ४०°-८०° फा० के बीच अच्छी प्रगति दिखलाते हैं किन्तु ४०° से नीचे या ८०° से ऊपर के तापक्रम पर इनकी प्रगति शिथिल हो जाती है। ऐसी जलवायु अफगानिस्तान बिलोचिस्तान, काश्मीर, पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश में पाई जाती है। यहाँ के मुख्य फल सेब, अंगूर, अनार, बेर, नासपाती, शफतालू, आलूबुखारा, चेरी, स्ट्राबेरी आदि हैं। शफतालू को सेब की अपेक्षा अधिक सर्दी की आवश्यकता होती है। अंगूर को नम और सर्द जलवायु, वर्ष में कुछ समय तक गर्मी की भी आवश्यकता होती है। इनके फलने-फूलने के लिए उपयुक्त सर्दी की आवश्यकता है, सर्दी की मात्रा में कमी-बेशी होने पर इनकी उपज अच्छी नहीं मिल पाती। इनके विश्राम काल में ही पतझड़ होता है किन्तु स्ट्राबेरी का वृक्ष सदैव हरा-भरा रहता है। इस श्रेणी के वृक्षों को सर्दी और थोड़ी गर्मी के साथ ही कुछ नमी की मात्रा भी आवश्यक होती है। ३० इञ्च वर्षा वाले स्थान पर इनका उद्यान सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है। इस मात्रा से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भी इन्हें उगाया जा सकता है जब कि वहाँ सिंचाई की सुविधा हो।

जलवायु में तापक्रम, वर्षा विभाजन, सूर्य का प्रकाश, पाला, वायु की गति और नमी आदि सम्मिलित होते हैं जिनका वृक्षों के विकास पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

तापक्रम—पौधे या वृक्ष एक निश्चित तापक्रम के नीचे या ऊपर अपनी क्रियाशीलता खो बैठते हैं। उनमें श्वासोच्छ्वास, कारबन एसीमिलेशन (Carbon assimillation) आदि क्रियायें तभी होती हैं जब कि तापक्रम उपयुक्त होता है। पौधों के बीजों के उगने का निम्नतम तापक्रम ४०° से ४३° फा० और उच्चतम तापक्रम १००° फा० होता है। वृक्षों के लिए तापक्रम का इस निश्चित तापक्रम से नीचे या ऊपर जाना हानिकर सिद्ध होता है। प्रायः ७५°–८०° फा० तापक्रम माध्यम तापक्रम (Optimum temperature) कहलाता है। सदैव हरा-भरा रहने वाले चौड़ी पत्तियों के वृक्ष उस समय अधिक क्षतिग्रस्त होते हैं जब कि तापक्रम अचानक बर्फ के जमने के तापक्रम से नीचे गिर जाता है। अतः ऐसे वृक्ष ऐसे स्थानों में जहाँ कड़ाके की सर्दी पड़ती है और कभी-कभी बर्फ की वर्षा भी होती है, नहीं उगाये जा सकते। ऐसे स्थान पर तो शीत कटिबन्धीय वृक्ष ही उगाये जा सकते हैं क्योंकि उनमें सुसुप्तावस्था में अधिक सर्दी सहन करने की शक्ति होती है किन्तु कभी-कभी जब तापक्रम बहुत नीचे गिर जाता है तो वे

भी क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि पौधों में सर्दी सहन करने की शक्ति उस समय बढ़ जाती है जब कि वे अपनी पत्तियाँ वृन्त से गिरा कर आराम करने लगते हैं। अतः ठंडे स्थानों के लिए वृक्षों की ऐसी ही कोटि ली जाती है जो जाड़े के दिनों में अपनी पत्तियाँ गिरा दें। किन्तु कभी-कभी इन पर भी अत्यधिक सर्दी से हानि होती देखी गई है। सर्दी की भाँति वृक्षों में गर्मी की मात्रा सहन करने की भी एक सीमा होती है। यदि तापक्रम अधिक हुआ तो वृन्त अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं। तापक्रम अधिक होने पर वृन्त की पत्तियाँ अपने धरातल से पृथ्वी द्वारा शोषित पानी बहुत तीव्र गति से उड़ाने लगती हैं और शोषण तेजी से होने लगता है। शोषण के तेज होने से वृन्त के निकट का जल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, फलतः पत्तियाँ उत्स्वेदन के लिये जल नहीं प्राप्त कर पातीं और मुर्झाना प्रारम्भ कर देती हैं। डब्ल्यू० बी० हेज ने अपनी पुस्तक 'फ्रूट ग्रोइन्ग इन इन्डिया' में कहा है, "शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में आड़ू (Peach) की कुछ जातियों में अजीब बात देखी जाती है। कलियाँ अपनी सुसुप्तावस्था त्यागने के लिये सर्दी की एक निश्चित मात्रा चाहती हैं और असमान सर्दी के परिणामस्वरूप अर्ध ग्रीष्म तक कभी-कभी बिना खुले ही पड़ी रह जाती हैं। बहुत सी भारतीय जाति के आड़ुओं में यह बात नहीं होती।"

तापक्रम की रोक-थाम के उपाय बहुत कम हैं। प्रायः तापक्रम के बहुत ऊँचे या नीचे होने पर कोई उपाय काम नहीं करता। यदि तापक्रम में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है तो धुँआ या सिंचाई करने से सुधार हो जाता है। यदि ऊँचे तापक्रम के साथ हवा की गति भी बहुत तीव्र है तो इसे बाग के किनारे अवरोधक वृन्त लगा कर कुछ मात्रा में कम कर सकते हैं किन्तु तापक्रम पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी उद्यान में घास-फूस की एक फुट ऊँची तह (Mulch) बना कर भी तापक्रम कम किया जाता है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि इस विधि द्वारा केवल ७° से ९° फा० ही तापक्रम घटाया जा सकता है।

नमी—प्रत्येक प्रकार के वृन्त कुछ न कुछ परिमाण में नमी की आवश्यकता रखते हैं। यदि वृन्त उष्ण कटिबन्ध में उगाया गया है तो उसे नमी की अधिक आवश्यकता होगी क्योंकि वहाँ का वातावरण शुष्क रहता है और गर्मी काफी पड़ती है। जैसे आम या केला के वृन्त नमी अधिक चाहते हैं क्योंकि इनकी पत्तियों से नमी की यथेष्ट मात्रा वाष्पित होकर उड़ जाती है। इसके विपरीत शीत कटिबन्ध या शीतोष्ण कटिबन्ध में वातावरण नम रहता है और गर्मी भी कम पड़ती है। वातावरण के नम होने से वृक्षों की पत्तियाँ कम पानी उत्स्वेदित करती हैं। परिणामस्वरूप इन्हें कम पानी की मात्रा में भी उगाया जा सकता है। भूमि में दिया हुआ पानी कई प्रकार से विनष्ट हो जाता है। कुछ पानी तो सूर्य की किरणों द्वारा शोषित कर लिया जाता है और कुछ

पत्तियों की सतह द्वारा उत्स्वेदित हो जाता है। यदि उद्यान में घास-पात अधिक मात्रा में होते हैं तो पानी की अधिक मात्रा उत्स्वेदित कर दी जाती है। नमी का कुछ अंश धरातल से बह कर और कुछ मिट्टी से रिस कर (percolation) भी बह जाता है। इस प्रकार नमी के विनष्टीकरण को रोकने के लिए कई उपाय किये जाते हैं। पानी को भाप द्वारा उड़ने से बचाने के लिए कम सिंचाई की जाती है। उद्यान में पानी इस प्रकार दिया जाता है कि उस पर सूर्य की किरणें सीधी न पड़ सकें। वृक्षों में कुछ समय के अन्तर पर थोड़ी-थोड़ी सिंचाई लाभप्रद होती है। उत्तरी भारत में प्रौढ़ वृक्ष यदा-कदा ही सींचे जाते हैं। बहुधा वे वर्षा पर ही निर्भर रहते हैं। किन्तु ऐसा इसलिए सम्भव होता है कि उनके आपस की दूरी इतनी अधिक रक्खी जाती है कि जड़ें काफी दूरी में विस्तृत होकर जल की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकें। उत्स्वेदन क्रिया रोकने के लिए उद्यान में उगी अनावश्यक घासें हटा देनी चाहिए। वृक्षों में छँटाई (pruning) करके भी इस पर रोक लगाई जा सकती है। पौधों की आपस की दूरी अधिक कर देने पर पानी कम लगता है।

वृक्षों पर कभी-कभी पाले का भी आक्रमण होता है। पाले के कुप्रभाव से पत्तियाँ अपना कार्य करना छोड़ देती हैं और मुरझा जाती हैं। इससे वृक्ष का साँस लेना और भोजन प्राप्त करना कठिन हो जाता है। उद्यान में ऐसी स्थिति आने पर उत्पादक को रोक-थाम के उपाय करने चाहिए। आवश्यकतानुसार कृत्रिम ढङ्ग से वृक्षों को गर्मी दी जाती है। धुआँ करने और शीघ्र सिंचाई करने से भी पाले की स्थिति में भी कुछ सुधार आता है।

उद्यान की योजना बनाते समय उसकी सिंचाई के साधनों पर भी दृष्टि डालना चाहिए क्योंकि कोई भी उद्यान केवल वर्षा के सहारे नहीं लगाया जा सकता। यदि उद्यान नहर के निकट हो तो उसकी सिंचाई बहुत सुविधापूर्वक हो सकती है। इस साधन से कम व्यय में ही आवश्यकतानुसार पानी लिया जा सकता है किन्तु उत्पादक को वैसी नहर पर कदापि भरोसा नहीं रखना चाहिए जो साल के कुछ महीनों ही खुलती हो। यदि उद्यान बड़ा है तो उसमें एक सिंचाई के तालाब का प्रबन्ध किया जा सकता है जिसमें बरसात के दिनों में सारे उद्यान का जल एकत्र हो और फिर आवश्यकता के समय काम दे। उद्यान में कुएँ के निर्माण में अधिक व्यय होता है किन्तु यदि कुआँ अधिक पानी देने वाला है तो उसमें नल कूप, मायादास लिफ्ट आदि अधिक पानी देने वाले यंत्र लगाये जा सकते हैं और इस प्रकार सिंचाई का खर्च कम किया जा सकता है।

भूमि

बाग लगाने में जलवायु के पश्चात् भूमि के गुणों पर ध्यान दिया जाता है क्योंकि उद्यान की सारी क्रियाएँ भूमि में ही की जाती है। यदि भूमि अच्छी है तो उसमें उपज अच्छी होगी और कृषि सम्बन्धी कार्यों में भी सुविधा होगी। अस्तु, बाग लगाने के पूर्व फल विशेष के उद्यान के लिए ऐसी ही भूमि चुनी जाय जिसमें उसका अच्छा विकास हो सके। भाग्यवश प्रकृति की ऐसी देन है कि एक ही फल कई प्रकार की मिट्टियों में उगाया जा सकता है। दोमट या दोमट मटियार भूमि में अधिकांश फल उगाये जाते हैं और यह भूमि थोड़ी या अधिक मात्रा में भारत के प्रत्येक स्थान में पाई जाती है। केवल राजपूताना का मरुस्थली प्रदेश और दक्षिण का पहाड़ी भाग ही इससे वञ्चित है, किन्तु वहाँ भी कुछ मिट्टियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें कुछ विशेष किस्म के वृक्ष उगाये जा सकते हैं। केवल बलुही और चिकनी भूमि ही उद्यान के लिए बिल्कुल उपयुक्त नहीं होती क्योंकि एक तो बहुत हल्की होती है और दूसरी भारी। भूमि का निरीक्षण वैज्ञानिक ढंग से करना चाहिए क्योंकि इससे भूमि के प्रत्येक गुण-अवगुण ज्ञात हो जाते हैं। इसके लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

भूमि की प्राकृतिक अवस्था, भूमि की नमी, वायु, उसकी बनावट, जीवाणु संख्या, ह्यूमस की उपस्थित आदि भूमि की भौतिक स्थिति, उसके कणों का आकार, ट्रेक्सचर, स्ट्रक्चर, रिद्र-छिद्र, भूमि की गर्मी, उसका आपेक्षित घनत्व आदि अनेक बातों पर ध्यान दिया जाता है। भूमि के कणों का न बहुत बड़ा ही होना ठीक है और न बहुत छोटा ही। बलुही भूमि के कण काफी बड़े होते हैं और दूसरी ओर चिकनी मिट्टी के कण अधिक छोटे होते हैं जिसके कारण बलुही भूमि में पानी की मात्रा न तो अधिक देर तक रुकने पाती है और न चिकनी मिट्टी में से शीघ्र निकलने पाती है। बलुही मिट्टी के कणों का आकार .५ से .२५ मिलीमीटर और चिकनी मिट्टी के कणों का आकार .००५ या इससे कम मिलीमीटर का होता है। अतः भूमि का चुनाव ऐसा करना चाहिये कि उसमें बालू, चिकनी मिट्टी और शील्ट का मिश्रण इस अनुपात में हो कि वह दोमट भूमि बन जाय। दोमट भूमि का ट्रेक्सचर और स्ट्रक्चर ठीक होता है। इससे भूमि में उपयुक्त नमी उपस्थित रहती है। उसका तापक्रम ठीक रहता है और वायु का आगमन भी उचित रीति से होता है। इसमें जल शोषित करने और धारण करने की अधिक शक्ति होती है। इसमें वृक्षों के उपयुक्त तत्व अधिक परिमाण में उपस्थित होते हैं। जीवाणुओं के कार्य भी सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं। यद्यपि काली मिट्टी, रेतीली या बलुही मिट्टी और ऊसर मिट्टी में भी कुछ फल लगाये जा सकते हैं किन्तु व्यापारिक दृष्टिकोण से इनमें बाग लगाना उचित नहीं।

कभी-कभी स्थान विशेष की भूमि में कुछ दोष भी पाये जाते हैं जिनसे वहाँ उद्यान लगाना लाभकर नहीं होता। । जैसे यदि भूमि ऐसे स्थान पर है जहाँ बाढ़ आने या ऊँचे स्तर के खेत से पानी के रिसने के अधिक अवसर है तो वहाँ की भूमि सदैव जलपूर्ण (waterlogging) रहेगी और जब तक इस अत्यधिक पानी को दूर नहीं किया जाता तब तक भूमि का यह दोष सुधर नहीं सकता। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं का भूमि में कैलशियम की अधिक कमी रहती है। इस तत्त्व के अभाव में लीची या नीबू की जाति के फल सफलतापूर्वक नहीं उगाये जा सकते। जिस भूमि में कैलशियम उपस्थित रहता है तो उस पर अन्यान्य अम्लों के प्रभाव नहीं पड़ पाते। इसकी जाँच के लिए मिट्टी की वैज्ञानिक जाँच कर लेनी चाहिए।

बाजार

उद्यान की योजना में जलवायु और भूमि के अध्ययन के साथ-साथ स्थानीय बाजार का भी अध्ययन आवश्यक होता है। यदि स्थानीय बाजार में उद्यान में उगाये गये फलों की माँग अधिक है तो उत्पादक को विशेष लाभ की आशा रहती है। यदि उत्पादक अपना बाग केवल स्थानीय बाजार के ही लिए बनाना चाहता है तो उसे अपना बाग नगर के निकट ही लगाना चाहिए या किसी रेलवे स्टेशन या सड़क के निकट बनाना चाहिए जहाँ से आने-जाने के यथेष्ट साधन हों। ऐसा होने से उसे अपने तैयार फल बाजार में भेजने में सुविधा होती है। किन्तु यदि बाजार में उन फलों की माँग कम है जिसे उत्पादक उगाना चाहता है तो उसे बाग की योजना अन्यन्त्र करनी चाहिए जहाँ से दूसरे बाजारों में, जहाँ फल की माँग हो, भेजने के साधन उपस्थित हो।

बाग की सम्पूर्ण योजना बना चुकने के पश्चात् भूमि की साधारण जुताई कर देनी चाहिए। यह क्रिया पौधे लगाने के पूर्व होनी चाहिये ताकि उत्पादक भूमि की स्थिति का अध्ययन कर आवश्यकतानुसार उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए खाद्य आदि का प्रबन्ध कर दे। बाग की भूमि का ढालवाँ या ऊँची-नीची होना उचित नहीं। इससे सिंचाई आदि की क्रियाओं में असुविधा होती है। ऐसी भूमि में मिट्टी के कटने का भी भय रहता है। यदि भूमि काफी ऊँची-नीची है तो सिंचाई करते समय या पानी बरसने पर मृदाक्षरण के अधिक अवसर होते हैं। ऐसी स्थिति में भूमि की ग्रेडिंग कर लेनी चाहिए। ग्रेडिंग में ढाल के अनुसार भूमि के कई खण्ड कर लिए जाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक खण्ड को समतल बना कर उद्यान के योग्य कर लिया जाता है। भूमि का पूर्णरूपेण चौरस होना भी उचित नहीं क्योंकि इसमें पानी के बहाव में कठिनाई होती है और सिंचाई में भी असुविधा पड़ती है। अतः बाग की भूमि वही उपयुक्त होती है जिसमें दो या तीन ओर ढाल होता है और बीच का भाग ऊँचा होता है। बीच के भाग के ऊँचा होने से सिंचाई के साधन का प्रबन्ध वहीं करते हैं ताकि सम्पूर्ण उद्यान में पानी सरलतापूर्वक पहुँचाया जा सके।

अध्याय ४

पौधों का वानस्पतिक प्रजनन

वानस्पतिक प्रजनन का अर्थ होता है पौधों के जाति की वृद्धि। इसमें बीज उत्पादन, किशोर पौधों का बढ़ाव, पौधों को उनकी जड़ से बढ़ाना, काट कर बढ़ाना, दाब लगा कर बढ़ाना आदि होता है। साधारणतया प्रकृति में बढ़ाव कोशाओं के विभाजन के फलस्वरूप होता है। कोशा जीवित अवस्था में अपने सदृश्य कोशा तैयार करने के लिए विभाजित होता है। पौधों या जानवरों में अंग की इकाई कोशा ही है। इस कोशा के ही कारण जानवर या पौधे उत्पन्न होते हैं और बढ़ते हैं। पौधों में यह बढ़ाव दो प्रकार से होता है—बीज द्वारा और पौधों के शेष अन्य अंगों द्वारा।

बढ़ाव का पहला ढङ्ग बीज द्वारा (Sexual Method) है। इसमें दो कोशाएँ मिल कर विभाजन प्रारम्भ करती हैं। कोशाओं के मिलने से बीज बनता है और फिर बीज से पूरा पोधा तेयार होता है। अधिकांशतः बड़े पौधे इसी विधि द्वारा प्रजनन करते हैं। एक छोटा बीज पूरा पौधा तैयार करने की शक्ति रखता है और उसमें मातृ वृक्ष के सभी गुण उपस्थित होते हैं। आम का बीज जिसे गुठली कहते हैं आम का ही पोधा तैयार करेगा, अन्य फल का नहीं। किन्तु इस विधि में व्यापारिक दृष्टिकोण से कुछ दोष हैं जिनके कारण इस विधि का प्रयोग उद्यान में प्रायः नहीं होता। ये दोष निम्नलिखित हैं :—

१. बीज द्वारा उगाये गये वृक्ष बहुत देर में फलना प्रारम्भ करते हैं। २. ये वृक्ष काफी ऊँचे होते हैं जिससे वृक्षों की छँटाई, औषधि के छिड़काव आदि कार्यों में कठिनाई होती है। ३. प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि बीज से तैयार होने वाले वृक्ष मातृ वृक्ष के सभी गुणों का वहन प्रायः नहीं करते। कभी-कभी मीठे आम की गुठली से खट्टा आम पैदा हो जाता है और कभी फलों के आकार में भी अंतर पाया जाता है। किन्तु कुछ फल ऐसे भी होते हैं जिन्हें बीजों से ही तैयार करना उपादेय होता है। ४. कुछ फलों में बीज इतने छोटे पाये जाते हैं कि उनसे पौधा उत्पन्न करना कठिन होता है। अतः उनकी जाति कायम रखने के लिए कुछ अन्य अंगों का सहारा लेना पड़ता है। जैसे, केले के फल में बीज इतने छोटे होते हैं कि उनसे पौधा तैयार करना असम्भव होता है, अतः उसकी जाति स्थिर रखने के लिए उसके तने से जिन्हें राईजोम

(Rizome) कहते हैं सहायता ली जाती है। इन दोषों के होते हुए भी इस विधि में कुछ गुण पाये जाते हैं किन्तु ये नगण्य ही हैं।

प्रजनन की दूसरी विधि एसेक्सुअल (Asexual) या वानस्पतिक प्रजनन (Vegetative Propagating) कहलाती है। यह विधि पहली विधि की अपेक्षा उत्तम है। इसमें पौधे की जड़ें, तने, पत्तियाँ, कलियाँ आदि पूरा पौधा तैयार करने के काम में लाई जाती हैं। उत्पादक उद्यान में बहुधा इसी विधि का प्रयोग करते हैं क्योंकि १. इस विधि द्वारा तैयार किया गया पौधा मातृ वृक्ष के लगभग सभी गुणों को वहन करता है। इसमें मातृ वृक्ष के फल, यदि कसैले स्वाद के हैं तो पुत्री वृक्ष से उत्पन्न फल भी वही स्वाद देंगे। फल के आकार-प्रकार में भी कोई अन्तर नहीं आने पाता। २. इस विधि द्वारा तैयार वृक्ष बहुत कम आयु में फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। कम आयु से फल देना प्रारम्भ कर देने से उत्पादक अधिक लाभान्वित होता है, किन्तु इसके विरुद्ध बीज द्वारा तैयार वृक्षों में फल बहुत देर में आता है जिससे उत्पादक को बाग लगाने के पश्चात् एक लम्बी अवधि तक लाभ की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। ३. वानस्पतिक ढङ्ग से तैयार पौधे अपेक्षाकृत बड़े फल उत्पन्न करते हैं क्योंकि उनकी जातियाँ उन्नतिशील होती हैं। ४. इस भाँति तैयार वृक्षों की ऊँचाई बहुत कम होती है जिसे उनकी छटाई, फलों की तोड़ाई आदि क्रियाएँ सरलतापूर्वक हो पाती हैं। ५. इन वृक्षों से प्राप्त फलों की एक विशेष जाति होती है। वह जाति इसी विधि द्वारा स्थिर रक्खी जाती है। आम के दशहरी जाति वाले आम भी वही स्वाद दे रहे है जो आज से २० वर्ष पहले देते थे। इसी प्रकार इलाहाबादी सफेदा अमरूद का भी स्वाद अनेक वर्षों से स्थिर है। इस कारण बाजारों में ऐसे फलों की काफी माँग रहती है जिससे उत्पादक काफी लाभ कमा लेता है। बीज द्वारा उत्पन्न फलों में उनकी जाति कायम नहीं रहती। ६. इस विधि में एक लाभ यह भी होता है कि इससे इच्छित जाति तैयार की जा सकती है। इस इच्छित जाति में साधारण बीज का पौधा कलम करके उत्तम जाति का बनाया जा सकता है। ७. ये पौधे स्थान बहुत कम घेरते हैं जिससे कम क्षेत्रफल में ही अधिक वृक्ष लगाए जा सकते हैं। इस विधि से नाटे वृक्ष भी पैदा किये जा सकते हैं। ८. यदि किसी स्थिति में फल में बीज नहीं उत्पन्न होते हैं तो वहाँ वानस्पतिक प्रजनन विधि से काम निकाला जा सकता है। केले के उद्यान में यही विधि प्रयोग की जाती है। कभी-कभी अंगूर और नारङ्गी के वृक्ष भी इसी विधि द्वारा तैयार किये जाते हैं। उस हालत में भी यही विधि प्रयुक्त होती है जब कि बीजों का जमाव उत्तम नहीं होता है। ९. कभी-कभी वानस्पतिक विधि का प्रयोग वृक्ष को वातावरण के अनुसार बनाने में किया जाता है। शीत कटिबन्धीय वृक्षों में जड़ों को कठोर बनाने के लिए कलम या चश्मा करने की वानस्पतिक विधि ही उपयुक्त होती है क्योंकि सुकुमार जड़ें

पानी के जमने पर क्रियाशून्य हो जाती हैं। नारङ्गी के वृक्ष सर्दी सहन करने के लिए इसी विधि द्वारा तैयार किए जाते हैं। १०. बहुत से ऐसे वृक्ष पाये जाते हैं जो शीघ्र ही किसी भयंकर रोग या हानिकर कीड़े का शिकार बन जाते हैं। यदि कीड़े इस प्रकार के हैं कि उनका प्रभाव केवल जड़ पर ही है तो इन्हें कलम द्वारा सरलतापूर्वक दूर किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में किसी अच्छी जाति के रूट स्टाक द्वारा (Root Stock) इस कीटग्रस्त वृक्ष की कलम कर दी जाती है।

वानस्पतिक प्रजनन द्वारा पौधे तैयार करने की विधि

मुख्यतः वानस्पतिक विधि द्वारा वृक्ष तीन प्रकार से तैयार किये जाते हैं :

१. जड़ द्वारा (Rootage)
२. विभाजन द्वारा (Division)
३. कलम द्वारा (Graftage)

जैसा कि उपर्युक्त विभाजन से स्पष्ट है वानस्पतिक विभाजन तीन विधियों द्वारा होता है। इसमें प्रथम विधि जड़ द्वारा पौधे तैयार करने की है। इसमें प्रजनन मातृ-वृक्ष की जड़ों या तनों की सहायता से होता है। ये उपयुक्त परिस्थिति में पूरा पौधा तैयार करने की क्षमता रखते हैं। इस विधि में होनहार जड़ें या तने निकाल लिये जाते हैं और उन्हें भूमि में जमाया जाता है। उस भाग से जड़ें निकल कर भूमि में आती हैं और फिर तने उत्पन्न होकर वायु में रहने वाला पूरा अंग तैयार करते हैं। जड़ों द्वारा कलम करने के मुख्य ढङ्ग दो हैं :

१. तने की कलम (Stem Cutting)
२. दाब लगाना (Layering)

ये दोनों विधियाँ काफी प्रचलित हैं। इनमें प्रायः तने का कटाव ही प्रयुक्त होता है किन्तु कभी-कभी जड़ें और पत्तियाँ भी काम में लाई जाती हैं।

कलम तैयार करना (Cutting)—पौधों का वानस्पतिक प्रजनन उसके जड़ या तने को काट कर किया जाता है। कभी-कभी पत्तियाँ भी इस कार्य में प्रयोग की जाती है। तनों के रूपांतरित रूप जैसे ट्यूबर राईजोम आदि भी पूरा पौधा तैयार करने की शक्ति रखते हैं। प्रधानतः इसकी दो विधियाँ काम में लाई जाती है :

१. जड़ें
२ तना

रूट कटिङ्ग (Root Cutting)–जैसा कि नाम से ही विदित है, ये पौधों की उन जड़ों से तैयार की जाती है जिनमें एक पौधा तैयार करने की शक्ति रहती है। कुछ पौधे जो शीघ्र जड़ पैदा कर देते हैं उन्हें इसी प्रकार तैयार किया जाता है। नासपाती,

अंगूर, बेर आदि इसी विधि द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इस विधि के प्रयोग का ढङ्ग यह है कि जड़ का कटाव २" से १०" लम्बा और लगभग $\frac{1}{4}$" मोटा लिया जाता है और इन्हें भूमि में पृथ्वी के समानान्तर रख दिया जाता है। कभी-कभी इन्हें बालू में भी रखा जाता है। इनके रखने का ढङ्ग यह होता है कि ऊपरी सिरा स्तर भूमि के धरातल से थोड़ा ऊपर निकाला होता है। इस प्रकार रखने से कटाव से ऐडवेन्टिशस कलियाँ (Adventitious Beds) निकलने लगती है और भूमि या बालू में प्रवेश कर जाती हैं। इन जड़ों और कोमल प्रांकुरों में वानस्पतिक प्रजनन के लिए उन्हें ही चुनते हैं जो मजबूत और होनहार होते हैं। इन्हें चुन कर शेष भाग हटा दिया जाता है। नया प्रांकुर लगाने के बाद पानी देना आवश्यक होता है। जब इस प्रांकुर की ऊँचाई और आकार स्थानान्तरण के योग्य हो जाती है तो इसे स्थानान्तरण कर दिया जाता है। प्रजनन की यह विधि दक्षिण भारत में बीज रहित बेडफ्रूट (Bread-fruit) में यह प्रयुक्त होती है। नायक ने अमरूद में भी इस विधि के प्रयोग करने की राय दी है। बेर, अंजीर, अंगूर और नीबू भारतवर्ष में प्रायः इसी विधि द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

तने का कटाव (Stem Cutting)—कटाव की यह दूसरी विधि है। इसमें हरे प्रौढ़ लकड़ी वाले तने काम में लाये जाते हैं। लकड़ी के अनुसार ये दो प्रकार के होते हैं—सख्त लकड़ी वाले और कोमल लकड़ी वाले। प्रायः फलों में कठोर लकड़ी वाले तने ही इस कार्य के लिए अधिकतर प्रयुक्त होते हैं। ऐसे तनों के काटने का समय डेसीडुअस वृक्षों के लिए सुसुप्त काल होता है। इन्हें सर्द स्थानों पर जाड़े के प्रारम्भ के दिनों में ही काट लिया जाता है और बसन्त ऋतु में लगा दिया जाता है। ये कटाव अपने तीन-चौथाई लम्बाई तक भूमि या बालू में सीधा झुके रूप में गाड़ दिये जाते हैं। इन्हें कभी-कभी पत्तियों से रहित कर दिया जाता है या कुछ पत्तियाँ रखी जाती हैं। कभी-कभी गाड़ने के स्थान से ऊपर की सभी पत्तियाँ लगाते समय वैसे ही बनी रहने दी जाती है। इन्हें एक चौड़े बर्तन या समतल नर्सरी में लगाया जाता है। कभी-कभी इन्हें भूमि या लकड़ी के बुरादे को नम बना कर अधिक दिनों तक स्थिर रक्खा जाता है। इनमें कटाव सड़ने नहीं पाती। कटाव बनाते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि ये गाँठ से काटे जायँ। कभी-कभी ये पोर से भी काटी जाती हैं किन्तु गाँठ वाला ढङ्ग ही अधिक पसन्द किया जाता है। कटाव काटते समय उसके ऊपर वाला भाग सीधा और नीचे वाला तिरछा काटा जाता है। नीचे वाला भाग गाँठ के ठीक नीचे काटा जाता है किन्तु ऊपर वाला गाँठ के १" या २" ऊपर से काटने पर अच्छा होता है। तिरछा भाग भूमि में गाड़ दिया जाता है। नीबू के वृक्ष में, जो सदैव हरा रहने वाला होता है, बरसात के दिनों में कटाव करना अच्छा होता है। यद्यपि इन्हें साल के किसी

भी समय प्रजनित किया जा सकता है किन्तु बरसात या वसन्त ऋतु का प्रजनन उत्तम होता है। यह प्रजनन तो उस समय और भी अच्छा होता है जब कि शाखा की मोटाई पेंसिल की मोटाई के बराबर हो। अड्रायंस और ब्रीसन (Adriance & Brison) ने चौड़ी पत्ती वाले सदाबहार के वृक्षों के प्रजनन के सम्बन्ध में कहा है कि नीबू जाति के कुछ कटाव ४" से ७" लम्बी ५-६ गाँठों से युक्त सिरे से लिये जाते हैं। इस तने के निचले भाग से पत्तियाँ तोड दी जाती है। सिरे पर केवल दो-तीन ही पत्तियाँ छोड़ दी जाती हैं। प्रजनन की अन्य विधियों की अपेक्षा इसमें कटाव बहुत स्वस्थ और होनहार लिये जाते हैं। नारङ्गी, अमरूद, नीबू आदि में यही विधि प्रयुक्त होती है।

कटाव में मेखला (cincture) के ऊपर कैलस (callas) विकसित होता है और इस प्रकार प्रांकुर बढ़ता है। प्रांकुर काट लेने के पश्चात् बर्तन या गमले में लगा दिया जाता है। इसे गमले में लगाने में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि कैलस वाला भाग भूमि में गड़ा रहे ताकि जड़े पैदा हो सकें। यदि कैलस बड़ा होता है तो जड़ों के निकलने में देरी हो जाती है। ऐसी अवस्था में लगाने के पहले कैलस का थोड़ा हिस्सा काट कर अलग कर दिया जाता है।

किस प्रकार के और कितनी आयु के तने प्रयोग में लाये जायँ, यह अधिक महत्वपूर्ण विषय है। लोगों का ऐसा ख्याल है कि उन जातियों में जिनमें जड़ का निकलना मुश्किल होता है किशोर पौधों की कटाव शीघ्र जड़ उत्पन्न करती है। किन्तु पुराने वृक्ष बहुत कम या बहुत देर में जड़ पैदा करते हैं। जड़ और तने के कटाव में साधारण भूमि और कभी-कभी बलुई भूमि काम में लाई जाती है। गार्डनर ने कई प्रयोगों के अनुसार कहा है कि कुछ जातियाँ कीचड़-भूमि (Peat Moss) और कुछ में बलुई भूमि अधिक अच्छी होती है किन्तु इन दोनों का मिश्रण अधिक उपयुक्त होता है।

कटाव विधि बहुत लाभकर विधि है क्योंकि यह एक बड़े पौधे को मातृ-वृक्ष से निश्चित समय में आने को प्रोत्साहित करती है और यह कटाव मातृ-वृक्ष से बिल्कुल मिलती-जुलती है। बहुधा यह विश्वास किया जाता है कि कटाव से निकली जड़ें बिना क्रम के और पृथ्वी के समानान्तर बतख के पंजे की भाँति जड़ फेंकती हुई निकलती है। ऐसा होने से वृक्ष भूमि में दृढ़तापूर्वक नहीं खड़ा रह सकता और न वह अधिक गहराई से भोजन ही प्राप्त कर सकता है।

आज कल जड़ों के शीघ्र विकास के लिए अनेक रासायनिक औषधियों का प्रचलन चल पड़ा है। इनके प्रयोग से कटिंग से जड़ें बहुत शीघ्र निकल आती हैं।

ऐसी औषधियों में फिनायल एसेटिक, इन्डोल एसेटिक और नेफ्थलीन एसेटिक आदि हैं। इनके अतिरिक्त ब्यूवर्स ईस्ट भी जड़ पैदा करने के लिए प्रयोग किया जाता है जो कि विटामिन C का अच्छा साधन है। पोटैशियम परमैंगनेट, मैगनीज, सल्फेट आदि भी उपयोगी रासायनिक पदार्थ हैं। कीदूर फार्म पर इस सिलसिले में कई प्रयोग हुए किन्तु इनसे आम पर कोई फायदा नहीं हुआ। इन दवाइयों के प्रयोग का ढङ्ग यह होता है कि कटाव का नीचे वाला सिरा रासायनिक पदार्थों के साधारण घोल में लगभग २४ घंटे तक डुबाया जाता है। यह घोल .०१% का हो तो अधिक अच्छा होता है। इन रासायनिक पदार्थों के देने का अन्य ढङ्ग है। ये सिंचाई के साथ धूल के रूप में पानी में घोल दी जाती हैं। इससे ये पानी में घुल कर कटिंग को फायदा पहुँचाती हैं।

दाब लगाना (Layering)—वानस्पतिक प्रजनन की यह विधि कटाव-विधि से केवल थोड़ा अन्तर रखती है। इसमें जड़ शाखाओं के काटने के बाद नहीं निकलती बल्कि ये जड़ निकलने के बाद काटी जाती हैं। इसमें वृक्ष की शाखा या टहनी भूमि पर झुका कर मिट्टी या किसी अन्य विधि से दबा दी जाती है। कुछ समय बाद तक उपयुक्त परिस्थितियों में रखने से शाखा से जड़ें निकल आती हैं और तब इसे मातृ-वृक्ष से काटकर पृथक कर दिया जाता है। यह ढंग उसी स्थिति में अच्छा पड़ता है जब कि झुकाई जाने वाली शाखा धरातल के काफी निकट हो क्योंकि ऐसा होने से इसे भूमि या गमले में गाड़ने में सुविधा होती है। यदि यह शाखा काफी ऊपर होती है तो गमलों को ऊपर रखने का प्रबन्ध किया जाता है। जब गमले ऊपर उठाये जाते हैं तो यह ढंग बहुत मँहगा पड़ जाता है क्योंकि शाखा में जड़ निकलने के लिये निरन्तर पानी और खाद देना भी पड़ता है। यदि यह भूमि में ही दबाई जाती है तो जड़ शीघ्र निकालने के लिये भूमि के नम रखने के अतिरिक्त शाखा में एक प्रकार का अँगूठी आकार का कटाव कर देने से जड़ों के निकलने में शीघ्रता हो जाती है। दाब की विधि में समय अधिक लगता है। किन्तु इस विधि द्वारा तैयार वृक्ष कटाव-विधि की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होते हैं। शाखा से जब काफी जड़ें निकल आती हैं तो उसे मातृ वृक्ष से अलग कर दिया जाता है।

इटियोलेशन (Etiolation Method)—इंगलैण्ड में दाब लगाने की एक अन्य विधि प्रचलित है जिसका प्रचार दक्षिण भारत में भी काफी है। यह विधि सेव के प्रजनन में अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। इस विधि में एक वर्ष की आयु का पौधा लिया जाता है। उसे ४०° का कोण बनाते हुए पृथ्वी पर रख दिया जाता है। जब पौधा इस प्रकार स्थिर हो जाता है तब उसे खूँटी की सहायता से एक छिछली खाई में झुका कर गाड़ दिया जाता है और ऊपर से मिट्टी

की पतली तह डाल दी जाती है। ज्यों-ज्यों कलियाँ फूलती जाती हैं मिट्टी की तह छिड़कते जाते हैं। जब नये प्रांकुर (Shoots) निकल आते हैं तो मिट्टी छिड़कने की क्रिया बन्द कर दी जाती है। इस समय तक मिट्टी की तह ६" से ८" तक गहरी हो जाती है। प्रांकुर निकलने पर जड़ें भी निकलती हैं। जब ये कुछ बड़ी हो जाती हैं तो पूरा नया पौधा अलग कर लिया जाता है। इस नये पौधे के निकलने में इस बात की सावधानी रखी जाती है कि शाखा के अन्य नये पौधे क्षतिग्रस्त न हों, ताकि उनसे अन्य नये पौधे अधिक दिनों तक लिये जाते रहें। नये पौधे को वाँछित स्थान पर लगा दिया जाता है।

स्तम्भ दाब (Mounder Stool)—दाब लगाने का एक अन्य ढंग और है जिसे स्तम्भ दाब (Mounder Stool) कहते हैं किन्तु यह हमारे देश में अधिकतर प्रयोग नहीं किया जाता। यह ऊपर के ढंग का एक रूपान्तरित रूप है। इसमें जिस पौधे का प्रजनन करना होता है उसे पृथ्वी की धरातल से लगभग १ फुट ऊँचाई तक काट देते हैं। इस कटे भाग पर प्रांकुर निकलते हैं। प्रांकुरों के निकलने पर मिट्टी वैसे ही जमा की जाती है। जैसे-जैसे वे बढ़ते जाते हैं, मिट्टी का ढेर उनकी ऊँचाई के लगभग आधे तक जाता है। थोड़े दिनों बाद इनमें से जड़ें निकल पड़ती हैं। जड़ निकलने के बाद इन्हें मातृ वृक्ष से अलग कर लिया जाता है। सेब के वृक्ष में इसी प्रकार का प्रजनन किया जाता है। इसके अतिरिक्त अमरूद, सपोटा, नीबू, अंजीर, अंगूर, लीची आदि दाब ढंग से ही उत्पन्न किये जा रहे हैं। दाब लगाने की एक अन्य विधि भी प्रचलित है, जिसे वायु दाब (Air layering) कहते हैं। यह साधारण दाब विधि से इतना ही अन्तर रखती है कि इसमें शाखा को भूमि तक न ले आकर भूमि को ही शाखा तक ले जाते हैं।

अंटा या गूटी—यह विधि अंटा या गूटी (Gootee) के नाम से विख्यात है। इसके लिए एक वर्ष की स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट शाखा चुन ली जाती है। इसमें १"-२" लम्बाई की रिंग एक गाँठ के नीचे बनाई जाती है और उस रिंग का छिलका हटा दिया जाता है। रिंग बनाने की यह क्रिया घाव देना कहलाती है। शाखा में घाव देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसके भीतर की लकड़ी न कटने पाये। लकड़ी के कट जाने से सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है। घाव करने के पश्चात् मिट्टी तथा गनी पीस (Gunny Piece) लपेट देते हैं। लपेटे वाली मिट्टी इस प्रकार रक्खी जाती है कि घाव वाला भाग उसके बीच में पड़े और तब गनी पीस लपेट दिया जाता है। मिट्टी तर रखने के लिए वहीं-वहीं मिट्टी के छोटे छिद्रयुक्त बर्तन प्रयोग किये जाते हैं। छिद्र में एक रस्सी लगाकर इसे गूटी वाली शाखा के ठीक ऊपर इस प्रकार

बाँधते हैं कि उससे निकलने वाला पानी मिट्टी के ऊपर ही पड़े। बर्तन पानी से भर दिया जाता है। पानी भर देने पर रस्सी से होकर वह रिस्ता है और मिट्टी तक पहुँच जाता है। गड्ढे के छिद्र में रस्सी इस प्रकार लगाई जाती है कि वह गूटी की मिट्टी स्पर्श करती रहे। बर्तन में छिद्र ठीक पेंदे के मध्य में किया जाता है। यदि गूटी की क्रिया बरसात के दिनों में की जाती है तो सिंचाई का यह प्रबन्ध आवश्यक नहीं होता; किन्तु रूखे मौसम में प्रति दिन प्रातःकाल पानी देने की क्रिया की जाती है। लगभग दो महीने में रिंग या कटाव के ऊपर जड़ें निकलने लगती हैं। जब ये जड़ें काफी विकसित हो जाती हैं तो इसे दाब से अलग कर दिया जाता है। इसे वृक्ष से अलग करने पर छायेदार स्थान में रखा जाता है। कहीं-कहीं ये पौधे गमले में रखे जाते हैं और वहाँ से स्थायी स्थान पर स्थानान्तरित किये जाते हैं।

गूटी बाँधने की क्रिया लीची, अनार, नीबू, पमैले आदि अनेक फल वाले वृक्षों में की जाती है। इस क्रिया का प्रयोग अमरूद के वृक्ष में भी किया जाता है। यह उन सभी पौधों में प्रयोग की जा सकती है जिनमें दाब द्वारा प्रजनन किया जाता है; किन्तु दाब की साधारण क्रिया की अपेक्षा यह अधिक व्ययशील होती है। इस विधि में सिंचाई करने का व्यय अधिक पड़ता है। इस व्यय को बचाने के लिए एक प्रकार का प्लास्टिक रैप (Plastic Rap) प्रयोग किया जा रहा है जो अधिक मँहगा पड़ता है। ग्रूम ने कहा है कि लीची पर विटाफिल्म प्रयोग करने पर; जो पानी रोक रखती है और गैसों को आने-जाने देती है, जड़ के निकलने में अधिक समय लगता है। कभी-कभी रबड़ का पट्टा भी इसके ऊपर बाँधने में काम आता है। इसे बहुत गरम होने से बचाने तथा चिड़ियों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए कागज भी लपेट दिया जाता है। अभी हाल में ही दलदल में उगने वाली काई और रूटोन नामक पदार्थ का मिश्रण लगा कर बिना मिट्टी के सहारे और बिना सिंचाई किये ही जड़ उत्पन्न करने की विधि खोज निकाली गई है।

कलम करना (Grafting)

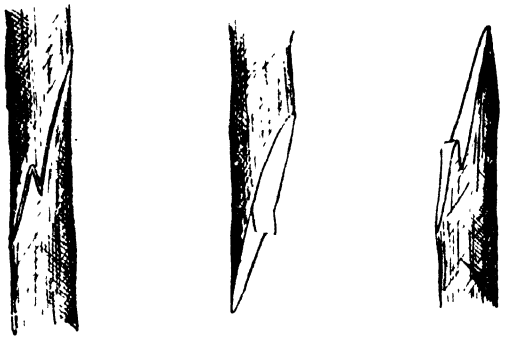
कलम करना एक पौधे के एक अंग का दूसरे पौधे के अंग में अन्तर्निवेश करने की एक कला है। यह क्रिया इस प्रकार की जाती है कि दोनों अंग आपस में जुट जायँ और अपना बढ़ाव जारी रखें। यह विधि कटाव विधि और दाब लगाने से काफी अन्तर रखती है। हमने देखा था कि इनमें मातृ वृक्ष का ही केवल एक भाग पृथक् किया जाता है किन्तु कलम की क्रिया में ऐसा नहीं होता। इसमें जो नया पौधा बनता है, वह दो वृक्षों से लिये गये सायन (Scion) और रूट स्टाक (Root Stock) का गुण रखता है। सायन कलम में प्रयोग होने वाले मातृ वृक्ष का अंग होता है। यह

भविष्य में पौधे के विकास का उत्तरदायी होता है। रूट स्टाक पौधे का वह भाग है जिस पर पूरा वृक्ष तैयार करने के लिए सायन लगाई जाती है। यह विधि बहुधा डेसीडुवस पौधों में प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग उस समय अधिक उपयोगी सिद्ध होता है जब कि मातृ वृक्ष सुषुप्तावस्था में होती है। कलम करने की अनेक विधियाँ हैं जिनमें से उत्पादक अपनी सुविधा के अनुसार कोई भी विधि प्रयोग कर सकता है।

इनारचिंग (Inarching) **या साधारण पेवन्द**—इस विधि में सायन शाखा मातृ वृक्ष में लगी होती है। यह सम्बन्ध तब तक नहीं पृथक् किया जाता, जब तक कि रूट स्टाक और सायन का जोड़ पूर्ण न हो जाय। रूट स्टाक के लिए पौधा एक अलग गमले में तैयार किया जाता है और जब वह कलम लगाने योग्य हो जाता है तो उसे सायन शाखा के निकट लाया जाता है। यदि सायन शाखा अधिक ऊँचाई पर होती है तो रूट स्टाक वाले पौधे गमले सहित मचान पर रखे जाते हैं ताकि सायन शाखा सरलतापूर्वक प्राप्त कर ली जाय। मचान बनाने के लिए बाँस या लकड़ी के खम्भे गाड़ कर इन्हें इस प्रकार बना लिया जाता है कि उस पर गमले रखे जा सकें। गमले रखने में इस बात की सावधानी रखी जाती है कि उनके हिलने-डुलने या गिरने का भय न रहे। गमलों को सावधानी से रख लेने के पश्चात् सायन और रूट स्टाक में एक २"-३" लम्बा लकड़ी तक छूते हुए, कटाव बना लिया जाता है ताकि उन्हें आपस में जोड़ने में आसानी हो। कटाव के पश्चात् दोनों को इस प्रकार मिलाते हैं कि दोनों की कैम्बियम तहें (Cambium layers) एक दूसरे से मिल जायँ। इसके लिए स्टाक और सायन की मोटाई समान होनी आवश्यक होती है। इन्हें आपस में मिलाने के पश्चात् रस्सी, चिथड़े या मोम के कपड़े से बाँध देते हैं और ऊपर से एक भाग दोमट मिट्टी, एक भाग चिकनी मिट्टी, एक भाग बालू और एक भाग गोबर का मिश्रण लगा देते हैं। यह मिश्रण आजकल अधिक प्रचलित नहीं है जितना पैराफिन क्लाथ (Paraffin Cloth)। किन्तु देहातों में अभी इनका काफी प्रचार है। मिश्रण लगाने के दो से चार महीने में जोड़ पूरा हो जाता है। जोड़ पूरा हो जाने पर सायन मातृ वृक्ष से पृथक् कर दी जाती है। सायन जोड़ के १" या २" नीचे से काटी जाती है। उसे काटने के पश्चात् रूट स्टाक के जोड़ के ऊपर वाला भाग भी काट कर निकाल दिया जाता है। यह पौधा स्थायी स्थान में लगाने योग्य हो जाता है। इनारचिंग विधि का आम के प्रकरण में विस्तृत उल्लेख किया गया है।

इनारचिंग एक बहुत सस्ते किस्म की कलम है। यह दक्षिण भारत में आम, अमरूद, सपोटा के प्रजनन में अधिकांशतः प्रयोग की जाती है। यह विधि केवल तने द्वारा ही नहीं बल्कि जड़ द्वारा भी की जाती है। यह आम में अधिकतर प्रयोग होती

है। कभी-कभी यह सेब के वृन्त में भी प्रयोग की जाती है। इसमें तने की कलम की अपेक्षा अधिक समान पौधे उत्पन्न होते हैं।



चित्र १—टंग इनारचिङ्ग

टङ्ग इनारचिंग (Tongue Inarching)—यह विधि जीभ के आकार के कटाव के ही कारण जीभ विधि कही जाती है। इसमें सायन शाखा में एक खूँटी बना ली जाती है और रूट स्टाक में ठीक उसके विरुद्ध प्रकार का कटाव बनाया जाता है ताकि दोनों का जोड़ ठीक बैठ जाय। जोड़ बन जाने के बाद रस्सी बाँधने की कोई अधिक आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि इनका अन्तर्निवेश इस प्रकार होता है कि ये निकलने नहीं पातीं किन्तु मोम या मिट्टी-गोबर का मिश्रण अवश्य लपेट दिया जाता है। यह विधि व्यापारिक ढंग पर नहीं प्रयोग की जाती।

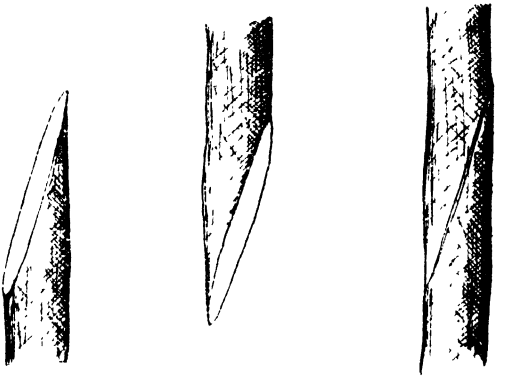
सैडिल ग्रैफ्टिङ्ग (Saddle Grafting)—इस विधि में प्रयुक्त किये जाने वाला रूट स्टाक सर्वप्रथम आड़े रूप में (transversely) काट लिया जाता है और तब दोनों ओर से ऊपर की ओर इस प्रकार काटा जाता है कि वह खूँटी के आकार का बन जाय। सायन में भी खूँटी प्रकार का कटाव बनाते हैं ताकि इस खूँटी आकार का उसमें अन्तर्निवेश भली भाँति हो जाय। सायन और स्टाक को मिलाने के पश्चात् बाँध दिया जाता है और फिर मिट्टी का मिश्रण या कलम वाली मोम लगा दी जाती है। यह ढंग नायक के अनुसार नासपाती और सेब में प्रयोग होता है किन्तु इसकी अधिक प्रसिद्धि नहीं है। यह विधि मोटे गूदेदार तन्तुओं वाले वृक्षों जैसे पपीता में सफलतापूर्वक काम में लाई जाती है।

पार्श्व कलम (Side Grafting)—आज के वानस्पतिक प्रजनन में यह विधि अधिकतर प्रयोग की जाती है। इसमें सायन का आकार खूँटा जैसा बना लिया जाता है और फिर इसे तने में २००° का कोण बनाते हुए अन्तर्निवेशित कर देते हैं। रूट स्टाक में खूँटी के बराबर कटाव करते हैं किन्तु यह कटाव यदि थोड़ा-सा अधिक हो तो और अच्छा हो। जब सायन और रूट स्टाक आपस में मिला दिये जाते हैं तो इन्हें भली भाँति बाँध कर ऊपर मोम या गोबर-मिट्टी की तह लपेट दी जाती है। चूँकि तने में कटाव एक ओर किया जाता है और सायन का जोड़ पार्श्व में पड़ता है इसलिए यह विधि

पार्श्व विधि कहलाती है। यह विधि दक्षिण भारत में अंजीर, सपोटा, मैगास्टीन और कैश्यू में भी सफल सिद्ध हुई है।

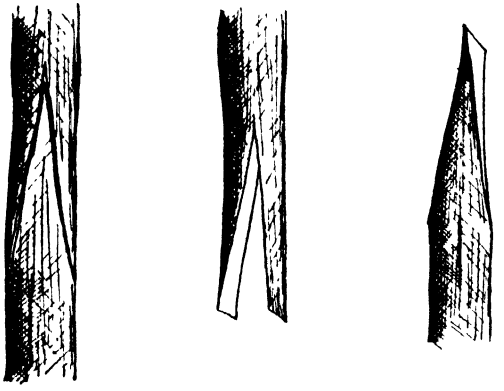
बार्क ग्रैफ्टिङ्ग (Bark Grafting)—यह विधि बार्क ग्रैफ्टिंग इसलिए कही जाती है कि इसमें कलम छिलके को चीर कर लगाई जाती है। यदि तना बहुत पुराना है और उसके छिलके फटे हुए हैं तो उसके छिलके चीरने की कोई आवश्यकता नहीं होती। छिलके और लकड़ी के बीच के स्थान में सायन थोड़ा बारीक करके डाल दी जाती है। यह क्रिया जनवरी-फर्वरी के महीने में काट कर रक्खी गई शाखा के साथ बसन्त ऋतु में करते हैं।

ह्विप ग्रैफ्टिङ्ग (Whip Grafting)—वानस्पतिक प्रजनन की यह विधि बहुत साधारण है। इसमें रूट स्टाक और सायन एक ही मोटाई के चुने जाते हैं। सायन शाखा में नीचे के सिरे पर झुका हुआ कटाव लगभग ३" लंबा बनाते हैं। रूट स्टाक में भी इस प्रकार का कटाव बनाया जाता है ताकि दोनों को मिलाने पर जोड़ पूरा मिल जाय। जोड़ के मिलने पर उसे फीतेदार रस्सी से बाँध देते हैं और फिर गोबर या मिट्टी का मिश्रण लगा दिया जाता है। यह विधि कोनूर में सेब की कलम में मुख्यतः प्रयोग की जाती है।



चित्र २—ह्विप ग्रैफ्टिंग

खूँटी कलम (Cleft Grafting)—इस विधि में कटाव खूँटी आकार का बनाया जाता है। इस विधि में सायन रूट स्टाक पर सीधे रूप में लगाया जाता है। तना भूमि से कुछ ऊँचाई पर काट दिया जाता है और फिर इसमें खूँटी प्रवेश करने योग्य कटाव किया जाता है सायन में भी कटाव खूँटी जैसा बना लिया जाता है और फिर दोनों को



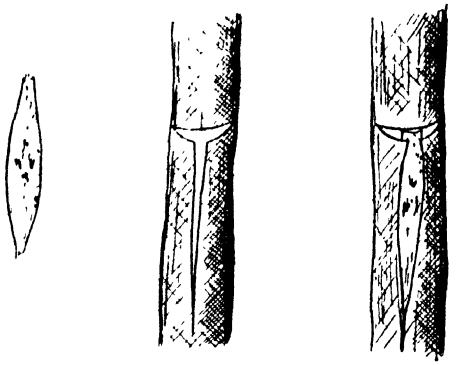
चित्र ३—क्लेफ्ट ग्रैफ्टिंग

अन्तर्निवेश कर दिया जाता है। तत्पश्चात् उसकी बँधाई करके मिट्टी और गोबर का मश्रण लगा देते हैं। यह विधि सेब और नासपाती की टाप वर्किङ्ग (Top Working) करने में सफल सिद्ध होती है। इसका प्रयोग आम में भी किया जाता है।

नोच ग्रैफ्टिङ्ग (Notch Grafting)—इस विधि में रूट स्टाक और सायन दोनों में एक डेढ़ इञ्च लम्बे दो-तीन तिकोने घाव किये जाते हैं और फिर उन्हें आपस में जोड़ दिया जाता है। यह विधि वर्ष के किसी भी समय की जा सकती है।

चश्मा बाँधना (Budding)

चश्मा बाँधने की यह विधि कलम विधि में ही सम्मिलित की जाती है। इस विधि में शाखा से आँखें या कलियाँ (Bud) निकाल ली जाती हैं और फिर इन्हें दूसरे चुने हुए पौधे में अन्तर्निवेशित कर दिया जाता है। कलियाँ सायन की गाँठ से इस प्रकार ली जाती हैं कि उनके साथ बहुत थोड़ा सा छिलका या लकड़ी भी चली आती है। यह कली रूट स्टाक के दो गाँठों के बीच के भाग में लगा दी जाती है। चश्मा लगाने की अनेक विधियाँ हैं। इनमें शील्ड बडिंग, फ्लेप और पैच बडिंग मुख्य हैं।

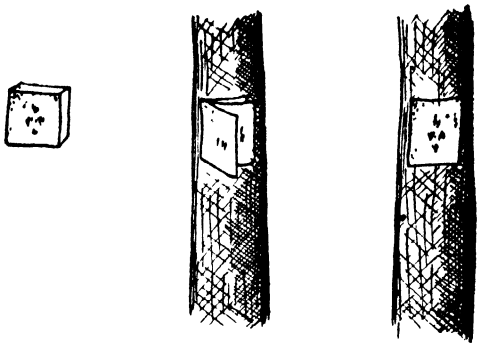


चित्र ४—शील्ड बडिङ्ग

शील्ड बडिङ्ग—चश्मा लगाने की यह विधि टी बड (T bud) भी कहलाती है। इसे शील्ड बडिंग इसलिये कहते हैं कि कली जब सायन से निकाल दी जाती है तो यह शील्ड (ढाल) आकार से बहुत कुछ मिलती-जुलती है और टी बडिंग इसलिए कहते हैं कि जब दोनों कटाव स्टाक में अन्तर्निवेशित हो जाते हैं तो इनका आकार अँगरेजी के अक्षर 'T' आकार का हो जाता है। यह विधि व्यापारिक दृष्टिकोण से नींबू जाति के फलों में अधिकांश रूप में प्रयोग की जाती है। इसमें १" लम्बा एक लम्बवत् कटाव स्टाक के चिकने स्थान पर बनाया जाता है और फिर पृथ्वी के समानान्तर एक कटाव पहले कटाव के सिरे पर समकोण बनाता हुआ बनाया जाता है। यह कटाव केवल छिलके पर होता है, लकड़ी पर नहीं। इसके पश्चात् सायन शाखा में कली चुन कर $\frac{1}{2}$" नीचे से कटाव प्रारम्भ किया जाता है और गहराई से लेते हुए कटाव इस प्रकार पूरा किया जाता है कि वह कली के $\frac{1}{2}$" ऊपर तक जाय। कली के पार्श्व से भी कटाव

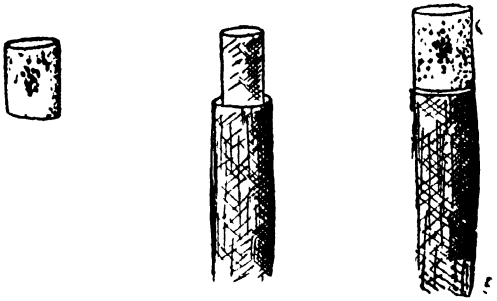
करके सावधानी के साथ कली बाहर निकाल ली जाती है। जब कली सायन से निकाल ली जाती है तो इसे स्टाक के कटाव में लगा दिया जाता है। इसे लगाते समय इसका ऊपरी सिरा समानान्तर कटाव के ठीक नीचे रखते हैं। इस क्रिया के पश्चात् फीता या केला की छाल से इसे इस प्रकार बाँध देते हैं कि कली की आँख न ढँकने पावे। १५-२० दिनों में कली से प्रांकुर निकल जाते हैं। प्रांकुर निकलने पर तना का ऊपरी सिरा काट कर पृथक् कर दिया जाता है।

पैच बडिङ्ग (Patch Budding)—यह विधि शील्ड बडिंग से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। थोड़ा अन्तर यही होता है कि छिलका, जिसमें कली होती है, आयताकार होता है। स्टाक पौधे में कटाव करने के स्थल पर उसी आकार का छिलका काट दिया जाता है और उस स्थान पर कली लगा दी जाती है। शाखा



चित्र ५—पैच बडिङ्ग

पर छिलका हटाने का स्थान बनाने के लिए दो समानान्तर कटाव $\frac{3}{4}$" से १" की दूरी पर बना लिये जाते हैं। फिर १" की लम्बाई पर इनमें लम्बवत् कटाव खींच लिये जाते हैं। इस प्रकार तने पर आयताकार या वर्गाकार पैच बन जाता है। ठीक इसी आकार का कटाव सायन पर भी करते हैं और कली निकाल ली जाती है। कली के निकालने में इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उसके नीचे का छिलका न कटने पावे। जब दोनों कटाव पूरे हो जाते हैं तो उन्हें पास लाकर जोड़ दिया जाता है। चश्मा लगाने के पश्चात् तने के ऊपर का भाग काट कर पृथक् कर दिया जाता है। यह प्रयोग वर्ष के किसी भी समय किया जा सकता है जब कि छाल सरलतापूर्वक निकल सके।



चित्र ६—रिङ्ग बडिङ्ग

रिङ्ग बडिङ्ग (Ring Budding)—यह विधि पैच बडिंग से इसलिए अन्तर रखती है कि इसमें स्टाक पौधे से छिलका मोटाई के चारों ओर से हटाया जाता है। यह कटाव भूमि के धरातल से लगभग १ फुट की ऊँचाई पर किया जाता है। इस समय

की लम्बाई $\frac{1}{2}$" से $\frac{3}{4}$" होती है। सायन शाखा से अच्छी कली निकाल कर इसमें अन्तर्निवेशित कर दी जाती है। तत्पश्चात् तने का ऊपरी भाग पृथक् कर दिया जाता है। जब दोनों कटाव पूरे हो जाते हैं तो उन्हें पास ले आकर जोड़ दिया जाता है। या जोड़ने के पश्चात् मोम या मिट्टी का मिश्रण लगा दिया जाता है। यह ढङ्ग उसी वृक्ष में प्रयोग किया जा सकता है जिसमें छिलका आसानी से निकल सके।

फारकर्ट विधि (Forkert Method)—चश्मा लगाने की यह विधि हमारे देश में आम के उद्यान में अधिकतर प्रयोग की जा रही है।

इन विधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य विधियाँ भी प्रयोग में लाई जाती हैं। जैसे, H बडिंग, फ्ल्यूट (Flute) बडिंग आदि। H बडिंग उस समय प्रयोग की जाती है जब कि सायन का छिलका स्टाक की अपेक्षा कम मोटा होता है। फ्लूट बडिङ्ग पैच बडिङ्ग से काफी मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना होता है कि सायन शाखा की किसी गाँठ से १ इंच लम्बा छिलका लिये हुए आँख निकाल ली जाती है और उसे तने में अन्तर्निवेशित कर दिया जाता है।

रूट स्टाक या तने का महत्व

वानस्पतिक प्रजनन के लिए उत्पादक रूट स्टाक को अधिक महत्व नहीं देते। वे साधारण बीजू पौधा ही प्रयोग करते हैं किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से उन्हें रूट स्टाक तैयार करने में कुछ सावधानियाँ रखनी चाहिए। नीचे हम इसके महत्व पर विचार करेंगे।

यदि नीबू जाति का पौधा तीन गुच्छाओं वाले नारंगी के रूट स्टाक पर उगाया जाता है तो वह अन्य तनों की अपेक्षा कठोर होता है। उसी प्रकार नीबू का वृक्ष जिसका रूप अव्यवस्थित होता है, ज्ञात तने पर कलम करने से मजबूत, ऊँची और मीठी नारंगी का वृक्ष तैयार करता है। कुछ जातियाँ जब रूट स्टाक की भाँति प्रयोग की जाती हैं तो उनसे नाटा वृक्ष तैयार होता है, जैसे मीठी नारंगी का तना जब बेल (Wood apple) पर कलम लगाया जाता है तो उत्पन्न वृक्ष नाटा होता है। इस प्रकार स्टाक का प्रभाव वृक्ष के आकार पर पड़ता है। कुछ रूट स्टाक रोगों की रोक-थाम करते हुए भी पाये जाते हैं। जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में देखा था, वृक्ष की जड़ के रोगी होने पर उसके तने या शाखाओं को लेकर दूसरे रूट स्टाक पर कलम लगा देते हैं, और इस प्रकार उन्हें रोग से विमुक्त किया जाता है। रूट स्टाक का फल के पकने के समय पर भी प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी रूट स्टाक का वृक्ष की उपज पर भी प्रभाव पड़ता है। कोदूर फार्म पर बेल का रूट स्टाक मीठे नारंगी पर अच्छा प्रभाव डालता हुआ पाया गया है। यह अन्य स्टाक वाले वृक्षों की अपेक्षा लगभग ३ वर्ष पहले ही फल देना आरम्भ कर देता है और इनकी उपज भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। अच्छे स्टाक से कलम करने पर फल के

आकार और गुण में वृद्धि होती है।

कलम पर स्टाक के साथ-साथ सायन का भी प्रभाव पड़ता है किन्तु स्टाक की तुलना में इसका महत्व कम है। इसका प्रभाव वृक्ष की जड़ों की संख्या, वृक्ष की सुदृढ़ता और उसके आकार आदि पर पड़ता है। पहले ऐसा समझा जाता था कि एक विशेष जाति के सभी सायन कलम के लिए उपयुक्त हैं किन्तु यह धारणा कैलिफोर्निया में किये प्रयोग से गलत सिद्ध हुई। इसमें बहुत से वृक्ष कम उपज देने वाले भी मिले। प्रयोग के आधार पर इनका कारण ढूँढ़ने पर ज्ञात हुआ कि इनके सायन की कलियाँ ऐसी शाखा से ली गई थीं जिनकी उपज बहुत ही कम थी। अतः सायन का भी उपज से गहरा सम्बन्ध होता है। कभी-कभी तो इनके प्रभाव से वृक्ष की प्रकृति ही परिवर्तित हो जाती है। अतः सायन के चुनाव में भी काफी सावधानी रखनी चाहिये। वह उत्तम जाति के वृक्ष की ऐसी शाखा से ली जाय जिसमें फल आते रहे हों।

उद्यान की सफलता में स्टाक और सायन के चुनाव का अत्यधिक महत्व है। स्टाक और सायन का जोड़ सफल बनाने के लिए उनकी मोटाई एक दूसरे के बराबर होनी चाहिये क्योंकि मोटाई में अन्तर होने पर जोड़ अच्छा नहीं हो पाता। उद्यान में कुछ ऐसे वृक्ष लगा देने चाहिये जो बराबर सायन शाखा दे सकें। सबौर फल अनुसंधान केन्द्र पर सायन ऐसे ही उगाये गये वृक्षों से ही ली जाती है; किन्तु ऐसे वृक्षों के साथ एक दोष यह होता है कि इनसे फल नहीं लिया जा सकता है। सायन और रूट स्टाक उन्हीं बीजों से लेने चाहिये जो अच्छा पौधा तैयार कर सकें, उनके फल अच्छी जाति के हों, फल अधिक परिमाण में मिलें और वृक्ष दीर्घजीवी हों। उनके वृक्ष सुदृढ़ और स्वस्थ होने चाहिये।

अध्याय ५

वृक्षारोपण

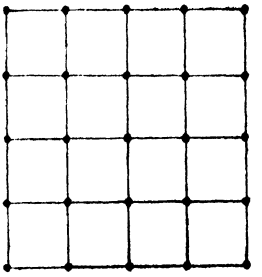
उद्यान के निर्वाचन के पश्चात् थोड़ी-बहुत जुताई-गोड़ाई करके भूमि में खाद मला दी जाती है। इस खाद के सड़ने के लिए काफी समय भी देना चाहिये ताकि यह भली भाँति सड़ कर मिट्टी में घुल-मिल जाय। इस क्रिया के बाद उद्यान में लगाने वाले पौधे चुने जाते हैं। इन पौधों के चुनने में काफी सतर्कता रक्खी जाती है क्योंकि थोड़ी-सी भी गलती से पौधों का चुनाव अच्छा नहीं हो पाता। इसके लिए कुछ विशेष बातें याद रखनी चाहिये। यदि बाग में बाजारों में मिलने वाली कलम लगानी हो तो उन्हें खरीदने में अनुभव से काम लेना चाहिये। खरीदते समय उसकी स्वस्थता देख लेनी चाहिये। कलम की आयु एक वर्ष से अधिक की नहीं होनी चाहिये। बाजारों में बहुधा बहुत बड़े-बड़े और अधिक आयु के कलम बेचे जाते हैं किन्तु वे उद्यान के दृष्टिकोण से व्यर्थ होते हैं क्योंकि उनके जड़ पकड़ने में संदेह होता है। कलम का जोड़ अच्छा होना चाहिये। पौधे देखने में होनहार और हरे लगते हों। उनकी ऊँचाई मध्यम श्रेणी की होनी चाहिये। कलम अच्छी जाति की हो और उसकी जड़ें क्षतिग्रस्त न हों। इस प्रकार चुने गये पौधे अधिक उपयुक्त होते हैं और उनका विकास भी अच्छा होता है।

वृक्षारोपण के ढङ्ग—बाग में पौधे लगाने के पूर्व एक योजना तैयार कर लेनी चाहिए। उस योजना में पौधों की स्थिति निश्चित कर दी जाती है। यदि बाग में कई प्रकार के फल लगाने की योजना हो तो उन्हें एक ही साथ न लगा कर पृथक्-पृथक् लगाना चाहिये। इसके साथ ही भिन्न ऊँचाई के वृक्ष भी एक साथ नहीं लगाये जाते हैं। ऐसे वृक्षों के लगाने से बाग देखने में सुन्दर नहीं लगता। यदि बाग की भूमि एक ही किस्म की नहीं है तो भिन्न-भिन्न किस्म की मिट्टी के कई खण्ड बना लिये जाते हैं और उनमें वे ही फल रोपे जाते हैं जो अधिक से अधिक उपज दे सकें। बाग में भिन्न-भिन्न समय पर फल-फूल देने वाले पौधे भी एक साथ नहीं लगाये जाते क्योंकि इससे फल की तोड़ाई-सिंचाई आदि में कठिनाई होती है। अतः एक समय पर फल देने वाले वृक्ष एक खण्ड में ही उगाने चाहिये। इन सब बातों पर ध्यान देते हुए वृक्षारोपण की योजना इस भाँति तैयार करनी चाहिये कि बाग में वृक्षों के उपयुक्त विकास और कृषि

कार्यों में सुविधा होते हुए अधिक से अधिक फल उगाये जा सकें। इस दृष्टिकोण से वृक्षारोपण के कई ढंग अपनाये जाते हैं जो इस प्रकार हैं :

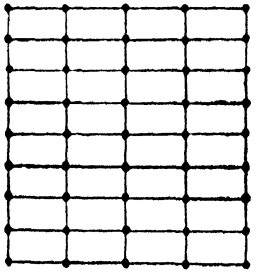
१—वर्गाकार
२—आयताकार
३—षट्भुजाकार (Hexagonal)
४—क्विन्कन्स (Quincunx)
५—कन्टूर विधि (Contour)

वर्गाकार प्रणाली से वृक्षारोपण में वृक्ष सीधी रेखाओं में रोपे जाते हैं। इसमें वृक्षों से बनने वाली आकृति की लम्बाई और चौड़ाई दोनों बराबर होती है और एक रेखा दूसरे से समकोण बनाती हुई चलती है। यह विधि साधारण उत्पादक के लिए बहुत सरल पड़ती है और वह सहज में ही इसका खाका भी तैयार कर लेता है। इस विधि में कृषि सम्बन्धी अन्यान्य क्रियाएँ सरलतापूर्वक हो जाती हैं। इस विधि में वृक्षों की संख्या प्रति एकड़ कम होती है।



चित्र ७—वर्गाकार

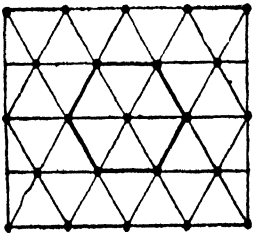
आयताकार विधि में वर्गाकार की ही भाँति योजना बनाई जाती है। कि इसमें थोड़ा अन्तर यही होता है कि इसमें आकृति की लम्बाई-चौड़ाई बराबर नहीं रखी जाती। वृक्ष से वृक्ष की दूरी, पंक्ति से पंक्ति की दूरी की अपेक्षा कम होती है। यह विधि प्रथम विधि से अच्छी पड़ती है क्योंकि इसमें पंक्तियों की पारस्परिक दूरी अधिक होती है जिससे जुताई, गोड़ाई आदि क्रियाओं में अधिक सरलता होती है; किन्तु इसमें वर्गाकार विधि की अपेक्षा वृक्ष नहीं आ पाते



चित्र ८—आयताकार

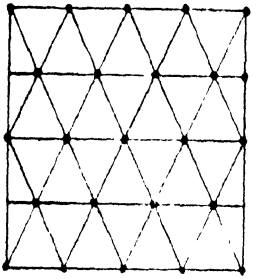
अपने गुणों के आधार पर भारत में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में इसका प्रचलन है।

षट्भुजाकार विधि कभी-कभी समत्रिबाहु त्रिभुज विधिके नाम से भी पुकारी जाती है क्योंकि इसके प्रत्येक वृक्ष त्रिभुज के कोणों में पड़ते हैं। इस विधि में वृक्षों की आपस की दूरी सदैव एक-सी रहती है कारण कि ६ भुजाएँ मि कर एक षट्भुज तैयार कर देती हैं। इसमें वर्गाकार विधि की अपेक्षा प्रति एकड़ १५ प्रतिशत अधिक वृक्ष लग जाते हैं। यदि पौधों की दूरी



चित्र ९—षट्भुजाकार

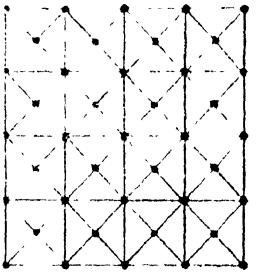
२० फीट रक्खी जाय तो वर्गाकार विधि में एक एकड़ में १०९ पेड़ आ सकते हैं किन्तु इतने ही क्षेत्र में षट्भुजाकार विधि में १२५ वृक्ष लगाये जा सकते हैं। इस प्रकार कुछ में उद्यान की भूमि व्यर्थ नहीं जाने पाती। किन्तु वृक्षों की जड़ों के विकास में बाधा अवश्य पड़ती है और वृक्ष को भोजन और नमी की प्राप्ति में कुछ कठिनाई भी होती है। इस विधि के ये दोष उचित सिंचाई और खाद देकर दूर किये जा सकते हैं। यह ढंग उस स्थान के लिए बहुत उपयुक्त है जहाँ उद्यान का क्षेत्र बहुत कम हो या भूमि मँहगी और बड़ी कठिनाई से मिलती हो। नगरों के निकट यही विधि प्रयुक्त की जा सकती है। इसमें जुताई-गोड़ाई आदि क्रियाएँ तीन दिशाओं से की जा सकती है।



चित्र १०—क्विन्कन्स

क्विन्कन्स विधि वर्गाकार विधि का एक रूपान्तर है। इसमें वृक्षों द्वारा बने प्रत्येक वर्ग के मध्य में एक वृक्ष और बढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार वृक्षों की संख्या वर्गाकार विधि की अपेक्षा दूनी हो जाती है। किन्तु वर्ग के मध्य में रोपित वृक्ष की दूरी अपेक्षाकृत कम हो जाती है, इससे उद्यान घना हो जाता है और परिणामस्वरूप जुताई-गोड़ाई में असुविधा होने लगती है। वृक्षों को सूर्य का प्रकाश भी उपयुक्त मात्रा में नहीं मिल पाता। साधारणतया यह विधि प्रयोग में नहीं लाई जाती। किन्तु जब बाग नया होता है और उसमें रोपित वृक्ष बहुत छोटे होते हैं तो उनके मध्य में कुछ अस्थायी वृक्ष लगा दिये जाते हैं। जब अस्थायी वृक्ष प्रौढ़ हो जाते हैं तो उन्हें उद्यान से निकाल दिया जाता है।

जब बाग ढलवाँ भूमि पर बनाया जाता है तो उसमें उपर्युक्त विधियों का प्रयोग नहीं होता, वहाँ कन्टूर विधि प्रयोग में लाई जाती है। इस विधि में बागलगाने के लिए ढाल पर सीढ़ीनुमा खेत बना लिये जाते हैं और इन्हीं खेतों में वृक्ष रोप दिये जाते हैं। इस विधि में सिंचाई का कोई उपयुक्त बन्धन नहीं हो पाता। प्रायः हजारे (Sprinkler) अच्छा काम देते हैं। इसमें वृक्ष की रोपाई ढाल के साथ ही की जाती है जिससे मिट्टी के कटने का कम अवसर रहे। कतारों तथा पौधों की पारस्परिक दूरी आवश्यकतानुसारकर दी जाती है।



चित्र ११—कंटूर विधि

बाग में वृक्षों की संख्या निश्चित करना—उत्पादक को उद्यान में वृक्ष

लगाने के पूर्व ही योजना बना कर वृक्षों की संख्या निकाल लेनी चाहिये। संख्या निकालने के लिए वृक्ष की लम्बाई और चौड़ाई की दूरी का गुणा कर उद्यान के पूरे क्षेत्रफल में भाग दे देने से पूरी संख्या ज्ञात हो जाती है जैसे यदि उद्यान में वृक्ष वर्गाकार विधि से लगाये गये हैं तो वृक्षों से बनी आकृति की लम्बाई-चौड़ाई बराबर होगी और यह दूरी यदि २० फीट है तो एक एकड़ में लगाये जाने वाले वृक्षों की संख्या $\frac{४८४०}{२०} \times \frac{९}{२०} = १०९$ इसी प्रकार अन्य विधियों द्वारा लगाये गये वृक्षों की संख्या भी ज्ञात कर ली जाती है, किन्तु प्रयोगात्मक ढंग पर इन वृक्षों की संख्या सही नहीं उतरती। वृक्ष कुछ कम ही लगते हैं।

पौधों की आपस की दूरी--वृक्षारोपण के समय एक वृक्ष से दूसरे की दूरी कितनी हो, यह विवादग्रस्त है। बहुत से लोग इस पक्ष में हैं कि बाग में अधिक से अधिक वृक्ष लगाये जायँ क्योंकि उनका यह कथन है कि उद्यान में अनावश्यक स्थान रिक्त रहना आर्थिक दृष्टिकोण से उचित नहीं। किन्तु यदि पौधे काफी घने लगाये गये हैं तो नमी, खाद, सूर्य के प्रकाश आदि की प्राप्ति में अड़चन पड़ती है और वृक्ष इनकी बहुत कम मात्रा प्राप्त कर पाते हैं। इस तर्क पर लोगों का कथन यह है कि उन्हें खाद और पानी की मात्रा आवश्यकतानुसार देते रहना चाहिए। प्रायः देखा यह जाता है कि उचित दूरी पर लगाये गये वृक्ष ही अधिक उपज देते हैं। दूसरी ओर घने वृक्ष अधिक खाद और सिंचाई देने पर भी अधिक उपज नहीं दे पाते। दूरी पर लगाया गया एक वृक्ष कम दूरी पर लगाये गये दूसरे वृक्ष से अधिक उपज दे सकता है; किन्तु प्रति एकड़ उपज की मात्रा पहले की अपेक्षा दूसरे में अधिक होगी। कुछ स्थानों पर वृक्ष इस भाँति लगाये जाते हैं कि प्रौढ़ होते-होते इनकी शाखाएँ आपस में रगड़ खाने लगती हैं। इससे इन्हें सूर्य का प्रकाश बहुत कम मिल पाता है। सूर्य के प्रकाश के लिए अगल-बगल न फैल कर ऊँचाई में ही बढ़ते जाते हैं। फलस्वरूप उत्पादक को वृक्ष की छँटाई, फसल की तोड़ाई आदि में बड़ी कठिनाई होती है। निचली शाखाओं पर प्रकाश न पहुँचने से उनमें फल-फूल भी नहीं आ पाते। प्रायः देहातों में वृक्ष इसी प्रकार से लगाये जाते हैं। इससे उत्पादक उद्यान से प्रारम्भिक कुछ वर्षों में काफी लाभ उठाता है क्योंकि उद्यान की प्रति एकड़ उपज अधिक होती है; किन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् उपज में घटाव प्रारम्भ हो जाता है। इससे बचने के लिए उद्यान को घना बनाना उपयुक्त नहीं होता। जब वृक्ष छोटे रहें तो उद्यान में अस्थायी पौधे लगा कर कुछ लाभ किया जा सकता है किन्तु वृक्षों की फल देने की अवस्था में पारस्परिक दूरी अधिक रखनी चाहिये।

यद्यपि उद्यान के लिए वृक्षों की आपस की दूरी निश्चित करने का कोई कठोर नियम नहीं है तथापि उत्पादक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक वृक्ष के बढ़ने के लिए पर्याप्त स्थान मिले। इस आधार पर कुछ वृक्षों की पारस्परिक दूरी निश्चित की गई है जो अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट होती है :

क्रम संख्या	वृक्ष	पारस्परिक दूरी फीट में
१.	आम, कटहल, जामुन, बेल, आँवला, बड़हर, अंजीर	३५ से ४०
२.	आम (कलमी), बेर (बीजू), आँवला	३० से ३६
३.	गुलाब जामुन, शहतूत, बेर (कलमी)	२५ से ३०
४.	सेब, नासपाती, शंतरा	३० से २५
	अमरूद (कलमी) लीची, बादाम,	,,
	फालसा, चकोतरा, लोकाट	,,
५.	नीबू, कागज़ी नीबू, ज़मीरी नीबू,	१८ से २०
	माल्टा, अनार, खजूर, शरीफा	,,
६.	केला, पपीता, अंगूर	१०

यह दूरी साधारणतया प्रयोग की जाती है। किन्तु आम के उद्यान में वृक्षों की आपस की दूरी स्थान-स्थान पर बदलती पाई जाती है। यह दूरी ३० फीट से ६० फीट तक पाई जाती है किन्तु प्रायः यह दूरी ४० फीट से ६० फीट तक ठीक होती है। उत्तर प्रदेश में उत्तर प्रदेशीय मैगज़ीन 'एग्रीकल्चर एण्ड एनिमल हज़बैण्ड्री इन उत्तर प्रदेश' में यह दूरी ३६ फीट स्वीकृत की गई है, जो यहाँ की जलवायु, भूमि आदि के अनुसार उचित है भी।

बाग में पौधों की दूरी निश्चित करने में रस्सी और बाँस की खूँटियाँ या जंजीरें प्रयोग की जाती हैं। पहली पंक्ति उद्यान के किनारे के समानान्तर बना ली जाती है। इसके पश्चात् निर्धारित की गई दूरी के अनुसार इससे अन्य समानान्तर रेखाएँ भी बना ली जाती हैं। एक ओर की रेखाएँ निश्चित कर लेने पर दूसरी ओर की भी रेखाएं निश्चित दूरी के अनुसार बना ली जाती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उद्यान वर्ग या आयत के रूप में विभक्त हो जाता है। वृक्ष इन आकृतियों के कोणों पर लगा दिये जाते हैं। प्रत्येक कोने पर बाँस की खूँटियाँ गाड़ दी जाती हैं। इस प्रकार वृक्षों की दूरी निश्चित कर लेने पर गड्ढा बनाते समय खूँटियाँ निकाल ली जाती हैं। यदि उद्यान में षट्भुजाकार विधि द्वारा वृक्ष लगाने हों तो जंजीरों की सहायता लेनी वांछनीय होती है। इसमें दो जंजीरें ली जाती हैं और इनकी सहायता से वृक्षों का स्थान निर्धारित कर लिया जाता है। वृक्ष लगाने के स्थानों पर बाँस की खूँटियाँ गाड़ दी जाती हैं और गड्ढा बनाते समय इन्हें निकाल लिया जाता है।

गड्ढे तैयार करना—रस्सियों और खूँटियों द्वारा निश्चित स्थानों पर वृक्षारोपण करने के लिए गड्ढे तैयार किये जाते हैं। गड्ढे तैयार करने में कुछ विशेष बातें

ध्यान में रखनी आवश्यक होती हैं। जिस स्थान पर खूँटी गड़ी होती है उसे केन्द्र मान कर एक निश्चित अर्धव्यास की दूरी लेकर वृत्त बना लिया जाता है। वृत्त बनाने के लिए रस्सी अच्छा काम दे सकती है। उसे खूँटी में बाँधकर उसकी लम्बाई अर्ध-व्यास के बराबर कर दी जाती है और वृत्त खींच लिया जाता है। अर्धव्यास कितना लम्बा हो, इस पर पौधे की आयु और वृक्षों की पारस्परिक दूरी का प्रभाव पड़ता है। फरमिंगर (Firminger) ने ३ फीट व्यास का गड्ढा स्वीकृत किया है। किन्तु और लोगों ने यह दूरी ४ या ५ फीट मानी है। प्रायः लोग ३ फीट व्यास वाला गड्ढा ही पसंद करते हैं। इस गड्ढे की गहराई भी ३ फीट रक्खी जाती है क्योंकि अधिक गहरा गड्ढा आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक श्रमसाध्य और व्ययशील होता है। ये गड्ढे वर्षा के पूर्व ही तैयार कर लिये जाते हैं यद्यपि वर्षा के पूर्व गड्ढा खोदना कुछ कठिन पड़ता है तथापि इसकी खोदाई उसी समय करनी उचित होती है।

कुछ लोगों ने गड्ढा बनाने की राय वृक्षारोपण से एक सप्ताह या एक माह पूर्व दी है। उनका विचार यह है कि यदि गड्ढा अधिक दिनों तक खुला छोड़ दिया जाता है तो उसमें एक कठोर सतह बन जाती है। वास्तव में उनका यह कहना सत्य भी है क्योंकि गड्ढे के अगल-बगल की मिट्टी अधिक दिनों तक खुला छोड़ देने पर जीवांश-रहित हो जाती है और इसमें नाइट्रोजन का भी अभाव हो जाता है। गड्ढे को कुछ दिनों तक खुला रखना अवश्य लाभप्रद होता है क्योंकि इससे गड्ढे में उपस्थित हानिकारक कीड़े सूर्य की सीधी किरणों से समाप्त हो जाते हैं। एक निश्चित अवधि तक गड्ढे को खुला रखने के पश्चात् उसमें खाद का कुछ मिश्रण डाल दिया जाता है। मिश्रण का परिमाण भूमि की उर्वराशक्ति पर निर्भर करता है। यदि भूमि यथेष्ट उर्वरा है तो उसमें खाद की अधिक मात्रा नहीं दी जाती। मामूली तौर पर मिश्रण की थोड़ी मात्रा मिट्टी में मिला कर दे दी जाती है। यदि भूमि बहुत निर्धन है तो उसमें मिश्रण का अधिक परिमाण दिया जाता है। इस मिश्रण में गोबर की अच्छी सड़ी खाद १३ मन, लकड़ी की राख ५ सेर, खली ५ सेर, हड्डी का चूर्ण या बोन-मील २ सेर, तालाब की एक टोकरी मिट्टी ली जाती है और इसे भली भाँति मिलाने के पश्चात् गड्ढे में भर दिया जाता है। खाद भरते समय इसकी तह गड्ढे की सतह से ६ इंच ऊपर रक्खी जाती है ताकि वर्षा का अनावश्यक पानी इस पर कुप्रभाव न डाल सके। खाद डालने में इस बात का अधिक ध्यान रखना चाहिए कि गड्ढे में ताजा गोबर न डाला जाय।

पौधे का स्थानान्तरण— जब गड्ढा भली भाँति तैयार हो जाय तो उसमें पौधों की रोपाई कर दी जाती है। साधारणतया उत्पादक बाजार की ही कलम पसंद करते हैं

और उन्हें खरीद कर अपने उद्यान में लगाते हैं क्योंकि उनमें अधिक श्रम नहीं करना पड़ता और उत्पादक नर्सरी की परेशानियों से सहज में ही बच जाता है किन्तु उनका यह ढंग दोषपूर्ण है। बाजार के कलमी पौधों में बहुधा धोखा हो जाता है। अतः उत्पादक के पास यदि समय हो और वह उद्यान से लाभ कमाना चाहता हो तो उसे नर्सरी में कलम स्वयं तैयार करना चाहिए। कलम तैयार करने की विधि पर अन्यत्र प्रकाश डाला गया है।

जब कलम नर्सरी में तैयार की गई हो तो उद्यान में उसकी रोप लगाने के लिए उसे भूमि से निकाला जाता है। इसके लिए फावड़ा या कुदाली की सहायता से कलम के चारों ओर लगभग ६"-८" की गोलाई में १ फुट गहरी खाई बना ली जाती है। जब खाई पूरी हो जाय तो एक खुरपी की सहायता से कलम लिये हुए मिट्टी का ढेला (Ball) बाहर निकाल लिया जाता है। यह ढेला कलम की आयु के अनुसार बड़ा-छोटा उस लिहाज से निकाला जाता है कि कलम की जड़ नहीं टूटने पाती। ढेला निकालने के ठीक पश्चात् उसे गड्ढे में डाल दिया जाता है। यदि कलम गमले में तैयार की गई हो तो उसे सावधानी के साथ गमले से बाहर कर लिया जाता है। यदि गमले की मिट्टी कलम को लिये हुए निकल आये तो गमला फोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। अन्यथा उसे फोड़ना जरूरी हो जाता है। कलम को नर्सरी से उद्यान तक लाने में इस बात से सचेत रहना चाहिए कि मिट्टी का गोला टूटने न पावे। अच्छा तो यह होता है कि उसके चारों ओर गीली, चिकनी मिट्टी, कपड़ा या केले की छाल बाँध दी जाती है। बाजार में बेचे जाने वाले कलम खरीदने पर उसे शीघ्र गड्ढे में नहीं डाला जाता बल्कि कुछ समय के लिए परीक्षा के हेतु एक स्थान पर रख दिया जाता है। इस अवधि में यदि वह मुरझाता नहीं है तो उसे गड्ढे में डाला जा सकता है।

पौधा रोपते समय गड्ढे में भरी मिट्टी भुरभुरी कर ली जाती है और तब एक छोटा गड्ढा बना कर कलम ढेले सहित उसमें रख दी जाती है। प्रायः पौधे का स्थान गड्ढे के बिल्कुल केन्द्र में रखा जाता है जहाँ वृक्षों की दूरी निश्चित करते समय खूँटी गाड़ी गई थी। पौधा गड्ढा में बिल्कुल सीधा रक्खा जाता है। यदि गड्ढा अधिक गहरा है और उसमें मिट्टी डालने पर कलम के तने का भी कुछ भाग मिट्टी से ढँक जाता है तो ढेले के नीचे और मिट्टी डाल कर इसे ऊपर कर लिया जाता है क्योंकि तने पर यदि थोड़ी-सी भी मिट्टी पड़ जाती है तो उसमें सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है। कभी-कभी लोग कलम के जोड़ तक मिट्टी चढ़ा देते हैं। किन्तु यह उनकी भयंकर भूल है। उन्हें ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए। पौधा लगा देने के पश्चात् गड्ढे के ऊपर की जमी हुई मिट्टी नीचे गिरा दी जाती है। कलम के चारों ओर की मिट्टी भली भाँति दबा दी जाती है जिससे उसके गिरने का भय नहीं रहता।

किन्तु इसे इतना नहीं दबाना चाहिए कि मिट्टी काफी कड़ी हो जाय। कलम का लगाना ज्यों ही समाप्त हो तत्क्षण उसकी सिंचाई कर देनी चाहिए। पानी हजारा द्वारा देना चाहिये ताकि थाले में गड्ढा न बन सके। यह सिंचाई पर्याप्त रूप से की जाती है ताकि कलम के लिए खोदा गया पूरा गड्ढा पानी से तृप्त हो जाय। यह सिंचाई कलम के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध होती है क्योंकि कलम की जड़ें शीघ्र मिट्टी पकड़ लेती हैं और पौधा मुरझाने नहीं पाता। यदि पौधा लगाने के पश्चात् वर्षा होने का संदेह हो तो पौधे का थाला ढलवाँ कर देना चाहिए जिससे अनावश्यक पानी पौधे के निकट न जमा हो सके। कभी-कभी ऐसे सुकुमार पौधे अत्यधिक धूप से मुरझा जाते हैं। इनकी रक्षा के लिए तने में महीन कपड़ा या कागज लपेट दिया जाता है।

कभी-कभी पौधे के स्थानान्तरण के समय जड़ और पत्तियों की छँटाई कर दी जाती है। इससे पौधे के जड़ पकड़ने में शीघ्रता होती है; क्योंकि उन्हें अचानक अधिक नमी या भोजन की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि पौधे के वे ही भाग छाँटे जायँ जिनके हटा देने पर पौधे के जीवन में कोई गड़बड़ी न होने पावे। जड़ों की छँटाई में मुख्य जड़ कदापि नहीं छाँटना चाहिए अनावश्यक जड़ें यदि हों तो उनके छाँट देने से कोई हानि नहीं होती।

अध्याय ६

उद्यान की भूमि का प्रबन्ध

वृक्षारोपण के पश्चात् उद्यान की देख-रेख करनी आवश्यक होती है। देख-रेख में उद्यान की जुताई, गोड़ाई, सिंचाई, खाद देना आदि क्रियाएँ महत्वपूर्ण हैं। हम यहाँ प्रत्येक का पृथक्-पृथक् अध्ययन करेंगे।

यद्यपि तराई के कुछ स्थानों पर वृक्ष लगाने के पश्चात् उद्यान की जुताई नहीं की जाती है; किन्तु हमारे प्रदेश में इस पर ध्यान देना बहुत आवश्यक होता है। यदि उत्पादक उद्यान के लिए उर्वर भूमि चुन कर पौधा लगा देता है और बाद में उसकी कोई देख-रेख नहीं करता तो उसे लाभ की कम आशा रहेगी; क्योंकि वृक्ष लगाने के पश्चात् भूमि की भौतिक स्थिति को वृक्ष के अनुकूल रखना जरूरी होता है। इसके लिए उद्यान की भूमि कुछ समय के अन्तर पर जोती-गोड़ी जाती रहनी चाहिये। जुताई-गोड़ाई का पौधों की स्थिति पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अमेरिका और योरोप के कुछ सर्द और नम भागों में उद्यान की जुताई नहीं की जाती। वहाँ बागों में एक प्रकार की घास लगा दी जाती है और उसे वृक्षों के बीच फैलने दिया जाता है। किन्तु हमारे यहाँ यह विधि प्रचलित नहीं है। लोगों का ऐसा विचार है कि उद्यान में लगी ये घासें पौधों की नमी और कुछ उपयोगी तत्व खींच कर अपनी वृद्धि में लगा लेती हैं। हावर्ड (Howard) ने पूसा के फार्म पर एक प्रयोग किया जिसमें उसने घास के कुछ पौधे उद्यान में लगाये; किन्तु उसे इस प्रयोग में कोई सफलता न मिली। १६२५ ई० में उसने दूसरा प्रयोग किया। बाग में उसने दूब घास की साड (Sod) लगाई और अनुभव किया कि इसका प्रभाव किशोर पौधों पर बहुत हानिकर होता है। उसके प्रयोग में शरीफा, लोकाट, बेर, नीबू और अमरूद के वृक्ष थे। शरीफा के वृक्ष दूब के प्रभाव से दो वर्ष में मर गये। लोकाट के वृक्ष शरीफा की अपेक्षा कुछ अधिक दिन तक जीवित रहे; किन्तु वे भी पाँच वर्षों में समाप्त हो गये। बेर के वृक्ष सात वर्ष और नीबू आठ वर्ष तक जीवित रहे। इन सभी वृक्षों में अमरूद के ही वृक्ष अधिक टिकाऊ सिद्ध हुए। इस प्रयोग में उसने यह भी अनुभव किया कि जुताई-गोड़ाई न करने से वृक्षों की ऊँचाई भी जुते-गुड़े उद्यानों के वृक्षों की अपेक्षा आधी रही। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत में उद्यान में घास लगाने की यह क्रिया सफल नहीं हो सकती।

जुताई-गोड़ाई से उद्यान को बहुत लाभ होते हैं : (१) जुताई करने से उद्यान की भूमि काफी भुरभुरी हो जाती है। इससे भूमि में वायु का आवागमन अधिक हो जाता है और वह हवादार हो जाती है। (२) जुताई का मुख्य उद्देश्य होता है—उद्यान में उगी घास-पातों का निराकरण। घास-पातों से उद्यान की नमी शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। नमी के अतिरिक्त ये वृक्षों के आवश्यक नाइट्रोजन पर भी प्रभाव डालती हैं और उसे इस प्रकार बाँध देती हैं कि वृक्ष उसे सरलतापूर्वक नहीं ले पाते। घासों के बड़ी हो जाने से उद्यान में कृषि सम्बन्धी कार्य करने में कठिनाई होती है। कभी-कभी घासों में कुछ हानिकारक कीड़े-मकोड़े भी अपने अंडे-बच्चे देने लगते हैं और अपनी वृद्धि करते हैं जिनसे वृक्षों को हानि पहुँचने का भय रहता है। जुताई करने से ये घासें नहीं रहने पातीं और भूमि से उखड़ कर जीवांश में वृद्धि करने लगती हैं। (३) भूमि की आवश्यक जुताई करते रहने से उपयोगी कीटाणुओं की वृद्धि हो जाती है। ये कीटाणु पौधों के बड़े काम के होते हैं। ये भूमि को जीवांश प्रदान करते हैं। (४) जुताई की क्रिया से भूमि की ऊपरी तह कड़ी नहीं होने पाती। इस तह के कड़ी हो जाने से वृक्षों के विकास में बाधा होती है। उनकी जड़ों का बढ़ाव रुक जाता है और कभी-कभी सिंचाई की क्रिया में भी कठिनाई होती है। जुताई करने से यह तह मुलायम हो जाती है; किन्तु साधारण जुताई भूमि की ऊपरी सतह पर ही लाभ पहुँचाती है। अतः कभी-कभी गहरी जुताई की भी आवश्यकता होती है ताकि गहराई में फैली वृक्ष की जड़ों को फैलने के लिए मुलायम भूमि मिल सके। (५) उद्यान में खाद प्रायः ऊपरी धरातल पर ही दी जाती है। जुताई से यह ऊपर से नीचे उलट-पुलट कर मिट्टी में भली भाँति मिला दी जाती है।

यदि उद्यान का क्षेत्र बहुत सीमित है तो उसमें फावड़ा या कुदाली से ही जुताई की जा सकती है। जुताई का अर्थ केवल भूमि को उलटना ही तो है। अतः फावड़ा, कुदाली या हल किसी भी यन्त्र से जुताई की जाती है। किन्तु हल की जुताई फावड़ा या कुदाली की गुड़ाई की अपेक्षा सस्ती पड़ती है। अतः ऐसे उद्यान में जिनमें हल चलाने की सुविधा हो फावड़ा या कुदाली की गोड़ाई उचित नहीं होती। हल से जुताई करने में जैसी जुताई करनी हो वैसे ही हल का प्रयोग करना चाहिये। यदि साधारण जुताई करनी हो तो देशी हल अच्छा काम देता है। किन्तु गहरी जुताई में मिट्टी पलटने वाले मोल्ड-बोर्ड हल (Soil Inverted Mould Board Plough) प्रयोग करना चाहिये। ये हल मिट्टी में बहुत गहरा चौड़ा कूँड़ बनाते हैं और मिट्टी को एक ओर पलट देते हैं। ऐसा करने से ऊपर की मिट्टी नीचे और नीचे की ऊपर हो जाती है। कभी-कभी कल्टिवेटर और हैरो भी प्रयोग किये जा सकते हैं। हैरो में डिस्क हैरो (Disc Harrow) अच्छा काम देता है। यदि बाग का क्षेत्रफल बहुत अधिक हो तो ट्रैक्टर अच्छा काम देता है।

बाग की जुताई वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य करनी चाहिये। साधारणतया यह जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से ही की जाती है। यदि उद्यान में खाद कई बार दी जाती हो तो जुताई की संख्या बढ़ा देनी चाहिये। क्योंकि खाद देने के शीघ्र पश्चात् उसे मिट्टी में मिलाने के लिए जुताई की क्रिया आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त यदि उद्यान में घास-पात बहुत शीघ्र उग आते हैं तो उन्हें दूर करने के लिए हैरो और कल्टिवेटर प्रयोग करना चाहिये। कल्टिवेटर घासों को भूमि से उखाड़ कर सतह पर ला देता है और हैरो उन्हें एकत्र कर उद्यान के बाहर कर देता है। शुष्क ऋतु में सिंचाई के पश्चात् उद्यान में नमी स्थिर रखने के लिए भी जुताई आवश्यक होती है।

जुताई करते समय इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि भूमि गीली अवस्था में कदापि न जोती जाय क्योंकि गीली भूमि में जुताई करने से भूमि की भौतिक स्थिति खराब हो जाती है। यदि भूमि कड़ी है तो हल के टूटने का भी भय रहता है और बैलों पर खिंचाव भी अधिक पड़ता है। इसके अतिरिक्त भूमि में बड़े-बड़े ढेले निकलते हैं जिन्हें सूख जाने पर तोड़ना कठिन कार्य होता है।

घास और कवर-क्राप—खेत के खुले रहने से बरसात के दिनों में भूमि-क्षरण के काफी अवसर होते हैं। यदि उद्यान की भूमि ढालवीं होती है तो उद्यान में कटाव अधिक तेजी से होता है। इस कटाव के अतिरिक्त उद्यान की भूमि का अधिक उपयोगी पदार्थ पानी के बहाव के साथ बह जाता है और इस प्रकार भूमि बहुत शीघ्र अनुर्वर हो जाती है। इन हानियों से उद्यान की रक्षा के लिए कवर-क्रापिंग (Cover Cropping) या ढँकने वाली फसलों की विधि अपनाई जाती है। इस विधि में वृक्षों के बीच के स्थानों में कुछ इस किस्म की फसलें उगाई जाती हैं जो शीघ्र बढ़ने वाली और अधिक शाखादार होती हैं। इन फसलों के उगाने से उत्पादक को कई लाभ होते हैं। प्रथम, भूमि बरसात के दिनों में कटकर बहने से बच जाती है और दूसरे, यदि वह फसल भूमि में गिरा कर हरी खाद बना ली जाती है तो भूमि को जीवांश की भी काफी मात्रा उपलब्ध हो जाती है। अतः उद्यान में वर्षा के दिनों में खुली जुताई की अपेक्षा हरी खाद की फसलें उगाना श्रेयस्कर है। इन फसलों में प्रायः दाल वाली फसलें (Leguminous crops) को अधिक प्रधानता दी जाती है; क्योंकि इनकी जड़ों की गाँठों में एक प्रकार के कीटाणु उपस्थित होते हैं जो वायु के नाइट्रोजन खींचकर भूमि में जमा करने की शक्ति रखते हैं। दाल वाली फसलों में उन्हीं फसलों का चुनाव किया जाता है जो शीघ्र उगती और बढ़ती हैं तथा जिनमें शाखाएँ तथा पत्तियाँ अधिक उगती हैं। इस दृष्टिकोण से सनई की फसल अधिक उपयुक्त होती है और हमारे देश में इसका प्रयोग भी बहुतायत से होता है। वर्षा के प्रारम्भ में इसकी बोआई कर दी जाती है और जब इसकी ऊँचाई २½"-३" हो जाती है तो इसे मिट्टी पलटने वाले हल की सहा-

यता से पलट कर भूमि में दबा देते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण वर्षा ऋतु में सड़ कर खाद बन जाती है। इसे भली-भाँति सड़ने के लिए बीच में एक बार और पलटाई कर दी जाती है ताकि ऊपर का भाग नीचे और नीचे का ऊपर हो जाता है। सनई के फसल की पलटाई वर्षा के मध्य में ही की जाती है ताकि उसके सड़ाव के लिए आधी वर्षा का समय मिले। सनई का सड़ाव तभी होता है जबकि भूमि में नमी की अधिक मात्रा उपस्थित होती है। नमी की कमी में सड़ाव देर में और अनुपयुक्त ढंग से होता है, अतः यह जरूरी होता है कि सनई की फसल वर्षा भर न रख कर बीच में ही पलट दी जाय। वर्षा भर रखने से एक तो डण्ठल बहुत बड़े हो जाते हैं जिससे सड़ाव अच्छा नहीं हो पाता और दूसरे भूमि में नमी की मात्रा इतनी कम हो जाती है कि सड़ाव सम्भव नहीं।

अध्याय ७

उद्यान की सिंचाई और खाद

वृक्षों के लिए पानी बहुत आवश्यक है। उसका उनके वानस्पतिक बढ़ाव और फलोत्पादन शक्ति पर अधिक प्रभाव पड़ता है। हमारे देश में जिन स्थानों पर अधिक वर्षा होती है, वहाँ प्रायः उत्पादक सिंचाई के पक्ष में नहीं होते। वे केवल वर्षा पर ही निर्भर होते हैं किन्तु अल्प वृष्टि या अनावृष्टि होने पर उन्हें गहरी क्षति उठानी पड़ती है। एक सफल उत्पादक को वर्षा पर कदापि भरोसा नहीं करना चाहिए। गंगा-यमुना के मैदानी भागों में भी देहातों में लोग लम्बी जड़ वाले वृक्षों जैसे—आम, जामुन, बड़हल आदि की सिंचाई नहीं करते। किन्तु व्यापारिक दृष्टिकोण से उद्यान की सिंचाई आवश्यक जान पड़ती है।

किस वृक्ष को कितना पानी दिया जाय, यह निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। पौधे की किस्म, मौसम, खाद, भूमि की किस्म आदि बातें पौधे की आवश्यक जल की मात्रा पर प्रभाव डालती हैं। प्रत्येक वृक्ष के जल की आवश्यकता भिन्न-भिन्न होती है। यदि वृक्ष की पत्तियाँ लम्बी, तना लम्बा और मोटा है तो निस्संदेह उसे पानी की अधिक आवश्यकता होगी। जैसे केला की पत्तियाँ लम्बी और चौड़ी होती हैं। पत्तियों के लम्बे-चौड़े होने से उनमें उत्स्वेदन क्रिया अधिक होती है। परिणामस्वरूप उसे पानी की अधिक आवश्यकता होती है। किन्तु दूसरी ओर बबूल के लिए बहुत कम पानी ही यथेष्ट होता है। प्रायः वृक्ष बरसात के दिनों में पानी अधिक उड़ाते हैं। गर्मियों में पानी कम मिलने के कारण ये कम जल उड़ा पाते हैं किन्तु गर्मियों में सिंचाई की अधिक आवश्यकता होती है। खाद देने से वृक्ष कम पानी चाहते हैं। इसके अतिरिक्त उष्णकटिबन्धीय वृक्ष शीतोष्ण या शीतकटिबन्धीय वृक्षों की अपेक्षा अधिक पानी चाहते हैं।

जिस स्थान पर पानी का वाटर टेबुल (Water-table) धरातल के बहुत निकट होता है वहाँ सिंचाई की कम आवश्यकता होती है। पूसा में प्रयोग करते हुए हावर्ड ने इस बात का अनुभव किया था। उन्होंने विभिन्न प्रकार के वृक्षों की जड़ें ली थीं, जहाँ वाटर टेबुल की गहराई धरातल से १६ फीट थी। उन्होंने अनुभव किया कि जड़ें एक ही प्रकार का बढ़ाव करती हैं। यह बढ़ाव ऊपर की ओर १८ इंच था। निचली सतह से कुछ जड़ें सीधे ऊपर की ओर गईं जैसे बेर, आड़ू, शरीफा, आम और लोकाट की, जबकि दूसरी

तहें वाटर टेबुल के ठीक ऊपर थीं। जाड़े के दिनों में जब ऊपरी धरातल सूख गया और सहायक जड़ें सूख गईं तो जड़ का ऊपरी गुच्छा क्रियाहीन हो गया और इसकी क्रियाहीनता सिंचाई की अनुपस्थिति में मार्च से जून तक बनी रही। इस अवधि में वृक्ष पूर्णतया जड़ के निचले गुच्छे पर ही निर्भर रहा। जब जोरों की वर्षा हुई या सिंचाई की गई तो सुषुप्त या क्रियाहीन गुच्छा ३० घण्टों में क्रियाशील हो गया। वाटर टेबुल के ऊपर उठ जाने पर नीचे की जड़ें मर गईं और वृक्ष पूर्णतया ऊपर की ही जड़ों पर अवलम्बित हो गया। इस प्रयोग से हावर्ड ने यह निष्कर्ष निकाला कि पौधों की सिंचाई आवश्यक है; क्योंकि सिंचाई न करने से ही ऊपर की जड़ें मार्च से जून तक क्रियाशून्य हो गई थीं और उनकी कुछ सहायक जड़ें सूख भी गई थीं। अतः वृक्ष को ऊपरी धरातल से जहाँ पौधों का आवश्यक भोजन अधिक मात्रा में एकत्र रहता है कोई लाभ नहीं हो सका।

सिंचाई के साधन—जैसा कि हमने पिछले किसी प्रकरण में प्रकाश डाला था, सचाई का पानी नहर, तालाब, नदी, कुएँ आदि साधनों से लिया जा सकता है। इन साधनों में उद्यान के लिए वही उपयुक्त पड़ता है जिसका सरलतापूर्वक प्रयोग किया जा सके। इन सभीसाधनों में कुएँ का पानी वृक्षों के विकास के लिये सर्वोत्तम पड़ता है। इसमें हानिकारक नमकों की कमी होती है जिनसे वृक्ष अधिक क्षतिग्रस्त होते हैं। नहर के पानी में ऐसे हानिकारक नमक अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, अतः इस पानी से सिंचाई करने पर वृक्ष को अधिक हानि उठानी पड़ती है और उद्यान की भूमि भी ऊसर हो जाती है। उत्पादक को भरसक नहर के पानी से सिंचाई करने की उपेक्षा करनी चाहिये। उद्यान में वे ही साधन प्रयोगों में लाने चाहिये जिनसे वृक्षों का अधिक बढ़ाव हो सके। यदि उद्यान में कुएँ का प्रबन्ध किया गया है तो उससे पानी निकालने के लिए वे ही यंत्र काम में लाने चाहिये जिनसे कम से कम समय में अधिक से अधिक सिंचाई कम खर्च में ही हो जाय। यदि कुआँ अधिक जल देने वाला हो तो उसमें ट्यूब वेल लगाना उपादेय होता है किन्तु ट्यूब वेल की उपयोगिता उसी समय मिलती है जबकि उद्यान अधिक क्षेत्र में होता है।

सिंचाई की विधि—सिंचाई करने की कई विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। उत्पादक को अपने उद्यान में सिंचाई की वही विधि काम में लानी चाहिए जिसमें पानी के बहने, सूखने और उड़ने के कम अवसर हों। जो भी विधि काम में लाई जाय उसमें इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि सिंचाई की नाली में घास-पात न उगे हों। यदि उगें भी तो सिंचाई के समय उन्हें उखाड़ कर फेंक देना चाहिये। कभी-कभी उद्यान में जिस विधि से सिंचाई करनी होती है उसी प्रकार की पक्की नालियाँ बना ली जाती हैं। पक्की नालियों से पानी के टूट कर बहने का कोई अवसर नहीं होता। इन्हें बनाने में जो व्यय पड़ता है वह एक ही बार पड़ता है, कच्ची नालियों की भाँति बार-बार नहीं

पड़ता। किन्तु इसमें दोष यह है कि बनाने के बाद सुधार की कोई गुँजाइश नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त साधारण उत्पादक इनके बनवाने का खर्च भी नहीं दे पाते। दूसरी ओर सिंचाई की कच्ची नालियाँ बहुत कम समय में साधारण औजारों से ही बना ली जाती हैं। इनका आकार उतना ही रक्खा जाता है जितनी आवश्यकता होती है। सिंचाई के पश्चात् इन्हें खेत की जुताई के साथ जोत दिया जाता है इससे कृषि-कार्यों में कठिनाई नहीं पड़ती। किन्तु इन नालियों में पानी टूट कर बह जाने, घास-पातों के बढ़ आने आदि के अधिक अवसर होते हैं। इनके बनाने में कुछ न कुछ प्रत्येक वर्ष व्यय करना पड़ता है। पक्की नालियाँ कुछ दोषों के होते हुए भी इनसे अच्छी पड़ती हैं। अतः उद्यान में पक्की नालियाँ ही काम में लाई जानी चाहिये।

सिंचाई की विधियाँ

सिंचाई करने की दो विधियाँ अधिक प्रचलित हैं: (१) बेसिन (Basin) विधि, (२) रिंग (Ring) विधि।

बेसिन विधि में उद्यान की लम्बाई के समानान्तर मुख्य नाली बना ली जाती है और उससे वृक्षों की प्रत्येक कतार में सहायक नालियाँ इस प्रकार बनाई जाती हैं कि उस पंक्ति के वृक्ष नाली के बीच में पड़ें। वृक्ष के पास की कुछ भूमि प्लेटफार्म के आकार में छोड़ दी जाती है ताकि वृक्ष की जड़ पानी के सीधे सम्पर्क में न आवे। इस प्लेटफार्मके बनाने के बाद सिंचाई की नाली तैयार की जाती है और उसे सहायक नाली से जोड़ दिया जाता है। इस विधि द्वारा पंक्ति के एक वृक्ष के बाद दूसरे वृक्ष और एक पंक्ति के बाद दूसरी पंक्ति सीधी जाती है।

सिंचाई की दूसरी विधि रिंग विधि है। इसमें मुख्य नाली बेसिन विधि की ही भाँति बना ली जाती है। मुख्य नाली से सहायक नालियाँ इस प्रकार निकाली जाती हैं कि प्रत्येक सहायक नाली अगल-बगल की पंक्तियों के बीच में पड़ें फिर इनसे उपसहायक नालियाँ बनाई जाती हैं और उन्हें वृक्ष के थाले से सम्बन्धित कर दिया जाता है। थाले में वृक्ष केन्द्र में पड़ता है और इसके चारों ओर २-३ फीट चौड़ा और एक फुट ऊँचा प्लेटफार्म बनाते हैं। इस प्लेटफार्म के चारों ओर से दो फीट चौड़ी सिंचाई की नाली तैयार कर ली जाती है। पानी मुख्य नाली से सहायक नाली में और फिर उपसहायक नाली में पहुँच कर वृक्ष की सिंचाई करता हुआ आगे बढ़ जाता है। इसमें एक ही बार दो वृक्ष और दो पंक्तियाँ सींची जाती हैं। यह विधि छोटे पौधों के लिए अधिक उपयुक्त होती है। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने सिंचाई की ये ही विधियाँ स्वीकृत की हैं और इसे अधिक आर्थिक और वैज्ञानिक बताया है।

इन विधियों के अतिरिक्ति फरो विधि (Furrow Method) भी काम

में लाई जाती है। वृक्षों की दो कतारों के बीच ६-७ की संख्या में पतली कूँड़ें बनाई जाती हैं। इनकी चौड़ाई और गहराई कम से कम रक्खी जाती है। इनका ढाल भूमि के ढाल की ओर रक्खा जाता है। इनकी लम्बाई अधिक नहीं रक्खी जाती; किन्तु कड़ी भूमि में लम्बाई बढ़ा दी जाती है। टेलर (Tayler) ने यह लम्बाई २०० से ४०० फीट मानी है। मुलायम भूमि में अधिक लम्बाई रखने से भूमि के कटने और पानी रिसने का भय होता है मुख्य नाली से पानी इन कुँओं में आता है। पानी आने से नालियों के अगल-बगल की भूमि गीली हो जाती है और इस प्रकार सम्पूर्ण उद्यान की सिंचाई हो जाती है। यह विधि प्रौढ़ वृक्षों में ही प्रयोग की जाती है जहाँ पानी का अभाव होता है।

कभी-कभी सिंचाई उद्यान की पूरी भूमि को पानी से भर कर की जाती है। किन्तु यह व्यापारिक दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं है। विदेशों में अधःतल की सिंचाई विधि काम में लाई जाती है। किन्तु हमारे यहाँ अभी इसका प्रचार नहीं है। इसमें भूमि-के निचले धरातल में निश्चित आकार के पाइप बैठा दिये जाते हैं। ये पाइप छिद्र युक्त होते हैं जिनसे पानी निकल कर भूमि को गीली बना देता है। छोटे-छोटे पौधों में छिड़काव विधि से भी सिंचाई की जाती है। अभी हाल में आधुनिकतम प्रयोगों से आकाश सिंचन प्रणाली का भी सूत्रपात हुआ है। किन्तु अभी इसका प्रचार अधिक नहीं है।

उद्यान की सिंचाई करते समय इस बात की काफी सावधानी रखनी चाहिये कि वृक्ष पानी की उतनी ही मात्रा पा सकें जितनी उन्हें आवश्यक हो। वृक्ष में अत्यधिक पानी देना लाभकर नहीं होता। इससे जड़ के निकट के उपयोगी तत्व अधिक पानी में घुल कर निचली धरातल में चले जाते हैं जिससे उन्हें वृक्ष काम में नहीं ला पाते। कभी-कभी बराबर पानी देते रहने से भूमि का वाटर टेबुल ऊपर उठ आता है जिससे जड़ों के कार्य में बाधा उत्पन्न हो जाती है और वे कभी-कभी अपना कार्य भी बन्द कर देते हैं। अधिक पानी देने से भूमि की भौतिक दशा के बिगड़ जाने का भी भय रहता है। अतः उत्पादक को सिंचाई करते समय काफी सतर्क रहना चाहिये ताकि वृक्ष अत्यधिक पानी न पाने पावें। यदि उद्यान की भूमि काफी नीची या ढालवीं है तो निचली सतहों में वर्षा के पानी का जमा हो जाना भी स्वाभाविक बात है। इससे उस भाग के वृक्ष कुप्रभावित होते देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में इस पानी का निकास अत्यावश्यक होता है। इस जल के निकास के लिए उत्पादक को शीघ्र ही ड्रेनेज (Drainage) का प्रबन्ध करना चाहिये। ड्रेनेज धरातलीय या अधःतलीय होता है। इससे अधःतलीय विधि ही अधिक उपयुक्त होती है क्योंकि इसमें धरातलीय विधि की भाँति नालियाँ ऊपरी सतह पर नहीं बनाई जातीं, अपितु भूमि के नीचे पाइप लगा

दिये जाते हैं जिनमें पानी ऊपरी धरातल से रिस-रिस कर जमा होता है और बाहर निकल जाता है।

वृक्षों में पानी की कम मात्रा देना भी हानिकर होता है। वृक्ष अपना भोजन घोल रूप में ग्रहण करते हैं। भोजन को घोल रूप में परिवर्तित करने के लिए पानी ही अच्छा घोलक होता है जिसकी वृक्ष को सदैव आवश्यकता होती है। यदि भूमि में पानी की कमी है तो वृक्षों के भोजन का घोल अच्छा नहीं बन पायेगा। यदि भूमि में उपस्थित पानी की मात्रा में वृद्धि नहीं की जाती है तो वह धीरे-धीरे समाप्त होती जायगी, और एक समय ऐसा आयेगा कि भूमि में पानी की अन्तिम इकाई उपस्थित होगी। इस इकाई के पश्चात् पानी समाप्त हो जायगा और वृक्ष मुरझाना प्रारम्भ कर देगा। मुरझाने का यह विन्दु म्लान विन्दु (Wilting Point) कहलाता है। म्लान-विन्दु पर पहुँच जाने से उत्पादक को बहुत हानि उठानी पड़ती है। इस विन्दु पर यदि वृक्ष की पत्तियाँ गिरती नहीं तो फल का आकार अवश्य घट जाता है। अतः भूमि में उपयुक्त नमी स्थिर रखने के लिए उत्पादक को आवश्यक उपाय करना चाहिये। नमी की कमी से भूमि की P^H कम हो जाती है।

खाद

भूमि वृक्षों के उपयोगी तत्वों का भण्डार है। इसमें अन्यान्य तत्व और यौगिक भिन्न-भिन्न परिमाण में उपस्थित रहते हैं। यह मात्रा सभी स्थान पर एक-सी नहीं होती और न सभी तत्व ही सभी जगह उपस्थित होते हैं। भूमि में जब वृक्ष रोप दिये जाते हैं तो वे अपना भोजन इसी भूमि से प्राप्त करते हैं। किन्तु भूमि उन्हें सदैव बराबर परिमाण में खाद्य-तत्व नहीं दे पाती। उसमें धीरे-धीरे वृक्षों द्वारा लिये गये तत्वों का अभाव होता जाता है और कभी-कभी इनकी मात्रा शून्य भी हो जाती है। ऐसी अवस्था में वृक्ष का जीवन स्थिर रखने के लिए भूमि में उन तत्वों का समावेश आवश्यक होता है। जिनकी उसमें कमी होती है। साथ ही अच्छी उपज लेने के लिए उन प्रत्येक तत्वों को भूमि में देना आवश्यक होता है जो वृक्ष का सन्तुलित भोजन बनाते हैं। पौधे भी सन्तुलित खाद्य-तत्वों की उतनी ही आवश्यकता रखते हैं जितनी कि मानव जाति अपने लिए सन्तुलित भोजन की। भूमि में इन्हीं तत्वों का देना खाद कहलाता है।

पौधों के रासायनिक विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि पौधों के लिए कार्बन, आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फासफोरस, पोटाश, कैल्शियम, मैगनिशियम, लोहा और गन्धक अधिक आवश्यक तत्व हैं। इनमें प्रारंभ के तीन तत्व अधिक मात्रा में आवश्यक होते हैं। शेष अपेक्षाकृत कम परिमाण में वांछनीय होते हैं। किन्तु नाइट्रोजन, पोटाश और फासफोरस अत्यन्त आवश्यक तत्व हैं। यद्यपि इन तत्वों के अतिरिक्त

मैंगनीज, ताँबा, जस्ता, बोरान आदि कुछ गौण तत्व भी काम में आते हैं, किन्तु इनकी अधिक आवश्यकता नहीं होती। नाइट्रोजन, फारफोरस और पोटाश के बिना उद्यान से अच्छी फसल लेना असंभव है। इनकी कमी पर उपज अच्छी नहीं आ पाती; किन्तु अधिकांश उत्पादक इनकी पूर्ति पर ध्यान नहीं देते। यदि ध्यान भी देते हैं तो अनुचित मिश्रण प्रयोग करते हैं जो हानिकर सिद्ध होता है। अनेक फलों और फल की पत्तियों के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि फल के वृक्ष पोटाश की अधिक आवश्यकता रखते हैं। नाइट्रोजन की इससे कुछ कम और फासफोरस की बहुत थोड़ी। सबौर अनुसंधान केन्द्र पर आम की सफल कृषि के प्रयोग में ज्ञात किया गया है कि इन वृक्षों को नाइट्रोजन, फासफोरस, और पोटास की १.०.२७: १.१ के अनुपात में आवश्यकता होती है। वहाँ वह भी ज्ञात किया गया है कि प्रौढ़ आम का वृक्ष १.६ पौण्ड नाइट्रोजन की आवश्यकता रखता है। चन्दलर (Chandler) ने एक प्रयोग से ज्ञात किया कि नीबू जाति के फल अनेक फसलों और डेसीडुअस (Deciduous) फलों की अपेक्षा अधिक नाइट्रोजन चाहते हैं। कैम्प और फूज (Camp and Fudge) ने कहा है कि फ्लोरिडा में नीबू जाति के फलों के उद्यान में ताँबा, जस्ता, मैंगनीज, लोहा. और बोरान के अभाव के लक्षण पाये गये हैं। प्रयोगों से यह भी ज्ञात हुआ है कि मैंगनिशियम के प्रयोग से नारंगी और अँगूर के फलों में उपज की वृद्धि के अतिरिक्त चीनी और विटामिन ः की वृद्धि होती है और रस का स्वाद भी बढ़ जाता है। पारकर और साउथ बिक ने कैलिफोर्निया में मैंगनीज के अभाव के लक्षण ज्ञात किये हैं और बताया है कि अभाव यदि अधिक न हो तो इसे उपयुक्त छिड़काव से दूर किया जा सकता है। पारकर और जोन्स (Parker & Johns) ने १६२७ ई० में प्रारंभ किये गये एक फर्टिलाइजर प्रयोग से यह विदित किया कि प्रारंभिक वर्षों में वृक्ष पर पोटाश का कोई प्रभाव नहीं रहा। किन्तु बाद में इसका अभाव फलों के आकार पर स्पष्टतः पड़ा और उपज में वृद्धि हुई। वृक्ष में जब पोटाश नहीं दिया गया था तो उसकी उपज में कोई वृद्धि नहीं थी और न फलों का आकार ही बड़ा था। किन्तु जीवांश के साथ जब पोटाश वृक्ष को दिया गया तो फलों के आकार में काफी वृद्धि हुई। बचलर (Batchelor) ने कहा था कि वृक्ष के लिये नाइट्रोजन बहुत आवश्यक है। किन्तु फासफोरस और पोटाश का प्रभाव घास-पात, कवर क्राप (CoverCiop) और फल वृक्ष के बढ़ाव पर बिल्कुल नहीं पड़ता हैं। किन्तु इसके इस कथन में सत्यता का अधिक अनुभव नहीं होता क्योंकि पोटाश का फलों के आकार पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यह माना जा सकता है कि फासफोरस की उपस्थिति फल के लिये उतनी आवश्यक नहीं जितनी कि नाइट्रोजन और पोटास। किन्तु फिर भी इसका प्रभाव फलों के स्वाद और जड़ों के विकास पर काफी पड़ता है। कैलिफोर्निया में नीबू के उद्यान में अध्ययन करते हुए

अलड्रिक और कूनी (Aldrich & Cooney) ने कहा था कि नीबू में भी फासफोरस की कमी होती है। किन्तु दूसरी ओर चन्द्रलर ने भी नीबू भाँति के फलों का अध्ययन करते समय इस बात का अनुभव किया था कि इन फलों को फासफोरस के प्रयोग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जब तक कि इसका अभाव अधिक न हो।

अतः हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पौधे नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश के अतिरिक्त भी अनेक तत्वों की आवश्यकता रखते हैं जो उनकी वृद्धि में सहायक होती हैं और इन तत्वों की पूर्ति भी उतनी ही आवश्यक होती है जितनी नाइट्रोजन, फास फोरस और पोटाश की। लोगों का ऐसा विचार है कि इन तत्वों के अतिरिक्त अन्य आवश्यक तत्व भूमि में अधिक परिमाण में उपस्थित होते हैं, इसलिये उनकी पूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु यह बात सभी स्थानों पर नहीं पाई जाती। आधुनिकतम अन्वेषणों से यह भी ज्ञात किया गया है कि इन तत्वों के उचित परिमाण में यदि थोड़ी भी कमी हो जाती है तो उसका उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। मैगनिशियम के प्रभाव का अध्ययन हमने ऊपर किया है। इस तत्व के अतिरिक्त डेविडसन (Davidson) के अनुसार पौधों में कैलशियम जस्ता और बोरान की भी कमी पाई जाती है कैम्प और फुज ने इन तत्वों की सूची में लोहा और ताँबा को जोड़ दिया था। इन तत्त्वों का बहुत कुछ अभाव शीघ्र ही दूर किया जा सकता है। जिस तत्व के अभाव के लक्षण प्रतीत हों उन्हें इंजेक्शन द्वारा वृक्ष के तने में दे दिया जाता है। कभी-कभी वृक्ष की पत्तियों पर तत्व का छिड़काव कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक ढंग और यह है कि उस तत्व का फर्टिलाइजर भूमि में मिला दिया जाता है और इस प्रकार उसकी कमी दूर की जाती हैं। किन्तु सबसे बढ़िया ढंग है, खाद जीवांश पदार्थ के साथ देना। इससे उस तत्व विशेष की कमी तो दूर होती ही है, भूमि अन्य आवश्यक तत्वोंसे भरपूर हो जाती है। प्रयोग करने की ये विधियाँ सभी प्रकार के तत्वों की अभाव पूर्ति में लाई जाती हैं।

नाइट्रोजन देने की विधि प्रायः जीवांश पदार्थों के साथ देने की है। जीवांश पदार्थों के साथ देने से नाइट्रोजन की कमी तो दूर हो ही जाती है फासफोरस तथा पोटाश का भी अभाव कुछ अंश में दूर हो जाता है। हमारे देश की भूमि में नाइट्रोजन का अभाव यथेष्ट रूप से है। इसकी तुलना में फासफोरस और पोटाश अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। प्रयोगों से ऐसा ज्ञात किया गया है कि नाइट्रोजन की अनुपस्थिति में फासफोरस और पोटाश का भी प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। अतः ऐसी स्थिति में जबकि भूमि में अन्य दोनों आवश्यक तत्व उपस्थित हों केवल नाइट्रोजन देने वाला फर्टिलाइजर—अमोनियम सल्फेट या सोडियम नाइट्रेट देना चाहिये। किन्तु भूमि में यदि नाइट्रोजन और फासफोरस दोनों तत्वों की कमी है तो वैद्यनाथन के अनुसार

सुपर फास्फेट का प्रयोग अच्छा सिद्ध होता है। पंजाब में किये गये २० वर्षों के खाद के प्रयोगों के आधार पर जान्सटन (Johnston) ने कहा है कि हरी खाद का प्रभाव बनावटी नाइट्रोजन देने वाली खादों की अपेक्षा अच्छा पड़ता है। उन्होंने आगे कहा है कि गोबर की खाद और बनावटी खाद का मिश्रण भी अधिक उपयोगी होता है। गोबर की खाद पर जोर डालते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि आर्थिक दृष्टिकोण से गोबर की खाद बनावटी खाद की अपेक्षा अधिक उपादेय है क्योंकि उससे भूमि को बहुत सस्ते रूप से नाइट्रोजन और जीवांश उपलब्ध हो जाता है।

वृक्षों के आवश्यक तत्वों में फासफोरस और पोटाश की अपेक्षा नाइट्रोजन तत्व महत्वपूर्ण है। नाइट्रोजन की आवश्यकता उस समय अधिक मात्रा में होती है जब कि वृक्षों में वानस्पतिक उत्पादन तीव्रगति से होता रहता है। प्रायः यह अवस्था उसके उगने से प्रौढ़ होने के पूर्व तक होती है। किन्तु फल आने की आयु में नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता नहीं होती। अतः इस तत्व की मात्रा इसकी प्रौढ़ावस्था में कम कर दी जाती है। किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि वृक्ष को नाइट्रोजन की कितनी मात्रा देनी उपयुक्त होती है? बैचलर ने कहा है कि कैलिफोर्निया में नीबू जाति के फलों के बाग में प्रति एकड़ १८०-२५० पौं० नाइट्रोजन दी जाती है। पायः एक वृक्ष को प्रतिवर्ष ३ पौं० की आवश्यकता होती है जो ३०० पौं० गोबर की की खाद या १५० पौं० गोबर की खाद और ७ पौं० अमोनियम सल्फेट से पूरी की जा सकती है। यह मात्रा वृक्ष की आयु के साथ घटती जाती है। नाइट्रोजन की अधिकता होने से वृक्ष में वानस्पतिक उत्पादन बढ़ जाता है, पत्तियाँ और कलियाँ अधिक हो जाती हैं जिससे वृक्ष में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है। वृक्ष में कलियों और पत्तियों के बढ़ने से उपज में कमी हो जाती है।

अध्याय ८

पौधों की छँटाई (Pruning)

कटाई-छँटाई की कला आज से नहीं अपितु बहुत प्राचीन काल से प्रयोग होती आ रही है। आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में बाइबिल के प्राचीन लेखकों ने आने वाले काल के लिए कहा था कि मनुष्य अपनी तलवारें हल के फाल में बदल देंगे और भाले छँटाई के रूप (Pruning Hook) में। ईसा मसीह ने भी अँगूर की छँटाई का उल्लेख किया था। अँगूर की छँटाई का वर्णन बहुत से यूनानी कहानियों में भी मिलता है। साईनलस नामक एक यूनानी व्यक्ति ने इस बात का अनुभव किया कि उसके उद्यान में अँगूर की लताओं ने अपेक्षाकृत अधिक फल उत्पादित किया जो उसके गदहे द्वारा चर ली गई थीं। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि जिस प्रकार वृक्ष की वृद्धि के लिए जल की मात्रा, उपयुक्त खाद आदि आवश्यक होती है उसी प्रकार पौधों की कटाई-छँटाई भी आवश्यक होती है परन्तु यह सभी वृक्षों में एक समान नहीं होती। किसी में कम तो किसी में अधिक होती है। छँटाई का समय भी एक सा नहीं होता। किसी वृक्ष में छँटाई कम आयु में की जाती है और किसी में कुछ अधिक आयु होने पर। हम नीचे इन्हीं बातों पर प्रकाश डालेंगे।

छँटाई की विधि जानने के पूर्व इस बात का ज्ञान कर लेना आवश्यक पड़ता है कि छँटाई की क्रिया क्या चीज है। डब्लू० बी० हेज ने छँटाई की परिभाषा इस प्रकार की है, "छँटाई का अर्थ है पौधों के किसी भी अंग का इस दृष्टिकोण से निराकरण कि अवशेष भाग छँटाई करने वाले की इच्छा के अनुकूल हो।" वास्तव में छँटाई की क्रिया एक कला है, जिसका वृक्ष के विकास, आकार और फल देने की क्षमता से गहरा सम्बन्ध होता है। वृक्ष से उत्पन्न होने वाले फल पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। यदि वृक्ष किसी रोग से ग्रस्त होता है तो रोगी शाखाओं या टहनियों को छाँट कर उसे निरोग बनाया जा सकता है। छँटाई की क्रिया से वृक्ष का आकार-प्रकार बदला जा सकता है और उसे वांछित आकार प्रदान किया जा सकता है। किन्तु यह क्रिया केवल किशोर पौधों में ही होती है। बड़े वृक्षों में छँटाई का अर्थ केवल उनकी उत्पादन शक्ति बढ़ाना होता है। उत्पादक का उद्देश्य उद्यान से अधिक फल प्राप्त करना और लाभ कमाना होता है। वह यह भी चाहता है कि कम से कम व्यय में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो जाय। पौधों का आकार बनाना और उसमें सुन्दरता लाना उसके लिए महत्व की बात नहीं है। छँटाई

से शीघ्र ही फूल आने लगते हैं और वांछित आकार और गुण वाले फल प्राप्त किये जा सकते हैं। इस क्रिया द्वारा अच्छी जाति के वृक्ष से शीघ्र फल लिये जा सकते हैं और इनकी रक्षा भी की जा सकती है। छँटाई की क्रिया में प्रायः वृक्ष की शाखाएँ और पत्तियाँ ही काट कर अलग की जाती हैं। कभी-कभी छोटे फलों की भी छँटाई की जाती है ताकि शेष फल बड़े आकार के हो सकें। यह क्रिया थीनिंग (Thinning) के नाम से विख्यात है। फल की छँटाई के अतिरिक्त जड़ की भी छँटाई होती है। इसके सिद्धांत छँटाई के सिद्धांत से भिन्न होते हैं। यह जड़ की छँटाई (Root pruning) के नाम से प्रसिद्ध है।

वृक्षों का विकास प्रकृति द्वारा संतुलित रूप में होता है। न तो उसकी शाखाएँ या पत्तियाँ ही अधिक होती हैं और न जड़ ही। यदि बाह्य रूप से पौधे के आकार में थोड़ा भी परिवर्तन किया जाता है तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण वृक्ष पर पड़ता है। जड़ें भूमि से पानी और आवश्यक तत्व शोषित करके ऊपर की ओर तनों, शाखाओं तथा पत्तियों तक भेजती हैं। पत्तियाँ वायुमंडल से कार्बन डाइ आक्साइड लेकर सूर्य के प्रकाश में जड़ द्वारा भेजे गये तत्वों की उपस्थिति में कार्बन एसिमिलेसन (Carbon assimilation) की क्रिया करती हैं। इस क्रिया के परिणामस्वरूप कार्बोहाइड्रेट निर्मित होता है जो संपूर्ण वृक्ष का भोजन है। इस प्रकार पौधे की जड़ों और पत्तियों में अटूट संबन्ध है। जड़ों से पत्तियों को और पत्तियों से जड़ों को लाभ है। अर्थात इन्हीं दोनों की क्रियाशीलता से वृक्ष का जीवन स्थिर रहता है। यदि वृक्ष की जड़ का कुछ भाग काट दिया जाता है तो जड़ की शोषण शक्ति में कमी आ जायगी। अब वह पानी और आवश्यक तत्वों की मात्रा उस अनुपात में नहीं शोषित कर सकती जितनी पहले करती थी। इससे वृक्ष के आकार में कमी आ जाती है और लगभग संपूर्ण वृक्ष क्षतिग्रस्त हो जाता है। यह क्षति तब तक बनी रहती है जब तक नई जड़ें नहीं निकल आतीं। इस अवधि में वृक्ष का विकास भी रुक जाता है। दूसरी ओर वृक्ष के ऊपरी भाग का एक अंश पृथक कर दिया जाता है तो वृक्ष की पत्तियाँ कम हो जाती हैं और फलस्वरूप पेड़ को उतना कार्बोहाइड्रेट नहीं मिल पाता जितना कि पहले मिलता था और यह रीति तब तक बनी रहती है जब तक कि नई शाखाएँ नहीं निकल आतीं। तात्पर्य यह है कि वृक्ष के किसी भाग के काटने पर उसके संपूर्ण अंग पर प्रभाव पड़ता है। जब कभी वृक्ष के किसी अंग में हस्तक्षेप किया जाता है तो अन्य भागों को अधिक कार्य करना पड़ता है बशर्ते यह हस्तक्षेप सीमा के बाहर न हो। यदि वृक्ष की कोई शाखा या जड़ काट दी जाती है तो वृक्ष के शेष अन्य भाग इस बात की अधिक चेष्टा करते हैं कि यह कटा अंग शीघ्र पूर्ण हो जाय, इसके लिये वहाँ भोजन सामग्री अधिक परिमाण में भेजी जाती है। क्योंकि इस अंग के कटे रहने से सम्पूर्ण अंग को थोड़ी-बहुत हानि उठानी पड़ती है। अस्तु, छँटाई की क्रिया में इस बात की विशेष

सावधानी रखी जाती है कि छँटाई सीमा के भीतर ही हो। शाखाओं और पत्तियों की छँटाई की जाती है तो जड़ों द्वारा शोषित आवश्यक तत्व वृक्ष में संचित रहते हैं, क्योंकि शेष पत्तियाँ अपनी आवश्यकता भर ही कार्बोहाइड्रेट बनाने में आवश्यक तत्वों का उपयोग करती हैं। शेष तत्व अगले वर्ष के लिए जमा रहते हैं ताकि अगली पैदावार सफलतापूर्वक ली जा सके। किन्तु यदि छँटाई आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो वृक्ष छोटा और बौना हो जाता है जिससे कम उपज मिल पाती है। कभी-कभी अधिक छँटाई का प्रभाव केवल वृक्ष पर ही नहीं अपितु छँटे हुए भाग पर भी पड़ता है। यदि दो शाखाएँ जो एक ही आकार की हैं एक ही समय इस प्रकार छाँटी जाँय कि एक की छँटाई दूसरे की अपेक्षा अधिक हो तो यह देखा जा सकता है कि वह शाखा जिसकी छँटाई हल्के रूप में की गई है। दूसरे से अधिक बड़ी और मोटी होगी।

वृक्ष की उत्पादन शक्ति पर कार्बोहाइड्रेट और नाइट्रोजन का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है और पौधों की छँटाई से कार्बोहाइड्रेट तथा नाइट्रोजन का गहरा सम्बन्ध होता है। यदि वृक्ष में नाइट्रोजन की मात्रा कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा अधिक है तो निस्सन्देह वृक्ष में टहनियाँ और पत्तियाँ अधिक निकलेंगीं क्योंकि पौधों का वानस्पतिक बढ़ाव नाइट्रोजन पर ही निर्भर करता है। वृक्ष में पत्तियों आदि के अधिक होने से कार्बन एसिमिलेशन की क्रिया तीव्र गति से होती है और कार्बोहाइड्रेट अधिक परिमाण में तैयार होता है। कार्बोहाइड्रेट से अधिक होने पर वृक्ष में फल अधिक आते हैं। छँटाई की क्रिया से वृक्ष पर पत्तियों की संख्या घटा दी जाती है जिससे कार्बन एसिमिलेशन कम होता है और कार्बनहाइड्रेट की मात्रा भी कम प्राप्त होती है। यदि छँटाई अधिक परिमाण में कर दी जाती है तो कार्बोहाइड्रेट की मात्रा काफी घट जाती है फलतः उत्पादन भी कम हो जाता है। नाइट्रोजन की मात्रा में कोई घट-बढ़ नहीं होती अतः इस समय उसका परिमाण कार्बोहाइड्रेट से बढ़ जाता है और वृक्ष में नव पल्लव निकलना प्रारम्भ हो जाते हैं। नव-पल्लव निकलने से फूल फल देने वाली कलियों का निकलना कुछ समय के लिए बन्द हो जाता है। यदि वृक्ष की छँटाई बुरी तरह कर दी जाती है तो वृक्ष से फल लेना कई वर्ष के लिए रुक जाता है। अतः छँटाई बड़ी सावधानी के साथ करनी चाहिए। प्रायः यह क्रिया उसी व्यक्ति से करनी चाहिए जो इसमें काफी पटु और अनुभवी हो। जैसा कि १६ वीं सदी के मध्य के वर्षों में जान लिण्डले (John Lindlay) का कथन "प्रयोग के नियमों से भिज्ञ होने और सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने से प्रयोग के नियमों से अनभिज्ञ होना और सिद्धान्तों से भिज्ञ होना अच्छा है" आज भी सही है। छँटाई करने वाले को छँटाई के सिद्धान्तों से भली भाँति परिचित होना चाहिये। भले ही उसने प्रयोग द्वारा अधिक अनुभव न किया हो क्योंकि कि डब्ल्यू० बी० हेज के शब्द में छँटाई हानिकारक क्रिया नहीं है किन्तु खतरनाक

श्य है।" यदि छँटाई सैद्धान्तिक आधार पर की गई है तो वृक्ष अधिक फल उत्पादित करेगा और उत्पादक को लाभ होगा किन्तु इस क्रिया में यदि थोड़ी सी भी असावधानी हुई तो लाभ के बदले में उत्पादक को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ेगी; क्योंकि जैसा कि हमने पहले ही कहा है, बुरी तरह वृक्ष की छँटाई कर देने से वृक्ष में फल आना कई वर्षों तक रुक जाता है या वृक्ष ही सूख जाते हैं। यदि उत्पादक को कोई योग्य छँटाई करने वाला व्यक्ति न मिल सके तो उस दशा में उसे छँटाई न करना ही उपादेय होगा क्योंकि वृक्ष स्वभाव से ही अपनी अनावश्यक डालियाँ और पत्तियाँ भूमि पर गिरा देते हैं।

छँटाई से लाभ—वृक्षों की छँटाई से उत्पादक को कई लाभ होते हैं। प्रथम, वृक्ष सुदृढ़ होता है ताकि वह फल आने के समय उन्हें सम्भालने में सफल हो सके। बहुत ऐसे भी वृक्ष देखे जाते हैं जिनके फल आने की सभी आवश्यक सामग्रियाँ तो प्रदान की जाती हैं किन्तु उन्हें सुदृढ़ होने का कोई उपाय नहीं किया जाता जिससे फल यह होता है कि वृक्ष की शाखाएँ फलों का भार सम्भाल नहीं पाती और टूट कर वृक्ष से पृथक् हो जाती हैं। इससे उत्पादक को हानि उठानी पड़ती है। छँटाई द्वारा वृक्षों की दुर्बलता दूर कर दी जाती है क्योंकि छँटाई के पश्चात् जो शाखाएँ पुनः निकलती हैं वे पहले की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होती हैं। दूसरे, छँटाई की क्रिया से वृक्ष की ऊँचाई वांछित बनाई जा सकती है। वृक्ष की अधिक ऊँचाई उद्यान के कार्यों के लिए अच्छी नहीं होती क्योंकि ऊँचे वृक्षों पर से फलों की तोड़ाई बहुत कठिन होती है और आवश्यकता पड़ने पर दवा आदि का छिड़कना भी भली भाँति नहीं हो पाता साथ ही वृक्षों के अधिक छोटे होने और शाखाओं के पृथ्वी की धरातल के बहुत कम ऊँचाई से ही निकलने से उद्यान में कृषि सम्बन्धी कार्यों में अड़चन होती है। तीसरे, शाखाओं के टेढ़ी-मेढ़ी होने से भी जुताई-गुड़ाई आदि क्रियायें करते समय वृक्ष के क्षतिग्रस्त हो जाने की आशंका होती है। किन्तु छँटाई द्वारा ऐसी शाखाएँ काट कर वृक्ष से पृथक् कर दी जाती हैं और कृषि सम्बन्धी कार्यों में सरलता की जाती है। पीली पत्तियों की अधिक संख्या होने पर जल-उत्सर्जन (Transpiration) की क्रिया अधिक होती है जिससे उद्यान की दूरी में उपस्थित आवश्यक पानी शीघ्र ही वाष्पित हो जाता है। इस स्थिति में वृक्ष को पानी की आवश्यकता होती है, यदि पानी नहीं दिया जाता है तो वे मुर्झा जाते हैं। किन्तु छँटाई से अनावश्यक पत्तियाँ तोड़ कर पृथक् कर दी जाती हैं जिससे भूमि में नमी अधिक दिनों तक स्थिर रहती है। चौथे, अधिक घनी पत्तियों या टहनियों के तोड़ देने से वृक्ष के प्रत्येक भाग को सूर्य का प्रकाश उचित रूप से मिल पाता है। रंगीन फलों के लिए सूर्य का प्रकाश अधिक आवश्यक होता है क्योंकि इसकी उपस्थिति में इनका रंग बहुत चमकदार हो जाता है। पाँचवें, वृक्ष से अधिक उपज लेने के पश्चात् इसमें खाद्य

पदार्थों का अत्यधिक अभाव हो जाता है, अतः उस अभाव की पूर्ति के लिए वृक्ष पर से कुछ टहनियाँ काट कर पृथक् कर दी जाती हैं ताकि वृक्ष अपनी कमी पूर्ण कर ले और अगली फसल के लिए कुछ भोजन सामग्री संचित भी कर ले। छठवें, छँटाई से वृक्ष का आकार सुन्दर बनाया जा सकता है। यह उद्देश्य मुख्यतः फूलों के ही वृक्षों में होता है जो उद्यान में केवल सजावट के उद्देश्य से ही लगाये जाते हैं। सातवें, सैद्धांतिक आधार पर की गई छँटाई से फल के आकार में वृद्धि होती है।

छँटाई के सिद्धान्त (Principle of Pruning) उद्यान के वृक्षों की छँटाई करते समय कुछ सिद्धान्तों का सावधानी के साथ पालन करना चाहिये अन्यथा थोड़ी सी भूल से सारा वृक्ष ही व्यर्थ हो जाता है। इन सिद्धान्तों का विवेचन निम्न-लिखित पँक्तियों में किया जा रहा है :

यदि वृक्ष की छँटाई करनी हो तो उसे नर्सरी में लगे रहने के समय से ही ध्यान में रखना चाहिये। किन्तु नर्सरी में लगे वे ही पौधे छाँटे जाते हैं जिनकी कलम अधिक आयु होने पर की जाती है। प्रायः नर्सरी के किशोर पौधे एक ही तने वाले होते हैं किन्तु यदि कोई पौधा अधिक तने वाला हो तो एक के अतिरिक्त अन्य तने तोड़ कर अलग कर दिये जाते हैं। तने पर यदि अनेक शाखाएँ निकलती हुई पाई जायँ तो उन्हें भी इस हिसाब से तोड़ देना चाहिये कि भूमि की धरातल से कुछ ऊँचाई तक तने पर कोई शाखा न हो। यह सावधानी उस समय भी रखनी चाहिये जबकि पौधे की कलम तैयार कर ली जाय और उसे उद्यान में नियत स्थान पर रोप दिया जाय। वे पौधे जिनकी कलम बहुत कम आयु में की जाती है और जिनकी छँटाई नर्सरी में भी नहीं की जाती, उन्हें उद्यान में ही छाँटते जाते हैं। मुख्य तने पर एक निश्चित ऊँचाई तक की सारी शाखाएँ काट कर फेंक देनी चाहिये, किन्तु ऊँचाई कितनी हो, इस पर लोगों में मतभेद है। कुछ लोगों का कथन है कि पौधों की यह छँटाई इस ऊँचाई तक करते जाना चाहिये कि उसकी शाखाओं के नीचे से पशु सरलतापूर्वक निकल सकें। किन्तु ऐसा करने से तने पर से कई शाखाएँ काटी जाती हैं जिसका एक प्रतिकूल प्रभाव यह पड़ता है कि वृक्ष बौना हो जाता है और अधिक ऊँचाई तक जाने से इस पर आगामी छँटाई और दवा छिड़कने तथा फल तोड़ने में काफी असुविधा होती है, किन्तु यह मत सर्वथा मान्य नहीं है। लोग प्रायः ऊँचे सिरे वाले वृक्षों की अपेक्षा नीचे सिरे वाले वृक्ष अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि ऐसे वृक्षों पर वे सभी क्रियाएँ सुविधा-जनक रूप से हो जाती हैं जो ऊँचे सिरे वाले वृक्षों में कठिन होती है। इन वृक्षों में भूमि की धरातल के निकट वाली शाखा १½ फीट ऊँची रखी जाती है। सबौर फल-प्रयोग-स्टेशन (बिहार) में यही विधि प्रयोग की जाती है। वहाँ यह ऊँचाई १½ से २ फीट तक रखी जाती है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि इतनी ऊँचाई पर रखी गई शाखाओं से

भविष्य में कोई हानि नहीं होती। कुछ स्थानों पर यह ऊँचाई ३-४ फीट रखी जाती है। ऊँचाई चाहे जो भी रखी जाय, प्रत्येक दशा में इस बात का ध्यान रहे कि उद्यान में किये जाने वाले कृषि-कार्य में किसी प्रकार का व्यवधान न प्रस्तुत हो। इस निश्चित ऊँचाई पर वृक्ष का घेरा उपयुक्त बनाने के लिए ३ से ५ डालियाँ इस प्रकार छोड़ दी जाती हैं कि वृक्ष सन्तुलित आकार का हो सके। ये डालियाँ भिन्न दिशाओं में जाती हुई चुनी जाती हैं। यदि सभी शाखाएँ एक ही स्थान से निकलती हैं तो उनके टूटने का डर रहता है क्योंकि ये दुर्बल होती हैं और फल के दिनों में अधिक भार नहीं सँभाल पातीं। अतः ये शाखाएँ एक दूसरे से लगभग ६" की दूरी पर होनी चाहिए। इससे इनके सुदृढ़ होने का अधिक अवसर होता है और इससे वृक्ष के घेरे की सुन्दरता में भी कोई खराबी नहीं आने पाती।

यदि तने के एक स्थान से कई शाखाएँ निकल रही हैं तो ये तने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न आकार के कोण बनायेंगी। इन कोणों में यदि निचली शाखा का कोण ऊपर वाली शाखा के कोण से अधिक हुआ तो उचित है क्योंकि इससे वृक्ष का घेरा अच्छा होगा और वृक्ष की शाखाओं तथा टहनियों का विकास भी भली प्रकार होगा। किन्तु इसके विपरीत स्थिति होने पर अर्थात् ऊपर का कोण नीचे के कोण से बड़ा हुआ तो वृक्ष का आकार अच्छा नहीं हो पाता। ऊपरी शाखा निचली शाखा को पूर्णतया ढँक लेती है अतः उसको न तो सूर्य का प्रकाश प्राप्त हो पाता है और न उसका समुचित बढ़ाव ही होता है। ऐसी स्थिति में निचली शाखा के कोण को बढ़ाने के लिए कुछ कृत्रिम यत्न किये जाते हैं। भूमि में एक लम्बी खूँटी गाड़ कर शाखा रस्सी की सहायता से दृढ़तापूर्वक बाँध दी जाती है और तब तक इसी दशा में रखी जाती है जब तक कोण वांछित आकार का न हो जाय। सबौर फल अनुसन्धान स्टेशन पर इनार्चिंग के लिए इसी विधि से वृक्ष तैयार किये जाते हैं। उन्हें भूमि पर खूँटियों की सहायता से इस प्रकार सुला दिया जाता है। उनकी शाखाएँ भूमि पर रेंग कर चलती हुई जान पड़ती हैं। ये वृक्ष बौने प्रकृति के बना दिये जाते हैं और प्रतिवर्ष इनसे १२०–२०० टहनियाँ इनार्चिंग के लिए प्राप्त कर ली जाती हैं।

कभी-कभी ऐसे भी वृक्ष पाये जाते हैं जो शाखाएँ आदि नहीं उत्पन्न करते, अपितु स्वयं ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं। ऐसी स्थिति में उस तने का बढ़ाव रोकने के लिए ऊपरी सिरा तोड़ दिया जाता है। तोड़ने के पश्चात् तोड़े हुए स्थान के निचले भाग से शाखाएँ निकलना प्रारम्भ करती हैं। इन शाखाओं में से एक शाखा ऐसी भी होती है जो मूल तने की भाँति सीधे ऊपर की ओर बढ़ती जाती है। इसका बढ़ाव भी रोकने के लिए ऊपर से टहँाई कर दी जाती है। इस प्रकार शाखाएँ उत्पन्न कर वृक्ष का घेरा वांछित आकार का बनाया जाता है।

छँटाई के आधार पर वृक्षों का आकार (Training of trees)

वृक्षों की छँटाई के आधार पर उनके कई प्रकार के आकार बन जाते हैं। जब पौधे या वृक्ष का मुख्य तना सीधा बढ़ता जाता है और उससे निकली हुई शाखाएँ अगल-बगल होकर फैल जाती हैं तो ऐसा वृक्ष सुदृढ़ता के आधार पर अधिक मजबूत होता है। किन्तु यह उद्यान के लिए उपयुक्त नहीं होता क्योंकि तना काफी ऊँचा हो जाता है जिससे बाद में छँटाई या फल की तोड़ाई में बहुत असुविधा हो। शाखाओं के भी बिना क्रम के फैले रहने से कृषि कार्यों में बाधा पड़ती है और वृ का घेरा भी सुन्दर नहीं हो पाता। ऊपरी शाखाओं के सघन होने से नीचे वाली शाखाएँ सूर्य के प्रकाश को उचित मात्रा में नहीं प्राप्त कर पातीं। यह आकार केन्द्रीय लीडर **विधि** (Central leader type) कहा जाता है। आज कल इस विधि का प्रयोग बहुत कम हो रहा है।

दूसरा आकार पहले के ठीक विपरीत होता है। इसमें कोई मध्य शाखा नहीं रखी जाती अपितु एक दूरी पर मुख्य तना काट दिया जाता है। इस कटाव के निचले भाग से शाखाएँ निकलती हैं जो कटोरे का आकार बनाती हैं। इसमें ऊँचाई को जाती हुई कोई शाखा नहीं होती। कटोरे के आकार होने के कारण यह विधि कटोरे की विधि या खुला केन्द्र (Bowl or Vode-shaped or Open centre type) कही जाती है। इसमें लाभ यह होता है कि प्रत्येक शाखा सूर्य से लगभग समान प्रकाश प्राप्त करती है। किन्तु इस विधि में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि एक ही स्थान से सभी शाखाओं के निकलने से ये दुर्बल होती हैं और कभी-कभी अधिक आकार वाले फल का बोझ नहीं सम्भाल पातीं।

मूल तना सीधा बढ़ने दिया जाता है और तने पर ५-६ शाखाएँ छोड़ दी जाती हैं। इन शाखाओं की छँटाई इस प्रकार करते हैं कि सम्पूर्ण वृक्ष एक शंकु बना ले। यह विधि क्लोवर लीफ (Clover leaf) के नाम से जानी जाती है।

कभी-कभी वृक्ष छँटाई करके **दोमहल आकार** का बनाया जाता है। मूल तना एक निश्चित ऊँचाई पर तोड़ दिया जाता है ताकि वहाँ से कुछ शाखाए निकल सकें। इन शाखाओं के निकलने के पश्चात् इनमें से उपर्युक्त शाखाएँ चुन लेते हैं और शेष छाँट कर अलग कर देते हैं। इनमें से एक शाखा मूल तने के स्थान पर निकलती है और सीधे बढ़ती चली जाती है। कुछ दूरी पर जाने के पश्चात् इसकी भी छँटाई कर दी जाती है ताकि वृक्ष का घेरा सुन्दर बन सके।

एक प्रचलित विधि है—प्रथम और द्वितीय विधि का रूपान्तरित आकार। यह रूपान्तरित केन्द्रीय लीडर टाइप या रूपान्तरित खुला केन्द्र टाइप कही जाती है। इस

आकार में वृक्ष के सिरे पर एक शाखा ऊपर की ओर बढ़ती है किन्तु उसे नीचे से निकली हुई आम शाखाओं जैसा लम्बा नहीं रखते हैं अपितु एक निश्चित लम्बाई के पश्चात् इसकी छँटाई कर देते हैं। नीचे की शाखाएँ एक दूसरे से काफी दूरी पर रखी जाती है ताकि प्रत्येक शाखा सूर्य का काफी प्रकाश प्राप्त कर सके। इस आकार के निर्माण में अधिक छँटाई की आवश्यकता नहीं होती।

उपर्युक्त आकार-प्रकारों में से किसी विधि से जब वृक्ष का घेरा बना लेते हैं तो बाद में बहुत कम छँटाई की आवश्यकता होती है किन्तु फिर भी वृक्षों की देख-भाल करनी चाहिये। टूटी टहनियाँ निकाल कर फेंक देना चाहिए। यदि पास की दो शाखाएँ एक मोटाई की हैं तो एक की छँटाई कर देना अच्छा होता है। छँटाई करने के पश्चात् दूसरी शाखा को बढ़ने का अवसर मिलता है और वह शीघ्र ही अधिक मोटी तथा लम्बी हो जाती है। वृक्ष की बिना छाँटी हुई शाखा यदि उचित स्थान पर है तो वह बढ़ती जायगी। उसकी लम्बाई बढ़ेगी किन्तु मोटाई वैसे ही रहेगी। इससे एक समय ऐसा भी आयेगा कि वह शाखा लम्बाई के भार से नीचे झुक कर मुड़ जायगी या टूट जायगी। अतः ऐसी शाखाओं की छँटाई पहले ही कर देनी चाहिए।

प्रौढ़ वृक्ष की छँटाई--प्रौढ़ वृक्षों में छँटाई की बहुत कम आवश्यकता होती है क्योंकि अधिक छँटाई उनकी प्रारम्भिक आयु में कर दी जाती है और उसी समय उनका आकार भी निश्चित कर देते हैं। अधिक आयु के वृक्षों में छँटाई बहुत सावधानी से की जाती है क्योंकि ये वृक्ष फल देते रहते हैं। छँटाई में थोड़ी भी असावधानी होने से फल की उपज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था की छँटाई सभी वृक्षों में समान रूप से नहीं होती। यदि वृक्ष काफी घना है और नीचे की शाखाएँ या टहनियाँ प्रकाश नहीं प्राप्त कर पा रही हों तो ऊपर की वह शाखा या टहनियाँ पूर्ण रूपेण काट कर पृथक् कर देनी चाहिए, जो प्रकाश अधिक मात्रा में रोक लेती हों। वृक्ष से रोग-ग्रस्त टहनियाँ या शाखाएँ भी छाँट देना चाहिये क्योंकि इनसे रोग के बढ़ाव का भय रहता है। दो पारस्परिक रगड़ खाती हुई शाखाओं में से एक को छाँट देना चाहिये ताकि दोनों घायल होने से बच जायँ। वृक्ष पर वायु या अन्य भौतिक शक्तियों से टूटी हुई टहनियाँ नहीं रहने देना चाहिये। इनको ऐसे ही छोड़ देने से टूटे हुए स्थान पर थोड़े दिनों के पश्चात् सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है। जिसका प्रभाव थोड़ा बहुत सम्पूर्ण वृक्ष पर पड़ता है। सड़ाव प्रारम्भ हो जाने से वृक्ष का कटा भाग भर नहीं पाता जो वृक्ष को असुन्दर बना देता है। इन कटे भागों में जिन्हें खोखला (Hollow) कहते हैं प्रति वर्ष बरसात के दिनों में पानी जमा हो जाता है और इस प्रकार यह सड़ाव जारी रहता है। इन्हें रोकने के लिए टूटी शाखाओं क वृक्ष से इस सावधानी से काट देना चाहिए कि वहाँ गड्ढा न बनने पावे। यह कटाई

शीघ्र करने से कटाव भर जाने की आशा रहती हैं क्योंकि इस भाग की लकड़ी अभी जीवित रहती है।

कुछ वृक्ष ऐसे भी होते हैं जिनकी प्रत्येक वर्ष छँटाई आवश्यक होती है जैसे बेर, अमरूद। छँटाई के पश्चात् जो दूसरी शाखाएँ और टहनियाँ निकलती हैं उनमें फल अधिक मात्रा में लगता है। ऐसा उन्हीं वृक्षों में होता है जिनमें फल उसी ऋतु की निकलती शाखाओं के अन्तिम भाग में निकलते हैं। यदि ऐसे वृक्ष छाँटे नहीं जाते तो फल लम्बी-लम्बी शाखाओं के सिरे पर निकल कर शाखाओं के टूटने का भय उत्पन्न कर देते हैं। अतः इनकी छँटाई प्रति वर्ष जरूरी होती है। ऐसे वृक्षों को प्रौढ़ावस्था में पहुँचने के प्रारम्भिक वर्षों में प्रति वर्ष हल्की छँटाई करते हैं किन्तु बाद में अधिक वानस्पातिक वृद्धि के लिए वृहद रूप से छँटाई की जाती है।

छँटाई के यंत्र—छँटाई की क्रिया में मुख्यतः तीन प्रकार के यंत्र उपयोग किये जाते हैं—

१. बड़ी कैंची
२. चाकू
३. आरी

ये कैंचियाँ साधारण कैंचियों की अपेक्षा बड़ी होती हैं और केवल शाखाएँ या टहनियाँ काटने के ही अर्थ में प्रयोग की जाती हैं। ये कैंचियाँ कई प्रकार की होती हैं और जहाँ जिसकी आवश्यकता होती है वहाँ उसे प्रयोग किया जाता है। साधारणतया ये तीन प्रकार की होती हैं : प्रथम हस्त कैंची (Hand shear) कहलाती है इसकी धातु अच्छी किस्म के इस्पात की होती है और दोनों धारों को मिलाने के लिए एक स्प्रिंग लगा होता है जो दृढ़तापूर्वक जकड़ा होता है ताकि धारें इधर-उधर आ-जा सकें और उनके निकलने का अवसर न रहे। इस कैंची की बनावट साधारण होती है और छोटी-मोटी टहनियों के काटने में अच्छा काम देती है। दूसरे प्रकार की कैंची पोल शीयर (Pole shear) कहलाती है। इसमें धारें बड़ी तेज होती हैं और अच्छे इस्पात की बनी होती हैं। इनके खोलने के लिए एक तार लगा होता है जो धार को मुठिया पर लगे लीवर से सम्बन्धित करता है। धार को एक टेढ़े रन्ध्रक में रखने का प्रबन्ध होता है जैसा कि चाकू में देखा जाता है। इन दोनों कैंचियों के अतिरिक्त एक तीसरी कैंची भी प्रयुक्त होती है जिसे लॉपिंग शीयर (Lopping shear) कहते हैं। यह बड़ी टहनियों और शाखाओं के काटने में प्रयुक्त होती है। इसका आकार हस्त कैंची की अपेक्षा बड़ा होता है। इसमें काट की मुठिया लगी होती है जिसकी लम्बाई लगभग २ फीट की होती है। इसकी धारें एक दूसरे से ढिबरियों द्वारा जकड़ी होती हैं और मुठिया के चलाने पर इधर-उधर चलती हैं।

छँटाई में प्रयुक्त किया जाने वाला चाकू बड़े आकार का होता है। इसकी धार ५"-६" लम्बी होती है और अच्छे लोहे की बनी होती है। इसके धार के ऊपर की नोक कुछ मुड़ी हुई होती है। इसमें कभी-कभी चाकू की भाँति मुड़ने का प्रबन्ध होता है ताकि धार सुरक्षित रह सके। छँटाई का अच्छा चाकू कुछ अधिक भार का होता है और उसकी धार मुड़ी हुई होती है। इस चाकू को रूपान्तरित करके छँटाई का हुक (Pruning Hook) बनाया जाता है जिससे बहुत ऊँची डालियों की भी छँटाई की जा सकती है। इस हुक की मुठिया अधिक लम्बी होती है।

छँटाई का तीसरा यंत्र आरी होता है। बाजार में कई प्रकार की आरियाँ मिलती हैं जिन्हें डालियों के काटने में प्रयोग किया जाता है। कुछ आरियाँ ऐसी होती हैं जिनके दोनों किनारों पर दाँत उठे रहते है और कुछ एक ही ओर दाँत रखने वाली होती हैं। दोनों किनारों पर रखने वाली आरियाँ छँटाई के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती हैं क्योंकि इनसे कटाव अच्छा नहीं हो पाता। छँटाई के लिए हल्की और साधारण किस्म की आरी अच्छी सिद्ध होती है। यदि धार कुछ मुड़ी हुई हो तो और भी अच्छा होता है। एक अन्य प्रकार की आरी, जिसकी धार आवश्यकतानुसार पृथक् और सम्बन्धित कर ली जाती है, छँटाई में अच्छा काम देती है। इससे तंग कोणों में भी कटाई की जा सकती है। ये आरियाँ मुठिया द्वारा हाथ से पकड़ कर आगे-पीछे घुमाई जाती हैं और दाँत से लकड़ी काटती जाती है। कभी-कभी पोल आरी (Pole Saw) का भी प्रयोग किया जाता है किन्तु पोल शीयर इससे अच्छा सिद्ध होता है।

उत्पादक अपने उद्यान में छँटाई की क्रिया के लिए उपर्युक्त किन्हीं यंत्रों का प्रयोग कर सकता है किन्तु उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सभी प्रकार के यंत्र अपने पास रखे। उसे अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से ऐसे ही यंत्र रखने चाहिए कि कम से कम पैसे में अच्छा से अच्छा कार्य हो सके।

छँटाई करने का समय—छँटाई का समय सभी वृक्षों में एक समान नहीं होता। कोई वृक्ष अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही छाँटा जाता है। इस अवस्था में छँटाई करने से वृक्ष के फलों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। ऐसे वृक्षों में फल की संख्या तो कम अवश्य होती है किन्तु जो फल होते हैं उनका आकार पहले की अपेक्षा अधिक बड़ा होता है, इससे उत्पादक घाटे में नहीं रहता। बराबर हरे-भरे रहने वाले वृक्षों की छँटाई फल तोड़ने के पश्चात् की जाती है। उनमें वे ही डालियाँ काटी जाती हैं जिनमें पिछले वर्ष फल निकले होते हैं ताकि उनसे नई टहनियाँ निकल सकें। वे टहनियाँ अगले वर्ष फल दे सकती हैं। साधारणतया, फलों की छँटाई उसी समय करनी चाहिये जबकि शाखाएँ या टहनियाँ सुसुप्तावस्था में हों। इस अवस्था में छँटाई करने से वृक्ष क्षतिग्रस्त नहीं होने पाता क्योंकि सैप (Sap) का बहाव रुका रहता है। यह

स्थिति वृक्षों में शिशिर ऋतु में आती है जबकि वृक्षों का पतझड़ काल होता है। पतझड़ में वृक्ष की सारी पत्तियाँ भूमि पर गिर जाती है और वह कुछ समय के लिए क्रियाशून्य हो जाती है। छँटाई करने का यही उपयुक्त समय होता है। सूखी और टूटी डालियाँ वृक्ष से किसी भी समय छाँटी जा सकती हैं। कीट-ग्रस्त और रोग-ग्रस्त डालियाँ भी शीघ्र से शीघ्र वृक्ष से पृथक् कर देनी चाहिये।

छँटाई में ध्यान रखने वाली कुछ बातें—जिन डालियों या शाखाओं को वृक्ष से काटा जाता है उन्हें मुख्य तने के काफी निकट से पृथक् किया जाता है। कभी-कभी शाखाओं को काटने में बड़ी कठिनाई आ जाती है क्योंकि ऊपर से आरी चलाने पर काटने को जब थोड़ी दूरी शेष रह जाती है तो शाखा के भार से वह स्वतः चिटक जाती है जिससे कटाव बढ़िया नहीं हो पाता। यदि कटाव नीचे से प्रारम्भ किया जाता है तो आरी चलाने में बड़ी असुविधा होती है। अतः काटने वाले इससे बचने के लिए निश्चित स्थान के नीचे की ओर से कटाव प्रारम्भ करते हैं और जब थोड़ा कटाव हो जाता है तो शेष भाग ऊपर की ओर से काट देते हैं इससे शाखा के चिटकने का भय नहीं रहता और कटाव भी अच्छा हो पाता है।

काटने के बाद कटाव पर लेएड पेन्ट या बोर्डो पेस्ट लगा दिया जाता है ताकि कटाव के भरने में देरी न हो। यदि कटी हुई शाखा का कुछ भाग तने में लगा होता तो उससे अन्यान्य शाखाएँ और डालियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि इन डालियों में एक को तना बनाना हो तो शेष काट कर फेंक दी जाती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि काटी हुई शाखा के पास की दूसरी शाखा छोड़ दी जाती है जो कटाव के पश्चात् बहुत तेजी से बढ़ती है। यदि कटाव स्थिर शाखा के समानान्तर होता है तो उसके भरते देर नहीं लगती। कटाव के छोटा होने पर स्थिर शाखा से समकोण बनाता हुआ कटाव बनाया जाता है ताकि वह शीघ्र भर जाय। चिकना और सीधा कटाव शीघ्र भर जाता है। कटाव भरने में देरी होने पर बीमारी पैदा करने वाली फन्जाई आक्रमण कर देती हैं जिससे कटाव में सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है और रोग भी आ जाते हैं। कटाव के भरने का अर्थ यह होता है कि पौधे स्वभावतः खुद वस्तुओं की वृद्धि करते हैं और छाल बना लेते हैं जिससे कटाव बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित हो जाता है किन्तु छाल बनने में काफी समय लगता है। अतः कटाव के शीघ्र बाद धार या बोर्डो पेस्ट लगा दिया जाता है। बोर्डो पेस्ट से सड़ाव करने वाले जीव और रोग पैदा करने वाले फन्जाई का भय नहीं रहता।

अध्याय ६

प्रतिकूल दशाओं से उद्यान की सुरक्षा

प्रायः जलवायु की स्थिति सदैव अनुकूल ही नहीं होती, कभी-कभी प्रतिकूल भी होती है। कभी गर्मी अधिक पड़ने लगती है जिससे तापक्रम बहुत ऊँचा हो जाता हैं। जोरों की आँधियाँ आने लगती हैं। कभी सर्दी इतनी अधिक बढ़ जाती है कि तापक्रम अधिक नीचे गिर जाता है। सर्द हवाएँ तेजी से बहने लगती हैं और कभी-कभी पाला भी पड़ जाता है। वर्षा के दिनों में अति वृष्टि और अल्प वृष्टि के अतिरिक्त अनावृष्टि का भी सामना करना पड़ता है। कभी-कभी असमय वर्षा भी होने लगती है। जाड़े के दिनों में कभी-कभी ऐसी भी वर्षा होने लगती है जिसमें ओले गिरते हैं। इन समस्त बातों का उद्यान की स्थिति से गहरा सम्बन्ध होता है और वे इस पर अपना कुप्रभाव भी दिखलाती हैं।

ताप का प्रभाव

अधिक गर्मी का पड़ना वृक्षों के विकास के दृष्टिकोण से अधिक हानिकारक होता है। विशेष कर उष्ण कटिबन्ध और शीतोष्ण कटिबन्ध में इससे अधिक हानि होती है। गर्मी की मात्रा जब बढ़ने लगती है तो वायुमंडल अधिक तप्त हो जाता है। वायुमंडल के गर्म होने से वृक्षों में उत्स्वेदन क्रिया तीव्र गति से होने लगती है। उत्तर प्रदेश में गर्मी की ऋतु में कभी-कभी वृक्षों में मुरझाई हुई पत्तियाँ भी देखी जाती हैं। पत्तियों में यह स्थिति अधिक उत्स्वेदन के कारण ही होती है। फल लगे हुए वृक्षों में यह स्थिति आने पर उपज में काफी कमी हो जाती है। उद्यान के नये वृक्ष ऊँचे तापक्रम से अधिक प्रभावित होते हैं और कभी-कभी वे अपना जीवन भी समाप्त कर देते हैं। आम, लीची जैसे फल जो गर्मी में ही फलते हैं, ऊँचे तापक्रम से अधिक क्षति-ग्रस्त होते हैं। अधिक गर्मी से इनकी पत्तियाँ, कलियाँ और फल काफी प्रभावित होते हैं। वे अधिक धूप से सूख जाते हैं और हवा बहने पर गिर जाते हैं।

किशोर पौधों और प्रौढ़ वृक्षों को तेज धूप से बचाने के लिए कुछ कृत्रिम प्रबन्ध किये जाते हैं। छोटे पौधों के लिए अस्थायी तौर पर पुआल या घास-पात की टट्टी बना कर दक्षिण पश्चिम दिशा में खड़ी कर दी जाती है। कभी-कभी अरहर, सन आदि के डण्ठल भी टट्टी बनाने के काम में आते हैं। जिस स्थान पर ताड़ की पत्तियाँ प्राप्त हों वहाँ उन्हें भी इस कार्य में प्रयोग किया जा सकता है। कुछ स्थानों पर मिट्टी या कच्चे ईंटों की दीवाल खड़ी कर दी जाती है ताकि पौधों को अधिक धूप न लग सके।

यह दीवाल उसी दिशा में बनाई जाती है जिधर से अधिक धूप आती हो। पौधों को कुछ समय के अन्तर पर सिंचाई करते रहने से भी अधिक ताप से उनकी रक्षा होती है। कभी-कभी वृक्ष की शाखाएँ और तने आदि भी अधिक धूप से क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। कभी-कभी तो तना बुरी तरह से फट जाता है जो देखने में भी भद्दा लगता है। उन्हें बचाने के लिए चूना की पुताई कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त लपेटने वाला कागज (Wrapping paper) भी प्रयोग किया जाता है।

वायु का प्रभाव

उत्तरी भारत में गर्मियों के दिनों में केवल धूप ही अधिक तेज नहीं होती, वायु भी काफी तेज हो जाती है। हवा के तेज होने से वृक्षों को काफी हानि उठानी पड़ती है। गर्मियों में लू के चलने से काफी फल झुलस जाते हैं और व्यर्थ हो जाते हैं। बड़ी-बड़ी आँधियों के चलने पर तो उत्पादक को गहरी क्षति उठानी पड़ती है। इनसे वृक्ष से न केवल फल ही गिरते हैं डालियों, शाखाओं और कभी-कभी समूचे पेड़ भी टूट कर गिर जाते हैं। ऐसी आँधियों से गर्मियों में फल देने वाले वृक्षों की अधिक हानि होती है। उनके फल, पत्तियाँ और टहनियाँ तो वायु की साधारण गति में ही अधिक मात्रा में गिर जाते हैं। अतः ऐसी हानि से उद्यान की रक्षा करना उत्पादक का प्रथम कर्त्तव्य होता है। उसे अपने उद्यान के चारों ओर वायु अवरोधक वृक्ष (Wind Break) लगाने चाहिए।

वायु अवरोधक वृक्ष

वायु अवरोधक वृक्ष आँधी या तेज हवा के प्रभाव को कम कर हानि होने में रोक लगा देते हैं। ये उद्यान के चारों ओर घने रूप से इस प्रकार लगाये जाते हैं कि उनसे एक घनी दीवाल बन जाती है। इस अर्थ के लिए ऐसे वृक्ष चुने जाते हैं जो बहुत अधिक ऊँचाई तक बढ़ते हैं और अधिक शाखाएँ तथा पत्तियाँ उत्पन्न करते हैं। इनके आपस की दूरी बहुत कम रक्खी जाती है। यह दूरी उद्यान के वृक्षों से उतनी ही रक्खी जाती है जितनी कि इनकी आपस की दूरी होती है। इनकी मोटाई की अपेक्षा ऊँचाई पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यदि वृक्ष के सिरे पर कम शाखाएँ हों तो वे इस अर्थ के लिए उपयुक्त नहीं होतीं। अवरोधक वृक्ष के सिरे पर शाखाएँ अधिक और घनी रहनी चाहिये ताकि वे वायु के बल को पूर्णरूपेण रोक सकें। ये वृक्ष अपनी ऊँचाई के चौगुनी दूरी तक तेज हवा का कुप्रभाव नहीं पड़ने देते। कभी-कभी वे आठगुनी दूरी तक प्रभाव डालते हैं। इस दूरी तक वायु उद्यान पर कोई प्रभाव नहीं डालने पाती। अतः वायु अवरोधक वृक्ष लगाते समय पूरे उद्यान की रक्षा का ध्यान रखते हैं। यदि उद्यान का क्षेत्रफल काफी अधिक हो तो वायु अवरोधक वृक्षों की कुछ-

कुछ दूरी पर कई पंक्तियाँ लगा देते हैं ताकि उद्यान के वृक्ष क्षतिग्रस्त न हो सकें। कभी उद्यान के वृक्ष ही वायु-अवरोधक का काम करते हैं। इनके लिए वायु-अवरोधक वृक्षों की एक ही दो पंक्ति पर्याप्त होती है।

कभी-कभी अवरोधक वृक्षों की एक ही साथ दो पंक्तियाँ कुछ अन्तर देकर लगा दी जाती हैं जिससे हवा की गति में काफी अवरोध हो जाता है। उन स्थानों पर जहाँ अधिक लू चलती है, वहाँ अवरोधक वृक्ष केवल पश्चिमी किनारे पर ही लगाये जाते हैं। इनके उगाने में भी लगभग उसी प्रकार सावधानी रक्खी जाती है जैसा वायु-अवरोधक वृक्षों में।

अवरोधक वृक्ष, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, बहुत अधिक ऊँचाई पर अधिक और घनी शाखाएँ देने वाले हों किन्तु ताड़ का वृक्ष बहुत ऊँचा हो जाने पर व्यर्थ हो जाता है। साथ ही साथ व्यावसायिक दृष्टिकोण से इनका कोई स्थान नहीं। साधारणतः उत्तरी भारत के लिए जामुन, शीशम, आम आदि इस कार्य के अधिक उपयुक्त होते हैं। अलेन ने यूकलिप्टस, शीशम, करमबोला (कमरख), जामुन, और पेपरमलबेरी के वृक्ष लगाने की राय दी है। कभी-कभी नीम और बाँस भी लगाये जाते हैं क्योंकि ये काफी घने होते हैं। साथ ही व्यावसायिक दृष्टि से इनसे कुछ लाभ भी होता है। आम, जामुन के वृक्ष उपयोगी फल देते हैं। शीशम अच्छी लकड़ी के काम आता है। नीम के फल तेल और खली बनाने के उपयोग में आते हैं। बाँसों के अधिक घने होने पर उनमें से कुछ को काट कर बेचा भी जा सकता है। किन्तु बाँस बहुत अधिक स्थान ढकता है इसलिए इसे बहुत कम स्थानों पर प्रयुक्त किया जाता है। आम और जामुन आदि भी अधिक स्थान लेते हैं। इनमें शीशम का वृक्ष सबसे उपयुक्त होता है। पञ्जाब के कृषि विभाग ने बबूल, बीजू आम और जामुन को वायु-अवरोधक वृक्ष के रूप में स्वीकार किया है।

वायु-अवरोधक वृक्षों को लगाते समय इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उनकी जड़ें या शाखाएँ किसी प्रकार से उद्यान को हानि न पहुँचाने पावें। कभी-कभी इनकी जड़ें काफी दूर तक फैल जाती हैं और वृक्षों को हानि पहुँचाने लगती हैं। इसकी रोक-थाम के लिए उद्यान और अवरोधक वृक्षों की पंक्तियों के बीच एक खाई बना लेनी चाहिये। । यह खाई अवरोधक वृक्षों से १० फीट की दूरी पर होनी चाहिये। इस खाई से लाभ यह होता है कि उद्यान की ओर बढ़ने वाली अवरोधक वृक्षों की जड़ें कट जाती हैं और उद्यान की ओर नहीं बढ़ने पातीं। यह खाई प्रति ३ वर्षों के अन्तर पर खोद देनी चाहिए ताकि बढ़ी हुई जड़ें बराबर कट जाया करें। यह खाई खोदने के पश्चात् पुनः भर दी जाती है।

उद्यान को केवल ऊँचे तापक्रम और तेज हवाओं से ही क्षति नहीं पहुँचती, ठंडी हवाएँ भी काफी नुकसान पहुँचाती हैं। कभी-कभी जाड़े के दिनों में आँधी, पानी और पत्थर साथ ही आते हैं जिससे कोमल और मुलायम पत्ते वाले वृक्ष यथेष्ट क्षति-ग्रस्त होते हैं। पानी पड़ने से भूमि गीली हो जाती है और आँधी चलने से उनके भूमि से उखड़ने में सरलता हो जाती है। कम गहराई की जड़ वाले वृक्षों को उससे अधिक हानि होती है। केला और पपीता के बाग में पत्थर और ओले का अधिक कुप्रभाव पड़ता है। इनके अतिरिक्त अन्य वृक्षों में लगे फल भी उसकी चोट से गिर जाते हैं या घायल होकर सड़ना आरम्भ कर देते हैं। उत्पादक इन हानियों से उद्यान की रक्षा नहीं कर सकता। अभी तक ओले से रक्षा का कोई उपाय नहीं ज्ञात किया गया है।

पाले का प्रभाव

उद्यान को सबसे अधिक हानि पाले से होती है। पाला जाड़े के दिनों में आक्रमण करता है जबकि हवा की गति मन्द होती है और आकाश साफ होता है। इस समय पृथ्वी के निकट की गर्म हवाएँ ऊपर उठ जाती हैं और उनके स्थान पर सर्द हवाएँ आकर फैल जाती हैं। ऐसा होने से ऊपर की गर्मी नीचे की अपेक्षा अधिक हो जाती है और तापक्रम में अचानक परिवर्तन आ जाता है। तापक्रम खतरे के बिन्दु से कुछ नीचे चला जाता है। उष्ण कटिबन्ध तथा शीतोष्ण कटिबन्ध में इस ताप-क्रम के परिवर्तन से काफी हानि होती है। इन क्षेत्रों में अत्यधिक सर्दी पड़ने से भी हानि हो जाती है और अनेक डेसीडुअस (Deciduous) वृक्ष मर जाते हैं। किन्तु इनमें कुछ ऐसे भी वृक्ष होते हैं जो ५०° फा० पर भी जीवित रहते हैं।

प्रायः उत्तर भारत में पाले का आक्रमण बसंत ऋतु के प्रारम्भ में होता है। यह रात्रि के पिछले पहर में पड़ता है और वृक्षों की अनेक सुकुमार कलियों, पत्तियों, फूलों और नन्हें फलों को क्षतिग्रस्त कर देता है। पाला केवल कुछ ही देर तक रह सकता है तथापि उससे अधिक परिमाण में हानि हो जाती है। पाले से आम के वृक्ष में लगे नये फूल अधिक क्षतिग्रस्त होते हैं। किन्तु नीचू के वृक्ष में पाले का कुप्रभाव फल पर ही अधिक होता है। नये पौधों को प्रौढ़ पौधों की अपेक्षा अधिक हानि होती है। उनकी पत्तियों और कभी-कभी छाल या लकड़ी पर भी हानि हो जाती है प्रौढ़ वृक्षों में नवपल्लव ही अपेक्षाकृत अधिक क्षतिग्रस्त होते हैं। डब्लू० बी० हेज ने पाले के कुप्रभाव का विवरण देते हुए कहा है कि इलाहाबाद में अमरूद के किशोर वृक्ष के कैम्बियम पाले से कुप्रभावित होने से इसके एक ही वर्ष पश्चात् मर गये और कुछ तो तत्क्षण मर गये। पाले के प्रभाव से दुर्बल और रोग से पीड़ित वृक्षों पर स्वस्थ वृक्षों की अपेक्षा अधिक हानि होती है। इसके अतिरिक्त फल देने वाले वृक्ष उन वृक्षों की अपेक्षा अधिक प्रभावित होते हैं जिनमें फल नहीं आता या कम आता है।

पाले से रक्षा के उपाय—पाले से रक्षा करने के लिए उत्पादक को कुछ विशेष प्रकार का प्रबन्ध करना चाहिये। घास-फूस की छतरी बना कर किशोर पौधों को ढँक देना चाहिए। ताड़ की पत्तियाँ भी इस कार्य में अच्छा काम देती हैं। इन्हें पौधे के चारों ओर इस प्रकार खड़ा कर देते हैं कि पौधों पर पाले का कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। 'एग्रीकल्चर एण्ड एनीमल हसबैण्डरी इन उत्तर प्रदेश' में पाले से आम की रक्षा के लिए एक विशेष प्रकार की घास-फूस की टट्टी स्वीकृत की गई है। यह टट्टी अरहर या सनई, ज्वार, बाजरा आदि की डण्ठलों से तैयार की जाती है और किशोर पौधों के ऊपर इस प्रकार खड़ी की जाती है कि उसे किसी ओर से पाले का भय नहीं रहता और वायु, धूप आदि भी पर्याप्त रूप से उपलब्ध हो जाते हैं।विदेशों में पाले के आक्रमण के समय उद्यान को वैज्ञानिक ढंग से गर्म रखा जाता है। हमारे देश में धुएँ द्वारा कुछ मात्रा में उद्यान को गर्म किया जा सकता है। यदि पूर्वानुमान विधि द्वारा पाले के आक्रमण का समय मालूम हो तो उद्यान की सिंचाई करके भी वृक्षों को बचाया जा सकता है किन्तु सिंचाई करके गेहूँ जैसी फसल ही पाले से बचाई जा सकती है। बड़े वृक्षों को प्रायः इससे कोई लाभ नहीं होता।

पाले से रक्षा का एक और उपाय उन उद्यानों में काम में लाया जा सकता है जिसके उत्पादक 'वायु मशीन' का प्रबन्ध कर सकें। ये मशीन अपने बड़े पंखों से उद्यान का तापक्रम बढ़ा देते हैं जिससे पाले का भय कम हो जाता हैं। ब्रूक और अन्य का कहना है कि प्रति एकड़ २५ से ५० हीटर जला कर उद्यान का तापक्रम २०% से ३०% अधिक कर सकते हैं। किन्तु यदि ये हीटर वायु मशीन के साथ प्रयोग किये जाँय तो उनकी संख्या ८ से १५ काफी होगी। पाला संरक्षण की एक आधुनिकतम विधि इनफ्रा रेड (Infra red) विकिरण है जिससे सब्जियाँ और स्ट्राबेरी जैसे कम सिंचाई के पौधे बचाये जा सकते हैं। इनका प्रयोग बड़े बागों में नहीं होता, क्योंकि विकिरण से पूरा उद्यान नहीं गर्म किया जा सकता।

उद्यान में वृक्षों के बीच कवर क्रापिङ्ग करके भी उसे गर्म रक्खा जा सकता है कुछ और सीमा तक उसे पाले से बचाया जा सकता है। लोगों का ऐसा ख्याल है कि खड़ी फसलों से रात में गर्मी निकलती है जिससे कुछ ऊँचाई तक का वातावरण गर्म हो जाता है।

बीच की दूरी में फसल लगाना (Inter Cropping)

नये उद्यानों में जब तक पौधे छोटे होते हैं तब तक उनके बीच की दूरी आर्थिक दृष्टिकोण से कोई मूल्य नहीं रखती है। यद्यपि वृक्षों के प्रौढ़ होने पर यह दूरी उचित होती है किन्तु प्रौढ़ होने के पूर्व भूमि को व्यर्थ छोड़ना उचित नहीं होता। लोगों का ऐसा विचार है कि इस बची भूमि में कुछ ऐसी फसलें उगाई जाँय जो कम समय में ही

फसल देने योग्य हो जाँय और वे स्थान भी इतना अधिक न लें जिससे उद्यान के स्थायी वृक्षों को हानि पहुँचे। प्रायः इस दूरी में वे ही फसलें उगाई जाती हैं जो १ या १½ वर्ष में तैयार होकर फल देने लगती हैं। यह क्रिया इन्टर क्रापिंग (Inter-cropping) कहलाती है।

इन फसलों में शीघ्र तैयार होने वाले फल और सब्जियाँ सम्मिलित की जाती हैं, जिनके तैयार होने में बहुत कम समय लगता है। इनके बोने से उत्पादक उद्यान से उस समय भी कुछ लाभ प्राप्त कर लेता है जबकि उद्यान के स्थायी पौधे बहुत छोटे होते हैं। इससे उद्यान के शिलान्यास के समय से ही उत्पादक कुछ न कुछ लाभ प्राप्त करने लगता है। ऐसी फसलों से वह तब तक लाभ लेता रहता है जब तक कि स्थायी पौधे प्रौढ़ होकर फल देने योग्य न हो जायँ। इसके अतिरिक्त उत्पादक को एक लाभ और यह होता है कि पौधों के बीच की भूमि में घास-पात आदि नहीं उगने पाते। क्योंकि इससे भूमि की जुताई-गोड़ाई बराबर होती रहती है। जुताई-गोड़ाई से उद्यान की भूमि काफी उर्वर हो जाती है और उसमें नमी भी उपयुक्त मात्रा में उपस्थित रहती है। यद्यपि कुछ लोग इस पक्ष में नहीं हैं कि स्थायी पौधों के बीच कोई अन्य फसल उगाई जाय। कारण यह होता है कि ये अस्थायी पौधे उद्यान से भोजन की अत्यधिक मात्रा ग्रहण करते हैं और इससे स्थायी पौधे को क्षति पहुँचती है, किन्तु डब्लू० बी० हेज इस मत का खण्डन करते हुए तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि वृक्षों की क्षति अवश्यम्भावी हो तो इस विषय पर अधिक ध्यान दिया जा सकता है। यह कमी तो साधारणतया दूर की जा सकती है, अतः वृक्षों को क्षति पहुँचने का कोई कारण नहीं उपस्थित होता, अलबत्ता उनसे लाभ हो सकता है।

वृक्षों की पंक्तियों में उगाये जाने वाले फल जैसे केला, पपीता, अनन्नास आदि हैं जो एक वर्ष में फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। शीत कटिबन्ध में आड़ू के वृक्ष अंगूर के उद्यान में इसी प्रकार उगाये जाते हैं। यह दो-तीन वर्षों में फल देना प्रारंभ कर देते हैं, और उस समय तक कई फसल दे देते हैं जब तक की अंगूर का वृक्ष फल देने योग्य होता है। आम के उद्यान में कहीं-कहीं अमरूद के वृक्ष लगाये जाते हैं। किन्तु अमरूद की जड़ें चूँकि दूर तक फैलती हैं इसलिए इसका उगना अधिक उपयोगी नहीं। प्रायः इन्टर क्रापिंग में ऐसे ही वृक्ष लगाने चाहिये जो बहुत कम ऊँचाई तक बढ़ें और उनकी जड़ें भी अधिक दूर तक न फैलें। अलेन (Allen) ने तो वृक्षों के बीच पपीता के भी न लगाने की राय दी है। उनका कहना है कि यह वृक्ष अधिक ऊँचा होता है और उद्यान में सूर्य का प्रकाश रोकता है। उसने दूसरी ओर केला के वृक्षों को नीबू जाति के फलों में लगाने की राय दी है। किन्तु पपीता का वृक्ष उस स्थिति में बाग में लगाया जा सकता है जबकि एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष की दूरी हुतब

अधिक हो। कुछ लोगों ने बाग में सब्जियाँ आदि उगाने की भी राय दी है। उनका कहना है कि सब्जियाँ या फसलें प्रति वर्ष उद्यान से काट ली जाती हैं। अतः इनकी जड़ों के फैलने और वृक्षों की गर्मी रोकने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में उद्यान में कुछ हरी सब्जियाँ जैसे बैगन, भिण्डी, पपीता, टमाटर, मूली, गोभी, सलजम, प्याज, गाजर, हल्दी, अदरख आदि बो सकते हैं। ये सब्जियाँ अस्थायी वृक्षों—केला, पपीता आदि लगा कर भी उगाई जा सकती हैं। फसलों में चना अधिक प्रचलित है। कभी-कभी उद्यान में अस्थायी वृक्ष, सब्जियाँ, फसलें आदि बोकर अत्यधिक लाभ कमाया जा सकता है। किन्तु यह वहीं संभव हो सकता है जहाँ खाद, पानी और श्रम की काफी सुविधा हो तथा बाजार भी निकट हो। सबौर अनुसंधान केन्द्र पर आम के नये उद्यान में पपीता, केला, सब्जियाँ तथा चना लगातार ५–७ वर्षों तक उगाये जाते हैं और उनसे प्रति एकड़ २००–३०० रुपये प्रति वर्ष प्राप्त किये जाते हैं।

किन्तु इन फसलों को उगाने में इस बात से काफी सचेत रहना चाहिये कि भूमि से भोजन-तत्वों की कमी न होने पावे। प्रत्येक वर्ष आवश्यकतानुसार खाद देते रहना चाहिए। इन्हें पानी देते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि इनका पानी स्थायी वृक्ष पर प्रभाव न डाले और इनकी कृषि सम्बन्धी अन्यान्य क्रियाओं से भी किशोर पौधे क्षति-ग्रस्त न होने पावें। इस प्रकार स्थायी वृक्ष बिल्कुल पृथक् रक्खे जायँ तो अच्छा हो।

अस्थायी फलों के उगाने में ऐसा देखा जाता है कि उनकी जड़ें भूमि में काफी दूर तक फैल जाती हैं जिससे स्थायी पौधों को हानि होने लगती है। अतः उत्पादक को इस बात की सावधानी रखनी चाहिये कि ऐसे वृक्ष उद्यान में लगाये ही न जायँ और यदि लगाये भी जायँ तो उन्हें १-२ फसल लेने के बाद ही हटा दिया जाय। उन्हें हटाने पर भूमि की गहरी जुताई-गोड़ाई कर देनी चाहिये ताकि मूल वृक्ष को उनसे कोई भय न रहे। कभी-कभी फल देने वाले उद्यान में भी कुछ अस्थायी फल जैसे अनन्नास आदि उगाये जाते हैं किन्तु इन्हें उगाने पर उद्यान में अधिक खाद और सिंचाई करनी पड़ती है।

अध्याय १०

फलों की तोड़ाई और उनका विक्रय

(Harvesting and Marketing of fruits)

फलों की तोड़ाई और उनके विक्रय का उद्यान-विज्ञान में काफी महत्व है। व्यापार के लिए इन्हें समय पर तोड़ना, पकाना और बाजार में उपस्थित करना आवश्यक होता है। उत्पादक फलों के बिना वितरण किये हुए लाभ नहीं पा सकता। यदि उसके वितरण में कुछ दोष है तो उसे अपने व्यवसाय में काफी क्षति उठानी पड़ेगी। हमारे देश में अधिकांश उत्पादक फल के वितरण में दोषपूर्ण ढंग से काम लेने से लाभ का उचित अंश नहीं प्राप्त कर पाते। कुछ तो ऐसे उत्पादक देखे जाते हैं जिनकी पहले तो उपज ही कम होती है और दूसरे उनका वितरण भी इतना अवैज्ञानिक होता है कि उन्हें लाभ कमाना तो दूर रहा पूँजी स्थिर रखना कठिन हो जाता है। यदि फल उचित समय पर तोड़े जाते हैं, ठीक से पकाये जाते हैं और बाजार में अच्छे मौके पर लाये जाते हैं तो उन्हें अच्छा पैसा मिलता है और अधिक लाभ भी होता है। यदि फल संरक्षण की कुछ विधियाँ भी उत्पादक को मालूम हो तो वह इस ज्ञान से काफी लाभ उठा सकता है। अतः एक सफल उत्पादक को वितरण के समस्त गुणावगुणों का ज्ञान होना चाहिये। वितरण में फल की तोड़ाई फल की ग्रेडिंग (चुनाई), पैकिंग, दूर के बाजारों में माल भेजना और विक्रय करना आदि बातें सम्मिलित हैं।

फलों की तोड़ाई उचित समय पर करनी चाहिये। वृक्ष से सभी फल एक ही साथ नहीं तोड़े जाते। वृक्ष में प्रौढ़ फल चुन लिये जाते हैं और उन्हें सतर्कता के साथ उचित विधि से अच्छे समय पर तोड़ लिया जाता है। फल की तोड़ाई के समय कई बातों का प्रभाव पड़ता है। प्रथम, उद्यान की बाजार से दूरी कितनी है। यदि बाजार उद्यान के काफी निकट है तो फल की तोड़ाई उस समय की जाती है जब उसे बाजार में पहुँचाना होता है किन्तु बाजार दूर होने पर तोड़ाई की क्रिया पहले ही की जाती है। कुछ फलों में रंग-परिवर्तन प्रौढ़ावस्था में होता है। नीबू जाति के फलों में रंग आना उसके पकने का चिह्न होता है। दक्षिण भारत में मीठे सन्तरे में यह रंग-परिवर्तन अक्टूबर से फर्वरी की ऋतु में होता है। सपोटा में प्रौढ़ावस्था आने पर ही रंग परिवर्तित होता है। नासपाती में ऐसा देखा जाता है कि यदि उन्हें समय के पहले ही

तोड़ लिया जाता है तो इनमें समान रंग नहीं आ पाता। यदि इन्हें पेड़ पर ही पकाया जाता है तो वितरण में उपभोक्ता तक पहुँचते-पहुँचते यह बहुत मुलायम हो जाता है और यदि बहुत पहले ही तोड़ लिये जाते हैं तो इनमें गूदे की कमी हो जाती है। अतः ऐसे फलों की तोड़ाई में काफी सतर्कता की आवश्यकता होती है। जो फल वृक्ष पर पकने के बाद ही खाने योग्य होते हैं उन्हें उसी समय तोड़ना आवश्यक होता है। ऐसे फलों के तोड़ने में यदि थोड़ी भी देर हो जाती है तो वे सड़ कर खराब हो जाते हैं और खाने के योग्य नहीं रह जाते। अतः फल की तोड़ाई में बाजार की दूरी, फल का रंग, सड़ने से बचाव आदि अनेक बातों पर ध्यान देना पड़ता है।

कुछ देशों में वैज्ञानिक आविष्कारों से उद्यान के फलों पर बनावटी ढंग से दबाव देकर इनकी प्रौढ़ता पर अधिकार करने की विधि खोज निकाली गई है। लोग इससे पकने वाले फलों की प्रौढ़ता की पहचान कर लेते हैं। किन्तु हमारे यहाँ ऐसी विधि का प्रचार नहीं है।

फलों की तोड़ाई पकने के कुछ समय पहले ही उनके प्रौढ़ावस्था में पहुँचने के बाद की जाती है। इस समय तोड़ाई करने से फल पर आक्रमण करने वाले जानवर तथा पक्षी के आक्रमण का भय नहीं रहता। उन्हें तोड़ने के बाद बनावटी ढंग से पकाया जाता है और तब बाजार में लाया जाता है। यह विधि शीघ्र पकने और सड़ने वाले फलों में प्रयोग की जाती है। इस श्रेणी में आम, सफ्तालू, सपाटू आदि आते हैं जो ऐसे फल होते हैं जिन्हें पकने के बाद थोड़े दिनों तक भी स्थिर नहीं रखा जा सकता। इनके विरुद्ध नारंगी, नासपाती, सेब आदि के सड़ने का अधिक भय नहीं रहता। ये वृक्ष से यदि प्रौढ़ावस्था पर पहुँचने के कुछ दिन बाद भी तोड़े जाते हैं तो कोई हानि नहीं होती है क्योंकि ये तोड़ने के बाद अधिक दिनों में पकते हैं और पकने पर भी लम्बी अवधि तक स्थिर रह सकते हैं। इस प्रकार के फल जब पूर्णतया पक जायँ तभी वृक्ष से तोड़े जा सकते हैं। इन पर इस अवस्था में कीड़ों और पक्षियों का भी भय कम रहता है। किन्तु इन्हें पकने के पूर्व तोड़ने से एक लाभ यह होता है कि बाजार में ये अच्छा लाभ देते हैं और समय के पूर्व ही बनावटी ढंग से पका कर बाजार में लाये भी जा सकते हैं।

कभी-कभी तोड़ाई के पूर्व ही कुछ फल स्वतः गिर जाते हैं। कभी इन गिरे फलों की मात्रा कम होती है और कभी इतनी बढ़ जाती है कि उत्पादक को उद्यान से गहरी क्षति उठानी पड़ती है। ये फल तेज हवाओं या आँधियों से गिर जाते हैं। कभी-कभी ऊँचे तापक्रम पर भी कुछ फल सूख जाते हैं और गिर जाते हैं। लू लग जाने से भी फलों की काफी हानि होती है। कुछ पक्षी भी फलों को अपने चोंच या पैर से मार कर

गिरा देते हैं। वृक्षों पर पाई जाने वाली गिलहरी फल की अधिक मात्रा कुतर-कुतर कर गिरा देती है। इस प्रकार भूमि पर गिरे ये फल बाजार में कोई मूल्य नहीं रखते और न इनकी माँग ही होती है। इगलैंड और अमेरिका में फलों की इस प्रकार की हानि पर रोक लगाने के लिए बहुत से प्रयोग किये गये। वृक्षों पर कुछ हारमोन (Harmone) या रासायनिक दवाइयों का छिड़काव किया गया। बटजेर और वीवयान (Batjer and Vyvyan) ने पोम (Pome) के वृक्ष पर नेप्थलीन ऐसेटिक एसिड का अच्छा प्रभाव ज्ञात किया। कालान्तर में कई एक दवाइयों का प्रयोग होने लगा और वे लाभदायक भी सिद्ध हुई। इनमें ट्राई क्लोरो फिनाक्सी, एसेटिक एसिड, पोटैशियम, नेप्थोल एसीटेट आदि का प्रभाव नांबू जति के वृक्ष पर अच्छा पड़ता है।

गिरे हुए फल जैसे आम को सुखा कर खटाई, अमचुर आदि उपयोगी पदार्थ बना लिये जाते हैं। किन्तु भरसक इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि इस प्रकार फलों का गिरना ही कम हो जाय।

फल की तोड़ाई—तोड़ाई करते समय फल को हाथ से दबाना अच्छा नहीं होता; क्योंकि इससे कोमल फल दब जाते हैं और पके फल घायल हो जाते हैं। तोड़ते समय यदि हाथ से तोड़ाई की जाती है तो डण्ठल पकड़ कर तोड़ना चाहिए। कुछ ऐसे भी फल होते हैं जो डण्ठल पकड़ते समय ही टूट कर गिर जाते हैं। अतः ऐसे फलों की तोड़ाई बड़ी सावधानी के साथ की जानी चाहिये। अंगूर, आम, अनार, नांबू जाति के फल तोड़ते समय उन्हें फल की कुछ टहनी के साथ ही तोड़ लेते हैं। किन्तु टहनियों के तोड़ने में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि वे फल जिनकी तोड़ाई नहीं करनी होती, क्षतिग्रस्त न हों। अतः फलों को तोड़ने का आदर्श ढंग वही होता है, जिससे तोड़े गये फल जरा भी आहत न होने पावें। फल की तोड़ाई में स्थान-स्थान पर विभिन्न विधियाँ प्रयोग की जाती हैं। हमारे देश में कुछ आम तोड़ने वाले लोग घूमते रहते हैं। वे अपने पास एक टोकरी रखते हैं जिसमें तोड़े हुए फल एकत्रित करते जाते हैं। ये लोग एक हाथ से टोकरी पकड़ते हैं और दूसरे से आम की तोड़ाई करते हैं। या कभी-कभी टोकरी एक आदमी लिए रहता है और दूसरा फल तोड़-तोड़ कर उसमें रखता जाता है किन्तु यह विधि बहुत सुस्त और खर्चीली होती है। विदेशों में ऐसे लोग अपनी टोकरियाँ पीठ पर रखते हैं और फल की तोड़ाई दोनों हाथों से करते हैं। तोड़ाई में कभी-कभी बोरे प्रयुक्त होते हैं जिनमें रस्सी बँधी होती है। फल तोड़ कर इन्हीं बोरों में रखे जाते हैं और जब ये भर जाते हैं तो रस्सी की सहायता से उन्हें धरातल पर लाकर खाली कर लिया जाता है।

कोमल फलों की तोड़ाई के लिए टोकरियाँ प्रयोग की जाती हैं किन्तु सख्त फलों की तोड़ाई में बोरे अच्छा काम देते हैं।

तोड़ाई की कुछ अन्य विधियाँ हैं जिनसे इस क्रिया में कम समय लगता है। तोड़ाई की आधुनिकतम विधि सीढ़ी या स्टेप लैडर (Step ladder) द्वारा है। यह सीढ़ी बहुत हल्की और मजबूत होती है। इसे तोड़ाई करते समय वृक्ष में लगा कर खड़ा कर दिया जाता है और फल चुन लिये जाते हैं। कभी-कभी तोड़ाई करने वाला स्टूल (Stool) भी काम में लाया जाता है। किन्तु ये वहीं सफल सिद्ध होते हैं जहाँ कि छोटे वृक्षों की तोड़ाई करनी होती है। नींबू, चकोतरा आदि की तोड़ाई में इन्हें प्रयोग किया जा सकता है। आम आदि ऊँचे वृक्षों के फल की तोड़ाई में बाँस की बनी हुई एक लग्गी (Mango Picker) प्रयोग की जाती है जिसके सिरे पर बाँस या लोहे की एक जाली लगी होती है। सिरे पर दो लोहे के छोटे छड़ इस प्रकार लगे होते हैं कि इनसे आम सरलतापूर्वक तोड़ लिया जाता है। तोड़ा हुआ फल जाली में ही गिरता है। (इसका विशद वर्णन आम के प्रकरण में किया गया है।) जब जाली भर जाती है तो उसमें से फल निकाल कर निकट में रक्खे झोले में डाल दिया जाता है। झोले के भरने पर इसे रस्सी द्वारा नीचे लटका देते हैं जहाँ यह खाली कर दिया जाता है।

फल की तोड़ाई सूखे मौसम में प्रातःकाल की जाती है। यदि बदली या कुहरा काफी पड़ रहा हो अथवा पानी बरस रहा हो तो उस समय तोड़ाई नहीं करनी चाहिए। नीबू जाति के फलों में ऐसे समय तोड़ाई करने से काफी क्षति पहुँचती है। कुछ लोगों ने तो यह स्वीकार किया है कि नींबू जाति के फल भारी वर्षा के दो दिन पश्चात् तोड़ने चाहिये। तोड़ने के पश्चात फल एक ठंडे स्थान पर एकत्र करना चाहिए। यदि तोड़ाई दोपहर में की जाती है, जबकि धूप कड़ी हो तो फल वृक्षों के साये में रखना चाहिए। फिर उन्हें रात भर खुला छोड़ देना चाहिए।

यदि फल पके तोड़े जाते हैं तो उन्हें निकट के बाजार में टोकरियों में भर कर शीघ्र से शीघ्र भेज दिया जाता है। किन्तु दूर की बाजार के लिए प्रौढ़ फल की ही तोड़ाई की जाती है। इन फलों में छोटे-बड़े, घायल, रोगी, कटे-फटे फल अलग किये जाते हैं और तब इन्हें बाहर भेजा जाता है या भण्डार घरों में पकाया जाता है। फलों की यह क्रिया चुनाई या ग्रेडिंग (Sorting and Grading) कहलाती है। फलों की चुनाई आधुनिक बाजारों के लिए बड़े महत्व की चीज है। इससे फलों का आकार पृथक् कर दिया जाता है और भिन्न गुण वाले फल अलग कर दिये जाते हैं जिससे उपभोक्ता उन्हें खरीदने में संदेह नहीं करता। इससे उत्पादक को काफी लाभ होता है क्योंकि चुने फल अन्य फलों की अपेक्षा अधिक मूल्य देते हैं।

कुछ दिनों पहले उत्पादकों में यह प्रवृति पाई जाती थी कि वे फलों को टोकरियों में भरते समय ऊपर चुने फल और नीचे घटिया किस्म के फल रख देते थे। उनकी इस धोखेबाजी से क्रेता को अधिक घाटा उठाना पड़ता था। इस कुप्रथा को रोकने के लिए

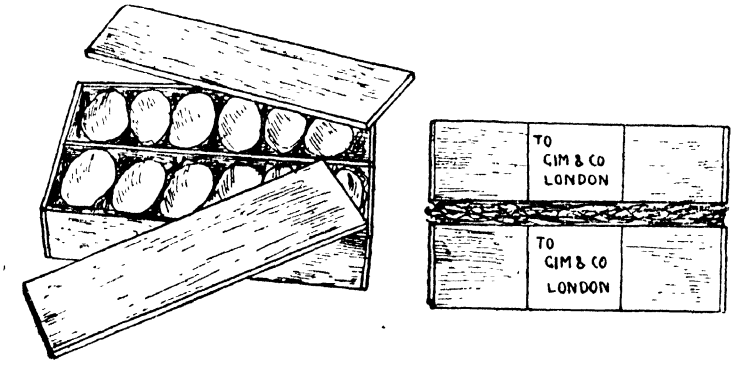
भारत सरकार ने १९३७ में एक ऐक्ट लागू किया जिसको एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केटिङ्ग ऐक्ट कहते हैं। इसके अनुसार फलों की चुनाई करनी आवश्यक हो गई। इसका उल्लंघन करने वाले व्यापारी कानून की दृष्टि में अपराधी स्वीकार किये जा सकते हैं। अभी हाल में उपयुक्त चुनाई की अगमार्क (Agmark) विधि चालू हुई है जिसके अनुसार चुनाई की क्रिया फलों के आकार पर की जाती है।

चुनाई करने की अनेक विधियाँ है, किन्तु भारत में प्रायः चुनाई हाथ द्वारा ही की जाती है। अनुभवी व्यक्ति यह क्रिया बहुत तेजी से और संतोषप्रद विधि से करते हैं। किन्तु नये लोगों के करने से यह बहुत मँहगी पड़ती है और समय भी अधिक लगता है। चुनाई की अच्छी विधि मशीन द्वारा है। मशीनें उन स्थानों पर सफलतापूर्वक प्रयोग की जा सकती हैं जहाँ फल का परिमाण बहुत अधिक हो और हाथ की चुनाई से व्यय भी अधिक पड़ता हो। ये उन फलों में अच्छा काम देती हैं जो जल्दी क्षतिग्रस्त नहीं होते और आकार में गोले होते हैं। विदेशों में सेब और नारंगियों की चुनाई में ये अच्छा काम देती हैं। मद्रास कृषि विभाग ने चुनाई की एक मशीन स्वीकृत की है जिसका प्रचार काफी बढ़ रहा है। यह मशीन संतरा या नारंगी के लिए बहुत उपयुक्त होती है। चुनाई की ये मशीनें आम जैसे गूदेदार फल की चुनाई भली भाँति नहीं कर सकतीं क्योंकि इनमें फलों के क्षतिग्रस्त होने का भय रहता है। छोटे आकार वाले फल भी दूसरे ढंग से नहीं चुने जा सकते; क्योंकि ये मशीन के नीचे गिर जाते हैं।

पैकिङ्ग या बक्साबन्दी (Packing)—हमारे देश में बक्साबन्दी का प्रचलित ढंग बाँस या अन्य प्रकार की बनी टोकरियों में है। ये टोकरियाँ विभिन्न आकार की बनती हैं। कभी-कभी ये चौड़ी, कभी-कभी गोल और कभी छिछली होती हैं। टोकरी के ऊपर ढक्कन का काम करने के लिए एक अन्य छोटी टोकरी बनाई जाती है जिससे फल रखने के पश्चात् इसे आसानी से बन्द किया जा सके। बन्द करने में तार या रस्सियाँ काम में लाई जाती हैं। इनमें फल रखते समय टोकरी में पत्तियाँ आदि भी रख दी जाती हैं ताकि फलों के क्षतिग्रस्त होने का कम अवसर रहे। यद्यपि बक्साबन्दी की यह विधि बहुत सस्ती होती है किन्तु बाहर भेजते समय गाड़ी या जहाजों पर चढ़ाते-उतारते समय इनसे फलों की काफी हानि होती है। आम जैसे पके फल क' तो थोड़ी सी भी असावधानी से काफी नुकसान हो जाता है। इस हानि से बचने के लिए लकड़ी के तख्तों से बने बक्स काम में लाये जाते हैं।

लकड़ी के बक्से बाँस की टोकरियों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं क्योंकि इनमें रखे फल गाड़ियों पर चढ़ाने-उतारने से घायल नहीं होने पाते। यद्यपि ये बनाने में बाँस की टोकरियों की अपेक्षा अधिक मँहगे होते हैं तथापि बाजार की माँग के अनुसार फल भेजने और अधिक लाभ कमाने के लिए इनका प्रयोग उत्तम होता है।

इनसे फल अधिक उपयुक्त अवस्था में बाजारों में भेजे जा सकते हैं। बक्से बनाने के लिए हल्की लकड़ी जैसे—देवदार आदि अच्छी सिद्ध होती है। इससे बक्से के चढ़ाने-उतारने में आसानी होती है। किन्तु हल्केपन के साथ-साथ मजबूत लकड़ी का होना भी आवश्यक है। बक्से का आकार भिन्न-भिन्न होता है। यह आकार कभी वर्गाकार और कभी आयताकार होता है; किन्तु अधिकांशतर आयताकार बक्स ही अधिक प्रचलित हैं। स्मिथ ने बक्सों के आकार की दो नापें दी थीं जिनका वर्णन आम के प्रकरण में किया जायगा। प्रायः ऐसे बक्सों में बन्द फलों के लिए हवा का प्रबन्ध किया जाता है। इसके लिए उनमें दो-एक छोटे सूराख इस प्रकार बना दिये जाते हैं कि उनसे वायु बक्से के आर-पार जा सके। बक्सों को भीतर की ओर फल से भरते समय कागज से मढ़ देना चाहिये, ताकि फल क्षतिग्रस्त न हों। कभी-कभी फल कागज में लपेट कर बक्स में रक्खे



चित्र ११—आम के फलों की बक्साबन्दी

जाते हैं। नीबू जाति के फलों में कभी-कभी वैसलीन लगा दी जाती है। रासायनिक दवाइयाँ भी कभी-कभी बक्से में डाल दी जाती है जिससे हानिकर कीड़े या रोग इन फलों पर कुप्रभाव न डाल सकें। बक्साबन्दी इस प्रकार करनी चाहिये कि बक्से में रखे फल हिल-डुल न सकें। इसके लिए फल रखते समय हरी पत्तियाँ सनई, बदुवा पुवाल, चिथड़े, कागज या ऊन प्रयोग करते हैं। जब बक्से की पैकिङ्ग पूरी हो जाती है तो उसमें एक ओर नाम, पता आदि स्पष्ट शब्दों में लिख दिया जाता है। बक्से की मजबूती के लिए उसे तार या रस्सी से बाँध भी देते हैं।

भंडार में रखने की विधि (Storage)—यदि फल बाहर नहीं भेजे जाते हैं तो उन्हें भंडार-घर में बनावटी ढंग से पकाया जाता है और बाजार के उतार-चढ़ाव के अनुसार अधिक दिनों तक स्थिर रक्खा जाता है। हमारे देश में ऐसे भण्डार-घर साधारण किस्म के होते हैं। फलों के संरक्षित रखने का आधुनिकतम ढंग शीतागार है। इनमें ये कम तापक्रम पर अधिक दिनों तक रखे जा सकते हैं ताकि

इन्हें बाजार में उस समय लाया जाय जब कि इनकी पूर्ति माँग की अपेक्षा काफी कम हो। और मूल्य की दर अधिक ऊँची हो। ऐसा होने से उत्पादक अधिक लाभ कमा पाता है। फल संरक्षण की यह विधि रेफ्रिजिरेटर (Refrigerator) भी कहलाती है। यह विधि उस समय भी प्रयोग की जा सकती है जबकि फल विदेश भेजे जाते हों।

शीतागार का सिद्धान्त यह होता है कि एक गैस पहले द्रवित की जाती है और फिर वाष्प रूप में परिणत की जाती है। अमोनिया या कारबन डाई आक्साइड गैस इस क्रिया में अधिकतर प्रयुक्त होती हैं। वाष्प रूप में परिणत होने पर इन पर काफी दबाव डाला जाता है और फिर इन्हें शीतकों (Cooling coils) में भेजा जाता है। इससे यह फिर द्रव बन जाती हैं। यह द्रव शीतागार तक पहुँचाया जाता है। नाली द्वारा कुछ द्रव एक कमाट की सहायता से बड़े पाइपों में चला जाता है जहाँ यह फिर वाष्प बन जाता है। पाइपों पर रिफ्रेजिरेशन पाले की भाँति होता है। वाष्पित गैस ताप लेती है और इस प्रकार शीतागार की वायु का तापक्रम घटा देती है। कभी-कभी शीतागारों में नमक का घोल भी प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं वायु के शीतागार (Air cooled storage) भी प्रयोग किये जाते हैं।

फलों का यातायात—प्रायः फल एक स्थान से दूसरे स्थान को टोकरियों या बक्सों में भर कर रेलगाड़ी द्वारा भेजे जाते हैं। कहीं-कहीं जहाँ रेलगाड़ी की सुविधा नहीं होती वहाँ स्टीमर या नाव का भी प्रयोग किया जाता है। दूर के स्थानों या विदेश भेजने में हवाई जहाज प्रयोग किये जाते हैं। यद्यपि रेल द्वारा भेजने में बहुत ज्यादा व्यय पड़ता है। किन्तु अन्य साधनों की कमी होने के कारण उत्पादक अधिक पैसे देने पर भी रेल से ही भेजने को विवश होता है। रेलगाड़ियों में अधिक पैसे देने पर भी फलों की सुरक्षा का कोई दायित्व नहीं रहता। उनके उतारने और चढ़ाने में इस प्रकार की लापरवाही की जाती है कि फल की कुछ मात्रा तो अवश्य ही क्षतिग्रस्त हो जाती है।

फलों के यातायात में सब से भारी कमी है बाँस की कमजोर टोकरियों का प्रयोग। ये इतनी कमजोर और ढीली-ढाली होती हैं कि इनके टूटने और फलों के क्षतिग्रस्त होने की अधिक संभावना होती है। कभी-कभी तो टोकरियों के अच्छे होने पर भी फलों के निकाल लेने की शिकायत आती है। ऐसी स्थिति में उत्पादक केवल चिल्लाकर रह जाता है; उसकी क्षतिपूर्ति पर कम ध्यान दिया जाता है। यदि अधिकारी इस प्रकार के दोषों की ओर अधिक ध्यान दें तो उत्पादकों को माल भेजने में प्रोत्साहन मिल सके। यदि कोई फल किसी स्थान पर इतने परिमाण में उत्पन्न होता है कि उसे गाड़ी के पूरे डिब्बे में भर कर बाहर भेजा जा सके तो यह अति उत्तम होगा; किन्तु ऐसे स्थान बहुत

कम हैं जहाँ कोई फल इतने परिमाण में उत्पन्न किया जा सके। किन्तु मद्रास में अल्फोनजो आम खुले रूप में गाड़ी के डिब्बे में ही भर दिया जाता है और इसी प्रकार बाहर भेजा जाता है। अल्फोनजो के भेजने की यह विधि बहुत उत्तम है क्योंकि उसके क्षतिग्रस्त होने का कोई भय नहीं होता। उसके हिलने-डुलने, उतारने-चढ़ाने और चोरी आदि का भी कोई भय नहीं होता। नागपुर में संतरों के भेजने में भी यही विधि काम आती है क्योंकि इनके शीघ्र सड़ने का डर नहीं होता। संतरा की भाँति अलफोन्जो आम भी अधिक दिनों तक स्थिर रहता है किन्तु भरे वैगन मँगाने वाले व्यापारी भी बहुत कम होते हैं। भारत के बड़े-बड़े शहरों में ही डिब्बे के फलों की खपत हो पाती है जिनकी संख्या बहुत कम है।

आधुनिक काल में लारी से माल भेजने की प्रथा अधिक सफल सिद्ध हुई है। इस पर निश्चित परिमाण में फल लाद कर दूसरे स्थान पर सफलतापूर्वक पहुँचाया जा सकता है। जब लारियाँ बहुत कम दूरी तक जा पाती हैं तो इन्हें उद्यान से रेलवे स्टेशन तक सामान पहुँचाने के ही काम में लाया जाता है। इनमें पैकिंग या बक्साबन्दी की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। केला आदि के फल तो ऐसे ही लारियों में भर दिये जाते हैं और वाँछित स्थान पर पहुँचा दिये जाते हैं। लारियों से सामान भेजने पर खर्च बहुत कम पड़ता है और इन्हें ठीक उद्यान के सामने लादने और इच्छित स्थान पर समय से पहुँचाने और उतारने में भी काफी सुविधा होती है। कभी-कभी कम मात्रा में उत्पादन करने वाले उत्पादक जनता की लारियों में भी सुविधानुसार माल भेजते हैं। किन्तु इन पर बहुत थोड़ा माल और कम दूरी तक ही आ-जा सकता है। प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि लारी तथा ट्रक रेलगाड़ी की अपेक्षा कम व्ययशील हैं किन्तु इनसे माल अधिक दूरी तक नहीं भेजा जा सकता। साथ ही अच्छी सड़कों का होना भी इनके हक में आवश्यक होता है।

यदि रेलगाड़ियों में शीतागारों की व्यवस्था की जाय और अधिक खर्च लेकर भी फलों की रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व ले लिया जाय तो रेल द्वारा माल भेजने में भी हानि का कोई अवसर न रहे; क्योंकि ये शीतागार फलों को सड़ने से बचा सकते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था फल उत्पादित करने वाले पश्चिमी देशों में अधिक उन्नतिशील रूप में है। हमारे देश में भी इस ओर काफी ध्यान दिया जा रहा है। चन्द के अनुसार हमारे देश में दो शीतागार कलकत्ता में, बम्बई में तीन और मद्रास, कानपुर, लखनऊ में एक-एक हैं। इनमें फल वाली टोकरियों के रखने की व्यवस्था है। एक दिन तक एक टकरा के रखने का व्यय एक आना से साढ़े पाँच आने, एक महीने के लिए पाँच आने से एक रुपया है। ऐसे शीतागारों का प्रबन्ध यदि सस्ते रूप में प्रत्येक स्थान पर हो जाय तो अधिक अच्छा होगा। हवाई जहाज के उत्तम प्रबन्ध से फलों के भेजने में अधिक सुविधा हो जायगी। यदि फलों की बक्साबन्दी उचित ढंग से की गई हो और उनका

उतार-चढ़ाव हवाई जहाज में सावधानीपूर्वक किया जाय तो उनके क्षति की बिल्कुल संभावना नहीं होती। लारियों या गाड़ियों में लचकदार स्प्रिङ्ग लगा दिये जाँय तो फल जरा भी घायल न हो सकें।

फलों का विक्रय—फल का सफल उत्पादन वितरण में काफी सतर्कता की आवश्यकता रखता है। फलों का विक्रय उत्पादक के लाभ की मुख्य जड़ है। यदि विक्रय बुद्धिमानी के साथ किया जाय तो उत्पादक अधिक लाभ कमा सकते हैं किन्तु थोड़ी-सी भी असावधानी अधिक हानि ला सकती है। भारत में विक्रय की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं। बाजारों में सब से प्रचलित विधि ठेकादारी है जो उत्पादकों से उनके फलों की बात करना बहुत पहले प्रारम्भ कर देते हैं और फल के तैयार होने के पूर्व ही खरीद लेते है। ये ठेकेदार कभी-कभी फल के तैयार होने पर भी उद्यान का ठेका ले लेते हैं। ठेका लेने के बाद ये फल की रखवाली, तोड़ाने, रख-रखाव, पैकिंग, माल भेजना आदि कार्यों के जिम्मेदार हो जाते हैं। बाजार के उतार-चढ़ाव और लाभालाभ का भी इनसे ही सम्बन्ध रहता है। उत्पादक एक निश्चित रकम लेकर उद्यान की रखवाली से विक्रय तक की सारी झंझटों से मुक्ति पा जाता है। उसका ऐसा करना एक प्रकार से उचित भी होता है क्योंकि उसे फल के भेजने, बाजार की दशा पहचानने आदि बातों का बहुत कम ज्ञान होता है जबकि ठेकेदार इन बातों का पक्का जौहरी होता है। यदि उद्यान फलों की प्रौढ़ावस्था के पूर्व ही ठेके पर दे दिया जाता है तो और भी अच्छा है क्योंकि उत्पादक उद्यान से एक बँधी-बँधाई रकम पा जाता है और ठेकेदार फसल के साथ जुआ खेलता है। फल पर रोगों का आक्रमण होना, आँधी या तेज हवा से फल का भूमि पर गिर जाना, पाले से क्षति होना, चोरी से रक्षा करना आदि प्रत्येक खतरे की बात ठेकेदार को ही सहन करनी पड़ती है। यदि इनमें से किसी एक का भी प्रकोप हो गया तो इसकी क्षति ठेकेदार को उठानी पड़ती है किन्तु ठेकेदार घाटे में बहुत कम अवसरों पर ही पड़ते है। उनका यही व्यवसाय होता है। वे वर्ष में कुछ ही महीने फलों का क्रय-विक्रय कर अधिक लाभ कमा लेते हैं। वे बाग की कीमत भी इस होशियारी से लगाते हैं कि उस मूल्य में उनका लाभ भी जुड़ा रहता है। इसी प्रकार ठीकेदार उद्यान से काफी लाभ कमाते हैं।

यदि उत्पादक फलों के विक्रय का भार अपने ऊपर ही लेता है तो लाभालाभ की सभी बातें इसे ही हल करनी होती है। अनेक सावधानियों के साथ जब वह अपना माल शहर ले जाता है तो वह कई प्रकार से ठगा जाता है। अनेक प्रकार के कर और टैक्स उसे देने पड़ते हैं। जब वह किसी बाजार में पहुँचता है तो उसकी मुलाकात दलाल से होती है जो उससे बहुत मोल-भाव करता और चालाकी से कम दाम पर ही सारा माल खरीद लेने की चेष्टा करता है। ऐसी स्थिति में उत्पादक को बुद्धिमानी से

काम लेना चाहिये। उसे सीधा मुख्य व्यापारी से बात करनी चाहिये और वही मूल्य तय करना चाहिये जो बाजार के अनुसार हो।

उत्पादक उस स्थिति में काफी लाभ कमा सकता है जब कि वह अपने फल को सुरक्षित रखकर बाजार का अध्ययन करे और जब बाजार का ढंग अच्छा जँचे अर्थात् पूर्ति की अपेक्षा माँग बढ़ जाय और मूल्य की दर ऊँची हो जाय तब अपना माल बेचे। यह प्रबन्ध उस समय बड़ी सफलता से किया जा सकता है जब कि विक्रय का कोई विकसित ढंग निकल आवे। सहकारिता के सिद्धांत पर यह अधिक सफल हो सकता है। पश्चिमी देशों में कृषि के उपज के विक्रय की सहकारी समितियाँ स्थापित की गई हैं। इनमें से बहुत तो असफल सिद्ध हुई किन्तु कुछ ने काफी सफलता प्राप्त की। कैलिफोर्निया में इस प्रकार की एक सफल समिति आज भी है। भारतवर्ष में भी ऐसी समितियों का प्रारम्भ हुआ और विभाजन के पूर्व ही पंजाब में सहकारी फल-उत्पादकों की संस्था स्थापित हुई। कालान्तर में उत्तर प्रदेश के भी उत्पादक इसमें सम्मिलित हो गये। १६३३ में एक फल-विकास संस्था स्थापित हुई जिसके अधीन अनेक जिला संस्थाए स्थापित की गईं। इनमें से बहुतों ने उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने के लिए उत्साहित किया और आज भी कर रही हैं। कुछ बाजार सम्बन्धी बातों की योजना पर पहले ही से विचार कर रही हैं और कुछ वास्तव में सहकारी विक्रय समितियाँ बन गई हैं। पहले ये समितियाँ फल की माँग बढ़ायेंगी, फिर उद्यान और बाजार में भी लाभ का प्रबन्ध करेंगी और इन विक्रय सम्बन्धी बातों को प्रकाशित करेंगी। इस प्रकार की संस्थाओं से विक्रय में काफी प्रगति की आशा की जा सकती है। इनके संस्थापन से उत्पादक और उपभोक्ता के मध्य कोई मध्यस्थ नहीं रह जायगा क्योंकि ये मध्यस्थ बीच में रह कर दोनों उत्पादक और उपभोक्ता में सीधा सम्बन्ध नहीं होने देते और लाभ की अधिकतम मात्रा स्वयं हड़प जाते हैं। ऐसी समितियों की स्थापना में प्रोत्साहन की आवश्यकता है ताकि देश में अधिक से अधिक संख्या में खुल सकें और उत्पादकों को उचित लाभ दे सकें।

अध्याय ११

उद्यान का स्वास्थ्य

ऐसा प्रायः देखा जाता है कि उद्यान अनेक सेवाओं तथा देख-भाल के होते हुए भी कुछ न कुछ रोगों अथवा कीड़ों से आक्रान्त हो जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में जबकि पौधों की आयु कम होती है, यह स्थिति कम होती है, किन्तु अधिक आयु वाले पुराने उद्यानों का निरीक्षण करने पर अनेकानेक रोग तथा कीड़े मिलते हैं, जो अपने प्रभाव से उद्यान की काफी क्षति करते हैं। यद्यपि एक सफल उत्पादक इन्हें उपयुक्त देख-भाल और सफाई द्वारा अधिक सीमा तक नियंत्रित कर सकता है परन्तु फिर भी कुछ न कुछ क्षति तो उठानी ही पड़ती है। प्राचीन काल में जब कि लोगों को पौधे के रोगों अथवा आक्रामक कीड़ों का कुछ भी ज्ञान नहीं था, लोग उनकी कोई चिन्ता नहीं करते थे। बहुत होता तो वे साधारण तौर पर नियन्त्रण अवश्य कर लेते थे। कभी-कभी तो इन पर नियंत्रण रखने के लिये पूजा-पाठ का भी विधि-विधान किया जाता था। एक समय रोगों के फैलने पर यह धारणा थी कि यदि उद्यान के मध्य एक मेंढक गाड़ दिया जाय तो उन्हें सुरक्षित रक्खा जा सकता है। यह धारणा उस समय थी, जब कि लोगों का ज्ञान बहुत सीमित था। उन्हें आक्रमण करने वाले हानिकारक कीटाणुओं जैसे बैक्टीरिया, फंगस या फफूँदी, वायरस एवं कीड़ों के जीवन-इतिहास का बिल्कुल ज्ञान नहीं था। यह ज्ञान १८ वीं शताब्दी में भी लोगों को बहुत कम था। किन्तु १९ वीं शताब्दी में लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और इन कीटाणुओं तथा कीड़ों पर अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यद्यपि आधुनिक काल में प्लांट पैथालॉजी जिसमें फफूँदी और बैक्टीरिया तथा वायरस का अध्ययन किया जाता है एवं इन्टोमालोजी, जिसमें कीड़ों का अध्ययन होता है; बहुत कुछ आगे बढ़ चुका है और अनेकानेक रोगों तथा कीड़ों का ज्ञान विदित हो चुका है और उनके नियंत्रण के लिए विभिन्न प्रकार की औषधियाँ भी खोज ली गई हैं, तथापि अभी भी कुछ ऐसी बीमारियाँ और कीड़े हैं जिनका अध्ययन अपूर्ण है और उनके नियंत्रण के उपाय भी अज्ञात हैं। वैज्ञानिक इस ओर बहुत झुके हुए हैं और नवीन रोगों तथा कीड़ों पर खोज कर रहे हैं।

यदि हम किसी भी उद्यान विशेष का अध्ययन प्रारम्भ करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि इसमें रोग अथवा कीड़े उपस्थित हैं या नहीं। यह पता लगा लेने पर यह

देखना होगा कि यदि इनकी उपस्थिति है तो इनके आक्रमण के साधन क्या हैं। साधन ज्ञात कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक होगा कि इन्हें दूर कैसे किया जाय। अतः सर्व प्रथम हम रोगों अथवा कीड़ों की उत्पत्ति के साधनों पर प्रकाश डालेंगे।

रोगों तथा कीड़ों की उत्पत्ति के साधन – जिन साधनों से रोग तथा कीड़ों का आक्रमण होता है उनमें पौधों का स्वास्थ्य एक महत्वपूर्ण वस्तु है। यदि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो यह निश्चित है कि उन पर कुछ भयंकर रोगों तथा कीड़ों का आक्रमण होगा। किन्तु स्वस्थ पौधों अथवा वृक्षों पर इनका प्रभाव बहुत कम देखा जाता है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर लिया जाता है।

१—फीजियोलॉजिकल बातें (Physiological Factors)
२—जलवायु सम्बन्धी बातें (Climatic Factors)
३—भूमि सम्बन्धी बातें (Soil Factors)
४—पैतृक कारण (Genetical Factors)

फीजियोलीजकल बातों का सम्बन्ध पौधों के स्वास्थ्य से होता है। स्वास्थ्य के अभाव में पौधों का कोई अंग अथवा कभी-कभी सम्पूर्ण पौधा दुर्बल देखा जाता है। ऐसी स्थिति में हानिकारक बैक्टीरिया अथवा फँफूदी आदि बहुत तीव्रगति से आक्रमण करते हैं और चूंकि पौधों में संरक्षण हारमून का अभाव होता है, अतः उनका आक्रमण हो जाता है और वृक्ष रोग से पीड़ित हो जाता है। जलवायु सम्बन्धी बातें भी पोधों को रोगी बनाने में उत्तरदायी होती हैं। नमी का अचानक बढ़ जाना कई रोगों के प्रभाव के लिए उपयुक्त हो जाता है जबकि पौधों की साधारण वृद्धि इस समय रुक जाती है। पाउडरीमिल्ड्यू के किटाणु ऐसी ही दशा में प्रभाव डालते हैं। भूमि के टेक्सचर का उपयुक्त न होना अथवा उसमें उर्वराशक्ति का अभाव पौधों की वृद्धि के लिए एक बाधा है और ऐसी स्थिति में रोगों अथवा कीड़ों के आक्रमण की भूमिका तैयार हो जाती है। भूमि के वाटर टेबुल (जलस्तर) का ऊपर आ जाना भी हानिकर होता है क्योंकि इसमें पौधों के निकट कुछ अलाभकार नमक एकत्रित हो जाते हैं जिससे भूमि में विष (Toxicity) उत्पन्न हो जाता है और पौधे क्षतिग्रस्त होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी वृद्धि रुक जाती है। भूमि में विष का उत्पन्न होना त्रुटिमय खाद देने की विधि से भी हो जाता। गलत ढंग से सिंचाई और अनुपयुक्त जुताई-गुड़ाई की क्रिया भी रोगों अथवा कीड़ों के प्रसार में उत्तरदायी हो सकती हैं। कुछ कीड़े अथवा कीटाणु ऐसी-प्रकृति के होते हैं जो भूमि में आश्रय लेते हैं और अपनी वृद्धि करते हैं। अतः ऐसी स्थिति में गर्मी की जुताई कर देना अधिक लाभ-प्रद होता है। पौधों में कभी-कमी दुर्बलता पैतृक कारणों मे भी होती है क्योंकि घटिया किस्म के अथवा

रोगी रूट-स्टाक के प्रयोग करने से कलम अच्छी नहीं हो पाती। भूमि में उपयुक्त जल निकास का न होना भी पौधों की वृद्धि पर प्रभाव डालता है।

इन बातों के अतिरिक्त रोगों अथवा कीड़ों के प्रसार में कुछ अन्य बातें भी सहायक होती हैं। इनमें उद्यान के निकट घास-फूस का उपस्थित रहना सम्मिलित किया जाता है। ये घास-फूस, जो उद्यान के मध्य अथवा किनारे पर उग आते हैं बरसात के दिनों में तो भूमि-क्षरण रोकते हैं, किन्तु अन्य ऋतुओं में यदि उन्हें वैसे रहने दिया जाता है तो वे हानिकारक कीटाणुओं तथा कीड़ों को प्रश्रय प्रदान करते हैं, जहाँ वे उस समय भी उपस्थित रहते हैं जब कि पौधों पर उनका प्रभाव नहीं पड़ पाता और दूसरी ऋतु में स्थिति उपयुक्त होने पर अपना प्रभाव डाल बैठते हैं। अतः मानसून के समाप्त होते ही इन्हें भूमि में दबा देना अच्छा पड़ता है ताकि वे खाद्यांश में वृद्धि कर सकें। पौधों के रोग अथवा कीड़े वायु, भूमि, जन्तुओं तथा मनुष्य द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलते हैं अतः इनका ध्यान रखकर ही उद्यान का संरक्षण किया जा सकता है। कुछ कीड़े ऐसे भी होते हैं, जो अपने प्रसार में किसी अन्य साधन की सहायता नहीं लेते अपितु स्वयं आक्रमण करते हैं और पौधों में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि अन्य कीड़े अथवा रोग उसपर अपना प्रभाव डाल सकें।

जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, प्रत्येक उद्यान रोग अथवा कीड़ों से कुछ न कुछ मात्रा में आक्रान्त होते हैं; चाहे प्रत्येक आवश्यक सावधानी में ही क्यों न रक्खा जाय। यदि उनके साथ लापरवाही बर्ती जाय तब तो वे रोगों और कीड़ों के घर बन जाते हैं। हमारे यहाँ ऐसा देखा जाता है कि लोग उद्यान के स्वास्थ्य से सर्वथा उदासीन से रहते हैं और उद्यान में कैसे रोग अथवा कीड़े आक्रमण कर रहे हैं इसका उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं रहता। ऐसी दशा में इन्हें सन्तोषजनक उपज नहीं मिल पाती। अतः यह आवश्यक है कि यदि किसी पौधे में कोई रोग उत्पन्न होता है तो उसकी तत्काल परिचर्या करनी चाहिये। परिचर्या करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो औषधि हम प्रयोग कर रहे हैं उसका प्रभाव रोग के ऊपर अनुपयुक्त तो नहीं पड़ेगा। रोग का बिना अध्ययन किये ही औषधि का प्रयोग करना भूल होगी, क्योंकि हो सकता है कि यह औषधि रोग पर नियंत्रण करने के बजाय वृक्ष को और भी क्षतिग्रस्त कर दे, अतः रोग अथवा कीड़े की स्थिति का गहरा अध्ययन कर लेने के पश्चात् उपयुक्त परिचर्या करनी चाहिये।

पौधों पर जब कोई भी कीटाणु अथवा कीड़ा आक्रमण करता है तो वह सर्वप्रथम पौधे के तन्तुओं में प्रवेश करता है। प्रवेश करने के पश्चात् वह अपनी वृद्धि करना प्रारम्भ करता है और फिर अपना प्रभाव वृक्ष की वृद्धि पर डालता है। इन्हें रोकने के लिए मुख्यतः दो उपाय प्रयुक्त होते हैं। भौतिक और रासायनिक। यहाँ हम इनका विवेचन पृथक्-पृथक् करेंगे।

भौतिक

भौतिक उपचार में कीड़ों को पकड़ कर मार डालना अथवा उनकी माँदों में तार घुसेड़ कर उन्हें तंग करना आदि सम्मिलित होता है। यदि कीड़ों का प्रभाव तने की छाल पर होता है तो छाल निकाल कर उन्हें मार डाला जाता है। कभी-कभी तने पर कागज आदि बाँध दिये जाते हैं ताकि उनका प्रभाव कम हो सके। कीटाणुओं को मारने के लिए प्रभावित पत्तियाँ वृक्ष से तोड़ कर जला दी जाती है। यदि कोई सम्पूर्ण डाली या शाखा ही किसी रोग विशेष से पीड़ित है तो उसे वृक्ष से पृथक कर देना उपयुक्त होता है। छँटाई करने के पश्चात् कटाव पर किसी प्रकार का लेप लगा देने से कीड़े या कीटाणु प्रवेश नहीं करने पाते। पौधों के किसी भाग के आहत होने और जख्म पैदा हो जाने से बहुत से कीड़े और कीटाणु पौधे के भीतर प्रवेश कर जाते हैं। इसकी रक्षा के लिए प्रथम तो पौधों को जख्मी होने ही न देना चाहिये किन्तु यदि हो जायँ तो उनकी उपयुक्त देख-भाल करनी चाहिये। वृक्ष में मरी हुई शाखाएँ या डालें यदि हों तो उन्हें पृथक् कर देना अच्छा होता है; क्योंकि इनकी उपस्थिति से कीड़े-कीटाणु प्रश्रय पाते हैं। भूमि की समुचित जुताई भी रोगों और कीड़ों पर नियंत्रण रखने में सहायक सिद्ध होती है। यदि आवश्यक हो तो रोगों की वृद्धि में साथ देने वाले संपूर्ण पौधे ही नष्ट कर देने चाहिये : किन्तु इसके साथ यह भी ध्यान देना चाहिये कि उद्यान के निकट ऐसे वृक्ष या पौधे न उपस्थित हों जिन पर कीड़े-कीटाणु आश्रय ले सकें।

रासायनिक

पौधों पर आक्रमण करने वाले हानिकर कीड़ों, कीटाणुओं की रोक-थाम की यह आधुनिकतम विधि है। इसका सूत्रपात १६वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और आज इसमें अधिक वृद्धि हो चुकी है। सुविधा के लिए इसे तीन भागों में विभक्त किया जाता है।

१. फंजीसाइड (Fungicide)

२. कन्टैक्ट इनसेक्टीसाइड (Contact insecticide)

३. स्टमक प्वायज़न (Stomach Poison)

फंजीसाइड (Fungicide) यह प्रायः उस अवस्था में प्रयोग किया जाता है जबकि पौधा फफूँदी द्वारा उत्पन्न रोगों से प्रभावित होता है। यह शब्द फंगस (अन्वीक्षण यन्त्र से देखा जाने वाला एक प्रकार का पौधा) और साइड (मारना) से मिल कर बना है, जो लैटिन शब्द है। प्रारम्भ में यह केवल उसी स्थिति में प्रयोग किया जाता था जबकि इनका प्रयोग बड़े पौधों में फफूँदी की रोक-थाम के लिए प्रयोग किया जाता था, किन्तु आजकल इसका प्रयोग उन सभी वस्तुओं के लिए किया

जाता है जो वातावरण में उपस्थित फफूँदी की रोक-थाम के लिए प्रयोग की जाती है। कृषिशास्त्र में इसका प्रयोग पौधों को बिना क्षति पहुँचाये फफूँदी पर नियंत्रण रखने के लिए किया जाता है किन्तु फंजीसाइड फफूँदी की वृद्धि पर ही रोक लगा सकते हैं अथवा उन्हें विनष्ट कर सकते हैं, इनके द्वारा की हुई क्षति पर नियन्त्रण नहीं ला सकते। फंजीसाइड निम्नलिखित गुणों से युक्त होने चाहिये ताकि इनका प्रयोग अधिक सफल हो सके। ये फफूँदी के लिए विषैले हों किन्तु जन्तुओं या मनुष्यमात्र के लिए लाभकर हों। ये सस्ते पड़ते हों और सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जायँ। पौधों पर इनका प्रभाव हानिकर नहीं होना चाहिये। प्रयोग करते समय ये कोई हानिकर प्रभाव न डाल सकें और पौधों के जिन भागों पर इनका प्रयोग हो वहाँ इनका प्रभाव भी उत्पन्न होना चाहिये। अच्छा हो यदि वे उस स्थान पर चिपक जायँ या वहाँ एक परत बना लें। प्रयोग करने के तत्काल ही फफूँदी पर इनका प्रभाव होना चाहिए और यह प्रभाव कुछ समय तक स्थिर रहना चाहिये। यदि इनमें कीड़ों को मारने की भी शक्ति विद्यमान है तब तो और अच्छा है।

फंजीसाइड का प्रयोग पौधों की पत्तियों के ऊपर छिड़काव के रूप में किया जाता है। छिड़कने पर ये उनकी धरातल पर एक पर्त-सी बना लेते हैं और फिर क्यूटिकल (Quticle) को छेद पर आन्तरिक तन्तुओं में पहुँच जाते हैं। फंजीसाइड में अनेक रासायनिक तत्वों तथा यौगिकों का प्रयोग हो चुका है किन्तु उनमें सल्फर (गन्धक) और कापर (ताँबे) का मिश्रण अधिक सफल सिद्ध हुए हैं। अतः फंजीसाइड अपने तत्वों के अनुसार तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है जो इस प्रकार हैं :

१. सल्फर वाले फंजीसाइड (Fungicides Containing sulphure)

२. कापर वाले फंजीसाइड (Fungicides Containing Copper)

३. फंजीसाइड जिनमें सल्फर और कापर दोनों अनुपस्थित हो (Fungicides containing neither Sulphur nor Copper)

सल्फर (गन्धक)—गन्धक बहुत प्रभावकर फंजीसाइड है जिसे अनेक रूप में प्रयोग किया जाता है, किन्तु इन रूपों में अधिक महत्वपूर्ण इसकी धूल (Dust) है। प्रयोग करने के पूर्व इसे पीसा जाता है और इतना बारीक किया जाता है कि यह ३०० मेश (Mesh) वाली चलनी से चालने पर नीचे गिर जाय। गन्धक की धूल अकेले ही प्रयोग नहीं की जाती अपितु इसके साथ कुछ अन्य यौगिक भी मिला दिये जाते हैं। इन यौगिकों में लेड आर्सिनेट, मैंगनीज आर्सिनेट तथा चूना मुख्य हैं। मिश्रण के आधार पर बहुत से फारमूले (नियम) निकाले गये हैं जिनमें अधिक प्रसिद्ध ६०-१० है। इस फारमुले का पूर्ण नाम ६०-१० सल्फर-लेड आर्सिनेट है जिस का अर्थ है कि मिश्रण में ६० भाग गन्धक है तो १० भाग लेड आर्सिनेट। इस मिश्रण में लेड आर्सिनेट के स्थान पर चूना भी प्रयोग किया जा सकता है; क्योंकि इसका

प्रभाव फंजीसाइड के रूप में प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। कभी-कभी गन्धक के साथ लेड आर्सिनेट और सूखे चूने दोनों का मिश्रण तैयार किया जाता है और इसका अधिक प्रचलित फारमूला है ७५—१५—१० सल्फर-सूखा चूना-लेड आर्सिनेट। ६०-१० सल्फर-लेड आर्सिनेट के स्थान पर यदा-कदा ६०-१० सल्फर मैंगनीज आर्सिनेट का भी प्रयोग होता है।

गन्धक की धूल पाउडरी मिल्ड्यू पर नियंत्रण पाने में अधिक सहायक सिद्ध हुई है। इसे अंगूर, आम, गूजबेरी तथा अनेक फसलों के पाउडरी मिल्ड्यू पर प्रयोग किया जाता है। अंगूर में यह ७५ पौंड, आम में २ पौण्ड प्रति वृक्ष और गूजबेरी में २० पौंड प्रति १०० झाड़ियों के हिसाब से प्रयुक्त होता है। अमेरिका में गेहूँ में स्टेम रस्ट पर गन्धक की धूल हेलीकाप्टर द्वारा छिड़की जाती है। दक्षिण भारत में तम्बाकू के खेत से पाउडरी मिल्ड्यू की रोक-थाम के लिए उसे पौधों के आधार पर प्रयोग करते हैं।

गन्धक की धूल के अतिरिक्त आजकल इसे लेई की भाँति भी प्रयोग किया जाने लगा है। इसे मक्खन निकाला दूध, चूना, आटा, कैल्शियम केसीनेट आदि से मिला कर लेई सदृश बना लिया जाता है। इस भीगा गन्धक (Wettable sulphure) भी कहा जाता है। राबिन्सन ने ओरिगन कोल्ड-निक्स भीगा गन्धक (Orgon cold mix wel able sulphur) बनाने के लिए एक फारमूला दिया है जिसमें $\frac{3}{4}$ भाग मक्खन निकाला हुआ दूध बराबर के पानी की मात्रा से पतला किया जाता है और फिर ८ पौंड गन्धक तथा १ पौंड चूने के मिश्रण में मिला दिया जाता है। मिश्रण को भली-भाँति मिलाने तथा लेई के समान देने के लिए खूब हिलाया जाता है। तत्पश्चात् यह मिश्रण १०० गैलन पानी में मिला दिया जाता है और छिड़काव (spraying में प्रयोग किया जाता है।

लाइम सल्फर (Lime-sulphur) लाइम सल्फर फंजीसाइड और इन्सेक्टी-साइड दोनों के गुण रखता है और यथास्थान प्रयोग भी होता है। यह जैसा कि नाम से ही विदित है, लाइम तथा सल्फर के मिश्रण को पानी में मिलाने से तैयार किया जाता है। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि यह फलों तथा पत्तियों पर आवश्यकता से अधिक हानि पहुँचा देता है। यहाँ तक कि इसके घोल को पतला करके प्रयोग करने से भी पौधों की कोमल त्वचा प्रभावित हो जाती है। घोल छिड़कने वाले को भी अधिक सावधानी से कार्य करना पड़ता है क्योंकि इससे क्षति पहुँचने की आशंका होती है। लाइम सल्फर कैल्शियम के पाली सल्फाइड की उपस्थिति के कारण प्रतिकूल प्रभाव डालता है क्योंकि यह रिड्यूसिंग एजेंट (Reducing agent) की भाँति कार्य करता है और अन्त में कैल्शियम सल्फेट बना देता है।

लाइम सल्फर स्टाक सोल्यूशन (Stock solution) बनाने के लिए कई फारमूले प्रचलित हैं जिनमें ५०—१००—५० (५० पौं० क्विक लाइम) Quick Lime १०० पौं० गन्धक और ५० गैलन पानी) अधिक प्रसिद्ध है। इसे तैयार करने के लिए लोहे का बड़ा बर्तन लिया जाता है। चूना पानी की अधिक मात्रा के साथ बर्तन में डाल दिया जाना चाहिये और जब ये भली-भाँति मिल जायँ तो अत्यन्त बारीक गन्धक की पूर्ण मात्रा इसमें छोड़ देनी चाहिये और इसे मिश्रण में मिलाते जाना चाहिए। जब मिश्रण पूर्णरूप से मिल जाता है तो पानी की शेष मात्रा बर्तन में डाल दी जाती है और इसे लगभग १ घण्टे तक पकाते हैं। पका मिश्रण १-२ दिन तक यों ही छोड़ दिया जाता है और फिर इसे बैरेल में रख दिया जाता है। प्रयोग करने के पूर्व घोल पतला कर लेना चाहिए क्योंकि यह अधिक मोटा होता है। इसे पतला करने के लिए औसत स्पेसिफिक ग्रेविटी (specific Graviti) वाले स्टाक सल्यूशन का १ गैलन ५० गैलन पानी के साथ मिलाया जाता है। लाइम सल्फर का प्रयोग प्रायः उस समय किया जाता है जब कि पाधा सुसुप्तावस्था में होता है और उसकी पत्तियाँ आदि झड़ गई होती हैं। जब कम शक्ति (Str ngth) के लाइम सल्फर तैयार किये जाते हैं तो क्विक लाइम और सल्फर बिना खौलाये हुए ही मिलाये जाते हैं और इसमें इनकी मात्रा ८-१० पौं० और पानी ५० गैलन लिया जाता है। बिना खौलाये तैयार करने के कारण इसे सेल्फ ब्वायल्ड लाइम सल्फर (Self Boiled Lime sulphur) कहते हैं।

लाइम सल्फर के अतिरिक्त ऐसे भी फंजीसाइड तैयार किये जाते हैं जिनमें गन्धक के स्थान पर जस्ता (जिंक सल्फेट) और क्विक लाइम के स्थान पर हाइड्रेट लाइम प्रयोग किया जाता है। डिस-इन्फेक्टेन्ट नींबू जाति के फलों के गमोसिस (Gummosis) रोग में प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसे जख्मों पर भी लगाया जाता है। इसके प्रयोग करने का ढङ्ग लेई रूप में लेप लगाने का है। प्रचलित डिसइन्फेक्टेन्ट किरोसोट है।

कापर तांबा बोर्डे मिश्रण—कापर सल्फेक्ट फंजीसाइड की भाँति बहुत काल से होता आ रहा है। किन्तु १८८२ ई० में मिलार्डे और डेविड (Millardet & Devid) ने अंगूर की डाउनी मिल्यू पर इसका प्रभाव अचानक ज्ञात किया। ये लोग फ्रांस में बोर्ड (Bordew) विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे अतः उस स्थान के नाम पर इस फंजीसाइड का नाम बोर्ड मिश्रण (Bordeva-mixture) पड़ा। इस खोज में कापर सल्फेक्ट डाइनल्यू की रोक-थाम के लिए सफल सिद्ध किया गया और जब इसे लाइम से मिलाया गया तो देखा गया कि इससे कापर सल्फेक्ट के पौधों पर हानिकर प्रभाव भी जाते रहे। आजकल यह मिश्रण लगभग सभी

देशोंमें सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है। इसके अनेक फार्मूले प्रचलित हैं जिनमें ४-४-५०, ३-४-५० और ५-५-५० अधिक मुख्य हैं। फार्मूले में प्रथम अंक कापर सल्फेट, दूसरा अंक हाइड्रेटेड लाइम, तीसरा अंक पानी की मात्रा गैलन में प्रदर्शित करता है। कोमल और मृदुल पत्तियों पर प्रयोग करते समय मिश्रण का अनुपात २-२-५० तक किया जा सकता है और आवश्यकतानुसार इसे ८-८-१०० तक भी किया जा सकता है।

बोर्डा मिश्रण तैयार करने के लिए कापर सल्फेट की आवश्यक मात्रा चीज, कपड़े या मुस्लिम झोले में बाँध कर मिट्टी के बर्तन में जिसमें थोड़ा पानी विद्यमान रहता है, इस प्रकार लटका देते हैं कि रवे पानी में घुलते रहें। गर्म पानी में रवे शीघ्र घुल जाते हैं। चूने की मात्रा तीन-चौथाई पानी में मिलाई जाती है और उसे खूब हिला-हिला कर मिलाया जाता है। कापर सल्फेट का घोल चूने में उसी समय डाल दिया जाता है जबकि उसमें हिलाने की क्रिया अभी जारी रहती है। दोनों घोल मिला लेने के पश्चात् पानी की शेष मात्रा डाल दी जाती है और इस प्रकार निश्चित अनुपात का मिश्रण तैयार कर लिया जाता है। बोर्डा मिश्रण तैयार करने के दिन भी प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु उस समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मिश्रण में कापर के कुछ कण बिना घुले न रह गये हों। ऐसा होने पर इसे छान लेना अच्छा होता है। मिश्रण तैयार करने में लोहे का बर्तन कदापि नहीं प्रयोग करना चाहिए क्योंकि ऐसे बर्तन में मिश्रण प्रतिक्रिया करने लगता है। छिड़कने के समय प्रयोग किया जाने वाला बर्तन पीतल अथवा काँस का होना चाहिये।

बोर्डा मिश्रण अधिक सस्ता फंजीसाइड है। इसे सरलतापूर्वक बिना किसी भय के प्रयोग किया जा सकता है। पौधों पर छिड़कने से अन्य स्प्रे की भाँति यह हानिकर प्रभाव नहीं छोड़ता और वृक्षों की पत्तियाँ या टहनियों पर चिपकने का भी गुण रखता है। किन्तु इन गुणों के साथ ही इस मिश्रण में कुछ अवगुण भी पाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं। इसे लोहे अथवा जस्ते के बर्तनों में नहीं रखा जा सकता है क्योंकि यह उनसे प्रतिक्रिया करने लगता है। जिन पौधों पर इसका प्रयोग होता है, उन पर यह अपना रंग छोड़ देता है जिससे उनका सौन्दर्य कम हो जाता है। यही नहीं, थोड़े समय के लिए उनमें भोजन संस्थापन क्रिया भी स्थगित हो जाती है। इन बातों के अतिरिक्त यह फलों जैसे—आड़ू, सेब आदि पर हानिकारक प्रभाव भी डालता है। किन्तु डाउनी मिल्ड्यू, सिट्रस कैन्कर (Citrus Canker) आदि पर अच्छा प्रभाव दिखाता है।

बरगंडी मिश्रण—यह मिश्रण कापर स्प्रे से तैयार किया जाता है और बोर्डा मिश्रण से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। केवल अन्तर यह होता है कि इसमें चूने के स्थान पर सोडियम कार्बोनेट (धोने वाला सोडा) प्रयोग किया जाता है। इसकी खोज सन् १८८७ ई० में बोर्डा मिश्रण की खोज के कुछ ही वर्षों पश्चात् हुई। इसका

प्रयोग पपीते के ऐन्थाक्नोज में किया जाता है। यह अधिक महँगा पड़ता है। इसका फारमूला १०-१२½-५० आयरलैण्ड में अधिक प्रचलित है।

इन मिश्रणों के अतिरिक्त क्यूप्रस आक्साइड भी कुछ स्थानों पर प्रयोग किया जाता है। रोगों की रोक-थाम में सल्फर और कापर दोनों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु कापर के स्प्रे गन्धक से कुछ अर्थ में बढ़िया होते हैं। यह फफूँदी के स्पोर मारने में अधिक अच्छा सिद्ध होता है। किन्तु पाउडरी मिल्ड्यू में अधिक अच्छा होता है। दूसरे कापर पौधों पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं छोड़ता और मिश्रण में चूने के प्रयोग से इसमें चिपकने की शक्ति भी होती है।

साबुन, जिलेटीन आदि – ये वे पदार्थ हैं जिनमें न तो गन्धक और न कापर का प्रयोग किया जाता है। इनमें मछली का तेल, वेजीटेबुल आयल, घुलनशील रेजिन हायर अल्कोहल के सल्फेट, कागज की मिलों के व्यर्थ सल्फाइड के द्रव केसीन बिन्टो-नाइट आदि सम्मिलित किये जाते हैं।

कभी-कभी मिश्रण अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए दो या अधिक स्प्रे मिला दिये जाते हैं, ताकि उनसे अधिक लाभ उठाया जा सके। लाइम सल्फर, लेड आर्सीनेट अथवा बोर्डा मिश्रण, लेड आर्सीनेट, साबुन, तेल, निकोटीन सल्फेट या लाइम सल्फर से मिलाया जा सकता है।

वे पदार्थ जिन्हें स्प्रे के रूप में प्रयोग किया जाता है जब तक फलों अथवा पत्तियों पर चिपकते नहीं तब तक उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ पाता। इसके लिए कुछ ऐसे पदार्थ प्रयोग किये जाते हैं जिससे उनकी चिपकने की शक्ति बढ़ जाती है। ऐसे पदार्थ स्प्रेडर (Sprader) अथवा स्टिकर (Sticker) कहे जाते हैं। इनमें केसीन, साबुन, मक्खन निकाला हुआ ताजा या सूखा दूध, आटा, रेजिब्लड अल्बूमिन (Blood albumin) आदि हैं।

कन्टैक्ट इनसेक्टीसाइड—जैसा कि नाम से ही विदित है, यह कीड़ों-मकोड़ों आदि को मारने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह अपना प्रभाव कीड़ों से सम्बन्ध स्थापित करने के पश्चात् डालता है और इसी कारण इसे कन्टैक्ट इनसेक्टी-साइड कहते हैं। इसमें तम्बाकू अधिकतर प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसमें निकोटीन एक विषैला पदार्थ विद्यमान होता है। कीड़े जो इसका स्वाद सहन नहीं कर सकते, मर जाते हैं अथवा वहाँ से भाग खड़े होते हैं। इसे तैयार करने के लिए निकोटीन वाला तम्बाकू एक गैलन पानी में एक घन्टे तक गरम किया जाता है। कभी-कभी गरम करने का समय २४ घन्टे तक जारी रखा जाता है। यह क्रिया दो बार ताजे पानी में दोहराई जाती है। पानी में खौलते समय दोनों बार मुलायम साबुन की एक पौंड मात्रा डाली जाती है। इस प्रकार तम्बाकू का डिकोक्शन तैयार हो जाता है। चूँकि यह घोल अधिक गाढ़ा होता है अतः प्रयोग करने के पूर्व इसे पतला कर लिया

जाता है। गरम रहने पर इसे कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिये। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि यह घोल गरम पानी में तैयार ही नहीं करना चाहिये। तम्बाकू के स्प्रे भिन्न-भिन्न शक्ति के तैयार किये जाते हैं। प्रायः ४०% के निकोटीन सल्फेट वाले स्प्रे अधिक प्रयोग होते हैं और महँगा होने के कारण इसे प्रयोग करने के पूर्व पतला कर देते हैं। पतला करते समय एक भाग निकोटीन सल्फेट ५-५० भाग पानी या कभी-कभी ८०० भाग पानी का अनुपात रक्खा जाता है। कुछ स्थानों पर कीड़ों को मारने के लिए तम्बाकू के स्प्रे में तेल या साबुन भी मिला दिये जाते हैं। स्प्रे का प्रयोग सर्द मौसम में इतना लाभकर नहीं होता जितना कि गर्म मौसम में। स्प्रे के अतिरिक्त कन्टैक्ट इनसेक्टीसाइड में डस्टिंग की क्रिया भी सम्मिलित की जाती है।

पीला धतूरा कन्टैक्ट इन्सेक्टीसाइड की भाँति अधिकतर प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त रोटीनोन (Rotenone) पाइरेथ्रम पाउडर, साबुन तथा तेल भी प्रभावशाली इनसेक्टीसाइड सिद्ध हुए हैं। धतूरे के बीज २४ घन्टे तक ठंडे पानी में घुलाकर निचोड़ लिये जाते हैं। कभी-कभी इनके तेल का इमल्शन भी तैयार किया जाता है। इसे पानी के साथ मिला कर प्रयोग किया जाता है। रोटीनोन कन्टैक्ट इन्सेक्टीसाइड के साथ स्टामक प्वायजन भी है जो मलाया में अधिकतर तैयार किया जाता है। इसका प्रयोग महँगा पड़ता है और प्रयोग में भी कठिनाई उठानी पड़ती है। पाइरेथ्रम पाउडर में उड़नशील तेल होता है जिसमें कीड़े शक्ति मारने की शक्ति होती है। यह स्प्रे और डस्ट दोनों प्रकार प्रयोग किया जाता है किन्तु मूल्य अधिक होने के कारण इसका प्रचलन अधिक नहीं है। साबुन और तेल फन्जीसाइड तथा इन्सेक्टीसाइड भी होते हैं; किन्तु इनका प्रयोग बहुत थोड़े क्षेत्र में ही किया जाता है। इनका प्रभाव साधारण किस्म का है। साधारण साबुन के स्थान पर मछली के तेल वाले साबुन अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। मछली के तेल वाले साबुन जिनमें रेज़िन की मात्रा उपस्थित होती है, अधिक सफल सिद्ध होते हैं। इन्हें प्रयोग करते समय एक गैलन खौलते हुए पानी में एक पौंड बारीक रेज़िन से मिलाया जाता है और फिर खौलाने के पश्चात् प्रयोग में लाया जाता है। खनिज तेल केवल इमल्शन के रूप में प्रयोग होते हैं, जो तेल में साबुन और जल के मिलाने से तैयार किये जाते हैं। किरासीन इमल्शन भी कुछ देशों में प्रयोग हो रहा है।

सल्फर जिस प्रकार फंजीसाइड की भाँति प्रयोग होता है उसी प्रकार इसे इन्सेक्टीसाइड के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। इसके स्प्रे और डस्ट दोनों तैयार किये जाते हैं।

स्टॉमक प्वायज़न—यह उपचार अधिक विषैला होता है और कीड़ों अथवा रोगों पर विषैला प्रभाव छोड़ता है। इसका प्रारंभ १८६०ई० में अमेरिका में हुआ और सर्वप्रथम पेरिस ग्रीन (Paris green) का प्रयोग स्टामक प्वायज़न की भाँति हुआ। किन्तु इसका प्रयोग प्रायः फसलों में ही होता था। फलों के पत्तियों को

क्षतिग्रस्त कर देने के कारण यह उद्यानों में प्रचलित नहीं रहा। आजकल विभिन्न प्रकार के स्टामक प्वायज़न तैयार कर लिये गये है जो अधिक प्रभावशाली भी सिद्ध हुए हैं। स्टामक प्वायज़न प्रायः आर्सीनिक यौगिकों से तैयार किये जाते हैं, जिनमें लेड आर्सीनेट, कैल्शियम, आर्सीनेट लेड क्रोमेट और सोडियम फ्लूओसेलीकेट अधिक मुख्य हैं। लेड आर्सीनेट एक भयंकर विष होता है। अतः इसका प्रयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिये। यद्यपि अल्प मात्रा में कोई हानिकर प्रभाव नहीं डालता तथापि इसके सावधान रहना अधिक आवश्यक है, क्योंकि अज्ञान मनुष्य या जन्तु धोखा खा सकते हैं। कुछ स्थानों पर ऐसा नियम बना दिया गया है कि लेड आर्सीनेट अथवा दूसरे स्प्रे से प्रभावित फल बेचना विधान के विरुद्ध है।

लेड आर्सीनेट के अतिरिक्त कैल्शियम आर्सीनेट का प्रयोग भी अधिक होता है। किन्तु शीघ्र उड़ जाने और पत्तियों पर हानि पहुँचाने के कारण यह फल देने वाले वृक्षों में नहीं प्रयोग किया जाता। लेड क्रोमेट अधिक विषैला पदार्थ नहीं है किन्तु इसमें साथ ही प्रभावशाली इन्सेक्टीसाइड भी नहीं है। इसलिए यह अधिक प्रचलित नहीं है। सोडियम फ्लूओसेलीकेट एक अच्छा इनसेक्टीसाइड है जो मनुष्य के लिए कम हानिकारक होता है। यह सस्ता पड़ता है। इसका प्रयोग पत्तियों पर हानिकारक होता है और इसकी डस्टिंग (dusting) भी कठिनाई से होती है। अतः इसका प्रयोग अधिक नहीं किया जाता।

औषधियों के उपचार में स्प्रेयर प्रयोग किये जाते हैं जबकि औषधि स्प्रे की जाती है। डस्टिंग उस दशा में की जाती है जबकि औषधि धूल में होती है। स्प्रेयर अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ छोटे और हाथ द्वारा प्रयोग किये जाने वाले होते हैं। हाथ द्वारा खींची जाने वाली पिचकारियाँ थोड़ा बहुत उपयुक्त होती है। किन्तु उद्यानों में जब बड़ी-बड़ी स्प्रेयर प्रयोग की जाती हैं तो ये निरर्थक सिद्ध होती हैं। इसके लिए पंप द्वारा चालित स्प्रेयर प्रयोग किये जाते हैं। कम्प्रेस्ड एयर स्प्रेयर एक हस्तचालित यंत्र है जो हवा के दबाव के सिद्धान्त पर काम करता है। आधुनिक युग में पावर स्प्रे पम्प अधिक प्रचलित हैं। भारतवर्ष के देहातों में औषधि का उपचार बाँस की लग्घियों द्वारा किया जाता है। अमेरिका में डस्टिङ्ग के लिए हेली-काप्टर प्रयोग किये जा रहे हैं।

उद्यानों में छोटे-छोटे कीटाणुओं या कीड़ों-मकोड़ों के अतिरिक्त पक्षी जानवर, चूहे, गिलहरियाँ, चमगादड़ आदि भी आक्रमण करते हैं, जिन्हें देखभाल द्वारा दूर किया जा सकता है। कभी-कभी उद्यानों में लोरेन्थस (बन्झा), अमरबेल (कैस्कुटा) आदि बड़े परोपजीवी पाये जाते हैं। इन्हें काटकर उद्यान से बाहर कर देना चाहिये।

अध्याय १२

फल की वस्तुएँ

फल का महत्व मानव-इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। इतिहास साक्षी है कि आदि पुरुष एक मात्र इन्हीं फलों पर निर्भर रहते थे। जिस ऋतु में जो फल मिलते थे वे उन्हीं को अपना आहार बनाते थे। उनमें कुछ ऐसे फल भी होंगे जो अधिक स्वादिष्ट और रुचिकर होंगे और उन्हें खाने की उनकी बराबर इच्छा बनी रहती होगी; किन्तु एक निश्चित समय पर पकने के कारण वे उन्हें उसी समय प्राप्त कर सकते होंगे क्योंकि यह साधारण बात है कि पके फल अधिक समय तक टिक नहीं सकते। वे शीघ्र ही सड़ना प्रारम्भ कर देते हैं और खाने योग्य नहीं रह जाते। यह समस्या आज भी बनी है। आम के पके फल गर्मी की ऋतु में कुछ समय तक ही मिल पाते हैं, शेष ऋतु में बाजार में देखने को नहीं मिलते। किन्तु कोई ऐसा ढंग निकाल लिया जाय कि आम के फल पकने के पश्चात् भी कुछ समय के लिए सड़ाव से रोके जा सकें अथवा उन्हें किसी अन्य रूप में परिवर्तित कर लिया जाय जो वर्ष भर किसी भी समय प्रयोग किया जाय तो लोगों की इच्छाएँ भी सन्तुष्ट हो सकती हैं और बाजारों में इनके मूल्य भी अच्छे मिल सकते हैं। कोई फल जिस समय पकते हैं उस समय बाजारों में उनका आधिक्य हो जाता है क्योंकि फल धीरे-धीरे तो पकते नहीं, सभी फल कुछ दिनों के भीतर ही पक कर तैयार हो जाते हैं। बाजारों में फलों की पूर्ति अधिक हो जाने से माँग भी लगभग स्थायी बने रहने से मूल्य गिर जाता है और उत्पादक गिरे मूल्य पर अपना माल बेचने को विवश भी हो जाता है क्योंकि कुछ अधिक दिन बाजार की प्रतीक्षा करने से फल सड़ाव प्रारम्भ कर देते हैं और उसे अधिक घाटा उठाना पड़ता है।

वैज्ञानिक युग में इस समस्या को सुलझाने के लिए कुछ विधियाँ अवश्य निकाली गईं जिनमें शीतागारों का महत्वपूर्ण स्थान है। शीतागारों में फल रख दिया जाता है और तापक्रम के नीचे होने के कारण इन्हें कुछ काल तक स्थिर रखा जाता है। कम तापक्रम पर फल शीघ्र नहीं सड़ते। किन्तु कठिनाई यह है कि ऐसे शीतागार हमारे देश में इने-गिने ही हैं और जो हैं भी उनमें फल संचित रखने का व्यय अधिक पड़ता है जिससे हमारे उत्पादक अधिक लाभ नहीं उठा पाते। अभी हाल में हमारी काँग्रेस सरकार ने वेयर हाउसेज ऐक्ट (Ware houses Act) पारित किया जिसके अनुसार प्रत्येक बड़े शहरों में वेयर हाउस (शीतागार) बनेंगे जहाँ लोग अपने माल कुछ समय के लिए संचित रख सकेंगे। इसके लिए उन्हें कुछ फीस देनी होगी जो समय

तथा माल के तौल के अनुसार निश्चित् की जायगी। इससे दो लाभ होंगे: प्रथम, उत्पादक को अधिक मूल्य प्राप्त करने में सहायता मिलेगी और दूसरे, फल अपने मौसम के कुछ समय पश्चात् तक भी प्राप्त किये जा सकेंगे। इनमें एक कठिनाई यह रह जायगी कि फल वर्ष भर नहीं प्राप्त किये जा सकेंगे क्योंकि शीतागारों में इन्हें केवल कुछ ही समय तक स्थिर रखा जा सकता है। इस कठिनाई से बचने के लिए प्रिजर्वेशन (Preservation) संरक्षण विधि निकाली गई है जिसमें ताजे फल अन्य ऐसे रूपों में परिवर्तित किये जाते हैं जिसमें उन्हें लगभग वर्ष भर सुरक्षित रखा जा सकता है और बाजारों में अधिक मूल्य भी प्राप्त किया जा सकता है। प्रिजर्वेशन की विधि में कई अन्य विधियाँ सम्मिलित की जाती हैं जिनमें फल या उनके कतरे धूप में सुखाने की विधि Drying कैनिंग (Canning) जैम-जेली तैयार करना, पिकिल, चटनी, शर्बत आदि तैयार करने की विधियाँ उल्लेखनीय हैं।

फल धूप में सुखाने की विधियाँ (Drying)—यह प्रिजर्वेशन की सब से सरल विधि है। इसे ड्राइंग या सन ड्राइंग (Sun drying) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह विधि भारत के अतिरिक्त अमेरिका और योरप आदि देशों में प्रचलित है। हमारे देश में अनेक फल और तरकारियाँ सुखाकर रख दी जाती हैं और उन्हें उस समय प्रयोग किया जाता है जबकि बाजारों में उनका अभाव होता है अथवा वे महँगी मिलती हैं। आम का अमावट या अमरस इसी प्रकार तैयार किया जाता है। पके फलों का रस एक बर्तन में निचोड़ लिया जाता है और उनके छिलके तथा गुठलियाँ पृथक् कर दी जाती हैं। यह रस पतली तह के रूप में एक कपड़े या तख्ते पर सुखा दिया जाता है। थोड़ा सूखने के पश्चात् रस की और तहें भी जमाते जाते हैं और जब ये काफी मोटी हो जाती हैं तो इन्हें धूप में भली-भाँति सुखा लेते हैं और फिर लपेट कर सुरक्षित स्थान पर रख देते हैं। कभी-कभी लम्बी-चौड़ी तहें टुकड़ों में काट ली जाती हैं। ये खाने में ठीक आम की भाँति स्वाद देती हैं और लगभग वर्ष भर उपलब्ध हो सकती हैं। अमावट तैयार करने की विधि में यदि थोड़ा-सा सुधार कर लिया जाय तो सम्भव है कि बाजारों में इसकी माँग और भी बढ़ जाय।

पके फलों के रस आदि सुखाने के अतिरिक्त कच्चे फल भी सुखाकर बहुत दिनों तक भोजन सम्बन्धी कार्यों में प्रयोग किये जाते हैं। आम के फल आँधी या कड़ी वर्षा में जब कच्ची स्थिति में ही भूमि पर गिर पड़ते हैं तो उनके कतरे काट कर सुखा लेते हैं और वर्ष भर काम में लाते हैं। आम की खटाई इसी प्रकार तैयार की जाती है। सुखाते समय उन्हें धूप की अधिक मात्रा उपलब्ध करने दी जाती है ताकि नमी की थोड़ी-भी मात्रा इनमें उपस्थित न रह जाय क्योंकि थोड़ी-सी भी नमी के रह जाने से सड़ाव होने का भय रहता है। वे फल जो आकार में छोटे होते हैं और जिनके

कतरे नहीं काटे जा सकते, बीज सहित ही सुखा लिये जाते हैं और सुरक्षित रख दिये जाते हैं। विदेशों में अंजीर, अंगूर, आड़ू, अपरीकाट, और बेर आदि धूप में सुखाये जाते है। इनमें बेर (Plum) बिना बीज पृथक किये ही सुखाया जाता है जिसका प्रून (Prune) बनता है। यह पदार्थ योरप और अमेरिका में अधिक प्रसिद्ध है।

उन स्थानों पर जहाँ सूर्य का प्रकाश अधिक नहीं मिल पाता, फलों को सुखाने के लिए आग की भट्ठियाँ प्रयोग की जाती हैं। भट्ठियों के अतिरिक्त इवैपोरेटर (Evaporator) भी कुछ स्थानों पर काम में लाये जाते है। लालसिंह और लाल ने कोयले के बर्नर वाला इवैपोरेटर प्रयोग करने की राय दी है जिसमें केवल तरकारियाँ ही सुखाई जा सकती हैं। तरकारियों के सुखाने की प्रथा हमारे देश में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से प्रारम्भ हुई और अब इनका प्रयोग कुछ स्थानों पर होने लगा है। इस क्रिया में भी नमी लगभग ५% तक सुखा दी जाती है। तरकारियों को सुखाने के लिए तापक्रम लगभग १४५° से ३००° फा० तक स्वीकृत किया गया है। इवैपोरेटर की विधि धूप में सुखाने वाली विधि से अच्छी है क्योंकि इसमें तापक्रम नियंत्रित रखा जा सकता है और इसमें स्वच्छता का भी अच्छा प्रबन्ध हो पाता है। धूप में सुखाने वाली विधि में स्वच्छता का अधिक ध्यान रखने पर भी धूल से रक्षा नहीं ही हो पाती और मक्खियों से बचाव करना कठिन होता है। डिहाइड्रेशन (Dehydration) की विधि जिसमें फलों को सुखाकर उनकी वस्तुएँ तैयार की जाती हैं, महायुद्ध के पश्चात् से अधिक प्रचलित है। इस विधि द्वारा फलों का गुण सुरक्षित रखा जा सकता है।

सुखाकर तैयार की गई वस्तुएँ अधिक हल्की होती हैं और उन्हें सरलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थाने को भेजा जा सकता है। इस विधि द्वारा फल संचित भी रखे जाते हैं किन्तु लोगों का कथन है कि इसमें फल का वह स्वाद नहीं मिलता जो ताजे फल में मिलता है। धूप में सुखाने से विटामिन A और C की अधिक हानि होती है किन्तु हाइड्रेशन द्वारा यह कुछ कम की जाती है।

कैनिंग (Canning)—प्रिजर्वेशन की दूसरी विधि कैनिंग है जो टिन कैनों (Cans) या शीशे के जारों में बन्द करने के कारण इस नाम से सम्बोधित की जाती है। टिन कैन टिन के प्लेटों से बनाये जाते हैं जो अच्छे किस्म के स्टील और टिन से निर्मित होते हैं। प्लेटों में टिन का प्रतिशत केवल २ रहता है और उनका पेंदा उत्तम स्टील द्वारा बनता है जिसमें कार्बन की मात्रा कम होती है। कैनिंग व्यवसाय के प्रारम्भ में इस प्रकार के टिन कैन नहीं प्रयोग किये जाते थे अपितु उस समय ऊपरी धरातल पर छिद्रयुक्त कैन बनते थे जिनके द्वारा कैन भरे जाते थे और भरने के पश्चात् ये एक प्रकार के ढक्कन से बन्द कर दिये जाते थे जिनमें एक बहुत पतली सुराख बनी

होती थी। यह सुराख कैन की वायु निकलने के पश्चात् बन्द कर दी जाती थी। इस प्रकार के कैन हमारे देश में अब भी कहीं-कहीं प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु स्वच्छ कैन (Sanitary Can) के प्रारम्भ हो जाने से इनका महत्व अब बहुत कम हो गय है। ये कैन अधिक वैज्ञानिक ढंग से बन्द किये जाते हैं। इन्हें बन्द करने के लिए रबड़ या कोमल लकड़ी के पतले तख्ते प्रयुक्त होते हैं और मशीन की सहायता से इन्हें सील कर दिया जाता है। इन कैनों में यह लाभ रहता है कि एक बार प्रयोग करने के पश्चात् दुबारा भी इन्हें काम में लाया जा सकता है जबकि पहले किस्म वाले कैन ऐसा करने में असफल सिद्ध होते हैं। शीशे के जार इस कार्य के लिये अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं किन्तु इनमें व्यय अधिक होने के कारण इनका प्रचलन अधिक नहीं है। शीशे के जारों की कई किस्म देखने को मिलती हैं जिनमें कुछ के ढक्कन जस्ते के बने होते है और कुछ के शीशे के ही। इन्हें जार में ठीक से बैठ जाने के लिए रबड़ के वाशर (Washers) प्रयोग किये जाते हैं।

केनिंग में फल ऊँचे तापक्रम पर तापित कर दिये जाते हैं जिससे उपस्थित जीवाणु मर जाते हैं क्योंकि ये जीवाणु ही सड़ाव की क्रिया के लिये उत्तरदायी होते हैं। कौन फल या उसके रस को कितना ताप दिया जाय, यह उसकी स्थिति और फल में उपस्थित अम्लीयता पर निर्भर करता है। कुछ फल के रस जिनमें अम्लीयता का अंश अधिक होता है, शीघ्र ही स्टरलाइज (Sterilise) हो जाते हैं किन्तु अधिक क्षारीय शक्ति रखने वाले फलों को स्टरलाइज करने के लिए अधिक ताप की आवश्यकता होती है और उनकी क्षारीयता कम करने के लिए ऊपर से अम्ल भी डाला जाता है। बहुत से फलों के रस १२०° से १५०° फा० पर पैस्चुरआइ (pasteurise) हो जाते है और उनमें उपस्थित समस्त जीवाणु मर जाते हैं किन्तु कुछ अधिक ताप सहन करने वाले जीवाणुओं के स्पार (Spore) इस तापक्रम पर भी जीवित रहते हैं। यदि ऐसे स्पोर विद्यमान हों तो स्टरलाइजेशन का कार्य प्रेशर कूकर (Leressure cooker) में लगभग १५ पौं० दबाव और २५° फा० तापक्रम पर करना चाहिए।

जिस फल की कैनिंग करनी हो उन्हें भली-भाँति धो कर साफ कर लेना चाहिए कि उनमें धूल आदि न लगी रहे। कटे-फटे या सड़े फल इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं होते। अधिक पके फल का प्रयोग जहाँ तक हो सके, इस क्रिया में नहीं करना चाहिये क्योंकि इनकी कैनिंग अच्छी नहीं हो पाती। फलों को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाने में अधिक सावधानी से काम लेना चाहिए जिससे वे खुरचकर आहत न होने पावें। ऐसा विशेषकर उन फलों की दशा में किया जाता है जिन्हें स्वस्थ और पूर्ण दशा में ही कैनिंग में प्रयोग किया जाता है। कुछ फल कतरे काटकर या रस निचोड़ कर भी इस कार्य के लिए प्रयोग किये जाते हैं। ऐसे फलों में बीज पृथक कर देते हैं और कतरे

या रस निश्चित तापक्रम पर गरम किये जाते है । फिर उन्हें कैनों में भर कर सील कर दिया जाता है । फलों के रूप और आकार स्थिर रखने के लिए एक प्राचीन विधि प्रयोग की जाती है। इसके लिए फल खुली कढ़ाइयों में खौला लिये जाते हैं और भली-भाँति खौलाने के पश्चात् कैनों या जारों में भर दिये जाते हैं । कैनों को भरने के पूर्व उन्हें खौलते पानी से धो लेना अच्छा होता है क्योंकि इससे उनमें विद्यमान कीटाणु मर जाते हैं । आजकल इस विधि के स्थान पर 'कोल्ड पैक' (Cold Pack) विधि का अधिक प्रचार है। इस विधि में कुछ फल कैन में भर दिये जाते है और तत्पश्चात् उसमें खौलता हुआ सीरप(Syrup) यह एक गाढ़ा द्रव है जिसमें चीनी की अधिक मात्रा उपस्थित रहती है, डाल दिया जाता है। कैनों की भराई सिरे से लगभग आधे इंच नीचे तक की जाती है और इसके पश्चात् इन्हें खौलते पानी में कुछ समय के लिये तापित किया जाता है ताकि कैन के भीतर की अधिक वायु बाहर निकल जाय। इस क्रिया के पश्चात् कैनों को सील कर दिया जाता है और स्टरलाइज करके उन्हें मजबूत बना दिया जाता है। अब ये बाहर बाजारों में भेजने योग्य हो जाते हैं। कैनिंग की क्रिया बिना सीरप के प्रयोग भी की जाती है किन्तु ऐसा केवल उन्हीं फलों में किया जाता है जो घटिया किस्म के होते हैं। बढ़िया फलों में सीरप के प्रयोग से उनका स्वाद और भी बढ़ जाता है और उनका अच्छा मूल्य भी मिल पाता है।

जेली—फलों की बनी वस्तुओं में जेली अत्यधिक प्रसिद्ध प्रिजर्व है जिसकी बाजारों में अधिक माँग है। अमरूद की जेली अधिक प्रसिद्ध है जिसे हम सफलतापूर्वक तैयार कर सकते हैं। अमरूद के अतिरिक्त करौंदा, केप गूज बेरी (तिपारी), केला, बेर और नीबू जाति के फलों की भी जेली तैयार की जाती है । जेली तैयार करने के लिए फल के रस पानी तथा चीनी के साथ एक निश्चित घनत्व तक खौलाये जाते हैं और तब उन्हें ठंडा होने के लिए छोड़ दिया जाता हैं। जेली बनाने के लिए केवल चीनी और पानी की ही आवश्यकता नहीं होती अपितु इसके साथ नींबू का रस या कोई अन्य अम्ल तथा पेक्टिन की भी जरूरत पड़ती है। पेक्टिन एक पदार्थ है जो हरे फलों की सेलवाल (Cellwall) में उपस्थित रहता है और जैसे-जैसे फल पकना प्रारम्भ करता है यह घुलित रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसे पेक्टिन कहते हैं। फलों की पूर्ण पकी दशा में यह पेक्टिन अम्ल और मिथाइल अल्कोहल में बदल जाता है। इसकी मात्रा प्रत्येक फल में समान नहीं होती। जिन फलों में यह बहुत कम मात्रा में उपस्थित होता है, उसकी जली में इसे बाहर से डाला जाता है। यही स्थिति अम्ल के साथ भी होती है। अम्ल की मात्रा कुछ फलों में कम और कुछ में अधिक होती है, अतः कम अम्ल वाले फलों की जेली बनाते समय नींबू का रस मिलाकर अनुपात ठीक

किया जाता है । अम्ल में टारटरिक अम्ल की उपस्थिति अधिक महत्वपूर्ण है। तत्पश्चात् क्रम से मैलिक अम्ल और साइट्रिक अम्ल का स्थान आता है। जेली ३.४६ P^H की अच्छी मानी जाती है किन्तु व्यापारिक ढङ्ग पर इसे ३.२ P^H का तैयार किया जाता है। पेक्टिन सेब अथवा नींबू जाति के फलों से घोल अथवा चूर्ण रूप में बनाया जाता है। किस फल की जेली में पेक्टिन की कितनी मात्रा उपस्थिति होनी चाहिए, यह उस फल में उपास्थित पेक्टिन के प्रतिशत और व्यापारिक ढंग पर तैयार की गई पेक्टिन के घनत्व पर निर्भर करता है। जेली में चीनी की मात्रा की भी उपस्थिति का कोई निश्चित नियम नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि जेली में अम्लीयता जितनी ही अधिक हो उसमें चीनी उतनी ही अधिक डालनी चाहिये। प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि जेली में हाइड्रोजन आयन (H ion) जितना ही अधिक हो उसमें चीनी की मात्रा उतनी अधिक उपस्थित होनी चाहिये । इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि चीनी की मात्रा आवश्यकता से अधिक न हो जाय क्योंकि इससे जेली अधिक गाढ़ी हो जाती है। सम्भवतः इसकी मात्रा जेली में ६६% से ७२% तक ही होनी चाहिये।

जेली बनाने के लिए प्रयोग किये जाने वाले फल सर्वप्रथम धोकर साफ कर लेने चाहिए, तब उन्हें मुलायम बनाने के लिये पानी में खौला लेना चाहिए। खौलाने के लिए पानी उसी समय प्रयोग किया जाता है जबकि फल अधिक कड़े और कठोर होते हैं। मुलायम फलों में पानी की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनके रस शीघ्र ही बाहर आ जाते हैं। अमरूद के फल अधिक कड़े होते हैं, अतः इन्हें मुलायम बनाने के लिये पानी की जरूरत पड़ती है। किन्तु किस फल के साथ कितना पानी मिलाया जाय और उसे कितने समय तक गर्म किया जाय, यह फल की जाति के अनुसार निश्चित किया जाता है। साधारणतया फलों के खौलाने का समय दो मिनट से एक घन्टे तक रहता है। खौलाने के पश्चात् फल से रस निचोड़ लिया जाता है। इसके लिए बड़ी-बड़ी फैक्टरियों में प्रेस प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु घरों में तैयार करने पर इन्हें कपड़े में निचोड़ लिया जाता है। निचोड़ने के पश्चात् रस छान लेना अच्छा पड़ता है। इस क्रिया के पश्चात् रस में आवश्यक अम्ल और पेक्टिन की मात्रा मिलाई जाती है। इसकी जाँच के लिए कि रस में ये पदार्थ कितने कम हैं या कितने अधिक हैं, व्यावसायिक ढंग पर बड़े-बड़े यंत्र प्रयोग किये जाते हैं किन्तु ये यंत्र बहुत महँगे होते हैं जिससे छोटे पैमाने पर जेली तैयार करने में इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अम्ल की जाँच चख कर भी की जा सकती है किन्तु ऐसा घरों में ही जेली तैयार करने पर किया जा सकता है। पेक्टिन की जाँच के लिए एक चम्मच रस, एक चम्मच मिथिलिटेड स्पिरिट से मिलाया जाता है और जब जेली जैसा पदार्थ तैयार हो जाता है तो

पेक्टिन की मात्रा उपयुक्त समझी जाती है। घोल के पतले होने पर पेक्टिन की आवश्यकता समझी जाती है। अच्छा तो यह होता है कि एक फल का रस दूसरे फल के रस से इस प्रकार मिला दिया जाय कि एक में यदि अम्ल और पेक्टिन की मात्रा का अभाव रहे तो दूसरे में इनका अधिक्य हो ताकि जेली में इनका अनुपात ठीक बन जाय। यदि फल के रस में केवल अम्ल का अभाव है तो उसमें नींबू का रस आवश्यक मात्रा में मिला देना चाहिए जैसे अमरूद के रस में। अतः इस कमी को दूर करने के लिए उसमें नीबू का रस निचोड़ कर छोड़ा जाता है। नीबू के स्थान पर टार्टरिक एसिड या सायट्रिक एसिड के प्रयोग करने पर यह रस नहीं मिलाया जाता। पेक्टिन के अभाव में नींबू जाति के फलों के छिलके का सफेद भाग जिसे अल्बिडो (Albedo) कहते हैं, प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसमें पेक्टिन की मात्रा अधिक उपस्थित होती है। अल्बिडो को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर पानी के साथ खौला लिया जाता है और फिर छानने के पश्चात् प्रयोग में लाया जा सकता है। जब रस में अम्ल और पेक्टिन की मात्रा उपयुक्त हो तो उसमें चीनी की आवश्यक मात्रा मिला दी जाती है। यदि रस में अम्ल और पेक्टिन की मात्रा अधिक होती है तो उसमें चीनी उतनी ही मात्रा में डाली जाती है, किन्तु कभी-कभी चीनी का अंश $\frac{3}{4}$ और रस $\frac{3}{4}$ अंश रखा जाता है। चीनी के डालने के पश्चात् रस थोड़ी देर तक खौलाया जाता है किन्तु इसके पूर्व रस भली भाँति खौला कर गाढ़ा बना लिया गया रहता है। खौलाने के अन्तिम बिन्दु की पहचान के लिए अनुभव की आवश्यकता होती है। यदि थर्मामीटर से सहायता ली जाय तब तो पहचान सरल होती है क्योंकि २२०° से २२१° फा० के तापक्रम पर जेली तैयार हो जाती है। जब जेली भली भाँति तैयार हो जाय तो उसे शीशे के जारों में भर लेते हैं किन्तु इन्हें भरने से पूर्व खोले पानी से धो लेना अच्छा होता है। इससे जार में जीवाणु आदि नहीं उपस्थित रहने पाते। जारों को बन्द करने के लिए जेली के ऊपर मोम की एक पतली तह जमा दी जाती है और तत्पश्चात् उन्हें अल्युमूनियम के ढक्कन से बन्द कर दिया जाता है। अब ये जार बाजारों में बेचने के लिए भेजे जा सकते हैं।

जैम—जेली की अपेक्षा जैम बनाना अधिक सरल है। इस में फलों का रस नहीं निचोड़ा जाता अपितु फल का गूदा ही प्रयोग किया जाता है। फल धोकर चाकू से छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लिये जाते हैं। किन्तु छोटे फलों में कतरे काटने की आवश्यकता नहीं होती। फल में यदि छिलके मोटे और बीज बड़े-बड़े हैं तो उन्हें पृथक् कर देना चाहिए किन्तु छोटे बीज और पतले छिलके वाले फल वैसे ही कढ़ाइयों में खौलाये जाते हैं। खोलाने के समय यदि फल अधिक रसदार होता है तो उसे उसी के रस में पकाया जाता है किन्तु कम रस वाले फलों को खोलाने के लिए पानी की आवश्यकता होती है। जब गूदा अधिक मुलायम हो जाता है तो उसमें चीनी छोड़ दी जाती है। चीनी

की मात्रा फल के मिठास पर निर्भर करती है किन्तु साधारणतया फल और चीनी की मात्रा समान रखी जाती है। अमेरिका में विधान के अनुसार जैम में ५५ पौं० चीनी और ४५ पौं० फल प्रयोग करना निश्चित किया गया है। मीठे फलों में चीनी की मात्रा कम मिलाई जाती है किन्तु खट्टे फल इसकी अधिक आवश्यकता रखते हैं। प्रायः जैम अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिए दो फल एक साथ मिला दिये जाते हैं किन्तु इन्हें मिलाने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि घटिया फल बढ़िया फल के साथ और खट्टा फल मीठे फल के साथ मिलाया जाय। अमरूद और बेर के जैम अच्छे बनते हैं। आम का भी जैम अच्छे स्वाद का होता है। मकोय या तिपारी का जैम सर्वोत्कृष्ट बनता है।

जैम से मिलता-जुलता फल का एक अन्य पदार्थ बनता है जिसे फल का मक्खन (Fruit butter) कहते हैं। अन्तर यह होता है कि इसमें मसाले अधिक पड़ते है। चीनी के बिना भी फल का मक्खन बनाया जा सकता है। सेब का फल इसके लिए अधिक उपयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त आड़ू, अलूचा, अमरूद, बेर, अपरिकाट आदि भी मक्खन बनाने में प्रयोग किये जाते हैं। फल का मक्खन जैम की अपेक्षा अधिक गाढ़ा बनता है। फ्रूट पेस्ट (Fruit Paste) फल के मक्खन की भाँति ही तैयार किया जाता है किन्तु इसे धूप या भट्टी पर सुखा कर बिल्कुल ठोस बना दिया जाता है और कतरों में काट लिया जाता है। अमरूद का चीज(Cheese)एक प्रसिद्ध फ्रूट पेस्ट है।

मुरब्बा—भारतवर्ष का मुरब्बा अधिक प्रसिद्ध है। यह यहाँ और कुछ न कुछ मात्रा में लगभग प्रत्येक स्थान पर तैयार किया जाता है। इसे 'प्रिजर्व' (Preserve) कहा जाता है। यद्यपि यह शब्द उन सभी फल पदार्थों के लिए प्रयुक्त होता है जो चीनी के साथ प्रिजर्व किये जाते हैं। किन्तु प्रायः इसे वहां प्रयोग करते हैं जहाँ फल को सुरक्षित रखने के लिए सीरप काम में लाया जाता है और घोल का घनत्व ५५ से ७०% तक बनाया जाता है। मुरब्बा बनाने के लिए फल पानी में धोकर साफ कर लिए जाते हैं। फिर उन्हें चीनी के घोल अथवा सीरप में उबाला जाता है। उबालने का कार्य उस समय तक जारी रखा जाता है जब तक कि घोल का घनत्व एक निश्चित बिन्दु तक न पहुँच जाय। तत्पश्चात् घोल जारों में बन्द कर दिये जाते हैं। आँवले का मुरब्बा अधिक प्रसिद्ध है। इसे तैयार करने के लिए फल धोने के पश्चात् एक यंत्र द्वारा छिद्रयुक्त कर दिये जाते हैं ताकि उनका अधिक कसाव निकल जाय और वे सीरप शीघ्र शोषित करने योग्य हो जायँ।

फलों की कैंडिड Candid—फलों की कैन्डिड मुरब्बे की भाँति ही तैयार की जाती हैं किन्तु इसमें कुछ अधिक सतर्कता और समय की आवश्यकता होती है। इसके लिए

ताजे फल चुने जाते हैं और उन्हें कभी-कभी गन्धकाम्ल में कुछ समय के लिए छोड़ दिया जाता है ताकि उनके तन्तु कुछ अधिक कठोर हो जायँ और फलों का रङ्ग भी उड़ जाय। कैन में संचित फल भी काम में लाये जा सकते हैं। इसके लिए वे ही फल चुने जाते हैं जो काफी मुदृढ़ हों। चुने फल पानी में खौलाये जाते हैं और जब वे अधिक मुलायम हो जाते हैं तो उन्हें ३०%सीरप में जो २ भाग गन्ने की चीनी और १ भाग ग्लुकोस से बनाया जाता है, डाल दिये जाते हैं। सीरप में फल लगभग एक-दो मिनट तक खौलाये जाते हैं और तत्पश्चात् २४ घन्टे तक के लिए स्थिर रख दिये जाते हैं। दूसरे दिन फल में से सीरप पृथक् कर दिया जाता है और उसमें ४०% घनत्व का सीरप छोड़ कर उसे फिर खौला लेते हैं। खौलाने के पश्चात् वह फिर २४ घन्टे तक के लिए रख दिया जाता है। सीरप गाढ़ा करने और उसे खौलाने का क्रम तब तक बना रहता है जब तक कि उसका घनत्व ७०% के लगभग न पहुँच जाय। इस स्थिति तक पहुँच जाने पर घोल सीरप तथा फल सहित कई दिनों तक रखा छोड़ दिया जाता है। जब फल सीरप में पूर्णरूपेण भिग जायँ तो उन्हें एक भीगे कपड़े से मामूली तौर पर ऊपर से पोंछ कर छाया में सुखा लेना चाहिए। अब ये प्रयोग करने योग्य हो जाते हैं।

जब इस प्रकार तैयार किये गये फल चीनी के अधिक गाढ़े गर्म सीरप में १ मिनट के लिये डूबो दिये जाते हैं तो ग्लेस्ड फल (Glaced fruit) तैयार हो जाते हैं। सीरप के स्थान पर १% पेक्टिन का घोल भी प्रयोग किया जा सकता है।

अँचार (Pickles)—पश्चिम में बनने वाले फलों के अँचार भारतीय अँचारों से भिन्न होते हैं। इनमें चीनी या मसाले डालना आवश्यक नहीं है क्योंकि कभी-कभी ये बिना इनकी सहायता के ही बनाये जाते हैं। इनमें सिरका (Vinegar) अवश्य डाला जाता है। सिरका डालने के स्थान पर कभी-कभी खमीर (Fermentation) उत्पन्न होने के लिए इन्हें कच्चा ही छोड़ दिया जाता है जिससे एसेटिक अम्ल (Acetic acid) उत्पन्न हो जाता है। एसेटिक अम्ल की उपस्थिति से फल अधिक समय तक टिकते हैं, और शीघ्र खराब नहीं होने पाते। मसाले तथा नमक और चीनी से भी इनके टिकने की शक्ति बढ़ जाती है। जब अँचार तैयार हो जाता है तो उसे जारों में बन्द कर लिया जाता है।

देशी अँचार, सिरका, चीनी, मसाले, नमक और सरसों के तेल से तैयार किये जाते हैं। कभी इनका स्वाद बढ़ाने और सड़ाव रोकने के लिए नींबू का रस भी प्रयोग किया जाता है। सरसों का तेल मसालों के साथ अधिकतर प्रयोग किया जाता है। मसाले भी अनेक प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं जिससे विभिन्न स्वाद के अँचार तैयार किये जाते हैं। मसालों में कभी-कभी मिर्चा का भी प्रयोग किया जाता है जिससे अँचार अधिक तीखा हो जाता है। चीनी डालने से अँचार मीठा बन जाता है।

चीनी के प्रयोग करने पर सरसों का तेल नहीं प्रयोग किया जाता है। जब अँचार में सरसों का तेल डालना होता है तो फल मसालों के साथ मिला लिये जाते हैं और अन्त में तेल छोड़ दिया जाता है। तेल छोड़ने से फलों में सड़ाव की क्रिया नहीं होने पाती। आम, नीबू, कटहल आदि के अँचार अधिक प्रचलित हैं। अँचार के अतिरिक्त फलों की चटनी भी बनाई जाती है जो मुख्यतः भारतीय वस्तु बताई जाती है। इसमें सिरका, चीनी, मिर्चा तथा नमक छोड़े जाते हैं और उसका स्वाद बहुत जायकेदार बना लिया जाता है। आम की चटनी प्रसिद्ध चटनी है जिसका प्रचार अब विदेशों में भी हो रहा है।

फल का रस—कुछ ताजे फलों के रस पीने के काम में लाये जाते हैं किन्तु कुछ दिनों तक रखने के पश्चात् इनके स्वाद में परिवर्तन आ जाता है। नींबू के फलों के रस सरलतापूर्वक निचोड़ लिये जाते है किन्तु कुछ ही समय पश्चात् इनका स्वाद बदल जाता है। स्वाद स्थिर रखने के लिए इन्हें तापित करना अच्छा होता है। फलों के रसों से स्क्वास (Squash) तैयार किया जाता है जो रस और चीनी का मिश्रण है। स्क्वास नीबू व सन्तरे का अच्छा बनता है। स्क्वास के अतिरिक्त फलों के सीरप भी तैयार किये जाते हैं। ये सीरप रस के गाढ़ा करने से बनते हैं। कभी-कभी यह रस में चीनी मिला कर भी तैयार किया जाता है किन्तु यह पहले की अपेक्षा घटिया किस्म का होता है।

फ्रीज (Freese)—फल जब अधिक नीचे तापक्रम पर रख दिये जाते हैं तो उनमें सड़ाव की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। इसके लिए एक छोटे कमरे का तापक्रम पानी के जमने के बिन्दु से अधिक नीचे लाया जाता है। ऐसा प्रायः नमक के घोल की सहायता से किया जाता है। फल इसी कमरे में रख दिया जाता है और जब तक वह इसमें विद्यमान होता है तब तक उसमें सड़ाव की क्रिया नहीं होने पाती किन्तु ज्यो ही वह फिर बाहर निकाला जाता है, अपनी पहली स्थिति में आ जाता है और कच्चा या पका कर खाया जा सकता है। हमारे देश में ऐसे शीतागार बहुत कम हैं किन्तु निकट भविष्य में इनके प्रचलन की अधिक आशा है।

अध्याय १३

फलन की समस्या

उत्पादकों के सम्मुख उद्यान की अन्य समस्याओं के साथ फलन की समस्या एक प्रधान समस्या है जिस पर उत्पादक की सफलता और असफलता निर्भर करती है। पौधे उगाये जाते हैं, उनकी रोपाई की जाती है, सिंचाई तथा खाद का प्रबन्ध किया जाता है, निराई, तथा गुड़ाई की जाती है और ऐसी ही अन्य सेवाएँ केवल इसीलिए की जाती हैं कि पौधा बड़ा हो और फल-फूल देना प्रारम्भ कर दे। उद्यान सम्बन्धी समस्त क्रियाओं में उत्पादक की दृष्टि फलन (fruitfulness) पर केन्द्रित रहती है। वह चाहता है कि कितने कम व्यय में अधिक से अधिक आय प्राप्त करे। फलों की उपज सदैव एक-सी नहीं होती। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि कोई वृक्ष एक वर्ष बहुत जोरों की फसल देता है तो दूसरे वर्ष हल्की फसल या एक वर्ष बिल्कुल नागा जाता है। ऐसा होने से उत्पादक उद्यान से वांछित लाभ नहीं कमा पाता। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही जलवायु और वातावरण में समान खाद और पानी की मात्रा देने पर एक वृक्ष फल देता है तो दूसरा फल पैदा ही नहीं करता। एक वृक्ष में भी एक डाल बहुत जोरों से फल उत्पन्न करती है तो दूसरी हल्के रूप में या बिल्कुल नहीं। लोगों ने इन बातों के कारण ज्ञात करने के लिए काफी अध्ययन किये और स्थान-स्थान पर प्रयोग किये। किन्तु अभी तक यह अध्ययन पूर्ण नहीं हो सका है। कुछ ऐसी बातें शेष हैं जिनका वास्तविक हल नहीं ज्ञात किया जा सका है।

उपर्युक्त भोज्य-सामग्री उपस्थित होने पर वृक्ष की एक कली फल-कली (fruit-bud) बन जाती है जो फल उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी होती है। कली से फल-कली का बनना फूल कली के निकलने के शीघ्र पूर्व या कई माह पूर्व हो सकता है। फल कली वृक्ष की जाति या स्पेशीज के अनुसार एक निश्चित स्थान पर निकलती हैं। ये स्थान शिरस्थ (Terminal) हो सकते हैं या बगल में (lateral) हो सकते हैं या पुरानी, साधारण डाली पर हो सकते हैं या स्पर (Spur) पर। स्पर एक छोटी डाली है जो रूप और दिखावट में अन्य डालियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होती है। इसमें गाँठें और पोर (Internodes) होते हैं। स्पर कभी-कभी लम्बाई में १ इंच के नाप की बराबर होते

हैं। सेब और नाशपाती के फल स्पर पर ही निकलते हैं। किन्तु आम में फल कलियाँ शिरस्थ रूप में निकलती हैं। कटहल के फल खुले छाल या किसी अंग से उत्पन्न हो सकते हैं।

फलों की उत्पादन-शक्ति पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. पैतृक गुण

२. अन्य

जैसा कि हम जानते हैं, प्रत्येक पौधा अपने माता-पिता के गुण प्राप्त करता है जो पुश्त दर पुश्त चलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त उस पर कुछ अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है। ये अन्य बातें वृक्षों की उपज पर बहुत अधिक प्रभाव डालती हैं, अतः हम यहाँ इन्हीं का अध्ययन करेंगे। फलन में तीन स्थितियाँ एक के पश्चात् दूसरे के हिसाब से आती हैं। प्रथम, फल कलियों का निकलना, दूसरे, फल का लगना और तीसरे, फसल की उपज। इन तीनों में फल का लगना अधिक महत्वपूर्ण है। अन्य बातों में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की जाती हैं—भोजन सामग्री, वृक्ष का स्वास्थ्य, वृक्ष की आयु, उद्यान की देखभाल और अन्य क्रियाएँ, कीड़े और रोग तथा वातावरण का प्रभाव। इन समस्त बातों का फल के लगाव (fruit set) से सीधा सम्बन्ध होता है।

पौधों के रासायनिक अध्ययन से यह ज्ञात किया गया है कि उन्हें किन-किन तत्वों या पदार्थों की विशेष आवश्यकता होती है और उनका पौधों के बढ़ाव पर क्या प्रभावपड़ता है। इन तत्वों और पदार्थों में नाइट्रोजन तथा कार्बोहाइड्रेट को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। प्रयोगों से यह विदित है कि नाइट्रोजन की प्रचुर मात्रा वानस्पतिक बढ़ाव से गहरा सम्बन्ध रखती है यदि पौधे के तन्तुओं में यह तत्व अधिक मात्रा में उपस्थित है तो निश्चय ही उस पौधे की शाखाएँ, डालियाँ आदि जोरों से बढ़ेंगी। कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होने से वृक्ष में फलन शक्ति बढ़ती है डब्ल्यू० वी० हेज के अनुसार क्रास और क्रेबल (Kraus& Kraybill) ने टमाटर के प्रयोग में यह दिखलाया कि नाइट्रोजन अथवा कार्बोहाइड्रेट के अभाव में पौधे बढ़ाव में दुर्बल और उनमें फल देने की क्षमता नहीं थी, दोनों की प्रचुर मात्रा में उपस्थिति होने पर पौधे हरे-भरे तो थे पर पहले जैसे उनमें फल देने की क्षमता नहीं थी, किन्तु जब कार्बोहाइड्रेट अधिक और नाइट्रोजन का अभाव रहा तो पौधों में फलन शक्ति थी पर वानस्पतिक बढ़ाव कम रहा। इस प्रयोग के अतिरिक्त और भी ऐसे ही अनेक प्रयोग हुए जिनसे यह परिणाम निकाला गया कि पौधों की फलन शक्ति पर कार्बोहाइड्रेट और नाइट्रोजन का अधिक प्रभाव पड़ता है। फल कलियोंके निकलते समय कार्बोहाइड्रेट और

नाइट्रोजन का अधिक प्रभाव पड़ता है। फल-कलियों के निकलते समय कार्बोहाइड्रेट और नाइट्रोजन की उपस्थिति यदि बिल्कुल न रही या बहुत थोड़ी रही तो फल-कलियाँ निकलेंगी ही नहीं या निकलेंगीं तो बहुत कम। अतः यह आवश्यक है कि फल-कलियों के निकलते समय वृक्षों के तन्तुओं में कार्बोहाइड्रेट की उपस्थिति अधिक मात्रा में और नाइट्रोजन अल्प मात्रा में रहे क्योंकि फल-कलियों के निकास पर इनका अधिक प्रभाव पड़ता है, भले ही यह प्रभाव सीधा न हो पर वृक्ष में इनकी कुल उपस्थिति फल-कलियों के निकास का एक माप है। अब यहाँ यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वृक्ष से फल-कलियाँ कब निकलती हैं। जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, फल-कलियाँ वानस्पतिक कलियों से ही बदलती हैं किन्तु किस समय यह बदलने की क्रिया होती है इसका हमें पूर्ण ज्ञान नहीं है।

सेन और मल्लिक के अनुसार लँगड़ा आम में मानसून के आखिरी दिनों में सितम्बर और अक्टूबर में जब कि तापक्रम गिरने लगता है कलियों का बदलना प्रारम्भ होता है और यह क्रिया नवम्बर के मध्य तक जारी रहती है। किन्तु इसके साथ ही फूल-कलियों के लिए रासायनिक स्थिति का अनुकूल होना आवश्यक होता है जो इसके पूर्व निकलना प्रारम्भ होती हैं क्योंकि कलमी आम में ऐसा देखा गया है कि वे जिनकी कलम मानसून के दिनों में की गई होती है सर्वप्रथम इनफ्लोरेसेन्स उत्पन्न करते हैं। सेब आदि शीत कटिबन्धीय वृक्षों में कलियों का बदलना उनके खुलने के पूर्व ही ग्रीष्म के प्रारम्भ में पाया जाता है। नींबू जाति के वृक्षों (Citrus Trees) में बसन्त ऋतु में यह क्रिया होती है। कोई भी वृक्ष यदि फसल देने में असफल होता है तो यह फूलों की अनुपस्थिति या फूलों के फल न बनने की स्थिति में ही सम्भव हो सकता है। अतः हमें फलन लाने के लिए उस समय विशेष तौर से ध्यान देना चाहिए जब कि वृक्ष में वानस्पतिक कलियाँ फल-कलियों में बदलनी प्रारम्भ कर दें। यदि इस समय कोई ऐसा उपाय किया जाय कि फल-कलियों का निर्माण अधिक परिमाण में हो तो निश्चय ही वृक्ष की फलन शक्ति बढ़ सकती है। यह तो हम जानते हैं कि वृक्ष में नाइट्रोजन की यदि अधिक मात्रा उपस्थित है तो उसमें वानस्पतिक बढ़ाव अधिक होगा और फूल का आना रुक जायेगा। इस समय कार्बोहाइड्रेट की जो भी मात्रा होगी वह सभी वृक्ष द्वारा ले ली जायेगी और अन्त में वृक्ष फल देने में असमर्थ हो जायेगा। अतः फलन की समस्या हल करने के लिए फूल के आते समय वानस्पतिक बढ़ाव पर व्यवधान प्रस्तुत करना आवश्यक है और ऐसा वृक्ष में नाइट्रोजन की मात्रा कम करके ही किया जा सकता है। नाइट्रोजन कम करते समय कार्बोहाइड्रेट के आधिक्य का ध्यान देना चाहिए क्योंकि उस समय जब कि वृक्ष में वानस्पतिक बढ़ाव जोर पर नहीं होता, कार्बोहाइड्रेट का व्यय

कम होता है। कार्बोहाइड्रेट की मात्रा कम प्रयोग होने से यह अधिक बची रह जाती है जो या तो संचित कर दी जाती है या फल-कलियों के निर्माण में लगाई जाती है।

वृक्षों की फलन-शक्ति बढ़ाने के लिए कई एक उपाय प्रयोग किये जाते हैं। इन उपायों में **जड़ों की छँटाई** अधिक महत्वपूर्ण है। जड़ों की छँटाई मध्य प्रदेश में सन्तरों के वृक्षों में प्रयोग की जाती है। इस विधि का प्रयोग बम्बई में प्रचलित है। जड़ों की छँटाई विभिन्न स्थानों पर विभिन्न ढँगों से की जाती है परन्तु इसका उद्देश्य और प्रभाव सभी स्थानों पर समान है।

जिन वृक्षों में जड़ों की छँटाई की जाती है उनमें फूल आने के २ या ४ माह पूर्व ही सिंचाई बन्द कर दी जाती है। नमी के अभाव में जड़ों के निकट की भूमि सूखने लगती है और धीरे-धीरे वृक्ष की सारी पत्तियाँ नीचे गिर जाती हैं। पत्तियों के नीचे गिर जाने से वृक्ष में न तो कार्बोहाइड्रेट के निर्माण का कार्य चलता है और इनकी अधिक मात्रा ही खर्च होती है। फूल आने के लगभग १ माह पूर्व जड़ के निकट की भूमि खोदकर कुछ बड़ी जड़ें नंगी कर दी जाती हैं और छोटी जड़ें निकाल कर बाहर कर ली जाती हैं। यद्यपि गहरी जुताई से भी ऊपर वाली कुछ छोटी जड़ें टूट कर बाहर आ जाती हैं पर बड़ी जड़ों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ स्थानों पर वृक्ष के धड़ के चारों ओर लगभग २′ अर्धव्यास का एक वृत्त बना लिया जाता है। इस वृत की मिट्टी ४″ से ६″ की गहराई तक खोदकर निकाल दी जाती है। कहीं-कहीं २½′ से ३′ गहरी खाई वृक्ष के स्कर्ट के निकट बना ली जाती है और वे सभी जड़ें काट डाली जाती हैं जो इसे पार करती हैं। जड़ों की छँटाई सावधानी से करनी चाहिए क्योंकि यदि यह छँटाई सीमा से अधिक हो जाती है तो वृक्ष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका रहती है। जड़ों की छँटाई और उनको नङ्गा करने के कुछ सप्ताह पश्चात् ताजी मिट्टी या खाद मिली हुई पुरानी मिट्टी जड़ों के चारों ओर रख दी जाती है। मिट्टी रखने के पश्चात् जड़ की हल्की सिंचाई की जाती है। यह सिंचाई मामूली तौर पर करनी चाहिए क्योंकि अधिक पानी दे देने से वृक्ष का वानस्पतिक विकास तेजी से प्रारम्भ हो जाता है। प्रथम सिंचाई के कुछ दिनों पश्चात् दूसरी सिंचाई की जाती है।

जड़ों की छँटाई करने का अभिप्राय होता है—वृक्ष को आराम देना। आराम के समय वृक्ष का वानस्पतिक बढ़ाव नहीं हो पाता किन्तु कार्बोहाइड्रेट के निर्माण का कार्य उस समय तक चलता है जब तक कि वृक्ष की पत्तियाँ गिर न जायँ। ऐसा होने से वृक्ष में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक मात्रा में संचित हो जाती है क्योंकि बढ़ाव में इसकी बहुत कम मात्रा खर्च होती है। चूँकि जड़ों का कार्य शिथिल हो जाता है, अतः वे

भूमि से नाइट्रोजन की अधिक मात्रा नहीं ले पातीं और अन्ततोगत्वा वृक्ष में नाइट्रोजन का अभाव हो जाता है। इस प्रकार वृक्ष में एक ऐसी परिस्थिति ला दी जाती है जो फलन को उत्साहित कर दे। जड़ों की जब हल्की सिंचाई की जाती है तो वृक्ष से कलियाँ फूट पड़ती हैं जो फल-कलियों के रूप में फल का सृजन करती हैं। यदि इस समय जड़ों में अधिक नमी पहुँचा दी जाय तो अचानक वृक्ष में नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ जायेगी और फलतः वानस्पतिक बढ़ाव जोरों से होना प्रारम्भ हो जायगा। अतः उत्पादक को इन समस्त बातों का ध्यान रखना चाहिए। कभी-कभी जड़ों की छँटाई में भी भूल हो जाया करती है जिससे पूरा वृक्ष ही सूख जाता है। इससे बचने के लिए कहीं-कहीं जड़ों की छँटाई न करके केवल उन्हें नंगी ही कर देते हैं। क्योंकि इससे जड़ों का कार्य शिथिल हो जाता है और नाइट्रोजन की मात्रा कम हो जाती है। धीरे-धीरे पत्तियाँ गिर जाती हैं और उनके निकट का कार्बोहाइड्रेट हट कर तनों की ओर आ जाता है जिससे फल-कलियों को प्रोत्साहन मिलता है।

जड़ों की छँटाई फलन की समस्या हल करने की एक ऐसी विधि है जिसमें वृक्ष का वानस्पतिक बढ़ाव बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाता है जिससे वृक्ष के सूख जाने की अधिक आशंका रहती है। इस कठिनाई से बचने के लिए लोगों ने कोई ऐसी विधि खोज निकालने की सोची जिसमें वानस्पतिक बढ़ाव पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय और कार्बोहाइड्रेट की मात्रा भी बढ़ा दी जाय ताकि फलन अधिक हो सके। इसके लिए लोगों ने हल निकाल लिया। सैप (Sap) का नीचे की ओर बहाव रोक देने से न तो वृक्ष के ऊपरी भाग का कार्बोहाइड्रेट नीचे जायेगा और न नीचे की नाइट्रोजन ऊपर और इस प्रकार फल-कलियों को उत्साहित किया जा सकता है। यह क्रिया रिंगिंग या गर्डिलिंग (Ringing or girdling) कही जाती है। रिंगिंग क्रिया में, जैसा कि नाम से ही बोध होता है, अँगूठी आकार की छाल वृक्ष के धड़ से निकाल ली जाती है। यह छाल लगभग $\frac{1}{2}''$ या इससे भी कम चौड़ी होती है और धड़ या शाखा को मोटाई के चारों ओर से काट ली जाती है ताकि धड़ या शाखा में अँगूठी के आकार का चिह्न बन जाता है। इसके लिए एक तेज चाकू लिया जाता है और उसे धड़ या शाखा के वांछित स्थान पर लगा कर अँगूठी के आकार की छाल निकाल ली जाती है। चाकू लगाते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इससे केवल छाल ही कटने पावे, लकड़ी (Wood) पर जरा भी चोट न आनी चाहिए। कटाव सीधे वृत्त में किया जाता है। किन्तु कभी-कभी टेढ़ा वृत्त भी बनाया जाता है। यह क्रिया बारीक तार से भी की जा सकती है। लोगों का ऐसा विचार है कि वृक्षों में सैप का प्रवाह ऊपर की ओर जाइलम नलियों (Xylem vessels) द्वारा होता है और नीचे की ओर

फ्लोयम (Phloem) द्वारा। रिंगिंग की क्रिया में फ्लोयम नलियाँ कट जाती हैं जिसमें ऊपर से नीचे का प्रवाह बन्द हो जाता है पर जाइलम नलियों के सुरक्षित रहने से नीचे से ऊपर का प्रवाह जारी रहता है। रिंगिंग क्रिया से गोंद (Gum) निकल आते हैं जो जाइलम की नालियों पर रोक लगा देते हैं और फलतः नाइट्रोजन का शाखाओं तक प्रवाह नहीं होने पाता। इस प्रकार वृक्ष के ऊपरी भाग में नाइट्रोजन का अभाव और कार्बोहाइड्रेट का आधिक्य उत्पन्न हो जाता है जो फलन के लिए उपयोगी है। किन्तु इस विधि में भी कुछ दोष हैं। धड़ या शाखा में कटाव जब अधिक चौड़ाई में कर दिया जाता है तो हो सकता है, कि नई छाल उसे भर सकने में असमर्थ हो जाय। यदि ऐसी परिस्थिति सामने आ जाती है तो वृक्ष मुरझा जाता है और सूख जाता है। कभी-कभी कटाव बनाने से रोग या कीड़ों को प्रवेश में सरलता हो जाती है।

रिंगिंग के अतिरिक्त नोचिंग (Notching) का भी प्रयोग कभी-कभी किया जाता है। इस क्रिया में कली के ऊपर या नीचे अंग्रेजी के अक्षर V के आकार का कटाव बना लिया जाता है। यह कटाव छाल को या कभी-कभी लकड़ी को हटाते हुये बनाया जाता है। ऐसा करने से कार्बोहाइड्रेट कली के निकट जमा हो जाता है जो उसे फल-कली बनने को प्रोत्साहित करता है। कुछ लोगों का कहना है कि कली के ऊपर कटाव बनाने से वानस्पतिक बढ़ाव होता है।

फसल की असफलता का एक प्रधान कारण है—विभिन्न अंश तक नपुंसकता (Sterility) जब किसी नर अंग (Stamen) का पराग उसी फूल के स्त्री अंग (Pistil) से संयोग करता है तो उसे स्वयं सेंचन या स्वयं गर्भाधान कहा जाता है। किन्तु वानस्पतिक प्रजनन वाले वृक्षों में एक फूल का पराग जब उसी जाति के दूसरे फूल के स्त्री अंग से संयोग करता है तो यह संयोग भी स्वयं सेंचन ही कहा जाता है, यद्यपि इसे परसेंचन कहना चाहिए। उदाहरण तौर पर के० सी० नायक के अनुसार नीलम आम स्वयं सेंचित जाति है। चाहे वह उसी फूल का पराग ले या दूसरे फूल का। जब ऐसी स्थिति आती है कि क्रियाशील पराग अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं होते अथवा वे ओव्यूल (Ovule) को गर्भित (Fecertilize) नहीं कर पाते तो वृक्ष में फल का लगाव अच्छा नहीं हो पाता। यह कठिनाई दूर करने के लिए परसेंचन को प्रोत्साहित किया जाता है और इसके लिए उद्यान में ऐसी जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं जो सफल सेंचन कर सकें या ऐसी जातियाँ टापवर्किंग (Top working) द्वारा कुछ वृक्षों के कुछ अंगों पर उत्पन्न की जाती हैं ताकि उद्यान में सेंचन का अभाव न हो। साधारणतया ऐसा देखा गया है कि स्वयं सेंचन वाली जातियों में जब पर सेंचन कराया जाता है तो वे अधिक उपज

देती हैं। सेंचन की सुविधा के लिए उद्यान में दो या अधिक जातियों का उगाना श्रेयस्कर होता है क्योंकि यदि एक जाति सेंचन करने में असफल होती है तो दूसरी को सफलता मिल सकती है। कुछ तो ऐसे वृक्ष हैं जिनमें सेंचन के लिए यदि पृथक वृक्ष न उत्पन्न किये जायँ तो सम्पूर्ण उद्यान ही नपुंसक बना रहे। जैसे पपीता, खजूर आदि में। इन फलों के उद्यानों में ८ या १० वृक्षों के मध्य १ वृक्ष ऐसा रखते हैं जो पराग उत्पन्न करे और सेंचन क्रिया सम्पादित करे, यद्यपि ये वृक्ष फल नहीं पैदा कर सकते। कभी-कभी कुछ वृक्ष ऐसे पराग उत्पन्न करते हैं जो क्रियाशील नहीं होते या ऐसे गुण वाले होते हैं कि उसी जाति के फूलों को सेंचित नहीं कर पाते। इस स्थिति में उपयुक्त उपाय प्रयोग करना होता है।

जिन फूलों (फल-कलियों) का सेंचन या गर्भाधान नहीं होता है वे सूख जाते हैं और गिर जाते हैं। ऐसा प्रायः सभी उद्यानों में देखने को मिलता है। यह प्रकृति का नियम है कि वृक्ष अधिक फूल उत्पन्न करते हैं और जो अधिक होते हैं वे स्वयं ही गिर पड़ते हैं। कभी-कभी गिरने वाले फूलों या फलों की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है, जिससे वृक्ष पर अधिक फल नहीं उत्पन्न हो पाते। फूलों या फलों का गिरना क्रम से तीन दशाओं में होता है। कुछ फूल तो उसी समय गिर जाते हैं जबकि फूल निकले थोड़े-ही दिन व्यतीत हुये रहते हैं। दूसरी दशा कुछ दिन पश्चात् आती है जबकि गर्भाधान नहीं होता या गलत ढंग से होता है। तीसरी दशा कुछ महीने बाद होती है। यह बहुधा फीजियोलाजिकल कारणों से उत्पन्न होती है। फूलों-फलों के गिराने में रोग या कीड़े भी साथ देते हैं।

फलों में सेंचन या गर्भाधान कराने में बहुत सी ऐसी बातें आती हैं जो उन्हें असफल बनाकर फल लगाने में अवरोध उपस्थित कर देती हैं। इन्हें हम आन्तरिक और वाह्य दो खण्डों में बाँट सकते है। आन्तरिक कारणों में कई बातें सम्मिलित होती हैं। जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, कुछ वृक्ष ऐसे स्वभाव के होते हैं जिनमें नर फूल एक वृक्ष पर तो मादा दूसरे वृक्ष पर उत्पन्न होता है। अतः उद्यान में दोनों का होना उपस्थित होता है। इसके अतिरिक्त कुछ पौधे ऐसे होते हैं जिनका एक फूल यदि नर है तो उसी पौधे में दूसरा मादा, जैसे लौकी, खरबूज। अतः इनमें दोनों लिंगों का समान वितरण आवश्यक है। कुछ वृक्षों में ऐसा देखा जाता है कि मादा फूल कम हैं और नर फूल अधिक जैसे आम। इससे सेंचन में गड़बड़ी होती है और सन्तोषजनक सेंचन नहीं हो पाता ऐसे वृक्षों में अधिक फूल गिर जाते हैं। कुछ फूल इस प्रकार के होते हैं कि उनमें यदि योनिसूत्र (style) छोटा है तो फिलामेन्ट (filament) बड़ा या योनिसूत्र बड़ा तो फिलामेन्ट छोटा। ऐसा होने से फल बहुत कम लग पाते हैं। यदि फूल में नर और मादा दोनों हैं पर दोनों के

परिपक्व होने का समय पृथक-पृथक है तो स्वयं सेंचन रुक जाता है। यदि पराग की क्रियाशीलता गर्भाधान के पूर्व ही समाप्त हो जाती है तो भी फल नहीं लग पाते अथवा ओव्यूल ही क्रिया-शून्य हो जाता है तो भी गर्भाधान की सम्भावना नहीं होती। कभी-कमी ऐसा भी पाया जाता है कि एक फूल का पराग उसी जाति के दूसरे वृक्ष या उसी वृक्ष के दूसरे फूल का गर्भाधान नहीं कर पाता। इन बातों के अतिरिक्त कुछ फूल पैतृक गुण के प्रभाव से भी सेंचन या गर्भाधान नहीं कर पाते।

वाह्य कारणों में भूमि की किस्म, सिंचाई, खाद, छँटाई आदि क्रियाएँ फूल के लगने पर प्रभाव डालती हैं। वातावरण का फल के लगाव पर प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण है। तापक्रम का अचानक गिर जाना या ऊपर चढ़ना पानी का बरसना, आँधी, पाला, ओला आदि असमय में आकर सारी फसल ही विनष्ट कर देते हैं। आम की फसल पर पानी का अधिक प्रभाव पड़ता है। जिस वर्ष आम में बौर आने के समय जोरों से आँधी-पानी आता है उस वर्ष सम्पूर्ण फसल ही स्वाहा हो जाती है, उद्यान में एक भी फल देखने को नहीं मिलते। रोग और कीड़े फसल के बहुत बड़े शत्रु हैं। इनके द्वारा फल के लगने में अधिक व्यवधान उपस्थित होता है। आम की फसल में हापर (hopper) कीड़ा बहुत अधिक हानि पहुँचाता है।

नागा देकर फल उत्पन्न करना बहुत वृक्षों म देखा जाता है। आम का वृक्ष एक वर्ष बहुत जोरदार फसल देता है, दूसरे वर्ष हल्की या बिल्कुल नहीं और फिर तीसरे वर्ष जोरदार। फसल में एक वर्ष नागा दे देना कोई नियम नहीं है। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि लगातार दो-तीन वर्ष नागा होता चला जाता है। ऐसा भी होता है कि वृक्ष की एक शाखा एक वर्ष फसल देती है तो दूसरे वर्ष नागा कर जाती है। सेब और नाशपाती में भी यही दशा पाई जाती है। ये फल-वृक्ष एक वर्ष का नागा देकर फल उत्पन्न करते हैं। नागा देने की प्रकृति का अध्ययन बहुत ढंगों से किया गया किन्तु कोई सफलता नहीं मिली। लगातार फसल लेने के लिए ऐसी ही जातियाँ चुननी चाहिए जिनकी प्रकृति प्रति वर्ष फल देने की हो। ऐसा देखा जाता है कि जिस वर्ष वृक्ष में जोरदार फसल आती है उसके ठीक दूसरे वर्ष फल आते हैं।

अध्याय १४

आम

आम एक उच्च कोटि का फल है। हमारे देश के सभी जायकेदार फलों में इसका ऊँचा स्थान है। भारत में इसकी खेती आज से नहीं अपितु बहुत पुराने काल से हो रही है। सिकन्दर के आक्रमण के समय यह हमारे यहाँ अधिक क्षेत्रफल में उगाया जाता था। सातवीं सदी के आये चीनी यात्रियों ने अपनी यात्रा के उल्लेख में आम का जिक्र किया है। बहुत से प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में आम का वर्णन मिलता है। १४ वीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने अपनी रचनाओं में इसकी प्रशंसा की है। इतिहास बतलाता है कि अकबर आम का बड़ा शौकीन था। उसने एक आम का बाग लगवाया था जिसमें १ लाख आम के पेड़ थे। इस बाग का नाम 'लाख बाग' था। जब योरप वाले हमारे देश में आये तो इसी बाग के बीज अपने देश में ले गये।

आम केवल भारत में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में एक विख्यात फल है। पक्का आम बहुत स्वादिष्ट और जायकेदार होता है। इससे विटामिन ए और सी प्राप्त होते हैं। पक्का आम टुकड़ों में काट कर सुरक्षित रखा जा सकता है ताकि उस समय काम दे सके जब कि आम का मौसम व्यतीत हो जाय। कच्चा आम कई अर्थों में प्रयोग होता है। इसकी चटनी बहुत स्वादिष्ट बनती है। इसका अचार वर्षों तक रखा जाता है।

आम की प्रशंसा में ६ जून १९३८ ई० में मद्रास एग्रीकल्चर जनरल XXI 6 ने फ्यूचर आफ मैन्गो इन्डस्ट्री के विषय पर प्रकाशित किया था, "यह सोचना कठिन होगा कि भारत के लोगों को आम के अतिरिक्त और किसी फल ने आकर्षित किया है। क्षेत्रफल और उपज के आधार पर आम सभी भारतीय फलों में सर्वोच्च फल है।" जुलाई १९५५ में इन्डियन काउंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, न्यू डेलही के फार्म बुलेटिन नं० ६—दी मैन्गो इन इन्डिया—में सोहराब आर गांधी ने लिखा है, "यह भारत का सर्वविख्यात और सर्वोच्च फल है और विश्व के स्वादिष्ट और सर्वश्रेष्ठ फलों में भी सरलतापूर्वक एक प्रसिद्ध स्थान प्राप्त कर लेता है।"

इतिहास—आम का इतिहास बहुत प्राचीन है। किन्तु इसकी जन्म-भूमि कहाँ है, इस विषय पर अभी अब भी मतभेद है। कुछ लोग आम की जन्म-भूमि भारत को ही बतलाते हैं। उनका कथन है कि आम की खेती हमारे देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से हो रही है। कहीं-कहीं आम जंगली दशा में भी पाया जाता है। परन्तु इन्हीं आधारों पर अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया है कि आम की जन्म-भूमि वहाँ है। कुछ लोगों का मत है कि आम की जन्म-भूमि लंका है क्योंकि यह वहाँ भी जंगली रूप में पाया जाता है। किन्तु केवल इसी आधार पर जन्म-भूमि का निर्णय कर देना न्याय-संगत नहीं जान पड़ता। कुछ पौराणिक विचार के लोगों का कथन है कि आम पहले-पहल लंका में ही उगाया गया और वहाँ से यह हनुमानजी द्वारा हमारे देश में लाया गया। किन्तु इसका कोई विश्वसनीय आधार नहीं मिलता। चीमा, भट्ट और नायक ने अपनी पुस्तक 'कामर्सियल फ्रुट आफ इण्डिया' पृष्ठ नं० ४६ में कहा है, "आम का मूल स्थान भारत के कहीं पूर्वी भाग या मलाया में विश्वसनीय है। इसकी असंख्य जातियाँ इतनी प्राचीन हैं और सम्पूर्ण देश में इस प्रकार बिखरी हैं कि उनके मूल स्थान का पता लगाना कठिन है। आज तक जितने प्रमाण प्रस्तुत हैं उनके आधार पर यहीं कहा जा सकता है कि मानो इम्ब्रियानिक आम का जन्म-स्थान भारत के ही किसी भाग में है पर पाली इम्ब्रियानिक आम का मूल मलाया में कहीं है।" मुकर्जी (१९५० ब) ने साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जेनस मेगनिफेरा (Genus Magnifera) का मूल बर्मा, हिन्द चीन, श्याम या मलाया प्रायद्वीप है, पर जहाँ तक सम्भव है आम बर्मा और आसाम से ही लाया गया। उन्होंने यह भी कहा है कि मैगनिफेरा इण्डिका से अत्यन्त घनिष्ट स्पेसीज इसी भाग में पाई जाती है। आम की जंगली जातियाँ आसाम और चटगाँव की पहाड़ियों में पाई जाती हैं, आसाम में नहीं। आम की उन्नत जातियाँ भी आसाम में नहीं पाई जातीं और न तो यहाँ के स्थानीय नामों से ही इनका कुछ सम्बन्ध है। पोपेनो (१९२०) ने भी इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है कि यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि आम की जन्म-भूमि पूर्वी भारत, आसाम, बर्मा और मलाया में ही कहीं है। उपर्युक्त आधारों से यह निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि आम का वृक्ष बहुत प्राचीन काल से हमारे देश में उगाया जा रहा है। इसके फल के साथ-साथ इसकी लकड़ी और पत्तियाँ भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। पत्तियों के बन्दनवार बनाये जाते हैं और इन्हें धार्मिक उत्सवों में प्रयोग किया जाता है। इसकी लकड़ी चन्दन की लकड़ी के साथ हवन में प्रयोग होती है।

विदेशों में इसके प्रचार के विषय में इतिहास मौन है। इतना पता चलता है कि सिकन्दर ने ३२७ ई० पू० में जब भारत पर आक्रमण किया था तो सिन्ध की

घाटी में इसकी खेती होती थी। किन्तु इस बात से यह ज्ञात नहीं हो पाता कि सिकन्दर ने आम के प्रचार में कहाँ तक सहयोग दिया। बर्न्स और प्रयाग (१९२०) ने बहुत खोज करके एक सूची तैयार की है जिससे पता चलता है कि आम किस स्थान में कब से उगाया जाने लगा। उनके अनुसार आम की खेती अफ्रीका में १३३१ ई०, फिलिपाइन में १६०० ई० के बाद, मलक्का में १६६५ ई० में, फ्लोरिडा में १८६१ ई० या १८६२ ई० में, क्वीन्सलैंड में लगभग १८७० ई० में, ओजोर में १८६५ ई० में, हवाई में १८६५ ई० में, कैलीफोर्निया में १८८०-८५ ई० में, दक्षिणी इटली में १९२० ई० में शुरू हुई। उनके अनुसार इंगलैंड में १६९७ में शुरू हुई। मुकर्जी के अनुसार आम वेस्ट इंडीज से ब्राजील लगभग १७४२ ई० में और फ्लोरिडा में १८३३ ई० में मैक्सिको से लाया गया। किन्तु पोप का कथन है कि आम स्पेन वालों द्वारा लगभग १६९० में फिलिपाइन से मैक्सिको लाया गया और पुर्तगालियों द्वारा वहाँ से ब्राजील १८ वीं शताब्दी में और उसके बाद वेस्ट इंडीज में पहुँचाया गया। पोप हवाई में आम के प्रारम्भ की उक्त तिथि स्वीकार नहीं करते। वे बतलाते हैं कि हवाई द्वीप में १८०० से १८२० ई० के बीच इसकी खेती होनी शुरू हुई। निलेर और बेजोर के अनुसार आम १९२४ ई० में मनीला से हवाई लाया गया।

वितरण—आम भारत के लगभग सभी प्रदेशों में उगाया जाता है। नायक के अनुसार आम उगाने वाले मुख्य प्रदेश निम्नलिखित हैं—

उत्तर प्रदेश	१,३२२,६५६	एकड़
मद्रास	२५०,९००	,,
बिहार	२१७,५१७	,,
पश्चिमी बंगाल	१८७,०७३	,,
उड़ीसा	४८,०००	,,
मध्य प्रदेश	२१,५२९	,,
पूर्वी पंजाब	३०,१३०	,,
बम्बई	२७,७०१	,,
मैसूर	२६,७२०	,,
हैदराबाद	२५,०१०	,,
आसाम	२५,०००	,,

इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में आम का कुल क्षेत्रफल २,१९२,२३३ एकड़ है।

उत्तर प्रदेश में आम का फल अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक उगाया जाता है। डबल्यू० बी० हेज के अनुसार यह फल उगाये जाने वाले क्षेत्र के ८८% में पैदा किया जाता है। उत्तर प्रदेश के बाद दूसरे नम्बर में पंजाब आता है जहाँ फल उगाने वाले कुल क्षेत्रफल का ७१.८% उत्पन्न होता है। १९४७-४८ ई० में हमारे देश में इसका कुल क्षेत्रफल २,१९२,३०४ एकड़ है। किन्तु इतने विशाल देश में आम का क्षेत्रफल बहुत कम है। क्षेत्रफल पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि यहाँ आम फलों का राजा तो कहा जाता है किन्तु इसकी कृषि पर लोगों का अधिक आकर्षण नहीं है। अतः आम का महत्व बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि भारत के लोग इस ओर ध्यान दें और इसके क्षेत्रफल तथा व्यवसाय को प्रोत्साहन प्रदान करें। यद्यपि हमारी सरकार वन महोत्सव पर काफी ध्यान दे रही है और हमारा कृषि विभाग आम की नई-नई उन्नत जातियाँ निकालने और उन्हें प्रचारित करने की ओर काफी अग्रसर है पर इस ओर केवल इन्हीं का प्रयत्न पर्याप्त नहीं होगा। यदि हमारे देश के सभी पढ़े-लिखे लोग आम की प्रगति पर ध्यान दें और अपने ग्रामीण अनपढ़ कृषकों को इसकी उपयोगिता का पाठ पढ़ावें तो बहुत सम्भव है कि इसकी खेती बहुत शीघ्र बढ़ जाय और इसका व्यवसाय भी दिन दूना और रात चौगुना उन्नति कर जाय। आम फल उगाने वाले कुल क्षेत्रफल के ६०% में उत्पन्न किया जाता है पर फल उगाने वाला क्षेत्रफल ही बहुत थोड़ा है, अतः हमें फल उगाने वाला कुल क्षेत्रफल ही बढ़ाना है।

भूमि—आम की खेती दक्षिणी भारत में बेलगाँव, गोआ, रत्नगिरि की जल-निकास युक्त लेटेराइट भूमि से लेकर और सूरत थाना, सतारा, पूना की मध्यम काली भूमि और शोलापुर तथा बीजापुर की भारी गहरी काली भूमि तक में की जाती है। उत्तरी भारत में यह उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल की गहरी अलुवियल भूमि में बहुत सफलतापूर्वक उगाया जाता है। इसी सफलता के आधार पर कहा जाता है कि आम के लिए अलुवियल भूमि अत्यन्त उपयुक्त होती है। बंगाल की डेल्टाई भूमि में भी आम के वृक्ष अच्छे उगते हैं। हिमालय की शृंखला से लगी हुई हल्की पर्वतीय भूमि आम के लिए अनुपयुक्त नहीं होती। बर्न और प्रयाग (१९२०) का कथन है कि बेलगाँव, गोआ और रत्नगिरि की लाल लेटेराइट भूमि और धरवार की लाल मिट्टी आम के लिए बहुत उपयुक्त होती है। उन्होने इसके प्रमाण में कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। अहमदनगर जिले के किसी स्थान में जहाँ की भूमि कभी उर्वर थी और जिसकी निचली धरातल मुरुम थी वहाँ आम के वृक्ष २ वर्ष की अवधि में १० फीट बढ़े। इनके अनुसार भूमि की गहराई तीन फीट या

इससे अधिक होनी चाहिए क्योंकि ऐसी गहरी भूमि अधिक उपयुक्त होती है किन्तु उत्तरी भारत में इस प्रकार की भूमि का अभाव है।

आम की जड़ें काफी गहरी और अधिक चौड़ाई में फैलती हैं जिससे एक वृक्ष द्वारा काफी भूमि ढक जाती है। पूना जिले में खेद शिवपुर और नासिक में बहुत पुराने और विशाल वृक्ष पाये जाते हैं जो मध्यम कोटि की काली भूमि में अच्छी उपज देते हैं। किन्तु इतनी ऊँचाई या चौड़ाई के वृक्ष पूर्व की ओर नहीं पाये जाते। किन्तु गंगा के विशाल मैदान और पेनिसुलर की कुछ बड़ी नदियों के किनारे अलुवियल दोमट भूमि में भी कुछ बहुत ऊँचे और बड़े आम के वृक्ष प्राप्त हुये हैं। आम के लिए बहुत गहरी भूमि की आवश्यकता होती है किन्तु इस भूमि में जल-विकास का उत्तम प्रबन्ध होना ही आवश्यक है ताकि उनकी जड़ों के प्रसार के लिए विशेष स्थान प्राप्त हो सके। किन्तु दक्षिण और पश्चिमी भारत में भूमि की यह गहराई सभी स्थानों पर नहीं मिलती क्योंकि वहाँ की मिट्टी अधिकतर पर्वतीय है। यहाँ वृक्ष वहीं उगाये जाते हैं जहाँ की मिट्टी दोमट, औसत काली मुरुम की एक पर्त से युक्त होती है।

भूमि का निर्वाचन करते समय ऊपरी धरातल के साथ-साथ अधःभूमि का भी निरीक्षण करना चाहिए क्योंकि यदि ऊपरी धरातल उर्वर हो किन्तु उसके नीचे की भूमि कंकरीली-पथरीली, पीली या चिकनी हो तो उगते हुए वृक्ष अच्छी उपज नहीं दे सकते क्योंकि उनकी जड़ें मिट्टी की इन कड़ी पर्तों को तोड़ने में असमर्थ हो जायेंगी और फलतः उन्हें भोजन और जल पर्याप्त परिमाण में नहीं मिल पायेगा।

बलुई और चिकनी मिट्टी आम के लिए उपयुक्त नहीं पड़ती। अधिक चूने वाली मिट्टी जिसमें चूने के चूरे प्राप्त होते हैं आम के लिए बहुत खराब होती है क्योंकि यह अधिक क्षारीय (alkaline) होती है और शिशु पौधे को जला डालती है। कपास वाली गहरी काली भूमि भी आम के लिए अच्छी नहीं होती क्योंकि यह पानी मिलने पर बहुत चिपचिपी हो जाती है और पानी इतना अधिक शोषित कर लेती है कि इसमें वायु के लिए स्थान ही नहीं रह पाता। इसमें सूखे मौसम में दरारें फट जाती है जो आम के उत्तम-उत्पादन के लिए अच्छी नहीं होतीं।

आम के वानस्पतिक उत्पादन तथा फल के लिए भूमि में नमी और वायु-मण्डल में ह्यूमिडिटी (Humidity) रहना आवश्यक है। उपयुक्त जल निकास-युक्त गहरी दोमट भूमि आम के लिए बहुत अच्छी होती है।

जलवायु—आम लगभग सभी प्रकार की जलवायु में उगाया जाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण भारत में धूर दक्षिण से लेकर उत्तर में हिमालय की तराई और पंजाब तक तथा पूर्व में आसाम और बंगाल से लेकर पश्चिम में राजस्थान और पश्चिमोत्तर सीमा-प्रदेश तक उत्पन्न किया जाता है। ऊँचाई के विचार से भी यह समुद्र के धरातल से लेकर ४,००० फी० की ऊँचाई तक की भूमि में पैदा किया जाता है। इस भाँति यह तर और शुष्क दोनों प्रकार की जलवायु में अच्छी तरह उगाया जाता है। आम के लिए फूल और फल आते समय शुष्क ऋतु अधिक उपयुक्त होती है किन्तु पूरे वर्ष के चार माह जून से सितम्बर तक लगातार वर्षा भी आवश्यक होती है। वर्षा ऋतु वर्ष के ८ माह की शुष्क ऋतु के पश्चात होना चाहिए। आम के लिए वर्षा विशेषकर उस समय पूर्ण वर्जित है जबकि उसमें फूल (बौर) आते हों। नवम्बर से फरवरी तक वर्षा, बदली या अधिक कुहरा आम के लिए हानिकर होता है क्योंकि इससे फल तो आते नहीं, बीमारियाँ और कीड़े बढ़ जाते हैं। यह बंगाल, आसाम और दक्षिण में त्रावणकोर, कोचीन और तामिलनाद में सफलतापूर्वक नहीं उगाया जा सकता क्योंकि इन स्थानों पर जलवायु लगभग ८ महीनों तक तर बनी रहती है और इस अवधि में बराबर वर्षा होती रहती है। इसके विपरीत वे भाग जहाँ आम में बौर आते या फल बनते समय बिल्कुल पानी नहीं बरसता, आम की बहुत अच्छी सफल देते हैं। आम से किसी स्थान पर वर्ष की कुल वर्षा से कोई सम्बन्ध नहीं होता अपितु यह देखा जाता है कि यहाँ आम में फल-फूल आते समय वर्षा तो नहीं होती है। यदि यहाँ वर्ष भर खूब पानी बरसता है किन्तु नवम्बर से फरवरी का समय जो आम में फल-फूल आने का समय है, शुष्क रहता है तो यहाँ से आम की अच्छी फसल की आशा की जा सकती है। किन्तु यदि वर्ष की कुल वर्षा प्रत्येक महीनों में थोड़ा-थोड़ा करके होती है तो यहाँ से आम की फसल अच्छी नहीं ली जा सकती।

आम उष्ण कटिबन्धीय वृक्ष है जिससे यह अत्यधिक सर्दी और पाला सहन नहीं कर सकता। जैसा कि हमने पहले ही कहा है, गर्म और शुष्क ऋतु फसल में फूल-फल आने के लिए आवश्यक है। इस अवधि में पाला का पड़ना अत्यन्त हानिकर होता है जैसा कि सब-ट्रापिकल या अर्ध-ग्रीष्म मण्डलीय और टेम्परेट या सम-जलवायु वाले भू-भागों में बहुधा होता है। छोटे और शिशु पौधे तथा बड़े पौधों की कोमल टहनियाँ और बौर के गुच्छे पाले से अधिक विनष्ट होते हैं। आम की पाला सहन करने की शक्ति उसकी जाति, अवस्था और वृक्ष की दशा पर निर्भर करती है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि बाहर से मँगाई गई आम की जातियाँ देशी जातियों की अपेक्षा पाले से अधिक प्रभावित होती हैं। कुछ जातियाँ

पाले को १०° तक सहन कर लेती हैं और उन्हें किसी प्रकार की हानि भी नहीं होने पाती किन्तु कुछ जातियाँ ४°-५° पर ही विनष्ट हो जाती हैं। सहारनपुर के सरकारी बाग में फरवरी के महीने में एक बार ८° पाले में यह निरीक्षण किया गया कि बाग में पैबन्द लगे (grafted) दो वर्ष के पौधे पाले से अधिक क्षतिग्रस्त हुये। वहाँ यह भी देखा गया कि जो शिशु पौधे दुर्बल थे वे मोटे और स्वस्थ पौधों की अपेक्षा अधिक नष्ट हुये थे।

आम की फसल के लिए ताप की भी एक सीमित मात्रा आवश्यक होती है। ताप पर विचार करते हुये ओपेनिमर (Oppenheimer) १९४७, ने कहा है कि ऊँचे किस्म के आम के लिए ताप की निम्नतम इकाई १००० है। ग्रीष्म ऋतु का ११५° से १२०° फारेन हाइट तापक्रम जैसा मध्य और उत्तर में बहुधा होता है आम के लिए हानिकर सिद्ध होता है। गर्मी के दिनों में यहाँ जोरों की आँधियाँ बहती हैं जो फसल के लिए अच्छा नहीं। इन बड़ी-बड़ी आँधियों को रोकने के लिए बाग के पश्चिम-दक्षिण ओर ऊँचे और मजबूत वृक्ष (wind break) जैसे शीशम लगाने चाहिए। इससे हानि की कम आशंका होती है।

आम में फूल-फल आते समय वर्षा का होना इसलिए हानिकर है क्योंकि बर्षा से फूल के पराग-छत्र विनष्ट जाते हैं हो और पराग धुल जाते हैं जिससे फल लगने के अवसर ही समाप्त हो जाते हैं। वर्षा से योनि-छत्र भी काफी प्रभावित होते हैं। आम को उस समय विशेष क्षति होती है जबकि फसल में फूल-फल आते समय आकाश में बदली होती है। आकाश में बदली होने से फंगस और जैसिद हापर (jassid hoppers) फसल पर अधिक चोट करते हैं। बारीक मिल्ड्यू और अन्य रोग भी वर्षा के समय आम की फसल में लग जाते हैं। आम पर केवल वर्षा का ही हानिकर प्रभाव नहीं होता अपितु ओस भी फसल को अधिक हानि पहुँचाती है क्योंकि ओस की अधिक मात्रा पराग कणों को बहा देती है और योनि-छत्र को क्षतिग्रस्त कर देती है।

आम के लिए नमी का अधिक प्रतिशत बहुत आवश्यक होता है। क्योंकि ऐसा साधारणतया देखा जाता है कि इसकी सिंचाई नहीं की जाती। इसे वर्ष भर प्रकृति के ही आधार पर रहना पड़ता है। यद्यपि कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ इसकी फसल सिंचाई के आधार पर ली जाती है किन्तु ऐसे क्षेत्र बहुत कम हैं। सिंचाई के आधार पर इसकी खेती अच्छी होती है क्योंकि इसमें फूल-फल आने के समय पानी से हानि होने की आशंका नहीं होती। बम्बई प्रदेश के पश्चिमी भाग और मद्रास प्रदेश में आम की खेती बहुत अच्छी होती है। क्योंकि यहाँ वार्षिक वर्षा अधिक होती है और बौर आने या फल लगते समय वर्षा से हानि नहीं होने पाती

क्योंकि इस समय यहाँ पानी नहीं बरसता। प्रायः ३०″ से ऊपर और १५०″ से नीचे वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्र आम के लिए बहुत उत्तम सिद्ध होते हैं।

वानस्पतिक विवरण—आम एनाकारडिएसी (Anacardiaceae) कुल में आता है। इस कुल का हार्टिकल्चर में बहुत महत्व है। क्योंकि चिरौंजी, कश्यू आदि फल जिनका हमारे देश में काफी प्रयोग होता है, इसी कुल से सम्बन्ध रखते हैं। आम स्पेसीज के विचार से मैगनिफेरा इंडिका (Magnifera indica) कहा जाता है। मैगनिफेरा इसका जेनस (genus) है जिसमें बहुत सी स्पेसीज (species) आती हैं।

आम का वृक्ष बहुत ऊँचाई तक जाने वाला वृक्ष है। किन्तु सभी वृक्ष समान ऊँचाई के नहीं होते। कुछ तो बहुत बड़े और कुछ बहुत छोटे होते हैं। प्रायः बिज्जू आम जिन्हें बीज से पैदा किया जाता है अधिक ऊँचाई के होते हैं किन्तु कलमी (grafted) आम नाटे कद के होते हैं। बड़े वृक्ष अधिक क्षेत्रफल आच्छादित करते हैं क्योंकि उनकी शाखायें और टहनियाँ दूर तक फैलती हैं। रन्धावा (१९४९) के अनुसार अम्बाला जिले के उर्वर भाग में बहुत से लम्बे-लम्बे वृक्ष पाये गये हैं। उनमें से एक का जिसका नाम छप्पर है, तना ३२ फीट परिधि का और ९ शाखाएँ ५ से १२ फी० परिधि और ७० से ८० फी० लम्बी हैं जो लगभग २७०० वर्ग गज क्षेत्रफल आच्छादित करती है। यह कुल क्षेत्रफल १७५ फीट वाले व्यास के वृत्त के बराबर है। इस वृक्ष की वार्षिक औसत उपज ४२० मन है। बिज्जू आमों की आयु लगभग १०० या इससे भी ऊपर मानी जाती है किन्तु कलमी आम बिज्जुओं की अपेक्षा बहुत कम दिनों जीवित रहते हैं। आम सदैव हरा-भरा रहने वाला (evergreen) वृक्ष है। किन्तु इसमें पतझड़ वर्ष के केवल एक ऋतु (शिशिर) में ही नहीं होता अपितु भिन्न-भिन्न ऋतुओं में होता है। जिन वृक्षों में बौर नहीं आते वे शिशिर में अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं किन्तु जिनमें बौर लग जाते हैं उनकी पतियाँ ऐसा नहीं करतीं अपितु उनका रंग और गहरा काला हो जाता है। ये पत्तियाँ धीरे-धीरे एक-एक करके झड़ती हैं और उनमें कोपलें निकलती जाती हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक पेड़ की आधी शाखाएँ शिशिर में पत्तियाँ गिरा देती हैं और आधी शाखाएँ ऐसा नहीं करतीं किन्तु ऐसा उन्हीं शाखाओं में होता है जिनमें बौर लगा रहता है।

आम के वृक्ष में बौर वर्ष में एक ही बार आते हैं किन्तु बौर आने का यह समय सभी जातियों में एक ही नहीं होता। अधिकांशतः जातियाँ बसन्त ऋतु में ही फूलना-फलना शुरू करती हैं। कुछ जातियाँ बैशाख में भी फूलती हैं। आम के फूल बहुत छोटे होते हैं किन्तु इनकी संख्या बहुत अधिक होती है। ये टहनियों

के सिरों पर गुच्छों के आकार में निकलते हैं। ये फूल कुछ तो टर्मिनल (terminal) होते हैं और कुछ एक्सिलरी (axillary)। एक गुच्छे में फूलों की संख्या निश्चित नहीं होती। बिजौर (Bijhowwer) ने (१६३७ में) अल्फांसो और जावा की ७ जातियों का अध्ययन करते समय यह ज्ञात किया था कि एक गुच्छे (Inflorescnce) में फूलों की संख्या ७८८ से ६०२० तक होती है। अल्फान्सो में सभी फूल पूर्ण नहीं होते। इसमें पूर्ण फूलों की संख्या केवल ६—११ होती है। शेष फूल स्टेमिनेट (staminate) होते हैं किन्तु अन्य जातियों में पूर्ण फूलों की संख्या इससे अधिक पाई जाती है। वे पूर्ण फूल जो वृक्ष पर एक माह से अधिक अवधि तक रह जाते हैं, व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि इस अवधि के पश्चात उनमें फल तैयार करने की शक्ति नहीं रह जाती। बम्बई से यह ज्ञात हुआ है कि आम के वृक्ष पर ६०% फूल स्टैमिनेट होते हैं और शेष १०% फूल पूर्ण होते हैं। इन पूर्ण फूलों में ५० तो सेंचित नहीं होते और ४६% सेंचित होकर भी विविध प्रकार से भौतिक साधनों द्वारा वृक्ष से गिर जाते हैं। इस प्रकार १०० फूलों में केवल १ ही फूल ऐसा होता है जो फल बनाता है किन्तु फिर भी एक वृक्ष की औसत वार्षिक उपज २०० फल है। फूलों की इतनी हानि होने पर भी आम का वृक्ष इतनी अधिक उपज देता है क्योंकि इस वृक्ष में फूलों की संख्या इतनी अधिक होती है कि यदि सभी फूल फल बन जायँ तो वृक्ष की शाखायें फलों के भार से टूट जायँ।

जो फूल सेंचित हो जाते हैं वे फल बनाते हैं। फल धीरे-धीरे बढ़ कर अपने पूरे बढ़ाव पर पहुँचता है और फिर पकने लगता है। पकने पर आम का रंग कुछ बदल जाता है। कुछ तो लाल, कुछ पीले, सिन्दूर रंगी आदि हो जाते हैं। किन्तु कुछ आम ऐसे भी पाये जाते हैं जिनका रंग पकने पर भी वैसा ही रह जाता है जैसा कच्ची अवस्था में था।

आम की जातियाँ—सन् १६१८ ई० में पोटोरिको एग्रीकल्चरल एक्सपेरिमेन्ट स्टेशन पर प्रयोग करते हुये किन्मेन (Kinmen) ने कहा था "आम को वर्गों और जातियों में वर्गीकृत करना इतना कठिन है कि यदि इस कार्य की ओर अधिक रुचि रखी जाय तो भी संतोषप्रद बिन्दु तक पहुँचने में अधिक समय लगेगा।" नायक ने भी किन्मेन की इस उक्ति को स्वीकार करते हुए कहा है कि किन्मेन का यह कथन आज भी उतना ही सत्य है जितना आज से लगभग ३० वर्ष पहले था। विश्व के सभी आम उत्पादन करने वाले भागों में उपलब्ध आम की जातियों को वर्गीकृत करने का अनेक बार कुछ समय के अन्तर पर असफल प्रयत्न किया गया किन्तु कभी भी वास्तविक फल नहीं निकला। बीज पैदा करने वाले बीजों की अधिकता

और भूमि तथा जलवायु की विभिन्नता जिसमें ये उगाये जाते हैं, इनके स्थानीय नाम और उपनाम जो जातियों के लिए प्रसिद्ध हैं, फूलने-फलने के समय में विभिन्नता और लम्बी दूरी ने जो आमोत्पादक क्षेत्रों को एक दूसरे से पृथक करती है, सभी आमों को एक समय और एक स्थान पर एकत्रित करना असम्भव कर दिया है, या इनकी अधिक संख्या भी नहीं एकत्र की जा सकती जिससे उपयुक्त वर्णन, वास्तविक सन्तुलन और उचित वर्गीकरण किया जा सके। कुछ चेष्टाएँ इस ओर अवश्य हुईं पर उनमें से किसी को पूर्ण और अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

केवल हमारे ही देश में आम की असंख्य जातियाँ पाई जाती हैं। हमारे गाँवों के बगीचे में रंग-बिरंगे, किस्म-किस्म के आम देखने को मिलते हैं जिनमें प्रत्येक का स्वाद, रूप, आकार भिन्न होता है। आम की जातियों पर विचार करते हुये मुकर्जी (१९४८) कहते हैं कि भारत में लगभग एक सहस्र आम की जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं। आम पैदा करने वाले बीज तो लाखों हैं किन्तु इनमें से कुछ ही ऐसे हैं जिन्हें स्थानीय महत्व मिला है। इन महत्वपूर्ण आमों से जातियाँ निकाली गई हैं और इन्हें विशेष नाम दिया गया है किन्तु ऐसा देखा गया है कि यही नाम किसी अन्य क्षेत्र में आम की किसी अन्य जाति को दिया गया है जो इससे पूर्णतया भिन्न है। कहा जाता है कि प्राचीन नाम मारीस की ५०० जातियाँ एकत्रित की गई हैं। नायक और गांगौली (१९५१) ने दक्षिण भारत की ३२५ जातियाँ वर्गीकृत की हैं और उनका विवरण भी प्रस्तुत किया हैं। अभी हाल में ही १९२० में मद्रास कृषि विभाग ने "Classification and nomenclature of South Indian Mangoes" नाम का एक मोनोग्राफ प्रकाशित किया है जिसमें तत्सम्बन्धी वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। इन्डियन काउन्सिल आफ ऐग्रीकल्चरल रिसर्च ने भी इस ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया है। वह भारत की लगभग सभी आम की जातियों को वर्गीकृत करने उनका विवरण प्रस्तुत करने और उनके चार्ट तथा चित्र तैयार करने का प्रयास कर रही हैं जो पूर्ण हो जाने पर एक ठोस देन होगी।

सफल आमोत्पादन के लिए यह परम आवश्यक है कि एक व्यावसायिक उद्यान में आम की वे ही जातियाँ लगाई जायँ जो वहाँ की भूमि और जलवायु के दृष्टिकोण से उचित हों, उत्तम जाति की हों और अधिक फल देने वाली हों। कुछ जातियाँ जलवायु और माँग के अनुसार कुछ विशेष क्षेत्र में ही उगाई जा सकती हैं। उदाहरणार्थ आम की अल्फोन्सो जाति जो बम्बई प्रदेश के पश्चिमी किनारे पर बहुत अच्छी उपज देती है, देश के भीतरी भागों में उतनी सफलतापूर्वक नहीं उगाई जा सकती। ठीक यही दशा उत्तरी भारत या मध्य भारत की भी जातियों के साथ

है। उन्हें दक्षिणी भारत के ट्रापिकल भागों में नहीं उगाया जा सकता। गांगौली और सिंह (१९५०) ने भारत की जलवायु के विचार से विभाजित पाँचों विभागों में उगाई जाने वाली आम की मुख्य जातियों का नामांकन किया है। किन्तु यह सभी दशाओं में सत्य नहीं है क्योंकि कुछ ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जिनसे यह विदित हुआ है कि कोई जाति विशेष जो किसी क्षेत्र विशेष में पैदा की जाती है, यदि बहुत दूर के किसी क्षेत्र में पैदा की जाय तो उससे अच्छी उपज की जा सकती है किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि उस जाति को देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उगाने के लिए प्रयास किया जाय। इसी प्रयास का यह परिणाम है कि उत्तर प्रदेश का लँगड़ा आम गुजरात में नर्बदा के तट पर सफलतापूर्वक उगाया जा रहा है। इसी प्रकार बम्बई की प्रसिद्ध जातियाँ अल्फोन्सो और पायरी भी दक्षिण भारत में अधिक क्षेत्र में उत्पन्न की जा रही हैं।

जैसा कि हमने पहले ही कहा है, हमारे देश के किसी भी क्षेत्र में आम की अनेक जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं किन्तु किसी सफल आम-उत्पादक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने क्षेत्र की सभी जातियों को अपने उद्यान में उत्पन्न करे। अपितु उसे प्रथम तो प्रत्येक जाति के विषय में पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए जिससे वह उनकी आर्थिक स्थिति और बाजारू माँग का निर्णय कर सके और तब उसे उन्हीं जातियों में से उत्तम जातियों का चुनाव करना चाहिए जो प्रत्येक दृष्टि-कोण से उसके उद्यान के लिए उपयुक्त हों। छोटे उद्यान में तो नहीं किन्तु बड़े उद्यान के लिए उसे जातियों का चुनाव इस दृष्टि से करना चाहिए कि सभी जातियाँ एक ही बार पकने वाली न हों अपितु उनके पकने के समय में थोड़ा-थोड़ा अन्तर हो ताकि उद्यान से आम की फसल अधिक दिनों तक ली जा सके। अलेन (Allan) (१९३५) ने प्रत्येक ऋतु के लिए दो या तीन जातियाँ स्वीकार की हैं जो उद्यान में लगाई जा सकें। इस प्रकार कुल जातियाँ, ६ से १० जातियाँ, एक उद्यान में उगाई जा सकती हैं। फ्रूट डेवलपमेन्ट बोर्ड (Fruit Development Board) के सदस्यों की राय के आधार पर उसने उत्तर प्रदेश के लिए निम्न-लिखित जातियाँ स्वीकृत की हैं :—

शीघ्र तैयार होने वाली जातियाँ	मई-जून में पकने वाली	बम्बई, अलफोन्सो, कच-मिठा, स्टकर्ट।
मध्यम जातियाँ	जुलाई में पकने वाली	लँगड़ा, दशहरी, सफेदा नं० १, लखनऊ सफेदा, गोपालभोग, खपरिया सिगरा और सिंगापुरी।

देर में तैयार होने वाली जातियाँ	अगस्त में और बाद में पकने वाली जातियाँ	फजली, समरबहिस्त (चौसा का)। फकीर वाला, लम्बाभाद्रा और हाथी झूल।

आर० एस० सिंह और गुप्त (१९५०-५१) ने उत्तर प्रदेश के लिए दशहरी को उत्तम स्वीकार किया है। इण्डियन काउंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च ने १९४९-५० के अपने वार्षिक रिपोर्ट में बिहार के लिए निम्नलिखित जातियाँ स्वीकृत की हैं :

शीघ्र	मई-जून	सुर्ख बर्मा
मध्यम	जूलाई	अमन इब्राहिमपुर, कलकतिया, बम्बई, हुस्नारा, अमन दशहरी, खासुलखास।
देर में	अगस्त और बाद में	तैमूरिया और चौसा का समरबहिस्त।

चीमा और नायक ने 'कामर्सियल फ्रूटस' (Commercial fruits) में प्रत्येक प्रदेशों के लिए पृथक्-पृथक् जातियाँ स्वीकृत की हैं जो इस प्रकार हैं :—

पश्चिमी उत्तर प्रदेश—बम्बई (हरा और पीला), फजली और लँगड़ा।

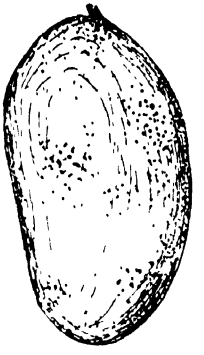
मध्य उत्तर प्रदेश	—सफेदा, दशहरी, खासुलखास, समरबहिस्त और लँगड़ा।
पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार	—लँगड़ा, जर्दालु, फजली, गुलाबखास, बम्बई (हरा और पीला)।
पंजाब	—लँगड़ा और बिज्जू जातियाँ।
बंगाल	—माल्दा, शादिवाला, पुलिहोरा और बिज्जू जातियाँ।
बम्बई और गोआ	—अल्फोन्सो, मन्कुराय, फर्नान्दिन, माल्देज बिशप, मुशराय और मलगोवा।
पश्चिमी तट	—ओलूर, मुन्दाया, नीलम, अल्फोन्सो और पायरी।
उत्तरी सरकार	—जहाँगीर, हिमायुद्दीन, बैंगनापल्ली, चिन्ना सुवर्ण रेखा और रसवाली जातियाँ।
मध्य मद्रास	—नीलम, बंगलौर, बानेशन, रूमानी, मुलगोवा और अलमपुर बनेशन।
दक्षिणी मद्रास	—नीलम, अल्फोन्सो, पायरी, और ऋतु के बाद पकने वाली जातियाँ।

मैसूर —बादामी, रासपुरी और तोतापुरी।
बड़ौदा —अल्फोन्सो, राजापुरी, जमादार, सलेवाय, अम्दी और बनराज।

उपर्युक्त जातियों में अल्फोन्सो और लँगड़ा अधिक प्रसिद्ध हैं। अल्फोन्सो ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत में जितनी ख्याति प्राप्त की है उतनी ही लँगड़ा ने उत्तर भारत में प्राप्त की है। बिहार में बम्बई, जादुलु और सिपिया जातियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं।



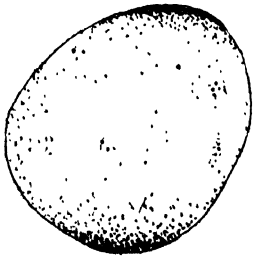
अल्फोन्सो



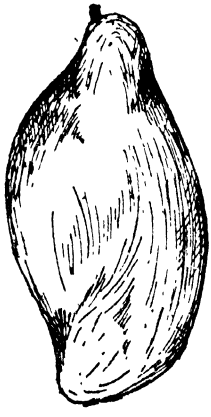
अमन दशहरी



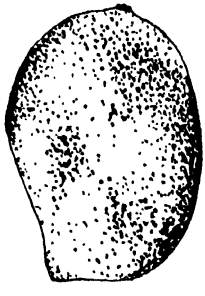
पायरी



रोमानी



बंगलौरी



दालीमिहे



नीलम लँगड़ा राजापुरी

चित्र १२—भारत के कुछ प्रसिद्ध आम

बम्बई राज्य में अल्फोन्सो और पायरी जातियाँ व्यावसायिक परिमाण में उत्पन्न की जाती हैं। अपने उत्तम स्वाद, रंग, आकार और उच्चकोटि के गुणों के कारण अल्फोन्सो भारत की सर्वोच्च फल जाति है और यही कारण है कि यह अपने मूल स्थान बम्बई के अतिरिक्त भी भारत के अन्य भागों जैसे मद्रास, हैदराबाद आदि में उगाई जाती है। यह जाति अधिक क्षेत्र में पश्चिमी तट पर रत्नगिरि और बुलसार में उत्पन्न की जाती है और शीत भण्डारों में यह ग्रेट बृटेन तक भेजी जाती है। इसके फल तोड़ने के लगभग २० दिनों तक खाने योग्य रहते हैं किन्तु इस अवधि के पश्चात् इनमें सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है। इस जाति के फल पीपों में भरे जाते हैं और सेना में या बाहर भेजे जाते हैं।

बम्बई प्रदेश की दूसरी मुख्य जाति पायरी है। इसके भी फल अल्फोन्सो की भाँति स्वादिष्ट होते हैं। यह पश्चिमी घाट और सम्पूर्ण दक्षिण भारत में उगाया जाता है।

उत्तर प्रदेश और बिहार में आम की मुख्य जाति लँगड़ा है। इसका गूदा जायकेदार और धागारहित होता है। गुठली का आकार बहुत पतला होता है। इसका फल पकने पर हरा ही रहता है। हमारे प्रदेश की दूसरी मुख्य जाति दशहरी है जो आजकल अधिक प्रसिद्ध होती जा रही है। इसका फल लम्बा और पतला होता है। पकने पर इसका रंग हल्का पीला हो जाता है। लँगड़ा की भाँति इसका गूदा भी धागारहित और स्वादिष्ट होता है। इसका रस बहुत मीठा और गन्ध खुशबूदार होती है। माल्दा, जिसे हरी बम्बइया जाति कहते हैं, यह भी उत्तर प्रदेश में अधिक प्रसिद्ध है। यह जाति शीघ्र तैयार होने वाली जाति है और बाजार में सबसे पहले आ जाती है। स्वाद के विचार से यह भी एक अच्छी जाति है। इसकी गन्धबहुत तेज होती है। इसका फल बहुत बड़ा और भारी होता है किन्तु गुठली

पतली होती है। देर में तैयार होने वाली जातियों में समरबहिस्त चौसा का नाम आता है जो प्रति वर्ष नहीं फलता किन्तु गुण के विचार से यह भी एक अच्छी जाति है। फजरी जाफरानी, तैमूरिया, रातौल, गुलाबखास, खासुलखास आदि जातियाँ भी हमारे प्रदेश में अधिक उगाई जाती हैं।

बिहार प्रदेश में, जैसा कि हमने अभी पढ़ा है, लँगड़ा जाति प्रसिद्ध है। लँगड़ा के अतिरिक्त यहाँ जादु लु जाति भी अधिक विख्यात है। इस जाति के फल लम्बे आकार और पीले चमड़े के होते हैं। इसका रस स्वादिष्ट होता है। इसके फल अधिक संख्या में आते हैं। बिहार की दूसरी मुख्य जाति गुलाबखास है जिसकी बाजारों में काफी खपत होती है। इसकी गन्ध बड़ी सुहावनी और मीठी होती है। फल का आकार छोटा और रंग आकर्षक होता है। गोपालखास बिहार की एक अन्य जाति है जो फल अधिक देती है पर ये उतने आकर्षक नहीं होते जितना कि अन्य जातियाँ होती हैं।

पश्चिमी बंगाल की मुख्य जाति बम्बई है जिसे माल्दा के नाम से पुकारते हैं। इसके फल मध्यम आकार के होते हैं और गूदा धागारहित और मीठा होता है। यह जाति बहुत फल देती है, अतः आर्थिक दृष्टिकोण से इसका उत्पादन लाभप्रद होता है।

दक्षिण भारत में नीलम और रोमानी जातियाँ अधिक मुख्य हैं। इन्हें दक्षिण भारत में आन्ध्र प्रदेश और रायल सीमा तथा अन्य भू-भागों में भी अधिकता से उगाया जाता है। ये फल खूब देती हैं। इनका गूदा जायकेदार और धागारहित होता है पर स्वाद अल्फोन्सो तथा पायरी की अपेक्षा घटिया होता है। फिर भी दक्षिण भारत में इसकी खेती बहुत अधिक परिमाण में होती है। यहाँ से फल उत्तर भारत और बम्बई में भेजे जाते हैं। आन्ध्र और रायलसीमा की अन्य दो मुख्य जातियाँ सुवर्णरेखा और बैंगनपाली हैं। गुजरात का मुख्य फल राजापुरी, दक्षिणी गुजरात का दालिम्बिया, खानदेश का बोरशा और पूना का शेन्द्रियाँ है। सौराष्ट्र में फामादार और सालेकाईनी अम्दी अधिक विख्यात है। दक्कन हैदाराबाद का प्रसिद्ध आम मुलगोवा है। मुलगोवा और बम्बई प्रदेश का कवास जी पटेल नामक दो जातियाँ प्रदेश में सबसे बड़े आकार की हैं और ये संचित रखने के अर्थ में अधिक प्रयोग होती हैं। मद्रास की जहाँगीर और उत्तर प्रदेश की हाथी-फूल जातियाँ भी, अपने बड़े आकार के लिए प्रसिद्ध हैं—तथा संचित रखी जाती हैं।

मोनोएम्ब्रायोनिक और पालीएम्ब्रायोनिक आम (Monoembryonic and Polyembryonic Mangoes)—पौधे का जन्म बीज से

होता है। प्रत्येक बीज अपने भीतर एम्ब्रियो (embryo) रखता है। वास्तव में इम्ब्रियो में ही पौधे का विशाल रूप सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है और उस समय जागृतावस्था मे आता है जबकि उसे तापक्रम, नमी और वायु उपलब्ध हो जाते हैं। जागृतावस्था में बीज से अंकुर प्रस्फुटित होते हैं और बढ़कर तना तथा जड़ का निर्माण करते हैं। इम्ब्रियो बीज में कभी अकेले होता है और कभी एक से अधिक संख्या में होता है। जब बीज में एक ही इम्ब्रियो होता है तो उसे मानोइम्ब्रियानिक (एक इम्ब्रियो वाला) कहते हैं। किन्तु जब बीज में एक से अधिक इम्ब्रियो उपस्थित रहते हैं तो वह बीज पाली इम्ब्रियानिक (कई इम्ब्रियो वाला) कहा जाता है। इम्ब्रियों के आधार पर आम की भी दो उपजातियाँ हो सकती हैं—मानो इम्ब्रियानिक और पाली इम्ब्रियानिक। इम्ब्रियानिक जाति के आम में एक इम्ब्रियो रहता है और इसका बीज एक ही पौधा तैयार कर सकता है। पाली इम्ब्रियानिक जाति में एक से अधिक इम्ब्रियो रहते हैं जो एक से अधिक पौधे उत्पन्न करते हैं। अंकुरण के पहले ये पौधे पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, किन्तु जब अंकुरण हो जाता है तो ये सरलतापूर्वक पृथक् हो जाते हैं। अंकुरण के पश्चात् इन्हें उद्यानों में स्वतंत्र पौधों की भाँति लगाया जा सकता है।

मोनोइम्ब्रियानिक आम के किशोर पौधे अपने पितृ आम से ठीक-ठीक नहीं मिलते-जुलते हैं। उनके एक ही वातावरण में उगे दो विभिन्न जातियों के फूलों में प्राकृतिक सेंचन करके जो इम्ब्रियो मिलता है, वह हाइब्रिड (hybrid) कहलाता है। यदि सफेद और लाल फूल वाले पौधे जिनमें से एक लम्बा और दूसरा नाटा हो और बनावटी ढंग से सेंचन कराया जाय तो जो शिशु पौधे उत्पन्न होंगे उनमें प्रत्येक के दोनों गुणों का समावेश होगा। ये ही शिशु पौधे हाइब्रिड कहलाते हैं। ये हाइब्रिड मातृ पौधे से हृष्ट-पुष्ट होते हैं किन्तु ये न तो लाल फूल वाले पौधे की ही भाँति होते हैं और न सफेद फूल वाले पौधे की ही भाँति। यद्यपि दूसरी पीढ़ी (F_2) में उस पौधे के गुण स्पष्टतः प्रगट हो जाते हैं जो दूसरे की अपेक्षा हृष्ट-पुष्ट (dominant) होता है।

किन्तु पाली इम्ब्रियानिक आमों में ऐसी बात नहीं होती। इनके बीज में कई इम्ब्रियो होते हैं किन्तु इनमें केवल एक ही ऐसे गुण वाला होता है जो दो विभिन्न जातियों के पुष्पों के सेंचन से पैदा किया जा सके। इस इम्ब्रियो के अतिरिक्त अन्य इम्ब्रियो मातृ पौधे के ओव्युल तन्तु (ovule tissue) के वानस्पतिक बढ़ाव होते हैं अर्थात् ये वानस्पतिक बढ़ाव पितृ पौधे के वानस्पतिक तन्तु के आवश्यक अंग हैं। इस प्रकार के इम्ब्रियो बिल्कुल विशुद्ध होते हैं। इनमें किसी अन्य जाति का मिश्रण नहीं होता। इनके साथ में जो दूसरे कोटि का इम्ब्रियो होता है वह इनके

प्रभाव के कारण शक्तिहीन होता जाता है और कुछ काल पश्चात् इसका अन्त हो जाता है। पोपेनो (Popenoe) ने क्यूबा के आमों का उल्लेख करते हुए पाली इम्ब्रियानिक आमों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "उष्णकटिबन्ध के कुछ भागों में यह परिलक्षित किया गया है कि बहुत से किशोर पौधे जो बीज से उगाये जाते हैं अधिक अंश में अपनी जाति से मिलते-जुलते हैं और इसी कारण वहाँ के निवासियों ने उत्तम जातियों को पहचानने का ज्ञान सीखा और उनकी जातियों के नाम से उन्हें पहचान भी लिया।" पोपेनो ने फ्लोरिडा प्रयोग १९०८ में कहा है : 'इम्ब्रियो एगशेल (egg shell) को घेरे हुए न्यूक्लियर तन्तु में बारीक वानस्पतिक कली के रूप में निकलते हैं। वेस्टर (Wester) ने कहा है : "फिलिपाइन में उगाये जाने वाले सभी प्रकार के आम पाली इम्ब्रियानिक होते हैं अतः एक निश्चित अंश तक अपना विशेष गुण उत्पन्न करते हैं।" उसने इस बात पर भी प्रकाश डाला है : "भारतवर्ष में मोनोइम्ब्रियानिक जाति के आम के किशोर पौधे असमान गुण वाले होते हैं।"

भारतवर्ष में आम की जितनी भी जातियाँ प्रचलित हैं, वे लगभग सभी मोनोइम्ब्रियानिक हैं और इसीलिए जब उन्हें बीज से उगाया जाता है तो वे अपने मितृ पौधों के समान नहीं होती। पौधों के इस अवगुण को दूर करने के लिए इन्हें बीज से नहीं पैदा किया जाता अपितु उन्हें उगाने में वानस्पतिक उत्पादन का आश्रय लिया जाता है और इसी ढंग से उनकी जाति स्थिर रखी जाती है। अभी हाल में ही अन्वेषणों से पाली इम्ब्रियानिक जाति के आम की १२ जातियाँ उपलब्ध हुई हैं जो भारत के पश्चिमी घाट के भू-खण्ड पर मलाबार प्रदेश में सफलता-पूर्वक उगाई जाती हैं। इनका एक बीज पाँच किशोर पौधे उत्पादित करते हुए पाया गया है। इस प्रकार कनारा जिला और मलाबार में ३०,००० एकड़ से अधिक क्षेत्रफल में आम की खेती होती है। ये आम अपने मातृ पौधों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं और बीज से उत्पादन करने पर भी ये उनके बिल्कुल समान गुण वाले होते है। अतः पाली इम्ब्रियानिक आम की जाति में वानस्पतिक उत्पादन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। ये जातियाँ बहुत शीघ्र फल पैदा करने लगती हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो बोने के तीन-चार वर्ष पश्चात् ही फल देने लगती हैं और मातृ पौधों के समस्त गुण वहन करती हैं। इन जातियों में मुख्य ओल्लूर है जो बीज से उत्पन्न होती हैं। पाली इम्ब्रियानिक जातियाँ प्रायः नम जलवायु पसन्द करती हैं, अतः ये फिलिपाइन द्वीप समूह, मलाया और हिन्द चीन (इन्डोनेसिया) में अधिकता से उत्पन्न होती हैं।

आम के पौधे तैयार करना—अन्य फलों की भाँति आम भी उष्णकटिबन्ध में बीज से उत्पन्न किया जाता है। किन्तु बीज से पौधा तैयार करने में इस बात का निश्चय नहीं रहता कि पौधे अपने मातृ पौधे के गुणों को स्थिर रक्खेंगे। बहुधा किशोर पौधे मिश्रित गुण वाले होते हैं और इनके फलों का आकार तथा रूप-रंग भी मातृ पौधे से विभिन्न होता है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि मीठे और रसीले आम की गुठली से यह कोई आवश्यक नहीं है कि मीठे आम ही उत्पन्न होंगे, खट्टे आम भी पैदा हो सकते हैं। कभी-कभी मीठे आम की गुठली से बिल्कुल खट्टे आम उत्पन्न होते देखे गये हैं। बीज से उत्पन्न होने वाले वृक्षों में एक भारी अवगुण यह भी होता है कि इनके बोने से फलने तक के समय की दूरी बहुत लम्बी होती है। आम की इन दोनों त्रुटियों को दूर करने के लिए विवेकशील आदि मानव ने अन्वेषण प्रारम्भ किये। अपने अन्वेषण में उसे सफलता मिली। उसने उद्यानों, बनों, वाटिकाओं आदि में देखा कि स्वतन्त्र पौधा केवल बीज की ही सहायता से नहीं उत्पन्न किया जा सकता अपितु वृक्ष की कलियाँ, पत्तियाँ और टहनियाँ भी इस कार्य में समर्थ हैं। उसने इस पर प्रयोग भी किये और अनुभव किया कि इनसे उसी जाति का स्वतन्त्र वृक्ष तैयार किया जा सकता है जो बीज द्वारा उत्पादित वृक्ष की भाँति न तो मिश्रित गुण वाला ही होगा और न उसमें मातृ वृक्ष से असमान गुण ही प्राप्त किये जा सकते हैं। उसने एक अच्छे वृक्ष की हरी-भरी टहनी ली और उसे उसी जाति के किशोर पौधे पर लगाई और इस प्रकार जो फल प्राप्त किये वे मातृ फलों के समान थे, उनमें वही मिठास और स्वाद था, फल का आकार और रंग भी वही था और इसके लगाने से फल देने के समय की दूरी बीज वाले वृक्ष की अपेक्षा बहुत कम थी। वृक्षोत्पादन का यह ढंग एक वानस्पतिक ढंग है जिसे बोल-चाल के शब्दों में 'कलम लगाना' कहते हैं। यद्यपि आधुनिक अन्वेषणों से यह भी ज्ञात हो चुका है कि दब्बा लगाने, चश्मा लगाने, गुट्टी लगाने से भी स्वतन्त्र वृक्ष तैयार किया जा सकता है किन्तु हमारे देश में अधिक प्रचलित ढंग साधारण पैबन्द है जिसे इनार्चिंग भी कहा जाता है। कलम करने के ढंगों पर प्रकाश डालने के पूर्व हमें इसकी उपयुक्तता पर विचार कर लेना चाहिए। कलम लगाने के लाभ ये हैं :

कलम द्वारा उत्पन्न वृक्ष बीज वृक्षों की अपेक्षा शीघ्र फल देने योग्य हो जाते हैं। इनमें कलम लगाने के लगभग ५-६ वर्षों के अनन्तर ही फल आने प्रारम्भ हो जाते हैं किन्तु बीजू वृक्षों में यह अवधि १० से १२ वर्ष की होती है। कलमी आम की ऊँचाई बीजू की अपेक्षा कम होती है और यह अपेक्षाकृत स्थान भी कम घेरता है। इससे लाभ यह होता है कि कम स्थान में कलमी आम के कई वृक्ष उत्पन्न किये जा सकते हैं जिसका सीधा सम्बन्ध उपज से होता है। कलमी आम अपने मातृ वृक्ष

के समान ही गुण रखता है। इसमें वही मिठास, वही स्वाद और वही रूप-रंग रहता है। इसका आकार भी वही होता है। किन्तु बीजू आम में ऐसी बात नहीं होती। वे अधिकांशतः मोनोइम्ब्रियानिक होते हैं, अतः उनके गुण परिवर्तनशील होते हैं। आधुनिकतम प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि एक ही वृक्ष पर कलम द्वारा उसी जाति के विभिन्न गुण वाले वृक्ष उत्पन्न किये जा सकते हैं। उदाहरणतः यदि एक वृक्ष पर भिन्न-भिन्न गुण वाले चार वृक्षों की कलम लगाई गई तो उस एक ही वृक्ष पर चार प्रकार के फल देखे जा सकते हैं और इस के अतिरिक्त हानिकारक कीड़ों से इनकी रक्षा भी करता है। कटाव पर जब इस मिश्रण की लेप दी जाती है तो कभी-कभी इसके ऊपर कपूर और एसाफोरिडा का मिश्रण भी पोत दिया जाता है। गुजरात में उपर्लिखित विधियों में से कोई भी विधि नहीं प्रयुक्त होती है। वहाँ स्टाक और सायन दोनों पर ४·५″ लम्बी कटाव बनाया जाता है और फिर कटे किनारे परस्पर मिलाने के पश्चात् नारियल के छिलके से दृढ़तापूर्वक बाँध दिये जाते हैं। इस छिलके के बन्धन पर किसी प्रकार का लेप नहीं लगाया जाता है और इन्हें बाँधने के पूर्व केला या किसी अन्य पौधे का छिलका ही प्रयुक्त होता है किन्तु ऐसा करने से स्टाक और सायन के कोमल छिलके पर गहरे चिह्न पड़ जाते हैं और कैम्बियम कट जाता है जिससे कलम पौधा अधिक सफल नहीं हो पाता।

स्टाक और सायन दोनों में स्थायी जोड़ स्थापित करने के लिए गमले के सिंचाई की भी व्यवस्था की जाती है। प्रायः गमले में पानी प्रति दिन देना चाहिए जिससे किशोर पौधे में नमी का अभाव न होने पावे। पानी देते समय इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि इसे गमले में ढरका कर न दिया जाय क्योंकि इस विधि से गमले की मिट्टी कट कर बह जाती है। साथ ही पानी जोड़ पर भी नहीं गिराना चाहिए। जोड़ पर गिराने से कलम अच्छा नहीं हो पाता। जोड़ लगते समय कलम को हिलाना-डुलाना कदापि नहीं चाहिए। यह सावधानी कलम लगाने के लगभग १½-२ माह तक रखी जाती है। जब जोड़ पूर्ण हो जाती है तो सायन को मातृ वृक्ष से पृथक् कर दिया जाता है। पृथक्करण की यह क्रिया कलम लगाने के दो माह पश्चात् की जाती है क्योंकि उपयुक्त समय में स्टाक और सायन का जोड़ १½ माह में ही पूर्ण हो जाता है, यदि कुछ देर हुई तो दो माह का समय लग जाता है। सायन के पृथक्करण में इस बात से सतर्क रहना चाहिए कि इसे मातृ-वृक्ष से एक ही बार न अलग किया जाय अपितु यह क्रिया शनैः-शनैः हो। सर्वप्रथम सायन शाखा में कलम जोड़ के ठीक नीचे एक छिछला कटाव बनाया जाता है। यह कटाव सायन की मोटाई का लगभग तिहाई होता है। १० दिनों के पश्चात् यह कटाव बढ़ाकर दो-तिहाई कर दिया जाता है। यह कटाव इतने समय में उस समय किया जाता है

जब कि शाखा मुर्झाना प्रारम्भ नहीं करती यदि वह मुर्झाने लगती है तो समय की यह दूरी बढ़ा दी जाती है। दूसरे कटाव के पश्चात् भी शाखा की मुर्झाहट का निरीक्षण करते हैं। यदि कलम जरा भी नहीं मुर्झाता और न उसमें शुष्कांक बिन्दु ही आता है तो दूसरी कटाई के १५ दिनों पश्चात् शाखा मातृ-वृक्ष से पूर्णतया पृथक् कर दी जाती है। शाखा के मातृ-वृक्ष से पृथक् होने के पश्चात् स्टाक पौधे के कलम के ऊपर का सिरा भी काट कर फेंक दिया जाता है। कभी-कभी लोग स्टाक पौधे का सिरा इस समय न काट कर ऐसा ही लगा रहने देते हैं और लगे हुए ही खेत में लगा देते हैं। इसे उस समय तक नहीं काटते जब तक कलम खेत में जड़ न पकड़ ले। ऐसा केवल इसीलिये किया जाता है कि यह सायन शाखा का पालन-पोषण अधिक दिनों तक करता रहे। किन्तु प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि सिरा काट देने पर कलम का बढ़ाव न काटने की अपेक्षा द्रुतगति से होता है। यदि कलम करने की ३ माह की की अवधि तक पौधा या शाखा मुर्झाती नहीं तो कलम सफल मानी जाती है। जब कलम की सभी क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं तो कलम गमले समेत सायेदार स्थान पर रख दिया जाता है और इसे लगभग ३ माह तक अपने बल पर बढ़ने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस अवधि के पश्चात् पौधा उद्यान में लगाने योग्य माना जाता है। जब कलम खेत में लगाने के लिए ले जाई जाती है तो उसी समय जोड़ पर लगाये जा सकते हैं। प्रायः देखा जाता है कि बीजू आम प्रति वर्ष नहीं फलते। उनमें एक वर्ष यदि फल आया तो दूसरे वर्ष नागा होगा। फिर तीसरे वर्ष फिर फल लिया जा सकता है। किन्तु कलमी आम में ऐसी बात नहीं होती। वे प्रति वर्ष फल देते हैं। साधारणतः कलमी आम के फल आकार में बीजू आम के फल की अपेक्षा बड़े होते हैं।

जब किसी वृक्ष की शाखा उसी परिवार के किसी अन्य उगाये गये किशोर वृक्ष से जोड़ दी जाती है तो यही क्रिया कलम कही जाती है। इन्हें भली-भाँति जोड़ने के लिए शाखा और वृक्ष दोनों को किसी समुचित स्थान पर इस प्रकार काटा जाता है कि जब दोनों को एक दूसरे से मिलाया जाय तो वे बीच में बिना कोई स्थान छोड़े ही मिल जायँ। मिलाने के पश्चात् जोड़ स्थिर बनाने के लिए आवश्यक स्थितियाँ भी उत्पन्न करते हैं जो तन्तुओं की वृद्धि के लिए उत्तरदायी होती हैं। कुछ समय पश्चात् जब जोड़ स्थिर हो जाता है तो शाखा को उसके वृक्ष से पृथक् कर देते हैं और तब उसके पालन पोषण का भार किशोर वृक्ष पर ही पड़ता है। शाखा किसी उत्तम जाति के वृक्ष से ली जाती है ताकि कलमी वृक्ष भी उत्तम जाति का हो सके। यह शाखा साइन (scion) कहलाती है और किशोर वृक्ष, जिस पर शाखा मिलाई जाती है

स्टाक (stock) कहा जाता है। साइन और स्टाक द्वारा जो नवीन वृक्ष उत्पन्न किया जाता है उसे कलम (graft) कहते हैं।

इनार्चिंग (Inarching) या साधारण पैबन्द

कलम करने की बहुत सी विधियाँ प्रचलित हैं किन्तु हमारे देश में इनमें पैबन्द या ग्रैफ्टिंग विधि अधिक प्रचलित है। इसमें साइन और स्टाक आपस में पैबन्द की भाँति जोड़ दिये जाते हैं, अतः यह विधि पैबन्द विधि के नाम से विख्यात है। इस विधि में एक विशेषता यह होती है कि इसे उसी जाति या कुल के वृक्षों में प्रयोग किया जाता है। एक जाति के पौधा का दूसरी जाति के पौधे पर कलम नहीं लगाया जा सकता। यदि हम चाहें कि आम के साइन और नींबू के स्टाक में कलम हो तो नहीं हो सकता। आम की कलम आम में ही हो सकती है। यही कारण है कि आम की लँगड़ा, सफेदा, माल्दा, दसहरी, गोपालभोग आदि उत्तम जातियाँ बहुत प्राचीन काल से उगाये जाने पर भी आज तक अपना, रूप, रंग, स्वाद आदि गुण स्थिर रख सकी हैं। इनार्चिंग विधि के अधिक प्रचलित होने का एक कारण और यह है यह बहुत सस्ती विधि है। इसे साधारण फलोत्पादक भी थोड़े पैसे व्यय करके पूरा कर सकता है। इसमें अधिक योग्यता और चातुरी की आवश्यकता नहीं होती अपितु इसे साधारण माली अपने साधारण ज्ञान से भी पूर्ण कर सकता है। इसके अतिरिक्त इस विधि से कलम लगाने में प्रायः सफलता ही मिलती है।

इनार्चिंग विधि में स्टाक पौधा किसी देशी या बीजू आम की गुठली से तैयार किया जाता हैं और साइन किसी उत्तम जाति से किया जाता है और इस प्रकार दोनों को मिला कर कलम कर दी जाती है, किन्तु साइन शाखा अपने वृक्ष से उस समय तक संलग्न रहती है जब तक दोनों का जोड़ पूर्ण नहीं होता। जोड़ के पूर्ण हो जाने पर साइन अपने मूलवृक्ष से पृथक् कर ली जाती है और स्टाक पौधे के जोड़ का ऊपरी भाग काट कर दूर कर दिया जाता है।

स्टाक पौधा सर्वप्रथम उपयुक्त आकार के मिट्टी या बाँस के घड़े में उत्पन्न किया जाता है। घड़े का आकार सर्वत्र एक सा नहीं होता। बम्बई प्रदेश में शंकु आकार का घड़ा प्रयोग में आता है। इसकी ऊँचाई ८″—१०″ तक होती है और मुँह का व्यास ६″ होता है। इसका नाम कुण्डी है। यह किशोर पौधे की प्रारम्भिक वृद्धि के लिए बहुत उपयुक्त होता है। कुण्डी के अतिरिक्त कभी-कभी एक गोलाकार घड़ा भी प्रयोग होता है जिसे मटकी कहते हैं, और जो कुण्डी की अपेक्षा अच्छा कार्य करती है। इसकी दीवालें मोटी होती हैं इससे इसमें नमी अधिक दिनों तक स्थिर रहती है। इसका मूल्य भी अपेक्षाकृत कम होता है। किन्तु घड़ों की बनावट में एक बात

अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि ये इस दृष्टिकोण से निर्मित हों कि इनमें गुठलियाँ उत्पन्न की जा सकें और साथ ही इनको पकाने में भी सचेष्ट रहना चाहिए कि ये कच्चे या अध-पक्का न रह जायँ क्योंकि घड़ों की पकाई में यदि थोड़ी सी भी कसर रह जाती है तो मिट्टी और पानी डालने पर उनके टूटने का डर रहता है। पूर्णरूपेण पके घड़े बिना किसी सन्देह के प्रयोग होते हैं और उनसे एक से अधिक बार लाभ भी उठाया जा सकता है।

मिट्टी के घड़ों के अतिरिक्त बाँस के घड़े या टोकरियाँ भी इस कार्य के लिए प्रयोग होती हैं। इस प्रकार के घड़े दक्षिण भारत, पश्चिमी घाट और लंका में अधिक प्रचलित हैं। दक्षिण भारत में काफी के पौधे इन्हीं टोकरियों में उत्पन्न किये जाते हैं। अतः इनका प्रयोग कभी कभी आम के लिए भी होता है। घड़े या टोकरियाँ तैयार करने के लिए बाँस की खपच्चियाँ तैयार कर ली जाती हैं और फिर उन्हें मोड़कर गाँठें देकर घड़े का आकार दे दिया जाता है। किन्तु मिट्टी के घड़ों की भाँति इनमें ठोस दीवालें नहीं बनती। इनमें छोटे-छोटे छिद्र छूट जाते हैं जो बर्तन के जल-निकास का काम करते हैं। मिट्टी के बर्तनों में इस कार्य के लिए पेंदे में सुराख बनाये जाते हैं। दक्षिण में कनारा जिले में एक प्रकार की पहाड़ी घास की टहनियाँ टोकरी बनाने के काम में आती हैं। ये मिट्टी और बाँस की अपेक्षा अधिक सस्ती और हल्की होती हैं। इस प्रकार की टोकरियों में किशोर पौधे की जड़ों को भी किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचता जैसा कि मिट्टी या बाँस के घड़ों में कभी-कभी हो जाता है।

कभी-कभी ऐसा भी किया जाता है कि आम की गुठलियाँ बाजारों या गलियों से एकत्र की जाती हैं और उन्हें एक बीयड़ में उगाया जाता है। जब पौधे लगभग दो माह की आयु के हो जाते हैं तो उन्हें यहाँ से निकालकर घड़ों में लगा दिया जाता है। किन्तु इस प्रकार एकत्र की गई गुठलियाँ मिश्रित जाति की होती हैं। उनमें उत्तम और घटिया दोनों जाति की गुठलियाँ होती हैं जिससे कलमी पौधा उत्तम पौधा नहीं बन पाता। उत्तम पौधा तैयार करने के लिए गुठली भी उत्तम कोटि की ली जाती है। ऐसी गुठली कदापि नहीं ली जाती जिसकी जाति का ज्ञान नहीं होता क्योंकि ऐसा करने से स्टाक पौधा घटिया किस्म का हो सकता है। अतः स्टाक पौधा तैयार करने के लिए गुठली का चयन करना आवश्यक होता है। गुठली स्वस्थ गूदेदार और पकी हुई होनी चाहिए। पकी हुई से अर्थ यह है कि गुठली भूल कर भी ऐसे फल से न ली जाय जो कच्चा या अध-पक्का हो। अच्छा तो यह होता है कि जिस फल की गुठली से स्टाक पौधा तैयार करना हो उसे वृक्ष पर ही छोड़ दिया जाय और तब तक न तोड़ा जाय जब तक कि वह भलीभाँति पक न

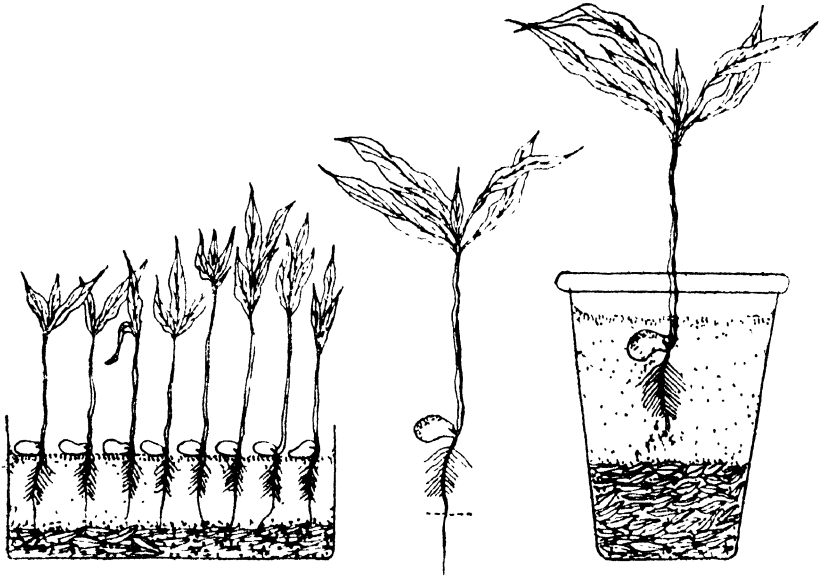
जाय। पक जाने पर उसे तोड़कर सड़ने के लिए रख देना चाहिए और जब फल पूर्णरूप से सड़ जाय तो गुठली बाहर निकाल लेनी चाहिए। अच्छी गुठली के चयन के लिए कई ऐसे फल लिये जाते हैं और उन्हें सडाया जाता है। जिस गुठली का आकार अच्छा और तौल अधिक होती है वही बोने योग्य होती है।

दक्षिण में गुठलियों को बीयड़ में लगाने का प्रचलन है। जब किशोर पौधे ८ माह की आयु के हो आते हैं तो उन्हें वहाँ से निकाल कर बर्तन में लगा दिया जाता है। गुजरात में भी यही विधि प्रयोग होती है किन्तु वहाँ किशोर पौधे १ वर्ष की आयु में बाहर निकाले जाते हैं और उनकी जड़ें भी कुछ अंश तक काट कर अलग कर दी जाती हैं। इन पौधों को फिर बर्तनों में रोप देते हैं किन्तु यह रोपाई केवल बरसात में ही करते हैं क्योंकि अन्य ऋतुओं में जड़ें शीघ्र मिट्टी नहीं पकड़तीं। बिहार के कुछ भागों में यह ढंग प्रचलित है कि आम की गुठलियाँ किसी स्थान पर ढेर रूप में एकत्र कर दी जाती हैं और फिर इस ढेर पर मिट्टी की एक पतली तह डाल दी जाती है। किन्तु यह विधि अच्छी नहीं क्योंकि उगते समय इनमें परस्पर भोजन के लिए संघर्ष होने लगता है जिसका परिणाम यह होता है कि किशोर पौधे बहुत दुर्बल हो जाते हैं और उनका आकार भी सीमित हो जाता है।

गुठलियाँ जब बीयड़ में लगाई जाती हैं तो बीयड़ के बनाने में कुछ सावधानियाँ रखी जाती हैं। बीयड़ का क्षेत्र अधिक बड़ा नहीं चाहिए क्योंकि छोटे क्षेत्र में पौधों के जमाव के लिए उत्तम प्रबन्ध किया जा सकता है। बीयड़ एक फुट गहरा बनाया जाता है और उसके पेंदे पर कुछ कंकड़-पत्थर के छोटे टुकड़े रखे जाते हैं। इसके ऊपर पत्तियों की खूब सड़ी खाद की ६″ मोटी तह डाल दी जाती है। यह खाद जमते हुए पौधों के लिए बहुत उपादेय होती है। इसे प्रायः लीफमोल्ड (leaf mould) के नाम से पुकारते हैं। इस तह के ऊपर गुठलियों की एक लम्बी संख्या एक पर्त में सजा दी जाती है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि आम की गुठली दूसरी गुठली पर न पड़ने पावे क्योंकि इससे जमाव अच्छा नहीं हो पाता। गुठलियों को रखने के पश्चात् इनके ऊपर लीफमोल्ड की ४″ मोटी तह डाल देते हैं। तदुपरान्त बीयड़ वैसे ही छोड़ दिया जाता है किन्तु उसे नम बनाये रखने के लिए पानी सदैव छिड़कते रहना आवश्यक होता है। ऐसा बराबर करते रहने से १५-२० दिनों के पश्चात् पौधे अंकुरित हो जाते हैं और इनमें लाल-लाल पत्तियाँ निकल आती हैं। जब ये पत्तियाँ गहरे हरे रंग में परिवर्तित हो जाती हैं तो किशोर पौधे बर्तन में लगाने योग्य हो जाते हैं। बहुधा यह समय बोने के एक माह पश्चात् आता है।

बीयड़ में कंकड़ डालने का यह अभिप्राय होता है कि पौधे की जड़ें अधिक गहराई तक नहीं जाने पावें। अधिक गहराई तक जाने पर इन्हें उखाड़ कर बर्तन

में लगाते समय यह भय बना रहता है कि जड़ें कहीं टूट न जायँ। किन्तु कंकड़ों के रखने से इस बात का बिल्कुल सन्देह नहीं रहता। टैप रूट जब कंकड़ों तक पहुँचती है तो वहाँ से सीधे न जाकर दूसरी ओर मुड़ जाती है। झकड़ा जड़ें भी यहीं पहुँचकर अपना बढ़ाव बन्द कर देती हैं और सहायक जड़ें निकालना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ से इन्हें साधारण झटके से ही बाहर निकाला जा सकता है और जड़ थोड़ा सा भी क्षतिग्रस्त नहीं होती। लीफमोल्ड जड़ के निकलने में बिल्कुल रुकावट नहीं डालती और पौधा गुठली सहित बाहर कर लिया जाता है। नीचे एक बीयड़ का नमूना और एक उत्तम पौधे का चित्र दिया जा रहा है।



चित्र १३—बीयड़ का नमूना और पौधे को गमले में लगाने की विधि

बीयड़ में से वे ही किशोर पौधे लिये जाते हैं जो देखने में होनहार हों, तने सीधे हों और जो स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट हों। ऐसे चुने हुए पौधे ही बर्तन में लगाने योग्य होते हैं। किन्तु यह विधि सर्वत्र प्रचलित नहीं है। अन्य स्थानों पर गुठलियाँ सीधे मिट्टी के घड़ों या बाँस के बर्तनों में लगा दी जाती हैं और इस प्रकार स्टाक पौधा तैयार किया जाता है।

गुठली या किशोर पौधा लगाने के पूर्व चुने हुए बर्तन के पेंदे में १″ व्यास का छिद्र कर दिया जाता है। यह छिद्र बर्तन में जल-निकास के मतलब से बनाया जाता है क्योंकि इसमें अधिक पानी के बाहर निकलने का कोई अन्य मार्ग नहीं होता है। किन्तु छिद्र के ऊपर मिट्टी का बोझ रखने से उसके फट जाने का भय रहता है। इसके बचाव के लिए छिद्र के ऊपर दो-एक टूटे-खपड़े रख देते हैं। इनके रखने से

छिद्र के ऊपर बल नहीं पड़ने पाता। किन्तु खपड़ों के रखने के समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि छिद्र बन्द न होने पावे। जल-निकास के समुचित प्रबन्ध के लिए खपड़ों के ऊपर कुछ सूखी पत्तियाँ या कपड़े के चिथड़े रख दिये जाते हैं। पत्तियाँ या चिथड़े बर्तन में रखी गई मिट्टी में खाद देने के अभिप्राय से नहीं रखे जाते अपितु इनसे मिट्टी के पानी के रिसने में सुविधा होती है। जब बर्तन में इस प्रकार का प्रबन्ध कर दिया जाता है तो अब उसे पौधा लगाने योग्य बनाने के लिए निम्नलिखित रूप से भरना प्रारम्भ करते हैं—(१) बर्तन की गहराई का तीन-चौथाई भाग कम्पोस्ट से भर दिया जाता है। कम्पोस्ट में आधा भाग पूर्णरूपेण सड़े गोबर की खाद का और आधा भाग उद्यान की मिट्टी का होता है। उद्यान की मिट्टी बहुधा दोमट होती है जो किशोर पौधे के बढ़ाव के लिए बहुत उपयोगी होती है। चिकनी मिट्टी इस कार्य के लिए बिल्कुल निरर्थक होती है क्योंकि इसमें पौधे के बढ़ाव के अधिकांश आवश्यक गुण अनुपस्थित होते हैं। (२) आठ अंश लाल मिट्टी (जहाँ सुलभ हो), आठ अंश लीफमोल्ड और एक अंश बालू। या (३) दो अंश अलुवियल मिट्टी (जो नदी के किनारे सुलभ हो सकती है) दो भाग लीफमोल्ड और एक अंश बालू या ईंट का चूरा। इन तीनों ढंगों में से किसी भी ढंग से बर्तन भरा जा सकता है किन्तु प्रत्येक ढङ्ग में इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि बर्तन का मिश्रण ऐसा हो कि उसमें पौधे की जड़ें शीघ्रता से बढ़ सकें और पौधा भी अत्यधिक भोजन प्राप्त कर सके। उन स्थानों पर जहाँ प्रति वर्ष बहुसंख्यक गुठलियाँ अंकुरित की जाती हैं और अनेक किशोर पौधे तैयार किये जाते हैं, वहाँ इस प्रकार के मिश्रण संचित किये रहते हैं और उनसे आवश्यकता के समय काम लिया जाता है।

बर्तन में मिश्रण इस हिसाब से भरते हैं कि ऊपर १″ ऊँचाई का स्थान रिक्त रहे ताकि उसमें आवश्यकतानुसार पानी भरा जा सके। प्रत्येक बर्तन में दो या तीन गुठलियाँ १″ गहराई पर लगा दी जाती है। गुठलियाँ बर्तन के केन्द्र में नहीं लगाई जातीं अपितु थोड़ा किनारे की ओर हटा कर लगाई जाती हैं। गुठली लगाने के पश्चात् बर्तन की मिट्टी ऊपर से भली-भाँति दबा दी जाती है। बर्तन की मिट्टी को सदैव नम बनाये रखने के लिए सिंचाई करते रहना चाहिये। जब बर्तन में बीयड़ के अंकुरित पौधे लगाने हों तो इन्हें लगाने के पूर्व मूसला जड़ का अन्तिम सिरा जो पौधों के बढ़ाव में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं करता तोड़ कर पौधे से निकाल दिया जाता है। पौधे के इस समय के सबसे मुख्य अंग झकड़ा जड़ें और गुठली की दालें होती हैं। दालें किशोर पौधों की भोजन-पूर्ति करती हैं और इस प्रकार उसके बढ़ाव में योग देती हैं। किशोर पौधे को बर्तन में लगाते समय केन्द्र में रखते हैं और

इस बात का ध्यान रखते हैं कि पौधा टेढ़ा न होने पावे। पौधा बर्तन में अधिक गहराई पर नहीं गाड़ा जाता अपितु इसे इस प्रकार गाड़ना चाहिए कि वह स्थान जहाँ से जड़ें निकलना प्रारम्भ होती हैं, मिट्टी के धरातल से ½" नीचे हो। पौधा लगाने के उपरान्त बर्तन की मिट्टी भली-भाँति दबा दी जाती है किन्तु पौधे की जड़ों के निकट हल्के रूप में दबाई जाती है ताकि जड़ों पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। जब इतना कार्य समाप्त हो जाता है तो पौधे की सिंचाई कर देते हैं। बर्तन में पानी देने की नाप यह है कि उसमें उतनी देर तक पानी दिया जाय जब तक कि छिद्र से पानी बाहर न निकलने लगे।

आम का बीज उपयुक्त दशा में १५-२० दिनों में अंकुरित हो जाता है। इसमें अंकुरण शक्ति २०-३० दिन तक रहती है। अतः फल से निकलने के पश्चात् गुठली शीघ्र-से-शीघ्र बो दी जाती है अथवा उत्पादन शक्ति समाप्त हो जाने पर उसके बोने से कुछ लाभ नहीं होता। प्रायः गुठली बरसात के प्रारम्भ में बोयी जाती है जिससे पौधा बरसात समाप्त होते-होते विशेष हृष्ट-पुष्ट हो जाय। यदि गुठलियाँ सीधे बर्तन में बोयी गई हैं तो उन्हें उस समय तक वैसे ही पड़े रहने देना चाहिए जब तक कि पौधे की लाल कोमल पत्तियाँ हरी-कड़ी न हो जायँ। जब पत्तियाँ गहरी हरी हो जायँ तो उनमें से सबसे होनहार और हृष्ट-पुष्ट पौधों को चुन कर शेष निकाल कर बाहर कर देना चाहिए।

पौधे बर्तन में लगाने के पश्चात् छायेदार स्थान में रखे जाते हैं ताकि उन्हें अधिक धूप न मिल सके। अधिक धूप लगने से सुकुमार पौधे मुर्झा जाते हैं। मुर्झाने से उनके बढ़ाव में काफी समय लगता है। पौधे को कड़ी धूप से लगभग एक वर्ष तक बचाया जाता है क्योंकि इस अवधि तक पौधे कलम करने योग्य हो जाते हैं। हर पन्द्रहवें दिन पौधे के मिट्टी की गुड़ाई भी कर दी जाती है।

सिंचाई—बर्तन जिन्हें गमले के नाम से पुकारा जाता है कतारों में रखे जाते हैं। कतारों में रखने से प्रत्येक कार्य में सुविधा होती है। पौधों के उपयुक्त बढ़ाव के लिए सिंचाई करना आवश्यक होता है। सिंचाई करने का प्रचलित ढङ्ग गमलों में हाथ से पानी देने का है। इसमें एक प्रकार का विशेष बर्तन प्रयुक्त होता है जिसे हजारा कहते हैं। इसमें पानी लेकर गमले भर दिये जाते हैं। कभी-कभी घड़ों आदि द्वारा भी सिंचाई करते हैं किन्तु इससे गमलों की मिट्टी के कटने का भय रहता है। इस बात से सदैव सावधान रहना चाहिए कि गमलों की मिट्टी न कटने पाये क्योंकि इससे पौधों की अभिवृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि मिट्टी किन्हीं कारणों से कभी कट जाय तो शीघ्र ही उसकी पूर्ति कर देनी चाहिये। हाथ से सिंचाई करने पर प्रति मास बर्तन नये सिरे से भरा जाता है। यदि यह सम्भव न हो तो इस बात से

सदैव सचेष्ट रहना चाहिये कि गमलों की मिट्टी इतनी न कट जाय कि किशोर स्टाक पौधे की जड़ें दिखलाई पड़ने लगें। एक व्यापारिक फलोत्पादन के लिए यह ढङ्ग उत्तम नहीं जान पड़ता क्योंकि इस प्रकार की सिंचाई लगभग प्रति दिन करनी पड़ती है। इसमें परिश्रम और धन भी प्रचुर मात्रा में व्यय हो जाता है। गमलों की सिंचाई के इस ढङ्ग के दोषों को ध्यान में रखते हुए एक अन्य विधि निकाली गई है। इस विधि में एक लम्बी छिछली नाली बनाई जाती है जिसकी गहराई लगभग ८" रखी जाती है। गमले की नाली में सूखी पत्तियाँ बिछा कर उसके ऊपर रखे जाते हैं। दो गमलों के मध्य रिक्त स्थानों में भी सूखी पत्तियाँ भर देते हैं। नालियाँ प्रति आठवें दिन पानी से लबालब भर दी जाती हैं। जब नाली पानी से भरी होती है तो गमले, उनकी मिट्टी और नीचे तथा आस-पास रखी गई पत्तियाँ पानी की अत्यधिक मात्रा शोषित कर लेती हैं। पत्तियाँ पानी शोषित कर गमले को नम बनाये रखती है और इससे देखा गया है कि किशोर पौधे का बढ़ाव बहुत अच्छा होता है। इस विधि में दूसरी पारी के पूर्व सिंचाई करने की कोई आवश्यकता भी नहीं होती और परिश्रम तथा व्यय भी अधिक नहीं लगता। गमले की मिट्टी के कट कर बह जाने का कोई भय नहीं रहता।

खाद देना—गमले में उपयुक्त खाद देने से पौधों के बढ़ाव पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि गमले की मिट्टी में पौधे के लिये आवश्यक किसी तत्व का अभाव है तो उसकी पूर्ति शीघ्र-से-शीघ्र करनी चाहिए। गमलों में खादें प्रायः द्रव रूप में देने पर अधिक प्रभाव दिखलाती हैं। नीचे कुछ द्रव खाद के मिश्रण दिये जाते हैं :—

ताजा गोबर आठ गुने पानी में मिलाकर कपड़े से छान लिया जाता है और रेशेदार अंश बाहर निकाल कर फेंक दिया जाता है। द्रव पदार्थ गमले में डाल देते हैं। अथवा पशु-मूत्र तीन गुने पानी में मिलाकर पौधों को दिया जाता है। कभी-कभी इन कार्बनिक खादों के अतिरिक्त पौधों को अकार्बनिक खादें भी दी जाती हैं। अकार्बनिक खादों में अमोनियम सल्फेट अत्यन्त उपयोगी फर्टिलाइजर है। यह गमलों में नमी की उपस्थिति में दिया जाता है। किन्तु द्रव अवस्था में देने के लिए इसे पानी में घुलाया जाता है और दोनों का मिश्रण तैयार कर लिया जाता है। मिश्रण में फर्टिलाइजर और पानी दोनों एक निश्चित परिमाण में मिलाये जाते हैं। प्रायः एक मुट्ठी फर्टिलाइजर २½ गैलन पानी में घोला जाता है। यह मिश्रण किशोर पौधों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।

स्टाक पौधे के तैयार करने में इस बात से सदैव सचेष्ट रहना चाहिए कि गमला या बर्तन जिसमें पौधा उगाया गया है, एक ही स्थान पर न रहने दिया जाय।

इसे दो माह की अवधि में एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर कर देना चाहिए। यह स्थानान्तरण इसलिए किया जाता है कि एक ही स्थान पर रखे रहने से किशोर पौधों की निरन्तर बढ़ने वाली जड़ें गमले के पेंदे के छिद्र से पार होकर भूमि में चली जाती हैं और यदि उसके बढ़ाव में. कोई विघ्न नहीं पड़ता तो जड़ें अपना पूरा जाल फैला लेती हैं। ऐसा होने से कलम के समय बहुत कठिनाई उपस्थित हो जाती है क्योंकि बिना जड़ें निकाले कलम की क्रिया नहीं की जा सकती। जड़ें निकालते समय भी उनके टूट जाने का भय रहता है जिससे फलोत्पादक को अपने कार्य में सफलता नहीं मिल पाती। अतः इस कठिनाई से बचने के लिए बर्तन को एक स्थान पर कदापि नहीं रहने देना चाहिए। दूसरी ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि किशोर पौधे पर अधिक शाखाएँ या कलियाँ नहीं निकलने देना चाहिए। पौधे में अगल-बगल की जितनी भी शाखाएँ या टहनियाँ हों उन्हें तोड़कर फेंक देना चाहिए। उनके रहने से यह हानि होती है कि वे पौधे पर रह कर उसके भोजन-अंश में भाग लेते हैं, इससे मुख्य शाखा पूरा भोजन नहीं प्राप्त कर पाती। तोड़ देने से यह अवसर ही समाप्त हो जाता है और मुख्य शाखा के भोजन के लुटने का भय नहीं रहता।

इनार्चिंग के लिए स्टाक पौधे की आयु—एक होनहार स्टाक पौधा किसी भी समय कलम किया जा सकता है किन्तु यदि यह कलम एक निश्चित अवधि के भीतर होती है तो अधिक सफलता की आशा रहती है। प्राय: यह अवधि तीन सप्ताह से तीन वर्ष तक की होती है। वेस्टर (Wester) के अनुसार फिलिपाइन द्वीप समूह में स्टाक पौधे के कलम करने की अवस्था तीन सप्ताह की होती है और इनका जोड़ लगभग १ माह में पूर्ण हो जाता है। किन्तु यह आयु सभी स्थानों पर नहीं होती। चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार यह आयु १२ माह से १५ माह की होनी चाहिए जबकि पौधे की ऊँचाई भूमि के धरातल से ६″ से ८″ की हो जाय और मोटाई पेन्सिल की मोटाई के बराबर या एक सेन्टीमीटर व्यास की रहे। सोहराब और गांधी ने यह आयु लगभग एक वर्ष बताई है जब कि पौधों की ऊँचाई १½ फी० और मोटाई ¼″ से ½″ हो जाय। चीमा, भट्ट और नायक ने अपनी पुस्तक 'Commercial fruit of India' पृष्ठ ६० में कहा है, "आम की बेड़ तैयार करने वाले व्यापारी अधिक आयु वाली और मोटी स्टाक की कलम करते हैं। वे सायन भी बहुत लम्बी प्रयोग करते हैं और बिक्री के लिए बहुत लम्बी कलम तैयार करते हैं क्योंकि इससे अधिक लाभ की आशा रहती है। बिहार और कोदूर (मद्रास) में किये गये प्रयोगों से यह विदित हुआ है कि कलम की क्रिया तीन माह से १२ माह तक वाले स्टाक पौधे पर सफलतापूर्वक की जा सकती है। बहुत कम आयु वाले

स्टाक पौधे की कलम करने पर उन्हें बीयड़ में अधिक दिनों तक रखा जाता है ताकि वे पूर्ण विकसित हो जायँ। पूर्ण विकास होने पर उन्हें उद्यान में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। कोदूर (मद्रास) में किये गये प्रयोगों से, जिनमें विभिन्न मातृ-पौधों से किशोर पौधे तैयार किये गये थे, विदित हुआ है कि विभिन्न मातृ पौधों के किशोर पौधे बीयड़ में एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं, इनके बढ़ाव की गति में विशेष अन्तर होता है। इससे उपयुक्त मातृ बीज चुनने से बोने के दिन से लेकर कलम करने योग्य होने तक की अवधि के भिन्न होने का सन्देह होता है। यह सन्देह विशेषकर पालीइम्ब्रियानिक आम की जाति में अधिक हो जाता है।"

इनार्चिंग की ऋतु—प्रायः इनार्चिंग की क्रिया उस समय की जाती है जब कि वृक्ष के तन्तुओं के सैप का बहाव तीव्र गति से होता है। इस बहाव से वृक्षों में नया जोश रहता है। इस समय यदि तने पर कहीं घाव हो जाता है तो उसके भरते देर नहीं लगती। चूँकि कलम करने से पौधे में एक प्रकार का घाव हो जाता है अतः इस समय इसके भरने में समय नहीं लगता और जोड़ शीघ्र ही पूरा हो जाता है।

इनार्चिंग पर मौसम का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। उपयुक्त मौसम में कलम की क्रिया में अधिक सफलता मिल पाती है। किन्तु प्रतिकूल मौसम के होने पर कलम के असफल हो जाने की आशंका रहती है। शुष्क और गर्म या अतिवृष्टि का समय इनार्चिंग के लिए उचित नहीं पड़ता क्योंकि ऐसे समय में न तो जोड़ ही शीघ्र पूर्ण होता है और न कलम में ही अधिक सफलता की सम्भावना होती है। मानसून के प्रारम्भ और समाप्ति का काल इनार्चिंग की क्रिया के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है क्योंकि इस समय वर्षा बहुत हल्की होती है। उत्तर भारत में ग्रीष्म और सर्द ऋतु में इनार्चिंग नहीं की जाती। इसके लिए वर्षा ऋत का प्रारम्भिक काल ही अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि इस समय वातावरण समशीतोष्ण रहता है और वायु भी अधिक नम रहती है। बंगाल, मलाबार, त्रावणकोर-कोचीन में, जो अधिक वर्षा वाले प्रदेश हैं, इनार्चिंग की क्रिया दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के समाप्त होने पर की जाती है। दक्षिणी भारत में चूँकि दो मानसून हवाओं से वर्षा होती है इसलिए वहाँ वर्षा की ऋतु काफी लम्बी होती है और यही कारण है कि इनार्चिंग की क्रिया जुलाई से फरवरी तक की अवधि में किसी भी समय की जा सकती है। मध्य भारत, दक्षिणी हैदराबाद, बम्बई, सौराष्ट्र में इनार्चिंग की क्रिया का समय जुलाई से अक्टूबर तक उपयुक्त होता है।

इनार्चिङ्ग करने का ढङ्ग—जब स्टाक पौधा उपयुक्त आयु का हो जाता है तो इनार्चिंग की क्रिया प्रारम्भ की जाती है। इनार्चिंग के लिए चुने गये पौधे का स्वस्थ और होनहार होना आवश्यक होता है। बीयड़ में तैयार ऐसे प्रत्येक स्टाक

पौधे के लिए एक-एक सायन के चुनने में इस बात से काफी सतर्क रहना चाहिए कि इसकी मोटाई चुने हुए स्टाक पौधे से कुछ कम या उसके बराबर हो किन्तु उससे अधिक न हो। इसकी आयु लगभग एक वर्ष और लम्बाई दो फीट होनी चाहिए। साधारणतया स्टाक और सायन दोनों की लम्बाई, मोटाई और आयु समान ही रखी जाती है अन्यथा कलम स्वस्थ नहीं हो पाता। सायन उसी मातृ-पौधे से लिया जाता है जिसकी जाति कलम के लिए उपयुक्त हो। अज्ञात जाति का सायन कदापि नहीं लिया जाता। अच्छा हो, यदि सायन मातृ-वृक्ष की अन्तिम टहनी हो।

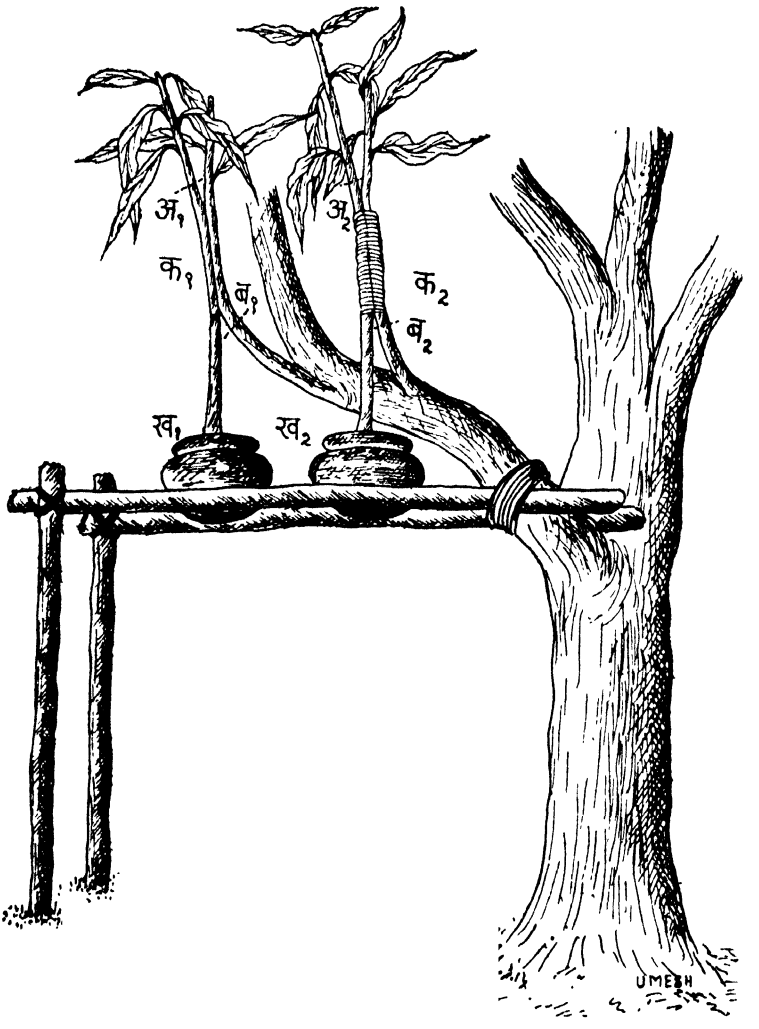
सायन प्राप्त करने के लिए भी ऐसे ढंग प्रयोग किये जाते हैं जिनमें अधिक-से-अधिक सायन प्राप्त हो सकें। इसके लिए कलम करने के पूर्व ही सायन वृक्ष उगा लिये जाते हैं ताकि रूट स्टाक (root stock) के तैयार होने तक इनमें प्रचुर शाखाएँ और टहनियाँ निकल आवें। सायन वृक्ष इस प्रकार लगाये जाते हैं कि उनके बीच बहुत कम दूरी रहती है क्योंकि इससे वृक्ष में अधिक शाखाएँ आती हैं। जब इन वृक्षों की आयु लगभग ५--६ वर्ष की हो जाती है तो ये कलम में प्रयोग किये जाने लगते हैं। पहली बार वृक्ष में जितने भी सायन प्रयोग करने योग्य होते हैं उन्हें ले लिया जाता है। तत्पश्चात् वृक्ष में जितनी भी मुख्य शाखाएँ होती हैं उनके सिरे काट कर फेंक दिये जाते हैं। सिरे काटने में इस बात से सावधान रहना चाहिए कि कटे सिरों की पृथ्वी के धरातल से ऊँचाई ५ फीट से अधिकान हो। काटने के पश्चात् इस स्थान से अनेक टहनियाँ निकलना प्रारम्भ होती हैं जिन्हें आवश्यक मोटाई तक पहुँच जाने पर इनार्चिंग में प्रयोग किया जाता है। जब ये सायन प्रयुक्त हो जाते हैं तो दूसरी टहनियाँ इस स्थान से फिर निकलना प्रारम्भ होती हैं और भविष्य में यह क्रम चलता रहता है। किन्तु एक ही वृक्ष से नव अंकुर बराबर नहीं लिये जा सकते क्योंकि प्रत्येक वृक्ष में कोपलें पैदा करने की एक निश्चित आयु होती है। जब यह आयु व्यतीत हो जाती है तो इनार्चिंग के दृष्टिकोण से उस वृक्ष की उपयोगिता ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार एक ही वृक्ष से अनेक स्टाक पौधे कलम किये जा सकते हैं। कभी-कभी वृक्ष की समस्त शाखाएँ और टहनियाँ एक ही समय न काट कर बारी-बारी काटी जाती हैं। एक बार एक शाखा काटी गई तो दूसरी बार अन्य शाखा। इस विधि में वृक्ष से सायन लगातार प्राप्त किये जा सकते हैं और कलम किसी भी ऋतु में की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार से सायन प्राप्त करने में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि उस वृक्ष से फल कदापि नहीं प्राप्त किये जा सकते क्योंकि उसे पल्लवित और पुष्पित होने का कभी अवसर ही नहीं मिल पाता। चूँकि

वृक्ष से फल नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसलिए सायन की उत्पादन-शक्ति अज्ञात होती है जिससे कलम की सफलता में भी सन्देह हो जाता है।

इनार्चिंग की सुविधा के लिए सायन वृक्ष के निकट एक मंच बनाया जाता है जिस पर स्टाक पौधे गमले सहित रखे जाते हैं। मंच की ऊँचाई इस हिसाब से रखी जाती है कि स्टाक पौधा सायन के सन्निकट पहुँच जाय ताकि कलम की क्रिया में भी कोई कठिनाई न हो।

दक्षिण भारत में सायन वृक्ष तैयार करने का एक नया ढंग प्रयोग किया जाता है। सायन वृक्ष पास-पास लगभग १०—१२ फी० की दूरी पर लगाये जाते हैं। जब ये एक विकसित आयु पर पहुँच जाते हैं तो इनकी शाखाओं के सिरों की खुँटाई करना प्रारम्भ कर देते हैं। यह खुँटाई एक निश्चित समय के अन्तर पर की जाती है ताकि सिरों से फुनगियों के निकलने को काफी समय मिले। फुनगियाँ सिरे के चारों ओर पैदा होती हैं और सायन तैयार करती हैं। इन सायनों से जब कलम करना प्रारम्भ करते हैं तो सर्वप्रथम निंचला सायन काम में लाया जाता है। इस विधि से कम समय में ही अधिक-से-अधिक सायन तैयार किये जा सकते हैं। इस प्रकार तैयार किये गये सायन से इनार्चिंग करने पर कलम पौधा लगभग एक या दो माह में ही मातृ वृक्ष से पृथक् किया जाता है और अधिक लाभ के लिए बाजारों में बेचा जाता है।

इनार्चिंग के लिए प्रत्येक गमले के हेतु एक-एक उपयुक्त सायन चुना जाता है और तब दोनों को दो स्थानों पर इस प्रकार बाँध दिया जाता है कि कलम करने में सरलता हो जाती है। सायन शाखा सर्वप्रथम नीचे की ओर झुकाई जाती है और तब ऊपर की ओर उठा दी जाती है ताकि धनुष का आकार आ जाय। इसे धनुषाकार बनाने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि इसमें अधिक मोड़ न आने पावे। अधिक मोड़ आने पर इसके टूटने का भय रहता है। मोड़ कर इसे स्टाक पौधे से बाँध देते हैं जो मंच पर रखा रहता है। स्टाक पौधे का गमला मंच पर केवल इसलिए रखा जाता है कि वह सायन शाखा के स्तर पर आ जाय। स्टाक और सायन दोनों उन्हीं स्थानों पर बाँधे जाते हैं जहाँ वे काफी सन्निकट आ जाते हैं। बाँधने के पश्चात् लगभग १० दिनों तक इन्हें इसी अवस्था में छोड़ देते हैं और उस समय तक नहीं खोलते जब तक कि कलम की क्रिया समाप्त न हो जाय। इनार्चिंग की यह पहली क्रिया है जिसे नीचे के चित्र में और भी स्पष्ट किया गया है।

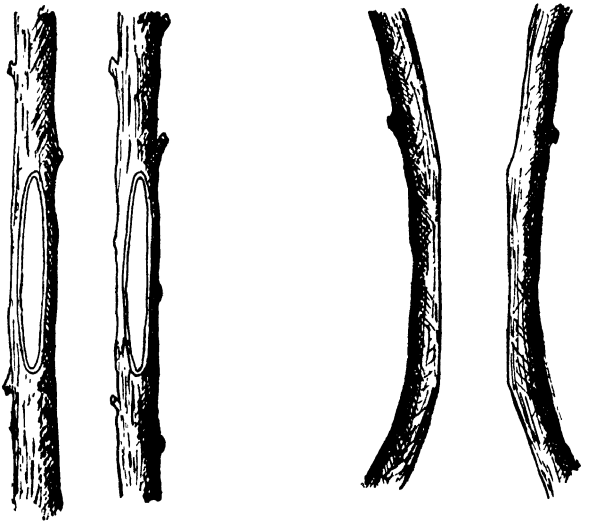


चित्र १४—इनार्चिङ्ग कलम

$क_१$—सायन शाखा, $ख_१$—स्टाक पौधे का गमला, $अ_१$—स्थान जहाँ से स्टाक पौधा पृथक् कर दिया जायगा, $ब_१$—स्थान जहाँ से सायन मातृ वृक्ष से पृथक किया जायगा।

$क_२$—बाँधने के पश्चात् कलम पौधा, $ख_२$—स्टाक पौधा, $अ_२$—स्थान जहाँ से स्टाक पौधा पृथक् होगा, $ब_२$—स्थान जहाँ से सायन शाखा मातृ वृक्ष से पृथक् होगी।

स्टाक और सायन की बँधाई के १० दिन पश्चात् कलम करने वाले एक तेज़ चाकू की सहायता से दोनों में से एक पतला कतरा काट लेते हैं। यह कतरा लगभग २″ लम्बा, $\frac{1}{8}$″—$\frac{1}{5}$″ चौड़ा और $\frac{1}{12}$″ गहरा होता है। प्रायः इसकी गहराई स्टाक या सायन के मोटाई की तिहाई होती है। कतरे काटने में इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि स्टाक का कतरा सायन के कतरे के बिल्कुल समान हो। इनकी लम्बाई और चौड़ाई में थोड़ा भी अन्तर नहीं रहना चाहिए। यदि पौधा $\frac{1}{8}$″ - $\frac{1}{2}$″ व्यास की मोटाई का हो तो उसके कतरे की गहराई $\frac{1}{12}$″ रखी जाती है, किन्तु यदि पौधा अधिक मोटा हुआ तो कतरे की गहराई उसी के अनुपात में बढ़ा दी जाती है। पतला हुआ तो घटा दी जाती है। कतरा चौड़ा, चिकना, साफ और बराबर होना चाहिए। यह एक ओर को झुका हुआ काटा जाता है और एक ओर जिधर सिरा होता है, ढाल बना देते हैं। कतरे में कोण नहीं बनना चाहिए क्योंकि ऐसा होने से दोनों कतरे ठीक से नहीं मिल पाते। दोनों को एक दूसरे से पूर्ण-रूपेण मिल जाने के लिए कतरे आमने-सामने काटे जाते हैं और दोनों को परस्पर इस प्रकार मिलाया जाता है कि मिलाने में कहीं कोई रिक्त स्थान न छूटने पावे। कतरे काटने में नीचे के चित्र से सहायता मिल सकती है।



चित्र १५—स्टाक पौधे का कटाव। सामने का चित्र बगल का चित्र

जब सायन और स्टाक दोनों आपस में भली भाँति मिला दिये जाते हैं तो उन्हें केला की छाल के टेप से मजबूती से बाँध दिया जाता है। केला की छाल से बाँधने का अर्थ यह होता है कि किशोर स्टाक पौधे और सायन की कोमल छाल पर कोई

स्टाक पौधे को सायन शाखा तक पहुँचने के लिए कुछ कृत्रिम ढंग अपनाये जाते हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया है, कहीं-कहीं ऊँचे-ऊँचे मंच बनाये जाते हैं और गमले उन्हीं पर रख दिये जाते हैं। किन्तु मंच बनाने में बाँस और लकड़ी की आवश्यकता है, अतः यह ढंग व्ययशील (खर्चीला) पड़ता है और श्रम भी अधिक लगता है। व्यय से बचने के लिए कभी-कभी स्टाक पौधे का गमला निकट की शाखा में दृढ़तापूर्वक बाँध दिया जाता है। किन्तु ऐसी शाखाएँ प्रत्येक वृक्ष में नहीं मिलतीं। गमला रखने का एक आधुनिकतम ढंग निकाला गया है जिसमें न तो अधिक व्यय होता है और न अधिक श्रम ही। कोई अन्य कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ती। इसमें लोहे के लम्बे-लम्बे स्टैण्ड तैयार किये जाते हैं और इन्हें जहाँ आवश्यकता होती है लगा दिया जाता है। स्टैण्ड का ऊपरी सिरा इस प्रकार बना होता है कि उस पर गमले सरलतापूर्वक रखे जा सकें। ये स्टैण्ड भिन्न-भिन्न



चित्र १८—दो स्टाक पर कलम

ऊँचाई के होते हैं जिससे इन्हें जैसी ऊँचाई की आवश्यकता हो लगाया जा सके। स्टैण्ड में मजबूती लाने के लिए इसे निकट की शाखा का अवलंबन दिया जाता है और उसी में इसे कस दिया जाता है। यह स्टैण्ड किसी भी धातु का बनाया जा सकता है। मद्रास में कोदूर फार्म पर यह स्टैण्ड अधिकता से प्रचलित है। कुछ फार्मों पर जहाँ लाभ के उद्देश्य से तैयार किये जाते हैं, नाटे सायन वृक्ष पैदा किये जाते हैं। ऐसे वृक्षों में गमले को ऊपर उठाने का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता क्योंकि सायन पृथ्वी की धरातल पर रखे स्टाक पौधे तक सरलतापूर्वक लाया जा सकता है।

हमारे यहाँ व्यापारिक दृष्टिकोण से इनार्चिंग ही ऐसी वानस्पतिक प्रजनन की विधि है जो अधिकतर प्रयोग की जाती है। यदि इनार्चिंग सफलतापूर्वक किया जाता है तो कलम अच्छी बन पाती है किन्तु थोड़ी सी असावधानी भी इसे असफल बना सकती है। एक अनुभवी माली जो प्रति वर्ष इनार्चिङ्ग द्वारा कलम तैयार करता है इस कार्य में सिद्धहस्त हो जाता है और तब उसे असफलता बहुत कम प्रतिशत में मिल सकती है। कलम की सफलता में मौसम और स्टाक तथा सायन की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है किन्तु नया व्यक्ति जिसे इनार्चिंग का कम अनुभव होता है, बहुत कम प्रतिशत में सफल हो पाता है। एक त्रुटि जो साधारणतया हो जाती है सायन के ऊपरी सिरे का नीचे हो जाना है। इससे माली को सावधान रहना चाहिए। एक सफल उत्पादक बनने के लिए कलम की क्रिया और शैली का ज्ञान रखना आवश्यक है। किन्तु जिन स्थानों पर तैयार कलम बेचे जाते हैं वहाँ पहचान आवश्यक होती है। अच्छे कलम की पहचान के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :

१. कलम में स्टाक और सायन की मोटाई लगभग समान होनी चाहिए। यदि सायन स्टाक से थोड़ा पतला है तो ठीक है किन्तु यदि मोटा है तो इसे कदापि नहीं खरीदना चाहिए।

२. कलम में स्टाक और सायन का जोड़ पूर्ण होना चाहिये।

३. यह जोड़ यदि स्टाक पौधे के उस स्थान से, जहाँ से जड़ निकलना प्रारम्भ होती है, ६″ ऊपर है तो कलम खरीदने योग्य होती है।

४. स्टाक पौधे का ऊपरी सिरा कटा होना चाहिये। ऊपरी सिरे के कटे न होने पर कभी-कभी धोखा हो जाता है।

५. जोड़ के ऊपर बाँधी गई रस्सी के काटने में यदि जोड़ का भी ऊपरी भाग थोड़ा-बहुत कट गया है तो ऐसी कलम उत्पादक के लिए उपयुक्त नहीं पड़ती।

६. सायन शाखा उत्तम जाति के वृक्ष से ली गई होनी चाहिए क्योंकि कलम की सफलता इस पर भी निर्भर करती है।

७. सायन शाखा में हरी-भरी अनेक स्वस्थ पत्तियाँ उपस्थित होनी चाहिए।

८. कलम सीधा होना चाहिए। टेढ़ी कलम टेढ़ा वृक्ष तैयार करती है।

९. कलम के सिरे के अनुसार ही उसकी जड़ का भी होना आवश्यक होता है क्योंकि यदि कलम हरी-भरी और जड़ें दुर्बल हैं तो कलम अच्छी नहीं होती।

१०. एक गमले में एक ही कलम होना चाहिये क्योंकि अधिक कलमें तैयार करने पर वे दुर्बल हो जाती हैं।

इनार्चिंग कलम तैयार करने का बहुत सस्ता ढंग है और बहुधा व्यापारिक ढंग पर कलम करने में यही विधि काम में लाई जाती है। किन्तु यह बहुत व्ययशील विधि है क्योंकि यह वहीं सम्भव हो सकती है जहाँ सायन प्राप्त करने के लिए उपयुक्त वृक्ष भी उपलब्ध हों। एक वृक्ष से जितने सायन प्राप्त किये जा सकते हैं उससे कहीं अधिक कलियाँ और इस प्रकार इन कलियों से अपेक्षाकृत अधिक कलमें तैयार की जा सकती हैं। इस विधि में यदि पानी का उत्तम प्रबन्ध नहीं हुआ तो हाथ से सिंचाई करनी पड़ती है जिससे व्यय और श्रम दोनों अधिक लगता है। इसमें पौधे की देख-भाल लगभग तीन वर्ष तक करनी पड़ती है और तब कहीं कलम तैयार हो पाती है। इसके अतिरिक्त इस कलम में स्टाक और सायन के जोड़ के छोड़ने का भी भय रहता है।

क्लेफ्ट (Cleft) या वेज (Wedge) विधि

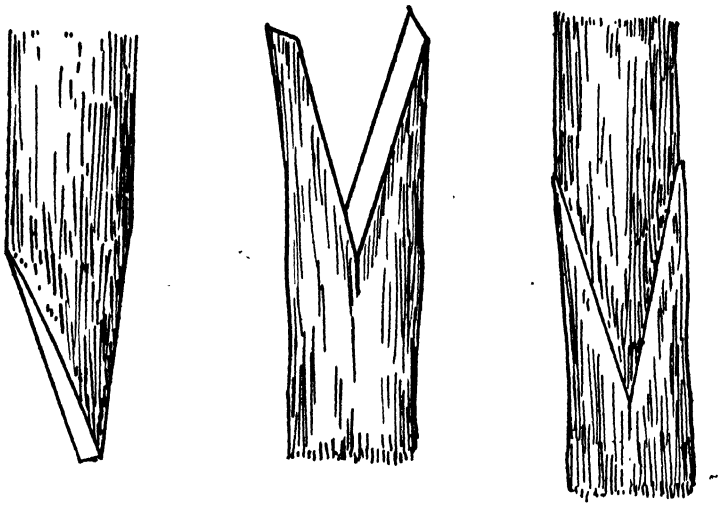
कलम करने की यह विधि आम में अधिक प्रचलित है। हमारे देश में भी दक्षिण भारत में कई स्थानों पर इसे काम में लाया जाता है। सलेम और चित्तौड़ जिले में इस विधि का अधिक प्रचलन है। वहाँ सर्वप्रथम आम की गुठलियाँ तैयार की जाती हैं और उन्हें बीयड़ में उगाया जाता है। जब पौधे कलम करने योग्य हो जाते हैं तो उन्हें बीयड़ से निकाल कर गमलों में लगा दिया जाता है, जैसा कि हमने इनार्चिंग विधि में भी देखा था। किशोर पौधे बीयड़ से उस समय निकाले जाते हैं जब कि कलम करने में कुछ माह की देरी हो। कलम के लिए प्रायः एक से दो वर्ष की आयु वाले किशोर पौधे प्रयुक्त होते हैं किन्तु कुछ माली तीन-चार वर्ष की आयु वाले स्टाक पौधे भी प्रयोग करते हैं। ऐसा केवल उसी समय किया जाता है जब कि क्रेता की माँग होती है।

क्लेफ्ट कलम की क्रिया सम्पादित करने के लिए स्टाक पौधे का गमला सायन वृक्ष के सन्निकट लाया जाता है। सन्निकट लाने पर स्टाक पौधे में एक कटाव तैयार किया जाता है। यह कटाव स्टाक पौधे में गमले की मिट्टी की धरातल से ९″ से लेकर २४″ की ऊँचाई तक काटा जाता है। काटने के लिए बहुत तेज चाकू प्रयोग किया

जाता है। कटाव इस प्रकार किया जाता है कि चाकू स्टाक में २-२½" गहराई तक जाता है और फिर छाल और कुछ लकड़ी लिये हुए शीघ्रता से ऊपर खींच लिया जाता है ताकि कटाव के दो किनारे बन जाते हैं। पहला किनारा, जहाँ चाकू पहले लगाया गया था कम ढालू होता है, और क्रमशः गहराई की ओर चला जाता है किन्तु दूसरा किनारा अधिक ढालू बनाया जाता है। यह जहाँ समाप्त होता है वहाँ कटाव की गहराई ½" लकड़ी की धरातल से केवल ½" — ¾" होती है। जब स्टाक पौधे का कटाव पूर्ण हो जाता है तो ठीक इसी प्रकार का कटाव सायन शाखा में भी करते हैं और इसके पूर्ण हो जाने पर दोनों को परस्पर इस प्रकार मिलाते हैं कि एक का कटाव दूसरे को भलीभाँति ढँक ले। स्टाक और सायन मिलाने के पश्चात् दृढ़तापूर्वक बाँध दिये जाते हैं ताकि इनके पृथक् होने की सम्भावना न रहे। बाँधने के पश्चात् जोड़ के ऊपर उसी प्रकार लेप कर दिया जाता है। जैसा कि इनार्चिंग विधि में किया गया था। लेप करने के पश्चात् कलम बिना छेड़-छाड़ किये छोड़ दी जाती है। आवश्यकतानुसार गमले में पानी देते रहना चाहिए। सिंचाई की आवश्यकता मानसून के दिनों में तो बिल्कुल नहीं पड़ती किन्तु सूखे मौसम में आवश्यकतानुसार पानी देते रहना चाहिए। इस विधि से यही लाभ होता है कि इसके जोड़ में वर्षा का पानी प्रवेश नहीं कर पाता अपितु ऊपर-ही-ऊपर बह जाता है। कलम के तीन माह पश्चात सायन मातृ-वृक्ष से पृथक् कर दिया जाता है किन्तु पृथक्करण की क्रिया बरसात की ऋतु में नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी तो यह पृथक्करण एक वर्ष के पश्चात् किया जाता है और तब तक सायन मातृ वृक्ष में लगा रहने दिया जाता है जिससे वह अपना आहार वहीं से प्राप्त कर सके। इसके लिए गमले में सिंचाई करना तीन माह पश्चात् ही बन्द करते हैं ताकि इसे मातृ-वृक्ष से आहार खींचने का अधिक अवसर मिले।

कभी-कभी जड़ का स्टाक भी प्रयोग किया जाता है। यह एक नई विधि है जो मद्रास में कोदूर फार्म पर निकाली गई है। इसमें २" लम्बी जड़ खोद कर बाहर की जाती है। किन्तु इसका केवल एक ही किनारा काटा जाता है, दूसरा किनारा वैसे ही भूमि में लगा रहता है। सायन शाखा का निचला सिरा खूँटी के आकार का काट लिया जाता है। इसके काटने में एक बात की सावधानी रखी जाती है कि एक किनारा दूसरे की अपेक्षा अधिक खड़ा हो। सायन के कटाव के पश्चात् स्टाक भी उसी हिसाब से काटा जाता है कि सायन की खूँटी उसके कटाव में भलीभाँति समा जाय। यह कटाव नीचे के चित्र में दिये गये कटाव की भाँति होना चाहिए।

सायन और स्टाक परस्पर मिलाने के पश्चात् दृढ़तापूर्वक बाँध दिये जाते हैं। कलम करने की यही विधि मातृ वृक्ष के गुण स्थिर रखने में इनार्चिंग की अपेक्षा



चित्र १६—सायन स्टाक सायन और स्टाक का जोड़

अधिक सफल हुई है, किन्तु अपनी कुछ कठिनाइयों और असुविधाओं के कारण इसका प्रचलन अधिक नहीं है।

ताज कलम (Crown Grafting)

यह कलम बूढ़े वृक्षों को नया बनाने के लिए की जाती है। इसका प्रयोग पश्चिमी घाट के नम प्रदेश-मलाबार, गोआ, कोंकन आदि में अधिकता से होता है। वहाँ बहुत प्राचीन आम के वृक्ष जिनकी ऊँचाई अधिक थी और तने काफी मोटे थे तथा जो जंगली ढंग से उत्पन्न हुए थे उन्हें इस कृत्रिम विधि द्वारा वांछित जाति का बना लिया गया है। बूढ़े वृक्षों को नया किशोर वृक्ष बनाने में कलम की दो विधियाँ प्रयुक्त होती हैं—ताज कलम और साइड कलम। किन्तु इनमें ताज कलम का ही अधिक प्रचलन है। यह विधि उस समय काम में लाई जाती है जब कि वायु में प्रचुर नमी उपस्थित हो। अतः इसे वहाँ कदापि नहीं किया जा सकता जहाँ पानी कम बरसता हो और मानसून के दिनों में भी वायु में नमी की मात्रा कम हो।

कलम की इस विधि में जिस वृक्ष की कलम की जाती है उसकी आयु नहीं देखी जाती। वह चाहे जिस अवस्था का हो उसकी कलम सफलतापूर्वक की जा सकती है बशर्ते कि उसकी छाल स्वस्थ हो, उसमें दरारें न फटी हों और तन्तुओं की दशा ठीक हो। कलम करते समय भी छाल के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाता है। आयु की भाँति वृक्ष की मोटाई भी १″ से ३′ तक हो सकती है किन्तु ऊँचाई जितनी रहती है उतनी नहीं रहने दी जाती है। कलम करने के लिए वृक्ष पृथ्वी के

धरातल से लगभग १″ से २″ की ऊँचाई से काट दिया जाता है। ऊपर का अंग अन्य कार्यों में काम आता है। नीचे का अंग भूमि में लगा रहने दिया जाता है और यही कलम के लिए प्रयोग होता है।

इसके लिए सायन शाखा जो प्रयोग होती है उसे मातृ-वृक्ष से पृथक् कर लिया जाता है और शिरा-रहित वृक्ष में एक दरार बना कर उसी में अंतर्निवेश किया जाता है। स्टाक में दरार बनाने के लिये छेनी और हथौड़ी की सहायता ली जाती है। इनकी सहायता से एक २½″ लम्बाकार चीरा तैयार की जाती है जो सिरे से प्रारम्भ होकर छाल पर होती हुई नीचे की ओर चली जाती है। इस दरार के दोनों किनारे बाँस की खूँटी से इस प्रकार फैला दिये जाते हैं कि दरार इतनी बड़ी हो जाय की उसमें सायन शाखा की खूँटी सरलतापूर्वक प्रवेश कर जाय। दरार बनाते समय इस बात से काफी सतर्क रहना चाहिए कि स्टाक तन्तु बचे रहें। उन पर किसी प्रकार की चोट या जोर नहीं पड़ना चाहिए। दरार इस प्रकार की होनी चाहिए कि सायन के अन्तर्निवेश के समय स्टाक की छाल या लकड़ी फटना प्रारंभ कर दें क्योंकि ऐसा होने से कलम की सफलता में सन्देह होता है। वृक्ष की छाल के नीचे की लकड़ी काफी लसदार होनी चाहिए क्योंकि इससे सायन शाखा के शीघ्र जोड़ पकड़ने की अधिक आशा होती है। शुष्क छाल और शुष्क लकड़ी वाले स्टाक की कलम नहीं की जाती।

स्टाक वृक्ष में प्रयोग की जाने वाली सायन शाखा मातृ-वृक्ष से पृथक् करने के पश्चात इस प्रकार रखनी चाहिए कि वह सूखने न पावे। ऐसा करने के लिए उसे भीगे कपड़े में लपेट कर रखा जाता है। सायन के चुनाव में इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिए कि इसकी लम्बाई स्टाक से अधिक न हो क्योंकि अधिक लम्बी सायन शीघ्र सूख जाती है। प्रायः सायन ७″ लम्बी होती है। इसके तने का व्यास लगभग ½″ से अधिक नहीं होना चाहिए। सायन सीधा, पूर्ण विकसित और सख्त चुननी चाहिए। यदि देखने में होनहार और हृष्ट-पुष्ट दिखाई दे तो उसकी कलम अधिक सफल मानी जाती है। सायन के सिरे पर कलियों का एक गुच्छा अवश्य उपस्थित रहना चाहिए क्योंकि इससे जोड़ शीघ्र पकड़ता है। सायन शाखा को स्टाक के छिद्र में अन्तर्निवेश-योग्य बनाने के लिए उसका निचला नुकीला भाग खूँटी के आकार का निर्मित किया जाता है। इस खूँटी की लम्बाई लगभग ३″ रखी जाती है और काटते समय इसे दो किनारों से इस प्रकार काटते हैं कि ऊपर से नीचे की ओर एक ढाल-सा बन जाता है। किन्तु खूँटी का सिरा नुकीला नहीं बनाया जाता क्योंकि ऐसा होने से जब सायन और स्टाक मिलाये जाते हैं तो नुकीले सिरे से स्टाक के कुछ तन्तु घायल हो जाते हैं। घायल तन्तुओं की उपस्थिति में जोड़ पूर्ण होने में अधिक समय

लगता है और कभी-कभी इसकी पूर्णता में भी सन्देह हो जाता है। अतः खूँटी का सिरा चौरस और चिकना बनाया जाता है। खूँटी बनाते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि उसका सिरा फटने न पावे क्योंकि बहुधा कटाव गहरा करने पर नुकीला सिरा फट जाता है। खूँटी का फट जाना जोड़ में व्यवधान प्रस्तुत करता है। अतः कटाव उतना ही करना चाहिए कि उस सिरे का आकार खूँटी जैसा हो जाय, ऐसा न हो कि कटाव तने के पिथ (Pith—तने के मध्य का भाग) तक पहुँच जाय। खूँटी का कटाव बहुत बारीक और चिकना बनाना चाहिए, इससे स्टाक की दरार के तन्तु या कैम्बियम पर चोट या खरोंच पहुँचाने की आशंका नहीं रहती।

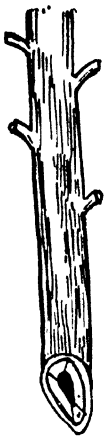
ताज कलम का उपयुक्त समय मानसून की ऋतु है क्योंकि इस समय स्टाक और सायन में जोड़ शीघ्र लगता है। मानसून में भी अगस्त से मध्य अक्टूबर का समय इसके लिए विशेष उपयुक्त होता है क्योंकि इस समय तन्तुओं में सैप-प्रवाह तीव्र गति से होता है। ज्यों-ज्यों सर्द-ऋतु आती जाती है, सैप प्रवाह में मन्थरता आती जाती है, अतः कलम का कार्य सर्द-ऋतु में कभी भी नहीं किया जाता।

स्टाक और सायन दोनों जब काट कर तैयार कर लिये जाते हैं तो उन्हें आपस में जोड़ दिया जाता है। सायन शाखा का खूँटीदार भाग सावधानी के साथ धीरे-धीरे स्टाक की दरार में अन्तर्निवेश कर दिया जाता है ताकि दरार का कोई तन्तु घायल न होने पावे। दरार में सायन किसी किनारे की ओर दबा दिया जाता है जिससे खूँटी का एक किनारा दरार के तन्तुओं के सीधे सम्पर्क में आ जाता है। जब इतनी क्रिया समाप्त हो जाती है तो सायन के अतिरिक्त दरार का शेष अंश एक प्रकार की मोम से भर दिया जाता है। यह मोम रेजिन, टैलो और शहद मोम को २ : २ : १ के अनुपात से मिलाकर तैयार होता है। दरार में मोम भर देने से वायु के गमनागमन का अवसर नहीं होता और न वर्षा का अनावश्यक पानी ही प्रवेश कर पाता है। वायु का गमनागमन जोड़ की सफलता के लिए हानिकर होता है क्योंकि शुष्क वायु तन्तुओं को सुखा देती है। तेज धूप में दरार का खुला रहना भी अच्छा नहीं होता। मोम भरने के पश्चात् जोड़ के ऊपर मोम का कपड़ा लपेट दिया जाता है ताकि तापक्रम और सूर्य की अत्यधिक धूप से रक्षा हो सके। यदि वृक्ष का शीर्षस्थ मण्डल किनारों की ओर से केन्द्र की ओर ढालू होता है तो वर्षा का पानी उसमें संचित हो जाता है जिससे जोड़ के कार्य में बाधा प्रस्तुत हो जाती है। अतः शीर्षस्थ मण्डल का कटाव आरम्भ में ही ऐसा कर देना चाहिए कि मध्य का भाग किनारों की अपेक्षा ऊँचा हो जिससे पानी जमा होने का कोई अवसर ही न रहे। कभी-कभी मोम का कपड़ा सम्पूर्ण शीर्षस्थ मण्डल पर बाँध दिया जाता है। मोम के कपड़े के पश्चात् जोड़ की रक्षा के लिए नम स्थानों में तो कोई रक्षा का अन्य साधन

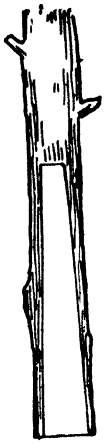
साधन नहीं प्रयुक्त किया जाता किन्तु शुष्क भागों में कहीं-कहीं इसकी आवश्यकता पड़ती है।

ताज की कलम की सम्पूर्ण क्रिया एक अनुभवी माली के लिए ५ मिनट की क्रिया है। वे कलम अधिक चतुराई से बारीकी के साथ कम समय में ही समाप्त कर देते हैं। अस्तु सफल कलम के लिए सदैव अनुभवी व्यक्तियों से ही कलम करानी चाहिए। स्टाक में शीर्षस्थ मण्डल में उसके आकार के अनुसार एक से अधिक सायन शाखाएँ लगाई जा सकती हैं और उनकी कलम भी सफलता-पूर्वक प्राप्त की जा सकती है। कलम करने के लगभग १ माह पश्चात् जोड़ पूर्ण हो जाता है और सायन के कलियों से सम्पन्न सिरे से नवीन कोपलें विकसित होने लगती हैं।

शुष्क भागों में कलम की रक्षा के लिए एक विशेष प्रकार का प्रबन्ध किया जाता है। स्टाक पौधे को ढकने के लिए एक प्रकार का मिट्टी का गोलक बर्तन बनाया जाता है जिसके ऊपर का सिरा खुला रहता है। ऊपर का मुँह पेंदे की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है। पेंदे में एक छोटा छिद्र बनाया जाता है ताकि इससे होकर कलम तक प्रकाश आ सके। यह बर्तन कलम के ऊपर उल्टा करके इस प्रकार रख दिया जाता है कि पेंदा ऊपर और मुँह नीचे हो जाता है। पेंदे में किया गया छिद्र कलम के ठीक ऊपर पड़ता है। इस छिद्र पर शीशे का गिलास रख दी जाती है जिससे कलम तक प्रकाश पहुँचने में कोई व्यवधान प्रस्तुत नहीं होता और कलम की गर्मी से भी रक्षा हो जाती है। कभी-कभी बर्तन के बाहर चारों ओर ढीली मिट्टी जमा कर दी जाती है ताकि बाहर की वायु और तापक्रम का भीतर की ओर तनिक भी प्रभाव न पड़ सके। कलम की देखभाल के लिए गिलास रखा गया छिद्र ही प्रयोग किया जाता है। जब कलम का निरीक्षण करना होता है तो गिलास हटा कर उसकी स्थिति देख लेते हैं। किन्तु जब कलम में कुछ नवीन कोपलें प्रस्फुटित हो जाती हैं तो कलम को शुद्ध वायु प्राप्त होने के लिए गिलास को प्रति दिन नियमित समय पर कुछ घंटों के लिए छिद्र से हटा देना चाहिए और कुछ समय पश्चात् इसे इस प्रकार रख देना चाहिए कि यह छिद्र को अर्ध रूप से ही ढक सके। जब कलम की नवीन पत्तियों का रंग बिलकुल हरा हो जाय तो गिलास पूर्ण रूपेण हटा दी जाती है और थोड़े दिनों के पश्चात् कलम इसी छिद्र से बाहर निकलती हुई दृष्टिगत होती है।



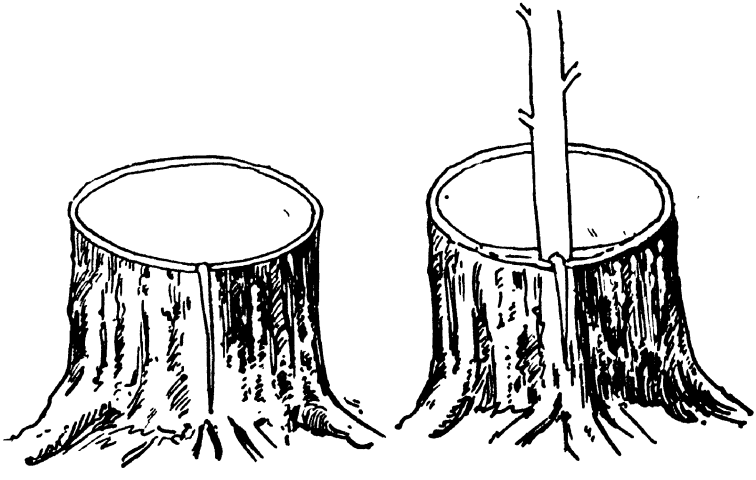
सायन शाखा



सायन की खूँटी का कटाव

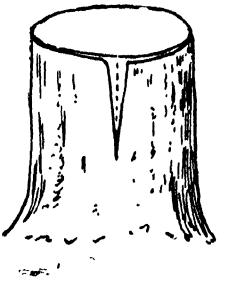


सायन की खूँटी के बगल का दृश्य

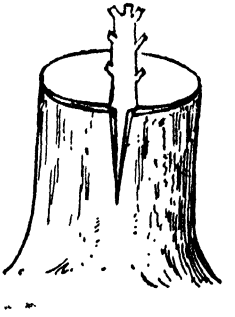


शीर्ष-रहित स्टाक वृक्ष और छाल में की गई दरार

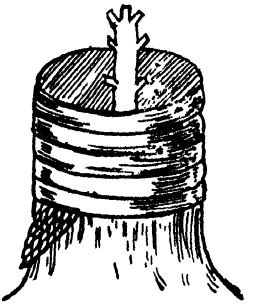
दरार में अन्तर्निवेशि



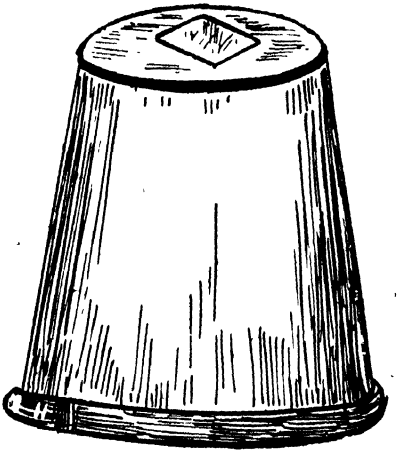
स्टाक में दरार की बनावट



स्टाक में सायन का अन्तर्निवेश



सुरक्षित कलम जिस पर मोम का कपड़ा लपेटा गया है



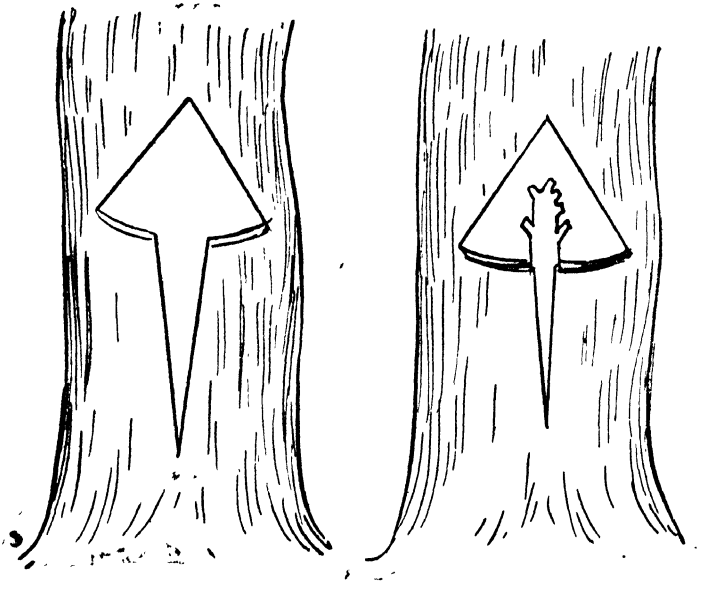
मिट्टी के बर्तन से ढका हुआ कलम पौधा

बगल की कलम (Side Grafting)

बगल की कलम या साइड ग्रैफ्टिंग ताज कलम के बहुत कुछ समान होती है। इसकी सारी क्रियाएँ ठीक उसी प्रकार से की जाती हैं जैसे कलम में की गई थीं किन्तु इसमें ताज कलम की भाँति कलम की रक्षा के लिए न तो मिट्टी के बर्तन का प्रयोग होता है और न तो इसमें कटे सिरे वाले स्टाक वृक्ष का ही प्रयोग होता है। इसके स्टाक और सायन का जोड़ जब पूर्ण हो जाता है तो जोड़ का ऊपरी भाग

काट कर पृथक कर दिया जाता है। जिन स्थानों में साइड ग्रैफ्टिंग और ताज कलम दोनों का प्रचार है वहाँ लोग साइड ग्रैफ्टिंग को ही प्राथमिकता दिया करते हैं। इसका कारण यह होता है कि साइड ग्रैफ्टिंग में ताज की भाँति सम्पूर्ण वृक्ष नहीं काटा जाता अपितु इसे केवल एक शाखा पर ही प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु साइड ग्रैफ्टिंग उन स्थानों पर सफलतापूर्वक नहीं की जा सकती जहाँ अल्प वर्षा और अत्यधिक गर्मी पड़ती हो क्योंकि इसमें ताज कलम की भाँति गर्मी से रक्षा के लिए कोई साधन नहीं प्रयुक्त होता।

इस विधि में प्रयुक्त होने वाली सायन ताज कलम की भाँति मातृ वृक्ष से पृथक कर ली जाती है और इसका आकार भी खूँटी-जैसा वैसे ही बनाया जाता है जैसा कि हमने ताज कलम में देखा था। इसकी आयु, मोटाई, लम्बाई, स्थिति आदि भी वैसी ही होती है। स्टाक वृक्ष में पृथ्वी के धरातल से एक फुट की ऊँचाई पर एक ट्रान्सवर्स कटाव बनाया जाता है। इस कटाव के ऊपर एक त्रिभुजाकार कटाव काटा जाता है और जब यह कटाव पूर्ण हो जाता है तो एक ट्रांसवर्स कटाव के ही मध्य एक ४½" लम्बा कटाव नीचे की ओर जाते हुए बनाया जाता है जैसा चित्र से परिलक्षित होता है।



स्टाक के दरार की छाल को ढीला बनाने के लिए बाँस की खूँटी प्रयोग की जाती है और जब दरार काफी ढीली हो जाती है तो सायन को अन्तर्निवेश कर

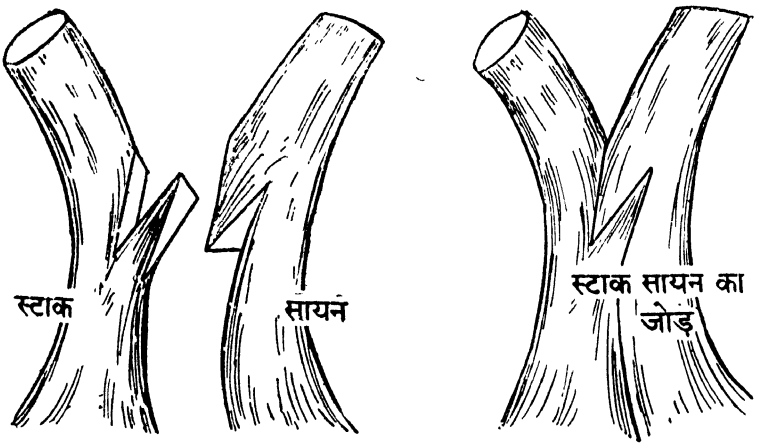
देते हैं। इसके अन्तर्निवेश के समय भी दरार के तन्तुओं के घायल होने के भय से काफी सतर्क रहना चाहिए। जब अन्तर्निवेश की क्रिया समाप्त हो जाय तो दरार के ऊपर का त्रिभुजाकार कटाव अपनी मूल त्रिभुजाकार छाल द्वारा ही पुनः ढक दिया जाता है और दरार का रिक्त अंश मोम से भर कर वायु रहित कर दिया जाता है। जब इतनी क्रिया समाप्त हो जाती है तो मोम का कपड़ा जोड़ पर बाँध दिया जाता है ताकि पानी और अत्यधिक वायु से उसकी रक्षा हो सके। कपड़ा बाँधने में इस बात की सावधानी रखी जाती है कि सायन की टर्मिनल कली (terminal bud) न ढकने पाये। कलम करने के दो या तीन मास पश्चात् सायन की स्थिति कुछ परिवर्तित हो जाती है और उसकी कलियाँ विकसित होने लगती हैं। इस समय कलम पर शुष्क मिट्टी जमा कर दी जाती है और स्टाक वृक्ष के कलम के ऊपर का भाग काट कर पृथक कर दिया जाता है।

टाप-वर्किंग (Top Working)

जैसा कि हमने पढ़ा है, ताज और साइड ग्रैफ्टिंग पुराने और घटिया जाति के आमों को उत्तम जाति का बनाने के लिए की जाती है। पुराने और बुड्ढे आम के वृक्षों को नया और उत्तम जाति का बनाने के लिए एक और विधि प्रयोग की जाती है जिसे टाप-वर्किंग कलम कहते हैं।

इस विधि में वृक्ष की टाप-वर्किंग करनी होती है। उसकी शाखाएँ मुख्य तने से कुछ ऊँचाई पर काट दी जाती हैं और उन्हें कोपलें निकालने का प्रोत्साहन दिया जाता है। जब ये कोपलें कुछ बड़ी हो जाती हैं तो इन्हें गमले में तैयार किये गये सायन से उपयुक्त समय में कलम कर देते हैं। किन्तु टाप-वर्किंग की यह विधि बहुत महँगी और श्रम-साध्य होती है। अतः टाप-वर्किंग की एक दूसरी विधि भी प्रयुक्त होती है। इसे ताज टाप-वर्किंग कहते हैं। इसमें शाखा का शीर्षस्थ खण्ड ठीक उसी प्रकार काट डाला जाता है जैसा हमने ताज की कलम में देखा था और शेष सभी क्रियाएँ भी उसी विधि की भाँति की जाती हैं।

ऊपर हमने कलम की जिन विधियों का विवेचन किया है उनके अतिरिक्त भी कुछ विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। इनमें जीभी कलम, स्पलाइस कलम आदि मुख्य हैं। जीभी कलम में स्टाक और सायन दोनों पृथक-पृथक तैयार किये जाते हैं और जब एक निश्चित आयु के हो जाते हैं तो उन्हें परस्पर जोड़ने के लिए उनमें कटाव बनाया जाता है, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।



कटाव हो जाने के पश्चात् स्टाक और साइन को परस्पर सम्बन्धित करने के लिए सन्निकट लाया जाता है और उन्हें इस प्रकार जोड़ दिया जाता है कि दोनों की तहें एक दूसरे को भली-भाँति पकड़ लें।

बडिंग (Budding) या चश्मा लगाना

कलम करने की यह विधि कई स्थानों पर प्रचलित है और वहाँ उत्पादकों को इसमें काफी सफलता भी प्राप्त हुई। मिश्र, जावा, फिलिपाइन द्वीप समूह, क्वीन्स-लैण्ड, फ्लोरिडा और लंका में इस विधि पर काफी प्रयोग हुए हैं। मद्रास में कोटूर फार्म पर बडिंग के तीन रूप शिफ्ट बडिंग (Shift Budding), फारकर्ट विधि (forkert) और रूपान्तरित फारकर्ट विधि पर प्रयोग हुए जिनमें अधिकांशतः सफलता मिली। सहारनपुर के वानस्पतिक उद्यान (Botanical garden) (उत्तर प्रदेश) और मध्य प्रदेश में बहुत पहले १८६६ ई० में ही इस ओर प्रयत्न होने प्रारम्भ हुये किन्तु बहुत कम सफलता मिली। सबूर में ७५% सफलता मिली जब कि बम्बई में बर्न्स और प्रयाग के १०० में ८ कलम ही सफल हुए। सबूर में किये गये प्रयोग से चश्मा लगाने का उपयुक्त समय जून और जुलाई बताया गया। प्रयोगों से यह भी ज्ञात हुआ है कि १ वर्ष पुरानी लकड़ी वाले सायन की कलियों की अपेक्षा १ वर्ष से कम आयु वाली कलियाँ अधिक सफल होती हैं। उपयुक्त कलियों के साथ-साथ स्टाक पौधे और अनुभवशील व्यक्ति भी जिनका हाथ इस कार्य में दक्ष हो जाता है, कलम भी सफलता में आवश्यक होते हैं।

चश्मा लगाने की कई विधियाँ प्रचलित हैं। इनमें शील्ड, 'टी' आकार का चश्मा फार्कर्ट आदि मुख्य हैं।। इन विधियों के अतिरिक्त रिंग बडिंग (Ring method), पैच बडिंग (Patch) आदि भी प्रयोग की जाती हैं। कुछ स्थानों पर

शील्ड विधि पैच विधि या छाल विधि (Bark grafting) से अच्छी सिद्ध हुई और कहीं फार्कर्ट विधि को ही अधिक प्रधानता दी जाती है। शील्ड और फार्कर्ट विधियों पर मद्रास कोटूर फार्म पर अनेक प्रयोग हुये हैं जिनसे इनमें यथेष्ट सफलता मिली है। पैच विधि तो निरर्थक सिद्ध हुई है किन्तु स्कावयर पैच विधि या स्पिरिंग विधि (Spring budding) फ़्लोरिडा में अधिक सफल हुई है। शील्ड और टी आकार की बड्डिंग सन्तरे और कमल के फूल में प्रायः की जाती है किन्तु अन्य फलों में भी इनका यथेष्ट प्रचलन है। जमायका में टी (T) बड्डिंग विधि ही स्वीकृत की गई है।

शील्ड या टी बड्डिंग—इस विधि का नाम शील्ड बड्डिंग इसलिए पड़ा कि इसमें सायन पौधे पर जो कटाव बनाया जाता है वह शील्ड आकार का होता है। यह कटाव १ से १½″ लम्बा होता है और पौधे की छाल पर खड़े रूप में काटा जाता है। इस कटाव के ऊपर एक ½″ गहरा बेंडा (horizontal) कटाव बनाया जाता है। यह कटाव छाल और कुछ लकड़ी लिये होता है। इसका आकार कली के आकार से कुछ बड़ा होता है। यदि आवश्यकता होती है तो यह बाँस की खूँटी से ढीला कर दिया जाता है। पौधे में कटाव करने के लिए बहुत तेज चाकू का प्रयोग किया जाता है क्योंकि अच्छे और मोटे चाकू से कटाव बारीक नहीं हो पाता। सायन पौधे में कटाव निर्मित करने के पूर्व यह देख लेना चाहिए कि तने की लकड़ी पूर्ण रूप से पकी है। किन्तु पकने का यह अर्थ नहीं कि वह बूढ़ी हो गई हो। सायन की पतियाँ भी डंठल के साथ तोड़कर पृथक कर देनी चाहिए क्योंकि इससे कलियों के फूलने का अवसर मिलता है और वे अधिक होनहार बन पाती हैं। किन्तु इस क्रिया में पत्ती का पिट्योल (Petiole) सुरक्षित छोड़ दिया जाता है। कली के कटाव की क्रिया के समाप्त होते ही उसे शीघ्र स्टाक पौधे में अन्तर्निवेशित कर देते हैं। इसके लिए स्टाक पौधे में एक ही आकार का कटाव बना लिया जाता है और कली इसी में रख दी जाती है। तत्पश्चात् केले की छाल या मोम के कपड़े से दृढ़ता के लिए इसे स्टाक में बाँध दिया जाता है।

कभी-कभी कली अन्य विधियों से भी निकाली जाती है। जब सायन में छाल पर खड़ी कटाव बेंड़ी काट के ऊपर न करके नीचे की जाती है तो यह विधि उल्टी टी बड्डिंग रीति कही जाती है। कली और स्टाक की बँधाई के पश्चात् लगभग दो सप्ताह तक जब चश्मा वैसे ही हरा-भरा बना रहता है तो कलम सफल मानी जाती है।

शील्ड विधि एक साधारण विधि है जो आजकल दक्षिण भारत, सिन्ध और पंजाब में विशेष प्रचलित हो चली है। कभी-कभी यह टी (T) विधि के नाम से

पुकारी जाती है क्योंकि इसमें स्टाक पर अंग्रेजी के अक्षर T (टी) के आकार का कटाव बनाया जाता है और उसी में कली अन्तर्निवेशित कर दी जाती है।

पूना फ्रूट रिसर्च स्टेशन पर चश्मे से कलम लगाने की एक नवीन विधि निकाली गई है। इस विधि के अनुसार तीन वर्षीय आयु वाला किशोर स्टाक पौधा लिया जाता है जिसका व्यास लगभग १″ या इससे अधिक का होता है। पौधा बहुधा वही चुना जाता है जो हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ और देखने में होनहार हो। कली के चयन में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। कि वह शील्ड बडिंग की भाँति पके हुये लकड़ी के सायन से ही ली जाय। रसीली कली लेने के लिए सायन को तोड़ दिया जाता है और उसे कलियों के निकलने के हेतु ढक दिया जाता है। ढक देने से कलियों का विकास द्रुत गति से होने लगता है किन्तु जब इन्हें प्रयोग करना होता है तो इन्हें १५ दिन पूर्व ही खोल दिया जाता है। सायन शाखा जिस पर से कलियाँ निकाली जाती हैं, पत्ती-रहित कर दी जाती हैं। वेस्टर साहब ने सायन की पत्तियों के तोड़ने पर अधिक जोर दिया है। उनका मत है कि सायन की पत्तियाँ तोड़ ली जायँ और उनके डंठलों को सूख कर गिर जाने दिया जाय। ऐसा करने से कलियाँ फूल आती हैं और काफी स्वस्थ हो जाती हैं। जब स्टाक पौधे और कलियों की कटाई हो जाती है तो उस दरार में कलियों की आँख भर दी जाती है। तत्पश्चात् दरार का रिक्त-स्थान मोम से भर दिया जाता है।

कलम करने की क्रिया प्रायः मानसून के दिनों में की जाती है किन्तु कलम के शीघ्र पश्चात् पानी बरसना कलम की सफलता के लिए हानिकर है। कारण यह होता है कि पानी की थोड़ी बूँद भी यदि जोड़ के भीतर प्रवेश कर जाती है तो चश्में के सड़ने का भय रहता है। इसलिए कलम लगाने के कुछ दिनों पश्चात् पानी नहीं बरसना चाहिए। अत्यधिक वर्षा होने वाले स्थानों में कली के विकास का अवसर ही नहीं मिलता और वायु के यथेष्ट अनार्द्र होने से जोड़ अच्छा नहीं मिल पाता। हमारे देश में चूँकि सभी स्थानों पर एक समय एक समान मौसम नहीं रहता, अतः कलम के लिए कोई निर्धारित समय नहीं निश्चित किया जा सकता। अभी हाल में ही कलम का समय निर्धारित करने के लिए पूना में एक प्रयोग किया गया। इस प्रयोग के अनुसार एक वर्ष तक प्रति पन्द्रहवें दिन आम की कलम लगाई गई और कलम की सफलता का प्रतिशत निकाला गया। इससे ज्ञात किया गया कि अगस्त और सितम्बर की कलम उत्तम फल देती है। इस समय कभी-कभी भारी वर्षा और कभी-कभी हल्की वर्षा होती है। भारी वर्षा से वायु काफी नम हो जाती है किन्तु यह नमी अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रहती क्योंकि इस वर्षा के पश्चात् समय की एक लम्बी दूरी पड़ती है और तब कहीं दूसरी वर्षा होती है। बीच-बीच में हल्की

वर्षा होने से नमी और तापक्रम औसत दर्जे का बना रहता है। इस समय तापक्रम लगभग ६०° से ८०° फारेनहाइट तक के मध्य घटता बढ़ता रहता है।

कलम की यह विधि व्यापारिक दृष्टिकोण से बहुत सस्ती है क्योंकि इसे कलम की अन्य विधियों की अपेक्षा शीघ्र और कम परिश्रम में तैयार किया जा सकता है।

फार्कर्ट विधि—चश्मे लगाने की यह नवीनतम विधि है जो पूना के गनेश-खिन्द फ्रूट एक्सपेरिमेन्ट स्टेशन पर अधिकता से प्रयोग की जा रही है। हिन्दचीन में इसका अत्यधिक प्रचार है। यह विधि पैच विधि से अधिक साम्य रखती है क्योंकि इसमें भी उसी प्रकार पैच बनाया जाता है जैसे हमने पैच विधि में देखा था। फार्कर्ट विधि से कलम करने का उपयुक्त समय जुलाई-अगस्त होता है। इस समय उपयुक्त नमी और तापक्रम बना रहता है, इससे तनों में सैप का बहाव बड़ी तीव्रगति से होता है। सैप के तीव्रतर बहाव से चश्मे बहुत शीघ्र जुड़ जाते हैं और कलम की सफलता की भी अधिक सम्भावना रहती है।

जब बीयड़ में उगाये गए किशोर स्टाक पौधे की आयु लगभग एक वर्ष की हो जाती है तो उसे फार्कर्ट विधि द्वारा कलम किया जा सकता है। स्टाक की मोटाई लगभग ½ इंच होनी चाहिये। जब पौधे का चयन हो जाता है तो उसमें एक आयताकार कटाव बनाया जाता है। यह कटाव पृथ्वी के धरातल से ४–६″ ऊपर होना चाहिये। स्टाक पौधे में वह स्थान यदि चिकना और समान धरातल का हो तो और भी अच्छा होता है क्योंकि ऊबड़-खाबड़ धरातल पर कटाव अच्छा नहीं आ पाता। कटाव काटने के लिए निश्चित स्थान पर दो खड़े कटाव और दो बेड़े कटाव लकीर के रूप इस प्रकार किये जाते हैं कि एक आयताकार कटाव बन जाता है। इसके लिए कटाव के पहिले ही इस प्रकार का चिह्न बना लेते हैं। इससे कटाव के बड़ा छोटा होने में गुन्जाइश होती है। कटाव के लिए तेज चाकू का प्रयोग होता है। इसमें एक बात का बड़ी सतर्कतापूर्वक ध्यान रखते हैं कि कटाव के तीन किनारे ही पूर्णरूपेण काटे जाते हैं। नीचे वाली बेंड़ी लकीर केवल चिह्न ही निर्देश करती है, वास्तव में काटी नहीं जाती। यह कटाव स्टाक पौधे के तने की छाल पर बनाया जाता है, जिससे कटाव के स्थान की लकड़ी दिखाई देने लगती है। जब कटाव पूर्ण हो जाता है तो कटी हुई छाल के ऊपर का भाग हाथ से पकड़ कर धीरे-धीरे नीचे की ओर खींचते हैं जिससे वह काठ से पृथक होकर बाहर निकलता जाता है। छाल जब निचले बेड़े कटाव तक पहुँच जाती है तो इसका खिंचाव बन्द कर देते हैं। यहाँ छाल लटकती हुई अवस्था में पड़ी रहती है।

स्टाक पौधे के कटाव में उपयुक्त कली अन्तर्निवेशित करने के हेतु एक होनहार और स्वस्थ शाखा चुनी जाती है। इसकी आयु एक वर्ष से अधिक की होनी

चाहिये और शाखा में उपस्थित कलियाँ उभरी हुई और हृष्ट-पुष्ट होनी चाहिए। ये कलियाँ शाखा के सिरे की न हों अपितु यह पत्तियों के कोने में से ली जाँय। जिस सायन शाखा से कली का पृथक्करण किया जाता है उसे बडस्टिक (Budstick) या बडउड (Budwood) कहा जाता है। बडस्टिक के चुनाव के पश्चात् वह सायन वृक्ष से पृथक कर ली जाती है। इसकी लम्बाई लगभग ६" रखी जाती है और सारी उपस्थित पत्तियाँ तोड़ कर फेंक दी जाती हैं। किन्तु पत्तियों को तोड़ते हुए उनके डंठल बडस्टिक में लगे रहने देते हैं। जब बडस्टिक मातृ वृक्ष से पृथक की जाती है तो इसे अकेले नहीं अलग करते अपितु ऐसी टहनियों का एक बंडल तोड़ लेते हैं। जब बड स्टिक की पत्तियाँ अलग कर ली जाती हैं तो इन्हें एक गीले कपड़े में बाँध कर स्थिर रखते हैं। कभी-कभी स्फैगनममास (Sphagnamoss) भी प्रयोग करते हैं। किन्तु यह प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं हो पाता और न साधारण माली इसका ज्ञान ही रखते हैं। ऐसी स्थित में बडस्टिक आधे पानी की स्थित में रख कर किसी भी स्थान पर भेजी जा सकती हैं। इस प्रकार कलियाँ लगभग २० दिन तक हरी अवस्था में स्थिर रखी जा सकती हैं। अब उडस्टिक से कली पृथक करने के लिए १$\frac{1}{2}$" से १$\frac{1}{2}$" लम्बा कटाव करते हैं। यह कटाव इस प्रकार किया जाता है कि कली इसके मध्य में आ जाय। कली के पृथक्करण में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कली का भीतरी छिल्का क्षतिग्रस्त न हो। कली को सायन शाखा से निकालने के लिए एक प्रकार की टेढ़ी कील प्रयोग की जाती है जिससे इस कार्य में अधिक सुविधा हो जाती है। यह कील फिन्गर नेल (Fingernail) के नाप से सम्बोधित होती है।

बडस्टिक से कली ज्यों ही पृथक की जाती है, उसे स्टाक पौधे के कटाव में अन्तर्निवेश कर दिया जाता है। अन्तर्निवेश में सुविधा के लिए स्टाक पौधे का कटाव कली के आकार से जानबूझ कर बड़ा बनाना चाहिए। स्टाक के कटाव में कली सावधानी के साथ रख दी जाती है। रखने के पश्चात् कटाव की लटकती हुई छाल ऊपर उठा कर अपने स्थान पर लाई जाती है जिससे कली भीतर ढक जाती है। अब कली और छाल दोनों बाँध दिये जाते हैं। बाँधने में मोम का कपड़ा अधिक उपादेय होता है। यह जलसिद्ध (waterproof) होता है। इसलिए वर्षा का पानी जोड़ के भीतर नहीं प्रवेश कर पाता है। वायु और ऊँचे तापक्रम से भी रक्षा होती है। बँधाई की क्रिया बहुत बारीकी से की जाती है, अन्यथा कली के घायल हो जाने का भय रहता है और जोड़ भी सफल नहीं हो पाता। कली के अन्तरनिवेश में कम-से-कम समय लगाना चाहिये क्योंकि क्रिया जितनी ही शीघ्र होती है उत्पादक के

अंश में उतना ही अच्छा होता है। इस सम्पूर्ण क्रिया में ३-४ मिनट से अधिक समय नहीं लगाना चाहिये।

जब बँधाई की क्रिया समाप्त हो जाती है तो लगभग तीन सप्ताह तक उसे उसी अवस्था में छोड़ देते हैं। इस अवधि के बीतने पर जोड़ खोल देते है और कली की अवस्था का निरीक्षण करते हैं। यदि यह हरी अवस्था में पड़ी रहती है तो जोड़ सफल माना जाता है। क्योंकि यह स्टाक की लकड़ी से मिल कर कैमबियम बना सकती है। यदि कली हरी अवस्था में पाई जाती है तो लकड़ी के साथ उसका जोड़ भी कुछ बन चुका रहता है और कली देखने में ताजी लगती है। इन बातों का अध्ययन करने के पश्चात् स्टाक पौधे का लटकता हुआ छिलका काट कर अलग कर दिया जाता है और मोम के कपड़े से बँधाई कर दो जाती है। यह बँधाई इस सावधानी से की जाती है कि सुकुमार कली के विकास में कोई व्यवधान न प्रस्तुत हो। अच्छा तो यह होता है कि कटाव का समस्त भाग बाँध दिया जाता है किन्तु कली का सिरा खुला ही छोड़ दिया जाता है। इससे कली के विकास में कोई भय नहीं रहता। कलम करने के लगभग ४० दिनों के पश्चात् कली में अंकुर आना प्रारम्भ हो जाता है। जब कली में अंकुर दिखाई देते हैं तो उसके कुछ दिन बाद जोड़ के ऊपर का स्टाक काट कर फेंक दिया जाता है।



बिना गमले का बडग्रेफ्ट (चश्मा पैबन्द)

कलम करने या चश्मा लगाने के एक वर्ष पश्चात् कलम पौधा अपने स्थायी स्थान में लगाने योग्य हो जाता है। अर्थात् जुलाई-अगस्त में की गई कलम दूसरे मानसून

में कलम बन कर उद्यान में लगाने लायक हो जाती है। इस एक वर्ष की अवधि में कलम के कटाव का बहुत ध्यान रखा जाता है। सूखे मौसम में आवश्यकतानुसार सिंचाई भी की जाती है। जब इसे उद्यान में ले जाना होता है तो अपने मूल स्थान से मिट्टी सहित निकाला जाता है। निकालने की क्रिया जुलाई-अगस्त में की जाती है, जब कि तेज पानी बरसता रहता है। यदि पानी का अभाव हो और भूमि सूखी हो तो पौधा निकालने के ३-४ दिन पूर्व तक साधारण सिंचाई कर देनी चाहिए, ताकि भूमि काफी नम हो जाय। नम भूमि में पौधे की जड़ें सरलतापूर्वक बाहर आ जाती हैं टूटने नहीं पातीं। जड़ों के टूटने से पौधे दूसरे स्थान पर लग नहीं पाते, सूख जाते हैं। इसकी रक्षा के लिए कलम पौधा मिट्टी के साथ बाहर निकाला जाता है। इस मिट्टी के गोले का आकार २½″ लम्बा, २½″ चौड़ा और ७½″ गहरा होता है। इतनी गहराई से जड़ निकालने से उसका पूरा भाग चला आता है। इस प्रकार निकाला हुआ पौधा मिट्टी के साथ मिट्टी के पके गमले में डाल दिया जाता है और देश के किसी भी स्थान पर भेजे जा सकते हैं। जब कलम पौधा गमले में नहीं रखा जाता है तो उसे केले की छाल में या मोम के कपड़े या अन्य किसी बन्धन से बाँधकर बाजारों में बेचने के लिए भेज दिया जाता है। यह बँधाई कलम की जड़ को ढँकने वाली मिट्टी पर ही की जाती है। किन्तु इस प्रकार की निकाली हुई मिट्टी यदि भुरभुरी या बलुई दोमट हुई तो अच्छा नहीं होता। यह उस दशा में उपयोगी सिद्ध होता है जब कि मिट्टी चिकनी अथवा मटियार-दोमट होती है।

पौधा लगाना (Planting of Trees)

आम का उद्यान कहाँ हो, किस स्थिति में हो, इसका निश्चय करने के पश्चात् उद्यान की सीमा निर्धारित कर दी जाती है। सीमा निर्धारण के पश्चात् खेत से घास-फूस, झाड़ियाँ आदि दूर कर दी जाती हैं और मिट्टी पलटने वाले हल से दो या तीन बार इसकी जुताई की जाती हैं। यह जुताई एक बार लम्बाई में और दूसरी बार चौड़ाई में करनी चाहिए। एक जुताई देशी हल की भी करनी चाहिए। देशी हल की अनुपस्थिति में कल्टीवेटर से भी काम लिया जा सकता है। खेत में यदि घास फूस अधिक हो तो हैरो अच्छा काम देता है। यह खेत की घास को उखाड़ता है ही उन्हें एकत्र भी करता है। खेत की मिट्टी भुरभुरी करने और समान धरातल बनाने के लिये पाटा या बेलन का प्रयोग किया जाता है। जब खेत पूर्णरूपेण तैयार हो जाता है तो उसमें आम के पौधे लगाने के हेतु निश्चित आकार के गड्ढे तैयार किये जाते हैं। गड्ढों का आकार ३' × ३' × ३' होता है। इस आकार के गड्ढे

कलम लगाने के ६ माह पूर्व ही निर्मित कर लिए जाते हैं। गड्ढों के निर्माण की क्रिया प्रायः ग्रीष्म ऋतु में की जाती है। गड्ढे को आधी मिट्टी एक ओर आधी दूसरी ओर निकाली जाती है। इस प्रकार गड्ढे के किनारों पर मिट्टी का एक ढेर सा बन जाता है। किन्तु यह ढेर उस समय समाप्त हो जाते हैं जब कि पौधा गड्ढे में लगा दिया जाता है और ऊपर की मिट्टी नीचे कर दी जाती है। इससे यह लाभ होता है कि नीचे की मिट्टी ऊपर और ऊपर की मिट्टी नीचे हो जाती है। कभी-कभी मिट्टी की इस पलटाई के पूर्व इसमें सड़े गोबर की खाद २५ पौंड, उडऐश २½ पौंड और बोनमील १½ पौंड अच्छी प्रकार मिला दिया जाता है तब पलटाई की जाती है। उडऐश के अभाव में गड्ढे में घास-फूस जला कर भी पोटाश का प्रतिशत प्राप्त किया जा सकता है। एक विधि यह भी है कि गड्ढे में कम्पोस्ट और गोबर की सड़ी खाद खोदने के समय ही डाल दी जाती है ताकि पौधे लगाने तक यह पूर्णरूपेण सड़ जाय और पौधों के लिए उपादेय हो सके। उपयुक्त खाद देने से गड्ढे की मिट्टी का टेक्सचर ठीक हो जाता है। गड्ढे की भराई की क्रिया वर्षा होने के पूर्व ही करनी चाहिए क्योंकि इससे गड्ढे में पानी भरने का भय नहीं होता और न गड्ढे की मिट्टी ही अनुपयुक्त होने पाती है।

गड्ढों की पारस्परिक दूरी लगभग ३० से ३५ तक रखी जाती है। चीमा, भट्ट और नायक ने अपनी पुस्तक 'कामर्शियल फ्रूट आफ इंडिया' में यह दूरी ३५' से ४०' बताई है। किन्तु उत्तर प्रदेशीय सरकार के एक जनरल 'ऐग्रीकल्चर एंड एनिमल हसबेन्ड्री इन उत्तर प्रदेश' में यह निर्देश किया गया है कि आम के पौधों की पौधों से दूरी ३६' होनी चाहिए। गड्ढों की आपस की दूरी बहुत कुछ आम की जाति, स्थिति और भूमि पर निर्भर करती है। जिस स्थान पर आम के वृक्ष अधिक शाखादार और काफी ऊँचे होते हैं वहाँ ४०' की दूरी रखी जाती हैं। पश्चिमीघाट की अलोवियल भूमि में एक गड्ढे से दूसरे गड्ढे की दूरी ६०' तक रखी जाती है। पहाड़ी भागों में अथवा शुष्क प्रदेश में जहाँ वर्षा कम होती है, यह दूरी ३०' से ३५' तक ही रखी जाती है। आम के वृक्ष की पारस्परिक दूरी पर इसलिए अधिक ध्यान दिया जाता है कि इसका उद्यान की उपज पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। यदि वृक्ष घने हो जाते हैं तो खेत की गुड़ाई, निकाई आदि में असुविधा होती है। शाखाओं को आवश्यकतानुसार सूर्य की किरणें नहीं प्राप्त हो पाती हैं। कीड़े और बीमारियों के आक्रमण का भी अधिक भय हो जाता है। इन समस्त बातों का उपज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इस के साथ ही दूसरी ओर वृक्षों की आपस की दूरी भी अत्यधिक रखना उचित नहीं होता। बर्न्स और प्रयाग ने वृक्षों की आपस की दूरी के लिए ३०' की स्वीकृति दी है। अलग

(Alan) ने भी उक्त कथन को स्वीकार किया है। इनका कथन है कि यह दूरी अनुर्वर भूमि में बहुत उपयुक्त होती है किन्तु गंगा के मैदानों में यह दूरी ३५' से ४०' रखी जाती है। बालकृष्ण, मूर्ति और जोगराज ने यह दूरी ४०' पंक्तियों में और ३५' त्रिभुजाकार रूप में स्वीकार किया है। उत्तर प्रदेश के लिए उत्तर प्रदेशीय सरकार के अनुसार ३६' की ही दूरी उपयुक्त होती है। किन्तु इसे ४०'-४५' तक किया जा सकता है। रत्नगिरि में वृक्षों की आपस की दूरी ४०' से ६०' तक रखी जाती है, जब कि दक्षिण की भारी भूमि में ३०' की दूरी उचित होती है। गुजरात प्रदेश में आम के एक पौधे से दूसरे पौधे की दूरी ५०' से ६०' रखी जाती है। घाटियों में आम के वृक्ष ६०' से कम दूरी पर नहीं लगाये जाते, क्योंकि वहाँ इनका बढ़ाव बहुत अधिक होता है।

गड्ढे प्रायः उपयुक्त और उर्वर भूमि में निर्मित किये जाते हैं। उपयुक्त से अर्थ यह है कि भूमि नीचे धरातल की नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसी भूमि में वर्षा का पानी प्रचुर मात्रा में संचित हो जाता है और गड्ढे पानी से भर जाते हैं। पानी से पूर्ण भूमि में पौधों की जड़ों का विकास समुचित नहीं हो पाता क्योंकि उनकी जड़ें अपनी खूराक आवश्यकतानुसार नहीं प्राप्त कर पातीं और न वायु की उपस्थित में काम करने वाली लाभदायक बैक्टीरिया ही अपना कार्य कर पाती है। जड़ के निकट के उपयोगी नमक पानी में घुलकर पौधों की पहुँच के बाहर चले जाते हैं, अतः खेत में उपस्थित अनावश्यक जल का विकास आवश्यक होता है। इस कार्य के लिए धरातलीय या अधःधरातलीय जल विकास विधि अपनाई जाती है। धरातलीय विधि में खेत के धरातल पर ही लम्बी-चौड़ी नालियाँ इस हिसाब से निर्मित की जाती हैं कि वृक्षों को कोई हानि न पहुँचे और पानी भी निकल जाय। किन्तु इसमें अधिकांश भूमि व्यर्थ चली जाती है और खर्च भी अधिक पड़ता है। अधःधरातलीय विधि में नालियाँ भूमि के भीतर बनाई जाती हैं और पानी चुआन द्वारा संचित कर के निकाला जाता है। नालियाँ मिट्टी, पत्थर, सीमेन्ट, ईंटे आदि के पाइपों से तैयार होती है। इन नालियों में काफी दूरी रखी जाती है ताकि ऊपर का जल नीचे की ओर रिस-रिस कर इनमें आता रहे और बह कर सहायक पाइपों से मुख्य पाइप में और फिर बाहर चला जाय। इन नालियों की आपस की दूरी भूमि की स्थिति पर निर्भर करती है। मद्रास में किए गये प्रयोग से इस विधि की सार्थकता का ज्ञान हुआ है। इस विधि को जल विकास की विधि कहते हैं जब कि पहिली विधि जल निकास की खुली विधि के नाम से सम्बोधित की जाती है।

उद्यान में आम के वृक्ष दो प्रकार से लगाए जाते हैं—पहिली विधि में गड्ढे खोदने के पश्चात् आम की गुठलियाँ सीधे डाल दी जाती हैं और इस प्रकार

पौधा तैयार किया जाता है। यह विधि सीटू (situ) के नाम से भी प्रसिद्ध है। गुठली को मिट्टी में डालते समय कुछ विशेष बातें ध्यान में रखी जाती हैं। (१) गुठली की बोआई कलम करने के दो वर्ष पूर्व ही कर दी जाती है। (२) यह मिट्टी में २" नीचे रखी जाती है। (३) बोआई के लिए पेड़ पर का पका आम अच्छा सिद्ध होता है। जिस वृक्ष की गुठली बोनी हो उसके पके आम चुन लिए जाते हैं और लगाते समय उन्हीं का प्रयोग किया जाता है। (४) गुठलियों की बोआई केन्द्र में की जाती है। (५) एक गड्ढे में अनेक गुठलियाँ डाल दी जाती हैं। (६) इनके आपस की दूरी कुछ इंच रखी जाती है। (७) गुठलियों के अंकुरण के पश्चात् होनहार और स्वस्थ पौधा चुन लिया जाता है और शेष पौधे गड्ढे से निकाल कर फेंक दिये जाते हैं अथवा अन्यत्र रोप दिये जाते हैं। (८) यह छँटाई उस समय की जाती है जब कि पौधे की ऊँचाई १' की हो जाती है।

सीटू विधि में पौधे की देखभाल बड़ी सतर्कतापूर्वक की जाती है। पौधे की उपयुक्त वृद्धि के लिए समय पर पानी देना, खाद देना, निकाई-गुड़ाई करना आदि क्रियाएँ अत्यन्त आवश्यक होती हैं। पौधे में उस समय सिंचाई नहीं की जाती जब कि मानसून रहती है। किन्तु मानसून के पश्चात् आवश्यकतानुसार गड्ढे में पानी देते रहना चाहिए। गड्ढे में खाद की भी उचित मात्रा समय-समय पर दे दी जाती है। प्रायः इसे प्रति गुड़ाई के पश्चात् देते हैं। यह खाद द्रव रूप में दी जाती है क्योंकि इस अवस्था में यह शीघ्र पौधों की पहुँच में आ जाती है। गड्ढे में गुड़ाई की क्रिया महीने में एक बार अवश्य होनी चाहिए और ज्यों ही यह क्रिया समाप्त हो इसमें द्रव खाद का मिश्रण दे देना चाहिए। गड्ढे में खाद डालने की कोई आवश्यकता नहीं होती है जब कि उसमें खाद की उपयुक्त मात्र पहले ही डाल दी गई रहती है। पौधा जब कलम करने योग्य हो जाता है तो इसकी उपयुक्त सायन शाखा से उपयुक्त समय में कलम कर दी जाती है। इसके लिए सायन शाखा का चुनाव कलम करने के पूर्व ही कर लिया जाता है। जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा है, कलम करने की इनार्चिंग विधि सम्पूर्ण भारत में अधिकता से प्रयोग की जाती है। अतः सीटू पौधे की कलम इसी विधि से अधिक प्रचलित है। यद्यपि पश्चिमी-घाट-जैसे कुछ नम भागों में साइडग्रेफ्टिंग विधि भी प्रयोग की जाती है, किन्तु यह इनार्चिंग की समता में कम सफल है। कभी-कभी इस कलम के सायन बाजार में बिकने वाले कलम पौधे ही बनाए जाते हैं। इसके लिए अधिक शाखा-दार कलम खरीदी जाती है ताकि एक कलम से ही कई सीटू स्टाक पौधों की कलम की जा सके। कलम की अन्य शेष क्रियायें प्रयोग की जाने वाली विधि के अनुसार की जाती है।

जोड़ सम्पूर्ण हो जाने के पश्चात् कलम सायन के मातृ वृक्ष से पृथक कर दी जाती है और रूट स्टाक का ऊपरी सिरा भी काट कर निकाल दिया जाता है। इस क्रिया को ३-४ महीनें पश्चात् जोड़ पर बँधा हुआ कपड़ा भी अलग कर दिया जाता है। सीटू पौधा बाजार से खरीदे गए कलम की अपेक्षा अच्छी जाति पैदा करता है। किन्तु इसमें समय और परिश्रम अधिक लगता है। उद्यान में पौधे लगाने की दूसरी विधि है बाजार में बिकने वाले कलम पौधों की रोपाई। यह पौधे गड्ढों में सीधे लगा दिये जाते हैं। प्रायः यह बाजारो में गमलों में लगे हुए बिकते हैं। अतः गड्ढों में डालने के पूर्व इन्हें गमलों से अलग दिया जाता है। इस प्रकार की कलमें प्रायः वांछित जाति की नहीं मिल पातीं, क्योंकि बाजारों में बेचने वाले लोग व्यापारी होते हैं और कलम व्यापार के लिए तैयार करते हैं। उन्हें अपने लाभ की अधिक आकांक्षा होती है, कलम की उपयुक्तता पर कम। ऐसी कलम के चयन में कुछ बातों की सर्तकता रखी जाती है, जिनका उल्लेख पीछे किया गया था।

बाजार से खरीदे गये गमले वाली कलम जब उद्यान में लाई जाती है, तो उसे गडढ़े में डालने के पूर्व गमले से निकालना आवश्यक होता है। यदि कलम मिट्टी के गमले में न होकर मिट्टी के गेंद में होती है तो गमले के तोड़ने का प्रश्न नही उठता, ऐसे पौधे उसी रूप में लगा दिए जाते हैं। गमले तोड़ने में कुछ बात की विशेष सावधानी रखी जाती है-- गमला तोड़ते समय गमले की मिट्टी न फूटने पावे, और (२) न पौधे की जड़ें क्षतिग्रस्त हों। इसका सबसे बढ़िया ढंग यह है कि कलम की रोपाई के एक घन्टे पूर्व गमले की सिंचाई कर दी जाय। इससे गमले के उलटते ही मिट्टी का गोला बाहर चला आता है। इसके लिए बाँया हाथ गमले के पेंदे पर और दाहिना हाथ कलम की जड़ के पास रख कर गमला उलट दिया जाता है। ऐसा करने से बाँया हाथ ऊपर और दाँया हाथ नीचे कर गमला सरलता-पूर्वक निकाल लिया जाता है। यदि गमले की मिट्टी के निकलने में कोई कठिनाई हो तो पेंदे में किए गए छिद्र मे अँगुली डाल कर मिट्टी पर दबाव डाला जाता है। यदि इस प्रकार भी गमले का निकलना संभव न हो तो गमले को सावधानी के साथ फोड़ देनी चाहिए। गमले के तोड़ने में थोड़ी सी भी त्रुटि होने से मिट्टी के गोले के टूटने और जड़ों के घायल होने की आशंका होती है। अतः यह कार्य किसी पटु व्यक्ति द्वारा ही कराना चाहिये। टूटे टुकड़े उद्यान से दूर कर दिए जाते हैं और मिट्टी का गोला गडढ़े के केन्द्र में रख दिया जाता है। कलम की मिट्टी का गोला लगभग गड्ढे में उतनी ही गहराई पर रखा जाता है, जितनी गहराई पर गमले में रखा गया था अर्थात् मिट्टी का गोला गड्ढ़े में पूर्ण रूप से ढक जाना चाहिये। अधिक गहराई

में कलम की रोपाई अच्छी नहीं होती क्योंकि इससे कलम पौधे के तने का भाग मिट्टी से ढक जाता है। मिट्टी से ढका हुआ तना शीघ्र सड़ना प्रारम्भ कर देता है, जिससे पौधे का बढ़ाव सन्तोषजनक नहीं हो पाता। कभी-कभी ऐसे तनों पर बीमारी और कीड़ों का आक्रमण हो जाता है। कीड़ों में दीमक अधिक भयंकर है। कलम का जोड़ कदापि मिट्टी से नहीं ढकना चाहिए। सिंचाई करते समय इसे पानी से भी बचाना चाहिए क्योंकि यह पौधे का बहुत सुकुमार अंग होता है और शीघ्र क्षतिग्रस्त भी हो जाता है। कभी-कभी लोग इस ख्याल से कलम की जोड़ भूमि के भीतर कर देते हैं कि पौधा दृढ़ रहे और उसकी तीव्र गति वाली हवाओं से रक्षा हो सके। किन्तु यह उनका भ्रम है। वायु से पौधे की रक्षा करने के लिए वायु-रोक (wind-break) का प्रबन्ध कर दिया जाता है। वायु-रोक पर प्रकाश डाला जायगा।

गमले में रखी गई कलम जब अधिक आयु की हो तो उसे कदापि नहीं खरीदना चाहिए क्योंकि छोटे गमलों में बढ़ती हुई कलम की जड़ों के लिए बढ़ने के लिये नीचे की ओर स्थान नहीं मिल पाता, फलतः वे मुड़कर सिकुड़ जाती है और इस प्रकार उनकी अभिवृद्धि की प्रगति कुछ कम हो जाती है। इसके साथ ही इन्हें मिट्टी की एक निश्चित मात्रा से ही भोजन उपलब्ध करना पड़ता है जिसकी उपयोगिता कलम के बढ़ाव के साथ ही घटती जाती है। कलम वही अच्छी पड़ती है जो मातृ-वृक्ष से पृथक करने के दिन से लगभग प्रति ६ माह पश्चात् एक गमले से दूसरे गमले में स्थानान्तरित कर दी जाय। एक गमले के पश्चात् दूसरा गमला जो चुना जाय वह आकार में कुछ बड़ा होना चाहिए ताकि कलम के विकास में कोई व्यवधान न प्रस्तुत हो।

स्थानान्तरण—कलम का स्थानान्तरण करने के लिए उद्यान में गड्ढे एक निश्चित दूरी पर इस दृष्टिकोण से निर्मित किये जाते हैं कि उद्यान के निश्चित क्षेत्र में सूर्य का प्रकाश और फैलने के लिए आवश्यक स्थान पाते हुये अधिक-से-अधिक पौधे लगाये जा सकें। देहातों में बहुधा ऐसा देखा जाता है कि उद्यानों में लगाये गये वृक्ष या तो बहुत दूर-दूर लगे रहते हैं जिससे उनके मध्य काफी भूमि व्यर्थ छूटी रहती है या इतने घने लगे होते हैं कि उनके विकास के लिए अधिक स्थान नहीं मिल पाता है और न सूर्य का प्रकाश ही आवश्यकतानुसार प्राप्त हो पाता है। ऐसे वृक्षों की जड़ें भी अपने बढ़ाव के लिए अधिक स्थान नहीं पातीं। अतः इस प्रकार के उत्पादन से उत्पादक विशेष लाभ नहीं उठा पाता है। वैज्ञानिक रूप से फलोत्पादन करने पर उद्यान में वृक्ष बिना क्रम के नहीं लगाने के पूर्व ही उद्यान के सम्पूर्ण क्षेत्र में नाप-तौल कर वृक्ष लगाने के स्थान निर्धारित कर दिये जाते हैं और वहाँ कुछ चिह्न बना दिये जाते हैं ताकि गड्ढे निर्मित करते समय त्रुटि का अवसर न

रहे। 'ऐग्रीकल्चर और एनिमल हसबेण्डरी इन उत्तर प्रदेश' में उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा आम के उद्यान में वृक्षों का एक क्रम निर्धारित किया गया है जो इस प्रकार है :—

१—वर्गाकार	२—आयताकार	३—षटभुजाकार
४—क्विन्क्स	५—त्रिभुजाकार	६—कन्टूर क्रम

आयताकार और वर्गाकार क्रम प्रायः प्रयोग किए जाते हैं। आयताकार क्रम तो सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है, क्योंकि यह उत्पादक को बड़ी सरलतापूर्वक समझ में आ जाता है और शीघ्र ही इसका निर्धारण भी कर दिया जाता है। इसमें पौधों से पौधों और पंक्ति से पंक्ति की दूरी समान ही रखी जाती है। अर्थात् यदि एक पौधा दूसरे से ३६′ की दूरी पर है तो आयताकार या वर्गाकार आकृति की प्रत्येक भुजा ३६′ की होगी। इस विधि में वृक्ष कम कोण पर लगाये जाते हैं, जो सीधी पँक्ति निर्मित करते हैं। ऐसा होने से इसमें सिंचाई, गुड़ाई आदि क्रियाएँ दो दिशाओं से की जा सकती हैं। किन्तु पौधों की आपस की दूरी कम कर देने पर यह कार्य कुछ कठिन-सा हो जाता है, क्योंकि उत्पादक कभी-कभी अपने सीमित क्षेत्र में अधिक से-अधिक वृक्ष लगाने की चेष्टा करता है।

षटभुजाकार क्रम समत्रिबाहु त्रिभुज निर्मित करता है, जिससे प्रत्येक आकृति में दो त्रिभुज बन जाते हैं। प्रत्येक आकृति में ६ पेड़ आते हैं जो प्रथम विधि की अपेक्षा अधिक होते हैं। प्रायः वृक्षों की संख्या वर्गाकार विधि से १५% अधिक होती है। इस प्रकार प्रति एकड़ वृक्षों की संख्या बढ़ जाया करती है। इस विधि में सिंचाई और गुड़ाई तीन दिशाओं से की जा सकती है। इस विधि में वृक्षों के मध्य बहुत कम भूमि व्यर्थ होने पाती है किन्तु कभी-कभी वृक्षों की आपस की दूरी कम कर देने पर वृक्षों के बढ़ाव में व्यवधान प्रस्तुत हो जाता है। अतः प्रत्येक उत्पादक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए, कि वे वृक्षों की पारस्परिक दूरी कम न होने दें। षटभुजाकार क्रम का निर्धारण कोई कठिन कार्य नहीं है। खेत को वर्गाकार आकृति में विभाजित कर लेने के पश्चात् प्रत्येक वर्ग के कर्ण मिला देने से षटभुज आकृति बन जाती है। उत्पादकों को यही विधि प्रयोग में लानी चाहिए क्योंकि व्यापारिक दृष्टि से यह अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक है।

क्विन्क्स विधि वर्गाकार क्रम की ही भाँति होती है। केवल अन्तर यह होता है कि इसमें वर्ग के मध्य से एक और वृक्ष लगा दिया जाता है जब कि वर्गाकार विधि में ऐसा नहीं होता है। इससे उद्यान में वृक्षों की संख्या तो अवश्य बढ़ जाती है परन्तु वृक्षों की आपस भी दूरी घट जाती है। परिणामस्वरूप उत्पादक को सम्बन्धित टिलेज की क्रियाओं में कठिनाई होने लगती है। प्रायः इस विधि का

प्रयोग उस समय करते हैं, जहाँ अस्थायी वृक्षों में कुछ अस्थायी वृक्ष भी उगा लिए जाते हैं। ऐसी दशा में अस्थायी वृक्ष वर्ग के चारों कोनों पर लगाते हैं और मध्य में अस्थायी वृक्ष रोप दिया जाता है। यह अस्थायी वृक्ष बहुत कम आयु का होता है और उस समय उद्यान से निकाल दिया जाता है जब कि अस्थायी वृक्ष को कुछ असुविधा होने लगती है।

त्रिभुजाकार क्रम षटभुजाकार से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है किन्तु अन्तर यह है कि इसमें सम्पूर्ण खेत आयताकार रूप में विभाजित कर लिया जाता है। किनारों पर वृक्ष के स्थान भी निर्धारित कर लेते हैं और वहीं से एक किनारे से दूसरे किनारे को जाती हुई आयत को काटनेवाली रेखायें खींचीं जाती हैं। इस प्रकार त्रिभुज बन जाता है। वृक्षों की रोपाई त्रिभुज के प्रत्येक शीर्ष बिन्दु पर की जाती है। इसमें वर्गाकार क्रम की भाँति अधिक वृक्ष नहीं आ पाते। अतः यह अधिकांश रूप में प्रयोग नहीं होता।

ऊपर लिखित समस्त क्रम मैदानी भागों में ही प्रयोग किए जाते हैं जहाँ की भूमि चौरस और समान अन्तर में होती है। किन्तु पर्वतीय भागों में यह विधियाँ नहीं प्रयुक्त होतीं क्योंकि वहाँ की भूमि ढालवाँ होती है और वहाँ भूमि क्षरण के अवसर होते हैं। ऐसे स्थानों पर कन्टूर-विधि काम में लाई जाती है। इस विधि में वृक्षों की पारस्परिक दूरी कम रखी जाती है। इस में सीधी रेखाएँ ऊपर से नीचे की ओर आते हुए ढाल के साथ निर्धारित कर ली जाती हैं और उन्हीं रेखाओं पर वृक्षों के स्थान भी निश्चित कर लिए जाते हैं। यदि भूमि अधिक ढालवाँ होती है तो वृक्ष की रोपाई के लिए टिरेसिंग (Terracing) विधि प्रयोग की जाती है। टिरेसिंग की दो विधियाँ काम में लायी जाती है—बेंच टिरेस और साधारण टिरेस। प्रथम ढङ्ग १०% ढलाव पर प्रयोग में लाया जाता है और द्वितीय क्रम १३% ढाल पर अच्छा सिद्ध होता है किन्तु दूसरी विधि अधिक मँहगी पड़ती है। वृक्षों की रोपाई की इस विधि में सिंचाई के कम अवसर होते हैं और सिंचाई की भी जाती है तो ऊपर से नीचे की ओर। ऐसे उद्यान को वर्षा से अधिक आशा रहती है। शुष्क ऋतु में छिटकाऊँ विधि (Sprinkling Methods) प्रयोग किया जाता है।

खाद—अभी तक आम को 'कितनी खाद दी जाय' यह निश्चय नहीं हो सका है। कहीं कोई खाद प्रयोग की जाती है तो कहीं अन्य। किसी उद्यान में गोबर की खाद दी जाती है तो कहीं फर्टिलाईजर आदि। पौधों की अवस्था के अनुसार खादों का परिमाण भी बढ़ता जाता है। ट्रोपिकल या उष्ण भाग में किशोर पौधों को मानसून के दिनों में और सबट्रोपिकल भागों में फूल आने के दो माह पूर्व खाद दी जाती है।

वर्ष की आयु के पौधे को १० सेर अच्छी सड़ी गोबर की खाद, ५ सेर उड़ेश

और २½ सेर बोनमील का मिश्रण देना स्वीकृत किया गया है। पौधा ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों खाद की मात्रा बढ़ा दी जाती है। प्रति वर्ष गोबर की खाद में ५ सेर उडऐश और २½ सेर बोनमील का मिश्रण देना स्वीकृत किया गया है। पौधा ज्यों-त्यों बड़ा होता है त्यों-त्यों खाद की मात्रा बढ़ा दी जाती है। प्रति वर्ष गोबर की खाद में ५ सेर १० पौंड उडऐश १ सेर और १½ सेर बोनमील बढ़ा दिया जाता है जब तक कि खाद की कुल मात्रा ५० सेर तक न पहुँच जाय।

पौधे को कितनी खाद दी जाय इसका काफी अन्वेषण हो चुका है। बर्न्स और प्रयाग ने 'दी बुक आफ दी मैन्गो' में इस बात का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—"हम लोग एक वर्ष की आयु वाले पौधों के हेतु २० पौंएड गोबर की खाद स्वीकृत करते हैं और पौधे की आयु के बढ़ने के साथ-साथ खाद में १० पौएड की वृद्धि करते जाते हैं जब तक खाद की कुल मात्रा १०० पौएड तक नहीं पहुँच जाती है। इसी प्रकार बोनमील प्रति वृक्ष (एक वर्ष की अवस्था वाले) ५ पौंएड के हिसाब से दी जाती है और प्रति वर्ष एक पौएड की वृद्धि कुल मात्रा के १५ पौंएड पहुँचने तक की जाती है। उडऐश १० पौएड प्रति वृक्ष दिया जाता और कुल परिमाण के ३० पौएड पहुँचने तक प्रति वर्ष २ पौंएड की वृद्धि की जाती है।" खाद की यह निर्धारित मात्रा प्रायः अब भी अधिकता से प्रयोग में नहीं लाई जाती है। अलन ने गोबर की खाद की मात्रा १० पौंड बताई है और कुल मात्रा के ४० पौंड पहुँचने तक प्रति वर्ष ३ पौंड की वृद्धि या ५५ पौंड पहुँचने तक ५ पौएड की वृद्धि निश्चित की है। उन्होंने नीम की खली डालने पर भी जोर दिया है, यह मात्रा ३ पौंड से ६ पौएड तक दी जाती है। उनके अनुसार बोनमील और पोटाश सल्फेट का मिश्रण ३ और १ के अनुपात में दिया जाता है जब तक की कुल मात्रा १२ पौंड तक नहीं पहुँच जाती है। कुछ लोगों ने आम के वृक्ष को गोबर की खाद न देने पर जोर दिया है। पोपेनों ने कहा है कि गोबर की खाद फलोत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं होती। क्यूबा और फलोरिडा में मलगोवा वृक्ष पर किये गये प्रयोग से यह ज्ञात हुआ है कि पोटेशिक फर्टिलाइजर से आम के फलों का आकार बड़ा होता है। गोबर की खाद के स्थान पर हरी खाद (ग्रीन मैन्योरिंग) भी दी जा सकती है। बाल कृष्णमूर्ति और योगराज ने बकरी की मेमनी, तालाब और नदियों की सिल्ट वाली मिट्टी या अन्य नाइट्रोजन खादें स्वीकृत की हैं। उन्होंने सुपर फास्फैट या बोनमील भी ५ या ६ पौएड प्रति वृक्ष देने का उल्लेख किया है।

इन खादों के देने का उपयुक्त समय मानसून के पूर्व होता है जब कि वर्षा मामूली ढंग से होती है। जिन स्थानों पर अधिक वर्षा होती है, वहाँ वर्षा बीतने पर खाद दी जाती है। खाद देने का ढङ्ग यह होता है कि वृक्ष के तने के चारों ओर

अँगूठी के आकार की एक छिछली नाली बना ली जाती है जिसका आकार २′ चौड़ा और ½′ गहरा होता है। नाली तने से १′ की दूरी पर होती है किन्तु वृक्ष ज्यों-ज्यों अधिक आयु का होता जाता है नाली की तने से दूरी उसी प्रकार बढ़ाते जाते हैं। प्रायः प्रति वर्ष नाली का वाह्य किनारा ½′ बढ़ा दिया जाता है और आन्तरिक किनारा ½′ और दूर कर दिया जाता है।

बिहार में सबौर नामक 'फ्रूट एक्सपेरीमेन्ट स्टेशन' पर सेन, राय तथा पटेल द्वारा क्रमशः १९४५, १९४७, १९४९ में लँगड़ा आम की एक वर्ष की कलम पर प्रयोग किये गये कलम जून १९४० में अपने स्थान से स्थानान्तरित बालू में लगा दिये गये और उसे वहाँ नाइट्रोजन फासफोरस और पोटाश का घोल दिया। मई सन् १९४१ तक दिया गया। इससे ज्ञात हुआ कि पौधों को नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है किन्तु फासफोरस और पोटाश की कम। चूँकि बिहार की भूमि नाइट्रोजन में निर्धन और पोटाश में धनी है। अत• पौधों ने अत्यधिक नाइट्रोजन की पूर्ति पर न तो नाइट्रोजन का ही अभाव दिखलाया और न पोटाश का ही क्योंकि मिश्रण में नाइट्रोजन की मात्रा अधिक रखी गई थी। नाइट्रोजन पौधों के आवश्यक अन्य साधारण तत्वों की भी पूर्ति करते पाया गया क्योंकि कलम-पौधे को ऐसे तत्व नहीं प्रदान किए गये थे। पौधे में फासफोरस की कमी अनुभव की गई। इस प्रयोग से यह ज्ञात किया गया कि कलम-पौधों को फासफोरस और पोटाश की उपस्थिति में नाइट्रोजन देने पर पौधे का बढ़ाव सन्तोषप्रद होता है। फूल आते समय या फल आते समय पौधे में उसकी आवश्यकता के किसी भी तत्व की कमी नहीं होनी चाहिए। इसके लिए यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वृक्ष को नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश क्रमशः एक डिसमल ६ पौण्ड और १ दशमलव ४ पौण्ड देना चाहिये। इन तत्वों की पूर्ति २०० पौण्ड गोबर की खाद, १० पौण्ड बोनमील, ३० पौण्ड उडऐश, ४ पौण्ड अरण्ड की खली और २ पौण्ड औमोनियम सल्फेट का मिश्रण देना चाहिए।

सबौर स्टेशन पर इस बात का भी अनुभव किया गया है कि औमोनियम सल्फेट के रूप में पौधे को नाइट्रोजन देना अत्यन्त उपादेय है क्योंकि इसका फल की वृद्धि पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके देने का उपयुक्त समय जून का माह अथवा अक्टूबर होता है। किन्तु प्रायः जून में ही डालना अच्छा होता है। औमोनियम सल्फेट एक बहुत शीघ्र क्रियाशील नाइट्रोजन की खाद है जो शीघ्र ही पानी में घुल कर पौधों के काम आने लगती है। यह तीन माह की अवधि में ही पौधे के बढ़ाव पर प्रभाव डालती है और उसे स्वस्थ बना देती है। इसके भूमि में देने का ढंग यह है कि वृक्ष के तने के चारों ओर ३,४′ चौड़ा अंगूठी आकार

का एक गड्ढा बना लिया जाता है, फिर उसे खोद कर खाद मिला ली जाती है। यह खाद ऊपरी धरातल पर ही दी जाती है, अन्यथा इसके घुल कर जड़ों की गहराई तक चले जाने का डर रहता है। औमोनियम सल्फेट देने के पश्चात् वृक्ष की एक हल्की सिंचाई कर दी जाती है। इसे जोरों की वर्षा होने पर खेत में कदापि नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे यह घुल कर भूमि की निचली धरातल में चला जाता है जो पौधों की पहुँच के बाहर होता है। यदि किसी स्थान पर जून में प्रचुर वर्षा होती है तो इसका प्रयोग जून में न कर अक्टूबर में करना चाहिए जब कि मानसून समाप्त हो गई हो या हल्की वर्षा होती हो।

फल देने वाले पौधों को किशोर पौधों की अपेक्षा अधिक खाद दी जाती है। वृक्षों के अधिक बड़ा हो जाने पर खाद २-३ वर्ष के अन्तर पर भी दी जा सकती है। वाइगिल साहब ने आम के वृक्षों की नाइट्रोजन और फासफोरस से अधिक आवश्यकता समझी और इसकी पूर्ति के लिए बारह वर्षीय और २५ वर्षीय वृक्षों के लिए खाद की निम्नलिखित मात्रा स्वीकृति की :—

१२ वर्ष की आयु वाले वृक्ष	बोनमील	१५ पौंड
	गोबर की खाद	५० ,,
	औमोनियम सल्फेट	५ ,,
	अथवा	
	गोबर की खाद	५० ,,
	निकोफोंस सेकंड ग्रेड	६ ,,
२५ वर्ष की आयु वाले वृक्ष	बोनमील	२२ पौंड
	गोबर की खाद	७५ पौंड
	औमोनियम सल्फेट	६ पौंड
	अथवा	
	गोबर की खाद	७५ पौंड
	निकोफोस सेकंड ग्रेड	१२ पौंड

उनका कथन यह है कि वृक्षों की खाद की मात्रा छोटे या बड़े आकार के अनुसार परिवर्तित की जा सकती है। मैकमिलन ने कहा है कि सुपर-फासफेट एक अंश या रक्तमील एक अंश, बोनमील १½ औन्स, पोटेशियम सल्फेट एक औन्स का का मिश्रण पौधों को देना लाभकर होता है। उनके अनुसार एक वर्षीय पौधे को प्रति वृक्ष ६ औन्स, द्विवर्षीय पौधों को १२ औन्स और ६ वर्षीय पौधों को ४ पौन्ड मिश्रण देना चाहिए। फिर फलोरिडा में किए गए प्रयोग में १ पौएड फर्टीलाइजर में ६% नाइट्रोजन, ६% फासफोरस और ४% पोटाश एक वर्षीय कलम पौधे को वर्ष में दो

बार देना स्वीकार किया गया। आम में दक्षिण भारत में १० पौंड कैलिशियम साल्ट दिया जाता है। प्रत्येक वर्ष वृक्ष के चारों ओर की भूमि उस समय खोद ली जाती है जब कि पौधे की ऊँचाई १०′ या अधिक है। मिट्टी की खुदाई वृक्ष के चारों ओर १० से १२′ की चौड़ाई में की जाती है। जहाँ सिंचाई की सुविधा होती है वहाँ यह गुड़ाई जनवरी और फरवरी में की जाती है। किन्तु सिंचाई की सुविधा न होने पर या उन स्थानों पर जहाँ सिंचाई की नहीं जाती, वहाँ इन खुदे हुए गड्ढों में फसल काटने के बाद खाद दी जाती है। खुदाई का अर्थ यह होता है कि वृक्ष के पास की मिट्टी में दी जाने वाली खाद भली-भाँति मिल जाय और पौधे की जड़ें उससे लाभ उठा सकें।

फ्लोरिडा में खाद देने की तीन अवस्थाएँ बना ली गई हैं। प्रथम अवस्था किशोर पौधे के जन्म से लेकर कलम करने तक होती है। दूसरी अवस्था उद्यान में लगाने के पश्चात् फूलने-फलने के पहिले तक होती है और तीसरी अवस्था फूलने-फलने वाली होती है।

प्रथम अवस्था—इस अवस्था में खाद बीयड़ या नर्सरी में की जाती है। खाद में नाइट्रोजन, पोटाश, और फासफोरस का उपयुक्त मिश्रण इस प्रकार दिया जाता है कि यह पूर्ण फर्टिलाइजर बन जाय और पौधे की आवश्यकता की पूर्ति करे। नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश को प्रायः N. P. R. के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मिश्रण में इनका अनुपात ४ : ७ : ५ या ४ : ६ : ३ अथवा बलुई भूमि में ५ : ५ : ५ होता है। इस मिश्रण के अतिरिक्त नर्सरी में २५% नाइट्रोजन और दिया जाता है। नर्सरी में बीमारी फैलाने वाले फन्जाइयों को भी मारने के लिए प्रबन्ध किया जाता है। एक वृक्ष के लिए पूर्ण फर्टीलाइजर की एक खुराक ४ औंस होती है। सिंचाई के साथ यह खुराक ४ सप्ताह तक दी जाती है। खाद में न्यूट्रीशन स्प्रे (Nutrition Spray) का भी प्रयोग होता है। इसमें ट्राइबेसिक कापर २ पौण्ड, जिन्क सल्फेट २ पौंड, मैंगनीज सल्फेट १ पौंड, हाईड्रेटेड लाइम प्रति १०० गैलन पर १ से ५ पौंड दिया जाता है। यदि भूमि बलुई या अम्लीय हो तो उसमें घुलन-शील मैंगनीज का एक-दो इकाई अंश डाल देना अधिक लाभप्रद होता है।

द्वितीय अवस्था—यह अवस्था उस समय से प्रारम्भ होती है जब कि कलम उद्यान में लगा दी जाती है और उस समय तक रहती है जिसके ठीक पश्चात् वृक्ष में फल-फूल आना प्रारम्भ हो जाता है। जब पौधों की आयु लगाने के पश्चात् २-३ वर्ष की हो जाती तो प्रत्येक नये अंकुर को सुरक्षित रखने के लिये फन्जीसा-इडल स्प्रे (Fungicidal Spray) दिया जाता है। इस स्प्रे में जिंक भी मिला दिया जाता है और इसे वर्ष में १-२ या ३ तीन बार प्रयोग करते हैं। इन वृक्षों के

का एक गड्ढा बना लिया जाता है, फिर उसे खोद कर खाद मिला ली जाती है। यह खाद ऊपरी धरातल पर ही दी जाती है, अन्यथा इसके घुल कर जड़ों की गहराई तक चले जाने का डर रहता है। औमोनियम सल्फेट देने के पश्चात् वृक्ष की एक हल्की सिंचाई कर दी जाती है। इसे जोरों की वर्षा होने पर खेत में कदापि नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे यह घुल कर भूमि की निचली धरातल में चला जाता है जो पौधों की पहुँच के बाहर होता है। यदि किसी स्थान पर जून में प्रचुर वर्षा होती है तो इसका प्रयोग जून में न कर अक्टूबर में करना चाहिए जब कि मानसून समाप्त हो गई हो या हल्की वर्षा होती हो।

फल देने वाले पौधों को किशोर पौधों की अपेक्षा अधिक खाद दी जाती है। वृक्षों के अधिक बड़ा हो जाने पर खाद २-३ वर्ष के अन्तर पर भी दी जा सकती है। वाइगिल साहब ने आम के वृक्षों की नाइट्रोजन और फासफोरस से अधिक आवश्यकता समझी और इसकी पूर्ति के लिए बारह वर्षीय और २५ वर्षीय वृक्षों के लिए खाद की निम्नलिखित मात्रा स्वीकृति की :—

१२ वर्ष की आयु वाले वृक्ष	बोनमील	१५ पौंड
	गोबर की खाद	५० ,,
	औमोनियम सल्फेट	५ ,,
	अथवा	
	गोबर की खाद	५० ,,
	निकोफोंस सेकंड ग्रेड	६ ,,
२५ वर्ष की आयु वाले वृक्ष	बोनमील	२२ पौंड
	गोबर की खाद	७५ पौंड
	औमोनियम सल्फेट	६ पौंड
	अथवा	
	गोबर की खाद	७५ पौंड
	निकोफोस सेकंड ग्रेड	१२ पौंड

उनका कथन यह है कि वृक्षों की खाद की मात्रा छोटे या बड़े आकार के अनुसार परिवर्तित की जा सकती है। मैकमिलन ने कहा है कि सुपर-फासफेट एक अंश या रक्तमील एक अंश, बोनमील १½ औन्स, पोटेशियम सल्फेट एक औन्स का का मिश्रण पौधों को देना लाभकर होता है। उनके अनुसार एक वर्षीय पौधे को प्रति वृक्ष ६ औन्स, द्विवर्षीय पौधों को १२ औन्स और ६ वर्षीय पौधों को ४ पौन्ड मिश्रण देना चाहिए। फिर फलोरिडा में किए गए प्रयोग में १ पौएड फर्टीलाइजर में ६% नाइट्रोजन, ६% फासफोरस और ४% पोटाश एक वर्षीय कलम पौधे को वर्ष में दो

बार देना स्वीकार किया गया। आम में दक्षिण भारत में १० पौंड कैल्शियम साल्ट दिया जाता है। प्रत्येक वर्ष वृक्ष के चारों ओर की भूमि उस समय खोद ली जाती है जब कि पौधे की ऊँचाई १०′ या अधिक है। मिट्टी की खुदाई वृक्ष के चारों ओर १० से १२′ की चौड़ाई में की जाती है। जहाँ सिंचाई की सुविधा होती है वहाँ यह गुड़ाई जनवरी और फरवरी में की जाती है। किन्तु सिंचाई की सुविधा न होने पर या उन स्थानों पर जहाँ सिंचाई की नहीं जाती, वहाँ इन खुदे हुए गड्ढों में फसल काटने के बाद खाद दी जाती है। खुदाई का अर्थ यह होता है कि वृक्ष के पास की मिट्टी में दी जाने वाली खाद भली-भाँति मिल जाय और पौधे की जड़ें उससे लाभ उठा सकें।

फ्लोरिडा में खाद देने की तीन अवस्थाएँ बना ली गई हैं। प्रथम अवस्था किशोर पौधे के जन्म से लेकर कलम करने तक होती है। दूसरी अवस्था उद्यान में लगाने के पश्चात् फूलने-फलने के पहिले तक होती है और तीसरी अवस्था फूलने-फलने वाली होती है।

प्रथम अवस्था—इस अवस्था में खाद बीयड़ या नर्सरी में की जाती है। खाद में नाइट्रोजन, पोटाश, और फासफोरस का उपयुक्त मिश्रण इस प्रकार दिया जाता है कि यह पूर्ण फर्टिलाइजर बन जाय और पौधे की आवश्यकता की पूर्ति करे। नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश को प्रायः N. P. R. के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मिश्रण में इनका अनुपात ४ : ७ : ५ या ४ : ६ : ३ अथवा बलुई भूमि में ५ : ५ : ५ होता है। इस मिश्रण के अतिरिक्त नर्सरी में २५% नाइट्रोजन और दिया जाता है। नर्सरी में बीमारी फैलाने वाले फन्जाइयों को भी मारने के लिए प्रबन्ध किया जाता है। एक वृक्ष के लिए पूर्ण फर्टीलाइजर की एक खुराक ४ औंस होती है। सिंचाई के साथ यह खुराक ४ सप्ताह तक दी जाती है। खाद में न्यूट्रीशन स्प्रे (Nutrition Spray) का भी प्रयोग होता है। इसमें ट्राइबेसिक कापर २ पौण्ड, जिन्क सल्फेट २ पौंड, मैंगनीज सल्फेट १ पौंड, हाईड्रेटेड लाइम प्रति १०० गैलन पर १ से ५ पौंड दिया जाता है। यदि भूमि बलुई या अम्लीय हो तो उसमें घुलनशील मैंगनीज का एक-दो इकाई अंश डाल देना अधिक लाभप्रद होता है।

द्वितीय अवस्था—यह अवस्था उस समय से प्रारम्भ होती है जब कि कलम उद्यान में लगा दी जाती है और उस समय तक रहती है जिसके ठीक पश्चात् वृक्ष में फल-फूल आना प्रारम्भ हो जाता है। जब पौधों की आयु लगाने के पश्चात् २-३ वर्ष की हो जाती तो प्रत्येक नये अंकुर को सुरक्षित रखने के लिये फन्जीसाइड्ल स्प्रे (Fungicidal Spray) दिया जाता है। इस स्प्रे में जिंक भी मिला दिया जाता है और इसे वर्ष में १-२ या ३ तीन बार प्रयोग करते हैं। इन वृक्षों के

लिए पूर्ण फर्टिलाइजर मिश्रण इस प्रकार है। ४-५ नाइट्रोजन, ७-६ फासफोरस और ३-५ पोटाश होता है जिसमें मैंगनीशियमआक्साइड का घोल १·५% और ३०-४०% नाइट्रोजन दिया जाता है। यह मिश्रण उद्यान में पौधा लगाने के शीघ्र पश्चात् ½ पौंड से ½ पौंड प्रति वृक्ष दी जाती है। यह खाद प्रथम वर्ष में ३० दिनों के अन्तर में प्रयोग की जाती है किन्तु नवम्बर और फरवरी के माह में इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। प्रथम वर्ष के पश्चात् मिश्रण की मात्रा बढ़ा कर एक पौंड कर दी जाती है। २ से ३ वर्ष की आयु में यह मात्रा ३ से ४ पौंड कर जाती और खाद देने की अवधि प्रति ६० दिनों पर रखी जाती है।

तृतीय अवस्था—यह अवस्था द्वितीय अवस्था के शीघ्र पश्चात् ही प्रारम्भ होती है। इसमें वृक्ष फूलता तथा फल देता है। जब वृक्ष में मंजर (फूल) निकलने प्रारम्भ हो जाएँ तो शीघ्र प्राप्त होने वाली नाइट्रोजन ¼ पौन्ड प्रति वृक्ष के हिसाब से हल्की सिंचाई के साथ दी जाती है। इस मिश्रण के ३-४ सप्ताह पश्चात् पूर्ण मिश्रण दिया जाता है जिसमें नाइट्रोजन ४-५; फासफोरस ५-८, पोटाश ५-८ और मैगनीशियम ३ होता है। इस मिश्रण में जीवांश के लिए २५-३०% नाइट्रोजन भी मिलाई जाती है। यह मिश्रण प्रत्येक वृक्ष को १ पौण्ड के हिसाब से दिया जाता है। फूलने-फलने वाले वृक्ष में ताँबा, जिन्क और मैंगनीज भी दिया जाता है ताकि फङ्गाई की वृद्धि रुक सके।

फ्लोरिडा में अलग-अलग भूमियों पर प्रयोग द्वारा भिन्न-भिन्न खादें निश्चित की गई हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

हल्की अम्लीय क्रिया देने वाली भूमि—इस भूमि में मैंगनीशियम और कैलशियम का अभाव होता है। अतः बेसिक स्लेग या डोलोमाइटिक लाइम स्टोन (Dolomitic lime stone) उद्यान में १ टन प्रति एकड़ के हिसाब से दी जाती है। इसके साथ ही भूमि में ५० से १०० पौण्ड मैंगनीज सल्फेट, ताँबा २५-५० पौण्ड, जिन्क सल्फेट १० से १५ पौण्ड प्रति एकड़ ४-६ वर्ष के अन्तर पर भूमि में दिया जाता है।

अधिक अम्लीय भूमि—ऐसी भूमि में जिन्क, कापर या ताँबा और मैंगनीज का अभाव होता है। इसका अम्लीय प्रभाव समाप्त करने के लिए भूमि में बेसिक स्लेग या डोलोमाइट ३,००० पौण्ड प्रति एकड़ के हिसाब से या पौधों को लगाने के पूर्व ही डाला जाता है। इसके पश्चात् पूर्ण फर्टिलाइजर का मिश्रण भूमि में दिया जाता है।

चूने वाली भूमि (Calcarious soil)—इस भूमि में जिन्क, ताँबा और मैंगनीज का अभाव होता है। इसे आम के उद्यान के योग्य बनाने के हेतु बेसिक कापर

२ से ४ पौण्ड, मैंगनीशियम सल्फेट ४ पौण्ड और जिन्क २ पौण्ड प्रति १०० गैलन पानी के साथ छिड़काव रूप में प्रयोग किया जाता है। यदि भूमि ऊसर होती है तो उसमें भी छिड़काव का यही अनुपात रखा जाता हैं।

खाद पहली बार बसंत ऋतु और दूसरी बार ग्रीष्म में दी जाती है। इस प्रयोग के अनुसार खाद की मात्रा दूसरे वर्ष दूनी कर दी जाती है और वृक्ष के बढ़ाव के साथ ही उसी अनुपात में खाद की मात्रा भी बढ़ा दी जाती है। पूर्णता को प्राप्त वृक्ष प्रति वर्ष २० से २४ पौण्ड मिश्रण पाते हैं जो उन्हें वर्ष में दो बार में न देकर चार बार में दिया जाता है।

कोंकन के कुछ उत्पादकों ने इस बात का अनुभव किया है कि आम को कुछ साधारण नमक की भी आवश्यकता होती है और वे इसे खाद की भाँति प्रयोग भी करते हैं। पारन जापाइल ने भी इसका उल्लेख किया है कि कोंकन में प्रयोग किए जाने वाले नमक की नकल दक्षिण में भी की जाने लगी है। बर्न्स और प्रयाग ने भी अपने पूना के एक प्रयोग से परिणाम निकाला कि नमक का प्रभाव पौधे के खून पर कोई प्रभाव नहीं डालता। वे यहाँ गोनेहालिक साहब के उक्त कथन का विरोध करते हैं। उडड्रो ने भी कहा है कि बम्बई के निकट कुछ उत्पादक साधारण १० पौण्ड प्रति वृक्ष के हिसाब से सितम्बर माह में प्रयोग करते हैं। रत्नागिरी के कुछ उत्पादकों ने आम और नारियल के वृक्ष में खाद का कुछ चक्र बनाया है जो निम्नलिखित है :

प्रथम वर्ष—पशुओं की खाद (गोबर मूत्र आदि)

द्वितीय वर्ष—मछली की खाद

तृतीय वर्ष—साधारण नमक (१० पौण्ड प्रति वृक्ष)। साधारण नमक का प्रयोग लाभदायक होता है या यदि लाभदायक नहीं होता तो कोई हानि भी नहीं पहुँचाता है, विशेषकर उन स्थानों में जहाँ अत्यधिक वर्षा होती है और जल-वायु नम है। किन्तु कृषि विभाग ने इसे पौधे के वानस्पितक भागों की वृद्धि में बाधा डालने वाली खाद माना है।

दुर्बल वृक्ष जिनके पत्ते पीले पड़ रहे हों, बढ़ाव रुक गई हो और उपज अच्छी न दे रहे हों तो उनकी आयु ६ से १० वर्ष तक होने पर ५ पौन्ड और १० से २० वर्ष के होने पर १० पौण्ड के हिसाब से औमोनियम सल्फेट दी जाती है।

सिंचाई—प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि आम की कलम लगाने के प्रथम वर्ष से चतुर्थ वर्ष तक सिंचाई की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। कलम लगाने के ६ महीने पश्चात् तक बर्न्स और प्रयाग के अनुसार प्रति तीसरे दिन सिंचाई कर देनी चाहिए। इस आयु के पश्चात् हफ्ते में एक दिन सिंचाई कर देनी चाहिए।

यदि मौसम शुष्क न रहे तो १० या १४ दिनों की अवधि में एक बार सिंचाई करनी हानिकर नहीं होती है। इस आयु में चूँकि पौधे का बढ़ाव होता रहता है और उसकी जड़ें भूमि में फैलती भी रहती हैं अतः उनके पानी की आवश्यकता की पूर्ति में देरी नहीं करनी चाहिए। उन स्थानों पर जहाँ जून से सितम्बर तक अधिक वर्षा होती है और भूमि भी काफी गहरी है वहाँ पौधों की जाड़ों में सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि उन्हें जल की काफी मात्रा प्राप्त हो जाती है किन्तु यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिए कि भूमि में अक्टूबर के बाद अधिक नमी का उपस्थित होना पौधों के बढ़ाव के लिए एक आशंका उत्पन्न कर देता है। जिन स्थानों पर वर्षा कम होती है और भूमि बलुई या छिछली होती है वहाँ जाड़े में भी सिंचाई करनी पड़ती है। यह सिंचाई नवम्बर-दिसम्बर में कर दी जाती है। चूँकि आम के वृक्षों में जाड़े की ऋतु के समाप्त होते-होते फूल आना शुरू हो जाते हैं इसलिए पौधों की उपज पर जाड़े की सिंचाई का अधिक प्रभाव पड़ता है।

भारत के कुछ भागों में आम की बिलकुल ही सिंचाई नहीं की जाती है। किन्तु आम की कुछ मात्रा में सिंचाई कर देना लाभकर सिद्ध होता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आम के वृक्ष की सिंचाई मानसून के समाप्त होने से जाड़े भर करते रहना चाहिए? कुछ लोगों ने इस अवधि में एक या दो बार सिंचाई करना स्वीकार किया है जो उचित भी है, क्योंकि सिंचाई के पश्चात् वृक्ष में जो फूल आते हैं वे देर तक टिके रहते हैं और इन फलों का आकार भी बड़ा होता है।

पौधों में पानी देने की विधि स्थान-स्थान पर भिन्न है। कोंकन में कुओं से पानी खींच कर मिट्टी के घड़ों द्वारा पौधों की जड़ों तक पहुँचाया जाता है किन्तु यह ढंग बहुत व्ययशील तथा श्रम-साध्य होता है। मलाबार-घाट पर भी शुष्क और ग्रीष्म ऋतु में हाथ द्वारा ही सिंचाई की जाती है। हगिन्स साहब ने अपनी पुस्तक 'दी मैन्गों इन हवाई' में लिखा है कि आम के वृक्ष को प्रति वर्ष ५०″ से ७०″ की सिंचाई करनी चाहिए और अत्यधिक सिंचाई उस समय करनी चाहिए जब कि पौधे में फूल आने की तिथि निकट आ जाय। उनका कहना है कि अत्यधिक सिंचाई फूल और फल आने वाली मौसम में दो-तीन महीने तक रोक देनी चाहिए। फसल की कटाई के पश्चात् भी सिंचाई की जाती है और वृक्ष को उपयुक्त खाद भी प्रदान की जाती है ताकि अगली फसल में वह अच्छी उपज दे सके।

आम के उद्यान की सिंचाई कई यन्त्रों की सहायता से की जाती है जो प्रायः पानी के साधन पर निर्भर करता है। यदि उद्यान बड़ा है और कुआँ बनाना तथा बोरिंग कर के ट्यूब बेल स्थापित करने की सुविधा है तो सिंचाई में आसानी होती है।

किन्तु उद्यान के छोटा होने पर कुँए में रहट लगा देना ही यथेष्ट होता है। कहीं-कहीं पम्पों की व्यवस्था की जाती है और इससे अधिक सिंचाई का काम लिया जाता है। यदि नदी या तालाब से पानी मिल सकता हो तो सिंचाई के अन्य यन्त्र प्रयोग किये जाते हैं। प्रायः हमारे प्रदेश में सिंचाई की दो विधियाँ प्रचलित हैं—रिंग विधि और बेसिन विधि। ये विधियाँ उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा स्वीकृत की गई हैं। रिंग विधि में पानी मुख्य नाली से ले जाया जाता है और उससे सहायक नालियाँ आम की पंक्तियों के बीच से निकाली जाती हैं। पुनः इस सहायक नाली से उपसहायक नालियाँ वृक्षों के पास का अंगूठी आकार बनाते हुए समकोण पर बनाई जाती हैं। अँगूठी-आकार के ही कारण इसे रिंग विधि कहते हैं। इसमें वृक्ष मध्य में रहता है और उसके पश्चात् कटोरी-आकार का एक प्लेटफार्म छोड़ दिया जाता है। इस प्लेटफार्म के बाद सिंचाई की नाली रहती है, जिसमें उस सहायक नाली से पानी आता है। बेसिन विधि में इस विधि से थोड़ा अन्तर यह होता है कि इसमें सहायक नालियाँ आम की पंक्तियों में ही बनाई जाती हैं ताकि वृक्ष नाली के मध्य पड़ें। इससे केवल एक बार में सहायक नाली द्वारा वृक्षों की एक ही पंक्ति सींची जाती है जब कि रिंग विधि में दो पंक्तियाँ अभिसिंचित होती हैं। रिंग विधि बेसिन की अपेक्षा अच्छी पड़ती है क्योंकि इसमें पानी कम लगता है और यह वैज्ञानिक भी है जैसा चित्रों से स्पष्ट होता है।

सम्बन्धित टिलेज—पौधों को खाद और पानी देने के पश्चात् गुड़ाई-निकाई की भी आवश्यकता होती है। हर सिंचाई के पश्चात् साधारण तौर से १ या २ गुड़ाई कर दी जाती है और गड्ढे में उगी घासें या खर-पतवार निकाल कर बाहर कर दिये जाते हैं। यही क्रिया सम्बन्धित टिलेज कही जाती है। जब पौधे गड्ढे में स्थायी रूप से लग जाते हैं तो हलों, हैरो या कल्टीवेटरों द्वारा जोतकर खुला बना दिया जाता है ताकि मिट्टी सूर्य के प्रकाश में अधिक-से-अधिक जल सके, और पानी बरसने पर पानी की मात्रा शोषित कर सके। प्रायः उद्यान में दी हुई खाद भूमि के ऊपरी धरातल पर ही छोड़ दी जाती है या ऊपर से गिरी पंक्तियाँ आदि भी धरातल पर ही पड़ी रहती हैं। हैरोइंग या गुड़ाई की क्रिया से इन्हें मिट्टी में समान रूप से मिला दिया जाता है। कभी-कभी उद्यान के खाली स्थान में कुछ फसलें भी उगा ली जाती हैं। इससे यह लाभ होता है कि वह भूमि जो कि उद्यान के किसी काम की नहीं होती, उपयोगिता प्रदान करने लगती है। किन्तु प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि कवर क्रॉपिंग (Cover Cropping) से कोई विशेष फायदा नहीं है। यह उसी समय उपादेय हो सकती है जब कि उद्यान में हरी खाद देनी हो। इसके लिए शीघ्र बढ़ने वाली शाखादार और सस्ती फसलें चुन ली जाती हैं और उन्हें जोताई के पश्चात् उचित

समय में खेत में बो दिया जाता है। जब इन पौधों की ऊँचाई २½, ३′ की हो जाती है, तो इन्हें मिट्टी पलटने वाले हल की सहायता से भूमि में दबा देते हैं ताकि इनका सड़ाव शीघ्र हो सके। इस प्रकार हरी खाद बहुत ही शीघ्र तैयार कर ली जाती है।

सम्बन्धित टिलेज की 'ये क्रियायें केवल मैदानी भागों में ही की जा सकती हैं। पहाड़ी या ऊबड़-खाबड़ स्थानों में यह संभव नहीं हो सकती हैं। कोंकन में जो पहाड़ी भाग है और जहाँ काफी ढाल है, वहाँ पर बड़े आम के वृक्ष बिना जोताई-गुड़ाई के छोड़ दिये जाते हैं। लोग उद्यानों में केवल फल आने के समय ही वहाँ जाते हैं।

सम्बन्धित फसलें—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा था, उद्यान में एक आम की दूसरे आम से दूरी अथवा एक पंक्ति से दूसरे पंक्ति का अन्तर ३०′ से ६०′ तक होता है। इससे स्पष्ट है कि वृक्षों के मध्य में काफी स्थान रिक्त रह जाता है। आर्थिक दृष्टिकोण में इस स्थान का उपयोग करना आवश्यक होता है, क्योंकि उत्पादक इस भूमि से उपयोगिता प्राप्त कर सकता है, जिससे यदि लाभ नहीं हो सकता तो उद्यान में खाद डालने अथवा गुड़ाई, निकाई करने का खर्च तो अवश्य ही निकल सकता है। अतः यहाँ कुछ मौसमी अल्पजीवी तरकारियाँ या पौधे उगा लिए जाते हैं। तरकारियों में भिण्डी, कुल्थी, मटर आदि हैं। कभी-कभी मूँगफली और ज्वार भी उगा लिए जाते हैं। बिहार सबौर फल स्टेशन तथा मोदीबाग उद्यान पूना में आम के वृक्षों के बीच में पपीते लगाये जाते हैं, जिनसे आम के वृक्ष को कोई हानि नहीं होती है और उत्पादक कुछ अधिक लाभ भी प्राप्त कर लेता है। पूना में एक अन्वेषण द्वारा इस बात का अनुभव किया गया है कि उद्यान में पपीते के साथ-साथ मौसमी तरकारियाँ—पातगोभी, गाँठगोभी, मूली, प्याज आदि उगाई जा सकती हैं। इसके साथ बिपारी या मकोय जैसे कुछ फल भी उगाये जा सकते हैं। गुजरात में अमलसात के निकट आम के उद्यान में अमलतास (पाईनएपिल) और ब्लैक पीपल उगाया जाता है। बड़ौदा राज्य में गन्ना, सूरन, सलजम, और अनानास आदि उगाये जाते हैं। जिन स्थानों पर सिंचाई की अधिक सुविधा होती है वहाँ प्याज, शकरकन्द, पातगोभी, गाँठगोभी, और सलजम उगाये जा सकते हैं। ये फसलें जाड़ों के दिनों में जब कि वातावरण सर्द होता है, उत्पन्न की जाती हैं किन्तु शुष्क स्थलों पर जहाँ सिंचाई का कोई उपयुक्त प्रबन्ध नहीं होता, वहाँ बरसात के दिनों में बैगन, मटर, सेम, टमाटर आदि उत्पन्न किए जाते हैं।

पौधों की सफाई के पश्चात् लगभग ५-६ वर्ष तक आम के वृक्षों की पंक्तियों में शीघ्र उत्पन्न होने वाले फल वृक्ष उगाए जा सकते हैं। इन फल-वृक्षों में पपीता, अमरूद, शरीफा आदि सम्मलित होते हैं। कभी-कभी ऐसा क्रम भी रखा

जाता है कि आम की पंक्तियों में अमरूद और अमरूदों के बीच में पपीते होते हैं। पपीते के वृक्ष दूसरे वर्ष ही फल देने लगते हैं और अधिक स्थान भी नहीं घेरते। इस प्रकार लगाये गये अमरूद फल अधिक देते हैं। जब अमरूद के वृक्ष फल देने लगते हैं तो पपीता काट कर अलग कर दिए जाते हैं और अमरूद के वृक्ष तब तक उद्यान में स्थिर रखे जाते हैं जब तक कि आम के वृक्ष यथेष्ट रूप में बढ़ न जायँ और बढ़कर अमरूद की शाखायें न छूने लगें। कुछ लोगों की यह राय है कि उद्यान में कलम लगाने के ५-६ वर्ष पश्चात् अनानास के वृक्ष लगाने चाहिए। अनानास के वृक्ष को धूप-छाँह की अधिक आवश्यकता होती है। अतः ऐसे बाग में इसे सफलतापूर्वक उगाया जाता है। किन्तु इन वृक्षों के उगाने में उद्यान में खाद और सिंचाई का अधिक ध्यान रखते हैं क्योंकि इनके अभाव में उपज अच्छी नहीं मिल पाती और न आम का उद्यान ही सन्तोषजनक हो पाता है। बम्बई के उष्ण भागों में जहाँ तापक्रम ११० फा० से भी बढ़ जाता है, वहाँ आम की कलम केले के उद्यान में उपयुक्त दूरी पर लगा दी जाती है। यह कलम जब छोटे रहते हैं तो केले के वृक्ष इनकी रक्षा करते हैं। दो वर्ष में ये कलम काफी बढ़ जाते हैं। उस समय उद्यान से केले हटा लिए जाते हैं। बीजापुर और ख़ानदेश में इस विधि का यथेष्ट प्रचलन है। सूरत जिले में गन्ना आम के उद्यान में उगाया जाता है किन्तु इसके लिए सिंचाई और खाद की उत्तम व्यवस्था रखी जाती है और भूमि में जल-निकास का उचित प्रबन्ध भी रहता है। जिन स्थानों पर आम के वृक्ष उद्यान के किनारों पर लगाए जाते हैं वहाँ उद्यान के बीच में फसल उगाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में ऐसे उद्यान आम के उद्यान कहे भी नहीं जा सकते। गुजरात और पंजाब में आम के उद्यान के किनारों पर केला के वृक्ष लगाये जाते हैं जिनसे उद्यान की रक्षा भी होती है और व्यापारी को कुछ लाभ हो जाता है।

वृक्षों की छँटाई—प्रायः आम के वृक्ष की छँटाई नहीं की जाती। वे स्वभावतः ही ऐसा आकार बना लेते हैं कि छँटाई का कोई अवसर ही नहीं रह जाता। डबल्यू० बी० हेज ने अपनी पुस्तक 'फ्रूट ग्रोइंग इन इण्डिया' में लिखा है, "आम में साधारणतया बहुत कम छँटाई की जाती है। किशोर वृक्ष जब बहुत कम आयु के होते हैं तो उसके तने की वे शाखाएँ जो पृथ्वी-तल से २-३′ ऊँची होती हैं, छाँट दी जाती हैं ताकि पौधा एक सुन्दर आकार बना सके। वृक्ष के बढ़ने के साथ यदि सिरे पर अधिक शाखाएँ निकलती हुई दिखाई दें तो उन्हें छाँट कर कम कर देना चाहिए, अथवा मृत या घायल शाखाओं के अतिरिक्त कोई छँटाई स्वीकृत नहीं की गई है।" बर्न्स और प्रयाग ने भी कहा है, "हमने सैकड़ों पुष्टित होती हुई फ्लशेज (Flushes) का अध्ययन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि फूलों की छँटाई किसी प्रकार भी

सम्भव नहीं है क्योंकि इससे फूल देने वाली शाखा की शक्ति समाप्त हो जाती है।" देशी जातियों में बहुधा ऐसा देखा जाता है कि वे उद्यान में सीधा उगती हैं और अधिक ऊँचाई तक जाती है। ऊँचाई तक जाने से कभी शाखाएँ और टहनियाँ पृथ्वी तल से काफी ऊँची रहती है जिससे कृषि कार्य में कोई व्यवधान नहीं प्रस्तुत होता और न इसके द्वारा सूर्य का अधिक प्रकाश ही रुकने पाता है। इस प्रकार के वृक्ष उत्तर प्रदेश, मद्रास और बिहार में अधिकता से पाये जाते हैं। कलमी वृक्षों में ऐसी बात नही होती। उनकी शाखाएँ भूमि के बहुत निकट होती है और उनका आकार भी टेढ़ा-मेढ़ा होता है। इन शाखाओं से उद्यान में जुताई, गुड़ाई, सिंचाई आदि करने में कठिनाई होती है। अतः ये शाखाएँ या तो सायन के अर्थ में प्रयोग हो जानी चाहिए या मोटी हो जाने पर इन्हे काटकर फेंक देना चाहिए। इससे उद्यान के कार्यों में सुविधा हो जाती है। वृक्ष से वे शाखाएँ या टहनियाँ भी छाँट देनी चाहिए जो किसी रोग से ग्रस्त हों या किसी कारणवश टूट या सूख गई हों।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि आम के वृक्ष में बहुत दिनों तक मंजर (फूली) नहीं लगते। ऐसी दशा में फलोत्पादक को अधिक हानि उठानी पड़ती है। बिहार के सबौर फल स्टेशन पर इस पर काफी प्रयोग किये गये हैं। वहाँ इसके लिए दो विधियाँ प्रयोग की जाती हैं—प्रथम छँटाई और दूसरे रिंगिंग (Ringing)। रिंगिंग विधि में वृक्ष पर ३″-४″ मोटे व्यास वाली टहनियाँ चुन ली जाती हैं और उनकी जड़ की ओर से $\frac{1}{2}$-$\frac{1}{3}$″ चौड़ी छाल निकाल दी जाती है। इस क्रिया के पश्चात वृक्ष में मंजर आने प्रारम्भ हो जाते हैं। यदि छटाँई की क्रिया करनी हो तो यह वर्षा बीतने पर करनी चाहिए।

प्रति वर्ष अच्छी फसल प्राप्त करना—आम के उद्यान में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक वृक्ष, जो एक मौसम में फल देता है दूसरे वर्ष फल नहीं देता। यदि दूसरे वर्ष फल लगते भी हैं तो नाम मात्र को, कुछ जातियों में एक बार फल आने पर ३-४ मौसम खाली जाते हैं। इस गड़बड़ी और फलन की अनियमितता से फल-उत्पादक को अच्छा लाभ नहीं प्राप्त हो पाता। नायक ने कहा है कि वृक्षों में यह गुण पित्रागत (hereditary) नहीं होता अपितु इसका सम्बन्ध वृक्ष के वानस्पतिक विकास से है। इसे चीमा और भट्ट ने आवर्तन चक्र (Cycle of Periodicity) कह कर सम्बोधित किया है। उनका कथन है कि यह चक्र आम की जातियों पर निर्भर करता है। बम्बई प्रदेश में यह चक्र ३ वर्ष में पूरा होता है किन्तु यह नियम भारत के अन्य भागों में नहीं लागू होता है। इस पर स्थानीय जलवायु, भूमि, कृषि के ढंग आदि का भी प्रभाव पड़ता है। अधिकांश आम के वृक्ष १ वर्ष का अन्तर देकर अच्छी फसल देते हैं। बीच में १ वर्ष का नागा

इसलिए करते हैं कि इन्हें पहले वर्ष की फसल में भोजन की यथेष्ट मात्रा व्यय कर देनी पड़ती है। अन्वेषण से यह ज्ञात हुआ है कि आम के वृक्ष से प्रति वर्ष उपयुक्त खाद देकर फल लिए जा सकते हैं। बिहार के सबौर फल अनुसंधान-केन्द्र में प्रयोगों से यह ज्ञात किया गया है कि पुराने वृक्षों में अन्तर देने की आदत पर व्यवधान लगाने से नए पौधों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। वहाँ इस बात का अनुभव किया गया है कि अन्तर के वर्ष में वृक्ष पर उस दशा में फल लिए जा सकते हैं जब कि फल देने वाले मौसम में वृक्ष पर रिंगिंग (Ringing) की क्रिया की जाय। इस क्रिया के लिए वृक्ष में पहले अमोनियम सल्फेट और गोबर की खाद का मिश्रण अगस्त के महीने में दे दिया जाता है और तब वृक्ष की शाखाओं पर $\frac{1}{2}$" चौड़ा अँगूठी आकार का कटाव बना दिया जाता है। वही क्रिया रिंगिंग (Ringing) कही जाती है। इसी केन्द्र पर एक अन्य प्रयोग से ज्ञात हुआ है कि अमोनियम सल्फेट और गोबर की खाद का मिश्रण वृक्ष में फल की तोड़ाई के पश्चात् देने पर वृक्ष के पुष्पित होने की शक्ति पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

बम्बई प्रदेश में निरीक्षण करते हुए वैगिल (Waglo) साहब ने भी कहा है, "आम के वृक्ष साधारणतया एक वर्ष के अन्तर पर फलते हैं किन्तु खाद देने से ये (विशेषतः १०-१२ वर्ष की आयु वाले वृक्ष) प्रति वर्ष फल देना आरम्भ कर देते हैं।" पोपेनो (Popenoe) ने भी उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि आम की फसल में नागा होने का कारण वृक्ष में भोजन-पदार्थों का अभाव है। वास्तव में भारी फसल देने के पश्चात् वृक्ष दुर्बल हो जाते हैं और उस समय तक फल-फूल नहीं दे पाते जब तक कि उनकी यह कमी नहीं दूर कर दी जाती। वैगिल (Waglo) ने ऐसे वृक्षों के लिए निम्नलिखित खाद्य का मिश्रण स्वीकार किया है :—

अमोनियम सल्फेट—२ पौंड
सुपरफास्फेट— २ पौंड
गोबर की खाद— ८० पौंड
निकीफास— सेकेन्ड ग्रेड

इस खाद का प्रयोग उचित सिंचाई के साथ वृक्षों पर अच्छा सिद्ध होता है। सहारनपुर के फल अनुसंधान केन्द्र पर अनुसंधान करते हुए हार्टलेस (Hartless) ने कहा है कि आम के लिए सर्वश्रेष्ठ वर्ष वह है जिसमें मानसून शीघ्र ही समाप्त हो गई हो। फलन का यह अन्तर समाप्त करने के उद्देश्य से बहुत प्रयोग किए गए किन्तु इनमें सफलता बहुत कम मिली। पोप (Pope) ने कहा है कि यह अन्तर

कृषि सम्बन्धित कार्यों पर अधिक ध्यान देने और फल देने वाली जाति के बोने से समाप्त की जा सकती है।

सहारनपुर केन्द्र पर इस अन्तर का कारण ढूँढ़ते हुए आम की कृषि का कई वर्ष का चार्ट बनाया गया, जिससे यह ज्ञात हुआ कि फूल-फल के न आने में कीड़े-मकोड़े, पाला, सर्दी और सामयिक वर्षा मुख्य कारण हैं। इस प्रयोग से यह भी विदित हुआ कि १८८६ से १६१२ ई० तक ३ वर्ष औसत उपज, ६ वर्ष भारी उपज और १५ वर्ष खराब उपज आई। इससे यह परिणाम निकाला गया कि फसल में नागा या अन्तर होना बीमारियों, कीड़ों और जलवायु आदि के अभाव के कारण होता है न कि पित्रागत प्रभाव के कारण।

इस अन्तर को समाप्त करने के लिए फिलोपाइन में एक अद्भुत प्रकार की क्रिया की जाती है। सूखी पत्तियाँ, घास-फूस, पुवाल आदि वृक्ष के निकट इकट्ठे किए जाते हैं और उनमें आग लगा कर धुँआ पैदा किया जाता है। कभी-कभी इस ढेर में गन्धक भी रख दिया जाता है ताकि अधिक धुँआ हो सके। धुँआ देने से यह क्रिया लगभग एक सप्ताह तक रात और दिन की जाती है। इसके पश्चात् केवल प्रातः और सन्ध्या को ही लगभग एक माह तक धुँआ किया जाता है जब तक कि वृक्ष से पुष्प निकलने नहीं आरम्भ हो जाते हैं। यदि इस धुयें से वृक्ष में फूल नहीं आ पाते तो पुनः दूसरा प्रयत्न किया जाता है। इस क्रिया से वृक्ष की अन्तर देकर फलने-फूलने की आदत समाप्त हो जाती है अथवा इस से वृक्ष से समय के पहले फसल ली जा सकती है। बोर्जा और बुलिस्ता (Borja andBulista) ने एक प्रयोग से यह परिणाम निकाला कि इस क्रिया का फल दिसम्बर और जनवरी में करने से उत्तम पड़ता है। उनका कथन है कि यदि लगातार १४ दिनों के धुएँ से वृक्ष में फूल नहीं आ पाता तो इससे यह अनुमान लगाना चाहिए कि वह वृक्ष उस मौसम में फसल नहीं दे सकता। उन्होंने इस प्रयोग की सत्यता का निरीक्षण २७ वर्ष के पुराने आम के वृक्ष पर किया था और ७-६ दिन में ८४ प्रतिशत फूल प्राप्त किए थे। उनका कथन है कि धुएँ से इथिलीन निकलती है जो वृक्ष से फूल के निकलने में सहायता करती है।

वृक्ष में धुआँ देने के समय पर विवरण प्रस्तुत करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि धुयें द्वारा वृक्ष में वर्ष के किसी भी समय फूल निकाला जा सकता है किन्तु धुँआ देने का उपयुक्त समय अक्टूबर और दिसम्बर का महीना ही ठीक होता हैं जब कि वृक्ष की पत्तियाँ काफी प्रौढ़ और सिरे की कलियाँ विकसित तथा सुषुप्त अवस्था में हों। सेन और मलिक (Sen and Malik) के अनुसार इस धुयें का बिहार के केन्द्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा केवल वानस्पतिक विकास में ही वृद्धि हुई।

कोनूर में भी इस प्रयोग की परीक्षा हुई किन्तु परिणाम संदेहात्मक निकला। कुछ लोगों का विचार है कि धुयें की इस क्रिया से कली के निकलने में शीघ्रता उत्पन्न कर दी जाती है, कली निकाली नहीं जा सकती।

फलन में अन्तर होने का दूसरा कारण है कीटों और बीमारियों का आक्रमण। आम के वृक्ष पर विशेषकर फूल आते समय मधुवा कीड़ा और माइल ड्यू (mildew) का अधिक आक्रमण होता है। यह कीड़े अधिकतर बदली के दिनों में वृक्ष पर आते हैं। मधुवा कीड़ा वृक्ष की एक डाल से दूसरी डाल पर कूदता है, इससे अनेक फूल गिर कर नष्ट हो जाते हैं। माइल ड्यू फूल के गुच्छों पर बदली के ही दिनों पर लगता है। यह रोग एक प्रकार के फँफूदी द्वारा उत्पन्न होता है जो फूल और पत्तियों पर शर्करामय पदार्थ के निथरने से वृद्धि करते हैं।

कभी-कभी मधुवा और माइल ड्यू से आम की समूची फसल नष्ट हो जाती है। बैगिल साहब ने अपने एक प्रयोग में कहा था कि माइल ड्यू अकेले समस्त क्रिया को बेकार कर सकता है। उन्होंने इसे रोकने के लिए गन्धक का प्रयोग स्वीकार किया है जिससे मधुवा कीड़े से भी रोकथाम हो जाती है।

आम के फलन पर जुताई का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। सेन ने एक प्रयोग में यह अनुभव किया था कि आम का जुता उद्यान बिना जुते उद्यान की अपेक्षा अधिक फल देता है। उसने तेरह वर्षीय बम्बई जाति के वृक्षों पर १९३५ में प्रयोग शुरू किया। उस उद्यान में इस आयु के कई वृक्ष थे। इन वृक्षों के दो भाग कर लिए गए। एक भाग में १९३६ से १९४२ तक लगातार जुताई की गई किन्तु दूसरा भाग बिना जुता ही पड़ा रहा। उसने जुते भाग में औसत लगाई कि प्रति वृक्ष गुच्छों की संख्या तीन वर्षों तक ९२८३ थी किन्तु बिना जुते भाग में यह संख्या प्रति वृक्ष ३२३३ केवल २ वर्षों तक ही रही। सेन ने इस प्रयोग से परिणाम निकाला कि इस अंतर का कारण भोजन का अभाव है जिसमें नाइट्रोजन मुख्य है। सबौर में किए गए प्रयोग से भी यह ज्ञात है कि वृक्षों में फलन् का नागा होना आहार के अभाव के ही कारण होता है और इस अभाव में अधिक नाइट्रोजन ही पाया जाता है। इसे दूर करने के लिए यहाँ अच्छी जुताई और नाइट्रोजन वाली खादें दी गईं और परिणाम यह निकाला कि नागा नहीं हो सका और उपज अधिक मिली।

फूल आना—कलमी आम उद्यान में लगाने के ४-५ वर्षों पश्चात् फलना प्रारंभ कर देते हैं। फूल आने का समय प्रत्येक स्थान पर एक-सा नहीं होता। उत्तरी भारत में फूल आने का समय जनवरी के अन्तिम सप्ताह से फरवरी के प्रथम सप्ताह या देर होने पर मार्च तक होता है। पश्चिमी घाट, दक्षिणी कोंकण और आंध्र में रायल-

सीमा में यह अवधि नवम्बर से दिसम्बर तक होती है। पेनिनसुलुर या मध्य भारत में वृक्ष में फूल आने का समय दिसम्बर-जनवरी है।

आम में फूल आते समय वृक्ष पर कुछ कीड़े फूल के चारों ओर उड़ते हुये दृष्टिगत होते हैं जो फूल के तन्तुओं में छेदकर देते हैं और इस प्रकार फूल का सैप चूसना प्रारम्भ कर देते हैं। इससे फूल सूख जाता है। यदि फूल में फल लग गया होता है तो उसके भी सूखते देर नहीं लगती। इसी समय कभी-कभी माइल ड्यू रोग का भी आक्रमण हो जाता है जो फूलों को अधिक हानि पहुँचाता है। फलोत्पादन को इन कीटों और बीमारियों की उचित रोक-थाम करनी चाहिए।

आम में, मारलाथ (Marloth) के शब्दों में सेंचन-क्रिया कीटों द्वारा होती है। कुछ जातियों में स्वयं सेंचन भी पाया जाता है। फूलों के गुच्छे प्रायः सिरे की कलियों से निकलते हैं। किन्तु यह कोई कठोर नियम नहीं है। कभी-कभी फल के गुच्छे कोरमीय कलियों से भी निकलते हैं। एक गुच्छे में फूलों की संख्या एक-सी नहीं होती न तो फूल ही एक समान होते हैं। फूलों में कुछ पूर्ण, कुछ स्टैमिनेट (Staminate) अर्थात् नर-प्रधान, और कुछ पिस्टिलेट (Pistillate) अर्थात् मादा प्रधान होते हैं। जिस गुच्छे में पूर्ण फूल होते हैं उनमें यह आवश्यक नहीं है कि सभी फूल-फल तैयार करते हों। फूल के गुच्छों में पूर्ण फूलों की संख्या अन्य दो प्रकार के फूलों से अधिक होती है। प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि पूर्ण फूलों की आधी संख्या गर्भाधान (Fertilisation) के पूर्व और आधी गर्भाधान के बाद गिर जाती है। इस प्रकार १०० फूलों में केवल एक ही फूल फल बना पाता है। कभी-कभी यह भी वह भी नहीं बचता।

महेश्वरी (Maheshwari) ने आम के फूल के एक गुच्छे में फूलों की संख्या १५०० से ४००० तक बतलाई है। उन्होंने आगे कहा है कि इतने फूलों में कठिनाई से १० फल लग पाते हैं किन्तु बहुत से वृक्षों में केवल एक ही पका फल मिल पाता है।

आमों की तोड़ाई और बिक्री

आम के फल प्रायः पकने के पूर्व ही तोड़ लिए जाते हैं। फल यदि पेड़ पर ही पकाया जाय तो अच्छा नहीं पकता है क्योंकि इसमें दो प्रकार की हानि होती है। प्रथम तो यह कि पके फलों पर कीड़े और चिड़ियों का अधिक आक्रमण होता है और इनके वृक्ष से गिर जाने पर फल अधिक दिनों तक नहीं रक्खे जा सकते। दूसरे, वृक्ष पर फल उतना मीठा नहीं हो पाता जितना कि प्रौढ़ आमों को पकने के पहिले ही तोड़कर बनावटी ढंग से पकाने में होता है। आम की तोड़ाई का उपयुक्त समय फूल आने के ५-६ महीने बाद होता है, किन्तु वृक्ष

की प्रत्येक शाखा एक ही साथ नहीं पकती। साधारणतया इनके तोड़ने का समय तब निर्धारित किया जाता है जब कि वृक्ष से कुछ पके फल टपके हुए मिलें या पके हुए दिखाई दें। बिहार और उत्तर प्रदेश में आम के पकने का समय जून के प्रथम सप्ताह से प्रारम्भ होकर अगस्त के अन्तिम सप्ताह तक रहता है। उत्तर भारत की लगभग समस्त आम की जातियाँ उसी समय पकती हैं। किन्तु दक्षिण भारत में आम फरवरी और मार्च में या अप्रैल और मई में पकते हैं। बम्बई प्रदेश (दक्षिण) तथा दक्षिणी गुजरात में यह समय मई के मध्य से प्रारम्भ होकर जून तक रहता है।

किन्तु यह समय उन जातियों के लिए नहीं होता जो एक वर्ष में एक बार से अधिक फल देती हैं। ऐसी जातियाँ बारहमासी कही जाती हैं। इनमें फसल बहुत हल्की होती है और फल के गुच्छों में फूलों के साथ-साथ कोमल पत्तियाँ भी पाई जाती हैं। इस प्रकार का गुच्छा मिश्रित गुच्छा कहा जाता है।

आम के वृक्ष पर फलों की प्रौढ़ता का भली-भाँति निरीक्षण कर लेने के पश्चात् उनकी तोड़ाई प्रारम्भ कर दी जाती है। तोड़ाई करते समय फल काफी सख्त और हरे रंग के होने चाहिए। उनके रंग में पकने का कोई संकेत नहीं मिलना चाहिए। फलों को तोड़ने के लिए एक प्रकार का औजार प्रयोग किया जाता है जिसे 'मैंग्गो पिकर' (Mango Picker) कहते हैं। इस औजार में एक लम्बा पतले आकार का बाँस लगा होता है जिसके पतले सिरे पर बाँस या लोहे की पतली जाली लगी होती है। इस जाली का आकार कटोरे की भाँति एक ओर को खुला होता है। जाली के ऊपर की ओर दो चौड़े लोहे या बाँस की खूँटियाँ इस प्रकार लगाई रहती है कि फल का डन्ठल उसमें आ जाय। तोड़ने वाला व्यक्ति बाँस का दूसरा सिरा अपने हाथ में रखता है और धरातल पर खड़ा होकर फलों की तोड़ाई करता जाता है। जब जाली आम से भर जाती है तो उसे खाली करने के लिए धरातल पर रक्खी गई टोकरियों में फल नीचे ले आकर उड़ेल देते हैं। यदि आम का वृक्ष बहुत ऊँचा होता है तो एक आदमी जाली लेकर ऊपर चढ़ जाता है और फल तोड़-तोड़ कर एक झोले में एकत्र करता जाता है। जब झोला भर जाता है तो वह एक रस्सी द्वारा इसे नीचे लटका देता है। फल झोले में से निकाल कर आम की पत्तियों की बिछी चादर पर ढेर में रख दिए जाते हैं। तोड़ाई में प्रयोग किया जाने वाला झोला २००-३०० फलों के रखने योग्य होता है। इसमें ऊपर की ओर लटकन लगा होता है जिससे इसे फल तोड़ते समय निकट की शाखा में लटका या बाँध दिया जाता है। आम की तोड़ाई के लिए 'फ्रूट हारवेस्टर' (Fruit Harvester) का भी प्रयोग किया जा रहा है

जो अमेरिका की देन है। इसमें एक बाँस का लम्बा हैण्डिल लगा होता है। इस हैण्डिल के एक सिरे पर स्प्रिंग द्वारा एक कली पर जुड़ा होता है। यह यंत्र फल की तोड़ाई में अच्छा काम देता है और फल तोड़ते समय उसका डंठल भी खींच ले आता है।

तोड़ने के पश्चात् फल भंडार में लाए जाते हैं। भंडार-घर में आम की पत्तियों की एक मोटी तह बिछी होती है। इस तह पर आम के फल बिछा दिये जाते हैं और इन्हें इसी रूप में दो दिनों तक खुला छोड़ दिया जाता है। भण्डार-घर का अधिक हवादार होना आवश्यक है, अन्यथा फलों की अच्छी पकाई नहीं हो पाती। यदि फलों को विदेश भेजना होता है तो उन्हें तोड़ाई के शीघ्र पश्चात् बन्द करके भेज दिया जाता है। किन्तु स्थानीय बाजारों में बेचने के लिए इन्हें भण्डार-घर में पूर्णरूपेण पकाने के पश्चात् लाया जाता है।

दो दिनों के पश्चात् भण्डार-घर में रक्खे गए आम पत्तियों की तह से हटा कर धान के पुवाल की तह पर बिछा दिए जाते हैं। यह तह ३-४″ मोटी होती है और भण्डार घर के फर्श पर बिछी होती है। फल इसी तह पर इस प्रकार सजा दिए जाते हैं कि एक-दूसरे के ऊपर न पड़ कर बगल में रहें। ऐसी दो या तीन तहें एक दूसरे के ऊपर २″ मोटे पुवाल की तह से बना ली जाती हैं और फल इन्हीं पर बिछा दिए जाते हैं। पुवाल की इन तहों के ऊपर आम की एक ही तह अच्छी पड़ती हैं क्योंकि इससे फलों के सड़ने का भय कम होता है।

भण्डार घर में पुवाल का प्रयोग करने से यह लाभ होता है कि इससे आम का फल अच्छी तरह और समान रूप से पकता है। यह बहुत मुलायम होता है जिससे फलों को कोई क्षति नहीं पहुँचती। इसके अतिरिक्त पुवाल से आम के फल में अच्छा रंग आता है। इसमें रखे गए फल अपना रंग परिवर्तित कर पीले हो जाते हैं, क्योंकि इन्हें नीचे रखी हुई तह में काफी गर्मी मिलती है। फल के पकने में लगभग एक सप्ताह लगता है। यदि फलों के ऊपर कोई ढक्कन न रक्खा जाय और उन्हें खुला छोड़ दिया जाय तो इनके पकने में अधिक समय लग सकता है। गोदामघर का तापक्रम साधारण होता है इसमें बनावटी ढंग से कोई परिवर्तन नहीं किया जाता।

प्रायः सभी फलों के पकने का समय समान नहीं होता। बर्न्स और प्रयाग के अनुसार पापराई फल के पकने में लगभग १५ दिन और अलफोन्सो फल के पकने में २५ दिन लगते हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि ये फल पकने की अवधि में १२ से १८ प्रतिशत तौल तक घट जाते हैं जब कि इन्हें कमरे के तापक्रम पर पकाया जाता है।

पकने के पश्चात् फल बेचने के लिये बाजारों में लाये जाते हैं किन्तु फलोत्पादकों को प्रायः संतोषप्रद लाभ नहीं हो पाता। उनके कुछ फल तो दोषपूर्ण रीति से रखने, छाँटने, और बन्द करने में नष्ट हो जाते हैं। सन १८२५ ई० में बम्बई की सरकार ने 'मैन्गो मारकेटिंग कमेटी' की स्थापना की। इस कमेटी के जिम्मे इन दोषों के अध्ययन और उनके रोक-थाम के उपाय का कार्य सौंपा गया। इसने उत्पादक के उद्यान से लेकर उपभोक्ता के टेबुल तक निरीक्षण किया और दोषों का गहरा अध्ययन किया। इस कमेटी के आधार पर निम्नलिखित उल्लेख दिया जा कतसा है :—

१. आम की तोड़ाई और बक्सों में बंन्द करने का कार्य
२. उद्यान से रेलवे स्टेशन या बंदरगाह तक फलों का ढोना
३. रेल या जहाज की यात्रा
४. अन्तिम स्टेशन या बन्दरगाह से बाजार की यात्रा
५. बाजार में फल की छँटाई
६. वितरण—बिक्री

उत्पादक कभी-कभी फल पकने पर अपना सारा उद्यान ही कन्ट्रेक्टर या ठीकेदार को बेच देता है। बेचने के पश्चात् आम की देखभाल करना, उनकी तोड़ाई, बिक्री आदि का उत्तरदायित्व ठीकेदार पर होता है। कभी-कभी फल लगने के बाद ही उद्यान ठीकेदारों को दे दिए जाते हैं और कभी फलों के प्रौढ़ होने पर। उद्यान ठीकेदारों को दे देने पर उत्पादक फल के बेचने की झंझटों से मुक्त हो जाता है। यदि उद्यान ठीकेदारों को नहीं दिया जाता है तो उत्पादक को ही प्रत्येक कार्य करने होते हैं। साधारणतया, ऐसा देखा जाता है कि उत्पादक आम की तोड़ाई, पकाई, छटाँई, (Grading) बक्स-बंदी आदि में बहुत असावधानी से काम लेता किन्तु उससे उसे अधिक लाभ नहीं होता है। उत्पादक को प्रत्येक कार्य में वैज्ञानिक ढंग से काम लेना चाहिए ताकि कम से-कम क्षति हो सके। बक्स-बंदी की क्रिया में, जिस पर हम आगे प्रकाश डालेंगे अधिक सावधान रहना चाहिए। बक्सों या टोकरियों में बन्दकर लेने के बाद इन्हें रेलवे स्टेशन या बाजार तक ले आने में इस बात से सतर्क रहना चाहिए कि फलों को किसी प्रकार का धक्का न लगे। गाड़ी, ट्रेन, स्टीमर, आदि में टोकरियों के चढ़ाते और उतारतें समय भी वह बात ध्यान में रखनी चाहिए। बाजार पहुँच जाने के बाद उत्पादक की कमीशन एजेन्ट से मुलाकात होती है जो काफी मोल-भाव करके उत्पादक को बरगलाना चाहता है और उसे मूल्य रिटेल मूल्य से बहुत कम-कम बताता है। फल की बिक्री हो जाने के बाद वह हिसाब में भी गड़बड़ी करता है और सीधे-सादे उत्पादक से धर्म-खाते,

प्याऊ-खाते आदि का चार्ज करता है। अतः सफल उत्पादक को प्रत्येक स्थल पर समझ-बूझ कर बुद्धिमानी से काम करना चाहिए।

बम्बई की मैंगो-मार्केटिंग ने १६२५ में यह अनुमान लगाया था कि शहर में भेजे गये आमों में २०% आम तो बिल्कुल हरे होते हैं और २०% सड़े छाँट दिये जाते हैं। इस प्रकार उत्पादक को एक भारी हानि उठानी पड़ती है। यह हानि फलों की दोषपूर्ण ग्रेडिंग और बक्स बन्दी के कारण होती है।

आम की चुनाई (Grading)—आम के फल से अधिक लाभ लेने के लिए उसकी ग्रेडिंग आवश्यक होती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उत्पादक आम की बक्स-बन्दी करते समय उपभोक्ता को भुलाने के लिए नीचे से घटिया और छोटे फल रख देते हैं और ऊपर बढ़िया और बड़े आम रखते हैं ताकि उपभोक्ता ऊपर के आम को ही देखकर टोकरी या बक्से के सभी आमों का आकार और गुण जान ले; किन्तु उपभोक्ता या क्रेता-विक्रेता की यह चाल समझ चुके हैं। बम्बई की राज्य सरकार के कृषि विभाग ने १६३१ ई० में अपने एक प्रयत्न में अपना एक अनुसन्धान प्रकाशित किया था जिसमें इस बात का उल्लेख था कि यदि अल्फोन्सो फल की ग्रेडिंग ढङ्ग से की जाय तो बिना ग्रेडिंग किये आम के मूल्य से प्रति १०० फलों पर २१ रु० ८ आ० का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त हो सकता है। आम की ग्रेडिंग पर अपना विचार प्रकट करते हुए चीमा और भट्ट ने यह कहा है कि निम्नलिखित तीन ग्रेडिंग विधियाँ कुछ जातियों के लिए उपयुक्त पाई गई हैं—

प्रथम कोटि (Grade)—२८ तोला या ऊपर की तौल वाले फल।
द्वितीय ,, ,, २४-२८ तोला की तौल वाले फल।
तृतीय ,, ,, १८-२४ तौला की तोल वाले फल।

इन तीनों कोटियों में मिश्रण का अनुपात क्रमशः १५०, ४५० और ४०० होता है और इन कोटियों में प्रत्येक स्वतः ही अच्छा लाभ देती है। ग्रेडिंग का यह ढंग उत्पादक तथा प्रेषक द्वारा बहुत पसन्द किया गया है।

आम की बक्स-बन्दी या टोकरी या बक्स-बन्दी (Packing)—आम को दूर भेजने के लिए बाँस की टोकरियों या सस्ते मूल्य वाले बक्सों में ग्रेडिंग के बाद बन्द कर देते हैं। प्रायः हमारे देश में बाँस की हल्की और साधारण टोकरियाँ अधिक प्रयोग की जाती हैं किन्तु इनमें फल के शीघ्र क्षतिग्रस्त होने का भय रहता है। गाड़ियों या ट्रेनों पर भेजते समय असावधानी से चढ़ाने-उतारने में यह बहुधा टूट जाती है। लकड़ी के बक्से य

या टोकरियाँ इस कार्य के लिए उत्तम सिद्ध होती हैं। इनका आकार प्रायः २' × १' × १' होता है और अल्फोंसो जाति के १०० फलों के लिए यह अच्छा पड़ता है। बम्बई में इस जाति के फल इसी प्रकार भेजे जाते हैं। इन बक्सों में पर्याप्त वायु के आवागमन के लिए ½" व्यास के दो सूराख आमने-सामने की दो दीवारों पर बना दिये जाते हैं। बक्स में आम के फल धान के पुवाल या मुलायम घास के बीच रखे जाते हैं। फल बक्स में ढीले नहीं रखे जाते बल्कि इन्हें पुवाल लगा कर स्थिर (Packed) कर दिया जाता है। बक्स-बन्दी में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि फल बक्से के आकार के अनुसार ही भरे जायँ। अधिक फल भरने से फलों के सड़ाव का भय रहता है। बक्स में फल भरने के पश्चात् ऊपर से ढक्कन लगा दिया जाता है और फिर तार की सहायता से बक्से की सुदृढ़ बँधाई कर दी जाती है। बक्स-बन्दी का जब प्रत्येक कार्य समाप्त हो जाता है तो उसमें लेबुल लगा दिया जाता है। लेबुल में फलों की जाति, आकार और संख्या तथा प्रेष्य का पता लिखा जाता है। बक्से की पूरी तौल १ मन से अधिक नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे इन्हें चढ़ाने-उतारने में असुविधा होती है।

मद्रास में बंगलौरा आम के फल बिना बक्से में बन्द किये ही कलकत्ता, हैदराबाद, बम्बई आदि को ट्रेन के वैगन में भर कर भेज दिये जाते हैं। इसका फल काफी कड़ा होता है और पकने के लगभग २८ दिनों तक स्वस्थ स्थिति में स्थिर रहता है। बम्बई का अल्फोन्सो आम पकने के केवल १४ दिनों तक स्थिर रखा जा सकता है।

विदेशों में भेजने के लिए आम के छोटे बक्से तैयार किये जाते हैं जिनका आकार १८" × १०" × ४½" होता है। इसमें लगभग १२ फल आते हैं और प्रत्येक टीसू कागज में लपेट कर रखे जाते हैं। बक्से में लकड़ी का चूरा (Wood-powder) भी रख दिया जाता है ताकि फल स्थिर रहें। सड़ने से बचाने के लिए बक्से में फल की एक ही तह के रखने का प्रबन्ध होता है। स्मिथ ने दो आकार के बक्से—१७½" × ११½" × ५½" और १७½" × ११½" × ४½" स्वीकृत किये हैं।

शीतागार—आम का फल बहुत शीघ्र सड़ने वाला फल है। इसकी कुछ जातियाँ बाजारों में बहुत कम समय के लिए ही टिक पाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब आम की फसल बहुत अच्छी आती है तो बाजार में इसकी इतनी अधिकता हो जाती है कि मूल्य बिल्कुल घट जाता है और उत्पादक को उसी मूल्य पर बेचना पड़ता है। इससे उसे अधिक लाभ नहीं हो पाता। यदि फल टिकाऊ रहता तो उत्पादक इसे अपने पास बहुत दिनों तक रख सकता है और उस समय बाजार में ले आता जब कि मूल्य काफी ऊँचा होता। इस कार्य के लिए शीतागार (Cold

storage) उत्तम होते हैं। पूना के गनेशखिन्द फल अनुसन्धान केन्द्र पर बम्बई के अल्फोन्सो और पायराई, मद्रास के जहाँगीर, स्वर्णरेखा और बंगनपाली, बिहार के लँगड़ा और जर्दालू तथा उत्तर प्रदेश के दशहरी और फजली शीतागार में विभिन्न तापक्रम पर रखे गये। परिणामतः अल्फोन्सो फल अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक टिकाऊ निकला। यह शीतागार में ४५°—४८° फा० में ७ सप्ताह तक रखा जा सकता है और कमरे के साधारण तापक्रम पर ही पकाया जा सकता है। प्रयोग से यह ज्ञात किया कि ४५° फा० से नीचे का तापक्रम हरे फल के लिए हानिकर होता है। पका फल शीतागार में नहीं रखा जा सकता।

आम को सुरक्षित रखने के लिए गैसागार भी प्रचलित है जिनका प्रयोग इंगलैंड आदि स्थानों पर अधिक है। हमारे यहाँ भी पूना के गनेशखिन्द केन्द्र पर एक प्रयोग किया गया जिसमें कोई अधिक सफलता नहीं मिली।

खाद्यअंश—आम का फल उसी समय से खाना प्रारम्भ कर दिया जाता है जब कि यह बहुत छोटा और हरा होता है। हरे आम को काट और सुखा कर अनेक कामों में लगाया जाता है। कुछ आम कच्चे ही चटनी बनाने के काम में आते हैं। इसके अतिरिक्त आम चूर्ण (Mangoes slices), आम चूर्ण, आम का मुरब्बा, आम का सारडर, केचप, शर्बत (Squash) रस, बर्फी (Cheese) आम का जाम, जेली आदि पदार्थ बनाए जाते हैं। इन पदार्थों में कच्चे आम ही प्रयुक्त होते हैं। आमचूर और आमचूर्ण तो आँधियों से गिरे फलों द्वारा बनाए जाते हैं किन्तु अचार के लिए पेड़ पर का तोड़ा हुआ आम ही काम में लाया जाता है क्योंकि यदि फल थोड़ा भी जख्मी हुआ तो अचार के सड़ने का भय रहता है।

पका आम खाने में बहुत जायकेदार होता है। इसका स्वाद इतना बढ़िया होता है कि इसे लोग फलों का राजा कहते हैं। इसमें लाभकर खाद्य-तत्व अधिक मात्रा में उपस्थित होते हैं। आम का फल विटामिन A और विटामिन C में धनी होता है। केदार और चन्दा के अनुसार आम में ८·५% प्रोटीन ८·८५ ईथर एब्सट्रेक्ट और ७४·४६% घुलनशील कारबोहाइड्रेट रहता है। अलफोन्सो आम में विटामिन C अधिक पाया जाता है किन्तु कुछ लोगों ने इसे विटामिन A और C दोनों में धनी बताया है। क्वासजी पटेल नामक आम की जाति में विटामिन कम पाया जाता है। गुहा और चक्रवर्ती ने बताया है कि भारत के आम विटामिन B और C के अच्छे साधन होते हैं। कभी-कभी इनमें विटामिन C भी मिलता है। इन आमों में चीनी क काफी मात्रा पाई जाती है। किन्तु ये फासफोरस, लोहा और कैलशीयम में निर्धन होते

हैं। इनमें चीनी का प्रतिशत ११ से लेकर २० तक होता है। पोप ने आम की ८ जातियों का निरीक्षण करके निम्नलिखित परिणाम निकाला है :—

खाने योग्य ठोस भाग	६३·७७%
ठोस पदार्थ	२०% से अधिक
कारबोहाइड्रेड	१५ से २५%
प्रोट्रीन	·४३८ से १·०७५%
चर्बी (Fat)	·०३२ से ·५३%
आम्ल	·१२२ से ·३७६%
राख	·२७७ से ·४६६%

पके आम में टैनिन अधिक पाया जाता है किन्तु स्टार्च कम। कच्चे आम में अम्ल अधिक होता है। अम्ल में टारटरिक और मैलिक अधिक परिमाण में उपस्थित होते हैं। ब्रिंटन के अनुसार आम के खाने वाले गूदे का विवरण इस प्रकार है :—

ठोस भाग	१६·७६%
ठोस भाग (अघुलनशील)	१·७६%
प्रोट्रीन	·४३%
अम्ल (साइट्रिक)	·३·६%
चीनी (इनवर्टसुगर)	३·५६%
सुक्रोज	१०·०६%
रास	·४७%

आम के खाद्यतत्त्वों का उल्लेख करते हुए अपने इस प्रयोग में शेरमन (Sherman) ने निम्नलिखित आँकड़े दिए हैं :—

पानी	८१·४%
प्रोट्रीन	·७%
चर्बी	·२%
कारबोहाइड्रेट	१७·२%
राख	·४८%
बेकार अंश	३४
भोज्यशक्ति प्रतिपौण्ड	३३५ कैलोरी
प्रति १०० ग्राम	७३ कैलोरी

पके आम से अमावट, हलुवा, शर्बत, रस, आदि बनाए जाते हैं। इन वस्तुओं के रूप में इसका स्वाद पके आम के मौसम के बाद भी लिया जा सकता है। इन्हें इस प्रकार बहुत दिनों तक रक्खा जाता है। इनके बनाने में कोई विशेष खर्च नहीं पड़ता है और न विशेष ज्ञान की ही आवश्यकता होती है।

कीड़े और रोग (Insects and Diseases)

जैसा कि हमने पीछे पढ़ा है, आम के वृक्ष के फूल और फल पर अनेक कीड़े और रोग आक्रमण करते हैं और फसल को हानि पहुँचाते हैं। इनमें दो बहुत मुख्य हैं—प्रथम कीड़ा है जिसे मधुवा (Hopper) कहते हैं और दूसरा रोग है जिसे माइल ड्यू कहते हैं। इनके अतिरिक्त फसल पर कई प्रकार के कीड़े और बीमारियों का भी आक्रमण होता है जो अपनी अनुकूल स्थिति में वृक्ष को क्षति पहुँचाती हैं। अधिकतर इन कीटों और रोगों का प्रभाव फसल में फूल-फल लगते समय होता है, यदि मौसम बदली का (cloudy) हुआ तो इनका आक्रमण तेजी से होता है।

मधुवा (Hopper)—यह कीड़ा हापर या जैसिड हापर के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मधुवा एक छोटा कीड़ा है जिसका आकार खूँटी की भाँति होता है। यह बग (Bug) क्लास से सम्बन्ध रखता है। इसका आक्रमण वृक्ष पर उस समय होता है जब कि उसमें फूल आते रहते हैं। वृक्ष में ज्योंही फूल निकलते हैं कि यह कलियों के अन्दर अंडा देना प्रारंभ कर देता है। अंडा देने के ४,६ दिनों बाद वह सेये (hatched) जाते हैं। सेने के बाद पंख रहित शिशु (Nymph) अंडे से बाहर निकलते हैं जो फूल तथा कोमल फल से सैप (sap) शोषित करना प्रारंभ कर देते हैं। पैदा होने के चार महीने बाद से १०,१२ दिनों में पंखदार हो जाते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़ना प्रारम्भ कर देते हैं। निरंतर सैप-शोषण से फूल या कोमल फल समय के पहिले ही सूख कर या पक कर गिर जाते हैं। ये कीड़े मल के रूप में एक मीठा और लसीला पदार्थ छोड़ते हैं जो फूल को ढँक लेता है और इस प्रकार फूलों के गर्भाधान में प्रतिरोध उत्पन्न कर देता है। इससे कभी-कभी फूलों का बढ़ाव भी रुक जाता है। इस मल से वृक्ष में कालिख रोग (Black Sooty Mould) पैदा होता है जिसके फलस्वरूप पत्ते या फूल काले पड़ जाते हैं।

इस कीड़े की तीन किस्में पाई जाती हैं—आईडिवोसीरस क्लाईपेलिस (Idioverus Clypealis), आई० अटकिनसोनी (Iatkinsoni), आई-निविओस पेरस (I Niveosparus)। इन किस्मों में पहिली किस्म सबसे छोटी और अधिक हानिकर होती है।

पंखदार प्रौढ़ कीड़ा तने और पत्तियों तथा टहनियों पर विश्राम करता हुआ पाया जाता है और यदि इसे छेड़ा जाता है तो भनभनाहट की आवाज करते हुए यह निकट की पत्ती पर बैठ जाता है। इसका आकार $\frac{1}{2}''$ से $\frac{1}{3}''$ लम्बा होता है। ये कीड़े सम्पूर्ण फसल को क्षति-ग्रस्त कर सकते हैं किन्तु इनसे प्रायः २५ से ६०% तक ही क्षति होती है।

वृक्ष को मधुवा से बचाने के लिए गन्धक का चूर्ण ३०० मेस (mesh) के हिसाब से फूल के गुच्छों पर छिड़का जाता है। यह क्रिया प्रति १० दिन के अन्तर पर दुहराई जाती है। अभी हाल में ट्रेहन (Trehan) ने एक प्रयोग में रोगग्रस्त वृक्ष पर १०% डी० डी० टी० और गन्धक का मिश्रण १:१ में छिड़का और वह सफल भी हुआ। आगे उसने यह अनुभव किया कि मिश्रण में २% डी० डी० टी० अधिक प्रभावशाली होता है। देश पाण्डेय और करनविकल ने कहा है कि फिश आयल राजिन सोप (Fish oil rosin soap) के जैसा इनसेक्टीसाइड (कीटनाशक) छिड़कने से मधुवा पर शिशु अवस्था में अधिक प्रभाव पड़ता है। प्रौढ़ावस्था में यह छिड़काव अधिक प्रभावशाली नहीं सिद्ध होता। यदि वृक्ष काफी घना हो तो कुछ डालियाँ काट देनी चाहिए जिससे वृक्ष को अत्यधिक प्रकाश मिल सके। ग्ल्यूसरोलू के प्रयोग से भी कीड़े विनष्ट हो जाते हैं।

फल की मक्खी (Fruit Fly)—यह कीड़ा घर में पाई जाने वाली मक्खियों के आकार से मिलता-जुलता है। किन्तु थोड़ा अन्तर यह होता है कि इसका पेट त्रिभुजाकार और पंख धब्बेदार होते हैं। इस कारण भूरा-लाल होता है। इसी में काले और पीले धब्बे बने होते हैं। कभी-कभी यह आकार में घरेलू मक्खियों से बड़ा भी होता है। यह मक्खी प्रायः पकते हुए फलों पर आक्रमण करती हैं। इसके अंडे फल के पकते हुए छिलके पर दिए जाते हैं और लारवा गूदे में छेद कर देता है क्योंकि यह अंडे के कुछ ही दिनों सेने पर बाहर निकल आता है। घायल फल कुछ दिनों बाद पृथ्वी पर गिर जाता है। इन गिरे हुये फलों से मक्खियाँ ७ या १० दिन में पूरी मक्खी हो जाती हैं।

इस मक्खी की अनेक किस्में होतीं हैं। ऐय्यर (Ayyer) ने इसकी १ दर्जन जातियाँ बताई हैं जो मद्रास में आम पर आक्रमण करती हैं। रहमान ने आड़ूफल की मक्खी को आम के लिए बहुत हानिकर बतलाया है। इसका आक्रमण अमरूद पर भी होता है। पंजाब में यह आड़ू पर भी कुप्रभाव डालती है।

इसके रोकने के लिए आधे पके गिरे फल या पत्तियों द्वारा गिराए गए फलों को वृक्ष के नीचे कदापि नहीं रहने देना चाहिए और न उन्हें सड़ने का ही अवसर

देना चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि उन्हें जला कर विनष्ट कर दिया जाय। सख्त हरे फल प्रौढ़ होने पर ही वृक्ष से तोड़ लेने चाहिए।

तना छेदक (Stemborer)—तना छेदक कीड़ा आम के वृक्ष पर बहुत घातक आक्रमण करता है। यह प्रायः पुराने वृक्षों पर अधिक कुप्रभाव डालता है। यह छेदक एक दृढ़ मुँगरी-आकार का घुन है जो अपने अंडे तने या वृक्ष की छालों की दरारों में देता है। प्रायः अंडे देने का कार्य पुरानी छालों में होता है। घुन इन्हीं तनों की छालों में पलते हैं। जब ये बड़े होते हैं तो तने की छाल के भीतर रेंगकर जीवित तन्तुओं को खाते हैं। खाने की अवस्था में ये प्रायः ३ वर्ष की अवधि तक रहते हैं और कभी-कभी वृक्ष की सम्पूर्ण भीतरी खाल खा डालते हैं और उसे खोखला बना देते हैं।

इन्हें रोकने के लिए कई उपाय प्रयोग किये जाते हैं :—

१—इन्हें छिलके के भीतरी भाग से एक पतले मुड़े हुए हुकदार तार से बाहर निकाल देते हैं। यदि यह सम्भव नहीं होता है तो एक रुई का प्लग (Plug) कार्बन-बाई-सलफाइड, क्लोरोफार्म या पिट्रौल में डुबा कर छाल के भीतर छोड़ दिया जाता है। छाल का खुला मुँह मिट्टी से बन्द कर दिया जाता है। इसके स्थान पर कभी-कभी पोटैशियम सायनाइड का एक रवा डाल दिया जाता है। इससे ऊमस के मारे कीड़े मर जाते हैं। यदि छाल का खोखला ढलवा है तो पूरी छाल निकाल कर बाहर कर दी जाती है और इस प्रकार उपस्थित कीड़ों को मार डाला जाता है।

दहिया कीड़ा (Mealy Bug)—यह कीड़ा आम का सफेद कीड़ा भी कहा जाता है। उत्तरी भारत में इसका आक्रमण अधिकांश रूप से होता पाया जाता है। इससे वृक्ष की कोमल सुकुमार टहनियाँ तथा मंजर क्षतिग्रस्त होते हैं। यह कीड़ा अपना अंडा वृक्ष की चारों ओर ३-४ फीट की गोलाई में देता है। अंडे कुछ लालपन लिए हुए छोटे-छोटे दाने के रूप में मिलते हैं। मादा का आकार $\frac{1}{8}$" लम्बा होता है। इसके ऊपर का भाग सफेद मोम से ढका होता है। इनके अंडे जनवरी फरवरी तक भूमि में पड़े होते हैं और जब पूर्ण रूपेण प्रौढ़ हो जाते हैं तो अंडे से निकल कर पेड़ पर चढ़ना आरम्भ कर देते हैं। इनके प्रौढ़ कीड़े पंखदार होते हैं। यह मंजर पर बैठते हैं और उसे चूस कर अपना जीवन स्थिर रखते हैं।

इन्हें रोकने के लिए कई उपाय किए जाते हैं। यदि वृक्ष छोटा है तो उन्हें हाथ से ही पकड़ते हैं। प्रौढ़ मादा को पकड़ कर मार डालना अच्छा सिद्ध होता है। कभी-कभी पेड़ के तने के चारों ओर बसन्त ऋतु के प्रारम्भ में ग्रीस या कोई लसीला पदार्थ लपेट दिया जाता है। इससे शिशु कीड़े वृक्ष पर चढ़ नहीं पाते।

सबौर के अनुसंधान-केन्द्र पर एक प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग में रोजिन से बना पदार्थ अन्डी का तेल या ओस्टिको (Ostico) नामक पदार्थ वृक्ष के तने में २-३ फीट की ऊँचाई पर २-३″ की चौड़ाई में लपेट दिया जाता है। इससे छोटे कीड़े जमीन पर ही रह जाते हैं, ऊपर नहीं चढ़ पाते। इन्हें मारने के लिए भूमि की जुताई भी कर दी जाती है।

पत्ती खाने वाले कीड़े (Leave Eating Insects)—कुछ कीड़े-मकोड़े ऐसे भी पाए जाते हैं जो वृक्ष की पत्तियों, डन्ठल आदि को क्षति पहुँचाते हैं। इनका अधिक आक्रमण उस समय होता हैं जब कि पत्तियाँ कोमल होती हैं। किशोर पौधों में इनका प्रकोप अधिक होता है। आक्रमण करने के बाद यह पत्तियाँ खाने लगते हैं या उन्हें काट कर भूमि पर गिरा देते हैं। इन्हें रोकने के लिए लेड आरसिनेट का घोल अच्छा सिद्ध होता है। यह घोल एक औंस की मात्रा में ३ गैलन पानी में घोला जाता है और उसके पश्चात् वृक्ष पर छिड़क दिया जाता है।

सपटा कीड़े (Scale Insects)—इस कीड़े की अनेक जातियाँ होती हैं जिनमें से कुछ आम के फलों और पत्तियों पर आक्रमण करती हैं। ये कीड़े नई कोपलों के चारों ओर फैल कर उन्हें क्षति पहुँचाते हैं। इन्हें दूर करने के लिए फिश आयल रोजिन सोप (Fish-oil Rosin Soap) चालीस गुना पानी के साथ मिला कर वृक्ष पर छिड़का जाता है।

गुठली के घुन (Mango stone Weevil)—यह कीड़ा एक बड़े से घुन के आकार का होता है। इसकी लम्बाई लगभग $\frac{1}{3}$″ और रंग गहरा भूरा होता है। यह प्रायः छोटे फलों पर आक्रमण करता है और अपने अंडे किशोर पत्तियों पर देता है। अंडे से निकल कर फल में प्रवेश कर जाता है और गुठली में पहुँच जाता है। वहीं यह प्रौढ़ होता है और जब फल पक जाता है तो गुठली से निकल कर सारा गूदा खराब कर देता है। इसे रोकने के लिए क्षतिग्रस्त फल तोड़ कर जला देना चाहिए। वृक्ष के नीचे की भूमि भी गोड़ देनी चाहिए ताकि कीड़ों की वृद्धि न हो सके। ये कीड़े आम की सभी जातियों पर आक्रमण नहीं करते। केवल कुछ ही ऐसी जातियाँ हैं जो इससे क्षतिग्रस्त होती हैं। जैसे मद्रास की बगलौरा जाति जब मद्रास आई तो इस पर इस कीड़े का प्रकोप पाया गया।

लाल दीमक (Red Ants)—यह कीड़े लाल-रंग के होते हैं। यह अपना घोंसला पत्तियों पर बनाते हुए देखे जाते हैं और यही से ये वृक्ष की सारी शाखाओं तथा सारे उद्यान में घूम आते हैं। यद्यपि इनसे वृक्ष को कोई हानि नहीं होती है किन्तु इनकी उपस्थिति से उद्यान में काम करने में कठिनाई होती है। इन्हें दूर

करने के लिए सल्फर या गन्धक और गमेक्सीन (B.h.C. ५%) १ और २ के अनुपात में मिला कर छिड़क दिया जाता है।

टहनियों पर पैदा होने वाले कीड़े (Shoot Boring Caterpillar)—यह कीड़ा प्रायः किशोर पौधों पर आक्रमण करता है। इनका जन्म जुलाई से दिसम्बर तक आती हुई टहनियों पर होता है। इनके आक्रमण से टहनियाँ सूख जाती हैं। इन्हे रोकने के लिए डी० डी० टी० २% ग्ल्यूसरोल ५५० वेटेबुल चूर्ण का मिश्रण गन्धक के ३ पौन्ड के साथ दिया जाता है।

टहनियों पर जाला लगाने वाले कीड़े (Shoot Webbing Caterpillar)—यह कीड़ा आम की पत्तियों को हानि पहुँचाता है। यह टहनी के सिरे पर की पत्तियों को घोंसले की भाँति बाँध देता है और भीतर-ही-भीतर इन्हें खाना प्रारंभ कर देता है। मद्रास प्रदेश में इनका अधिक आक्रमण होता है। इन्हें दूर करने के लिए ऐसे घोंसले तोड़ कर एक झोले में इकट्ठे कर लिए जाते हैं और फिर इन्हें जला दिया जाता है। इन्हें रोकने का दूसरा ढंग यह है कि क्षतिग्रस्त टहनियों या शाखाओं पर २°/० डी० डी० टी० छिड़क दिया जाता है।

माइल ड्यू (Mildew)—यह रोग आम की फसल पर बहुत भयंकर रूप से आक्रमण करता है। इस रोग का कारण ओडियम मैंगिनीफेरा (Oidium Mangiferae) है। जिस वृक्ष पर इसका आक्रमण होता है, वह बड़ी सरलता-पूर्वक पहचाना जा सकता है। वृक्ष पर सफेद बारीक चूर्ण या सफेद आटे के छिड़काव की तरह दिखना इसकी पहिचान है। यह प्रायः वृक्ष में फल आने के समय लगता है। यह एक फँफूदी (Erysiphe Cichoraceurum) से होता है। इसका प्रथम आक्रमण कलियों, कोणों, डन्ठलों, फलों और फूल की कोमल फुनगियों पर होता है। सफेद रंग का जो धब्बा देखा जाता है वह फँफूदी होते हैं। यह फूल या फल के बाहरी सेल पर स्थिर रहकर भोजन लेते हैं। थोड़े ही दिनों के बाद भोजन लेते-लेते ये फल या फूल को सुखा डालते हैं और तब वे भूमि पर गिर जाते हैं। यद्यपि यह रोग अधिक हानिकर नहीं है तथापि इससे ५ से २०%/० हानि हो जाती है।

इन फँफूदियों का आक्रमण हवा द्वारा होता है। यह हवा में उड़ते रहते हैं और फूलों को पाकर रुक जाते हैं। फूलों में वह शीघ्र ही अपना कुप्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर देते हैं और ५-६ दिनों में ही स्पोर (Spore) देने लगते हैं। उपयुक्त समय में ये स्पोर शीघ्र ही बढ़ जाते हैं और फूलों में क्षति पहुँचाने लगते हैं।

इसे दूर करने में गन्धक का छिड़काव बहुत उपयुक्त होता है। इसके देने से वृक्ष पर उपस्थित मधुवा कीड़े भी नष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी डी० डी० टी० और गन्धक या गमेक्सीन का मिश्रण भी छिड़का जाता है। छिड़काव की क्रिया प्रायः प्रातः काल की जाती है जब कि हवा भी मन्द होती है।

ऐन्थे क नाज (Anthracnose)—यह रोग एक प्रकार की फफूंदी से उत्पन्न होता है। जिसे कोलेटोट्राइकम, ग्लोस्पोरायडी (Colletotrichum) (Gloeosporiodes) कहते हैं। यह रोग त्रावनकोर, कोचीन, आसाम, पंजाब, तामिलनाद आदि स्थानों पर बहुधा पाया जाता है। इसका आक्रमण बहुत कोमल फूल-पत्तियों और फलों पर होता है और आक्रमण के फलस्वरूप गहरा काला छोटा धब्बा बन जाता है। यह रोग बहुत शीघ्र बढ़ता है। काले धब्बे फल के बढ़ने के साथ ही बढ़ते जाते हैं और इस प्रकार फल का छिलका बिल्कुल असुन्दर हो जाता है। धब्बे के नीचे का गूदा भी कठोर हो जाता है। जिस फल पर इस रोग का आक्रमण होता है वह फल बहुत ही जल्दी सड़ना प्रारम्भ कर देता है और पेड़ से गिर जाता है। क्षतिग्रस्त टहनियाँ ऊपर से ही सूख जाती हैं और इस प्रकार सारा वृक्ष ही कुप्रभावित हो जाता है।

इसे रोकने के लिए ३ : ३ : ५० के बोर्डोमिक्सचर का प्रयोग किया गया है। प्रायः इसके ८ प्रयोग किए जाते हैं। ३ प्रयोग क्षतिग्रस्त फूल के गुच्छों की रक्षा के लिए और ५ क्षतिग्रस्त फल के लिए किए जाते हैं। बोर्डोमिक्सचर का प्रयोग तैयार करने के शीघ्र बाद ही कर सकते हैं। किन्तु तैयार करने के ३ घंटे बीत जाने पर यह प्रभावहीन हो जाता है।

फल का सड़ाव (Fruit Rotting)—ईंट की चिमनी के निकट के उद्यान बहुधा उसके धब्बे से प्रभावित देखे जाते हैं। धुएँ के कारण फल पर काले धब्बे पड़ जाते हैं जो धीरे धीरे बढ़ने लगते हैं। संभवतः यह धब्बा धुएँ में निकले सल्फर डाइआक्साडड, कार्बन डाइआक्साडड और इथलीन के कारण होता है। इसके कारण फल कड़ा हो जाता है और उसका विकास रुक जाता है। विकास रुकने के थोड़े समय बाद फल गिर जाता है। इसकी रोक के लिए ऐन्थे क्नाज रोग में प्रयुक्त उपाय ही काम में लाए जाते हैं।

कोढ़ रोग--यह रोग तने के छिलके में लगता है। रोग के अभाव से छिलके के तन्तु मर जाते हैं और कुछ गोंद बाहर निकल आता है। गोंद निकलने पर छिलका फट जाता है। इससे वृक्ष की उपज पर कुप्रभाव पड़ता है। इसे दूर करने के लिए बोर्डोपोस्ट (१ : १ : ३०) छिलके को चाकू से काट कर उसके

ऊपर लगा देते हैं। बोर्डोपोस्ट में चूना; तूतिया बराबर मात्रा में पानी के साथ मिलाकर लेई रूप में कर लिया जाता है।

वन्ध्या (Loranthus)—यह एक परोपजीवी पौधा है जो प्रायः आम के वृक्ष पर उगा हुआ पाया जाता है। इसे वनस्पति शास्त्र में Loranthus Longifjlorus कहते हैं। यह पक्षियों द्वारा आम के वृक्ष पर लाया जाता है। वह इसका बीज खा कर वृक्ष पर बीट कर देते हैं। यह बीज उपयुक्त अवस्था में पौधे का रूप धारण कर लेता है। पौधे की जड़ें वृक्ष के तन्तुओं में प्रवेश कर जाती हैं और वृक्ष के ही भोजन पर निर्भर रहती हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि वृक्ष का सम्पूर्ण अंग बन्ध्या पौधों से ढक जाता है और वृक्ष का बढ़ाव रुक जाता है। इसे रोकने के लिए यह परजीवी पौधे काट कर अलग कर दिए जाते हैं। इन्हें अलग करने के पश्चात् इस बात की सदैव सावधानी रखनी चाहिए कि इनका बढ़ाव पुनः प्रारंभ न हो जाय।

अध्याय १५

नीबू जाति के फल (Citrous Fruits)

नीबू जाति के फलों का स्थान विश्व में उगाए जाने वाले फलों में महत्व-पूर्ण है, व्यापारिक दृष्टिकोण से बहुत कम ऐसे फल हैं जो उसकी समता कर सकते हैं। उसकी कृषि बहुत लाभप्रद और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उत्तम है। इसमें आम की भाँति विटामिन C पाया जाता है। इस जाति के फल औषधियों में भी अधिकता से प्रयोग किए जाते हैं और इनसे बहुमूल्य दवाएँ तैयार की जाती हैं। लगभग सम्पूर्ण विश्व में समशीतोष्ण क्षेत्रों में इनकी खेती होती है किन्तु कहीं-कहीं उष्ण कटिबन्ध तथा शीत कटिबन्ध में भी ये उगाए जाते हैं। विभाजन के विचार से सम्पूर्ण विश्व में इसकी खेती २,०००,००० एकड़ में होती है। अकेले अमेरिका में ये ६५०,००० एकड़ में उगाये जाते हैं। यहाँ कैलीफोर्निया और फ्लोरिडा में इसकी खेती अत्यधिक परिमाण में की जाती है। यहाँ १६३५ में केवल नीबू जाति के फलों का मूल्य चीमा, भट्ट और नायक के शब्दों में १,३४० लाख डालर था। यहाँ यह व्यापारिक दृष्टिकोण से बहुत उत्तम सिद्ध हुई। इटली, ब्राजील, स्पेन, जापान, आस्ट्रेलिया, चीन, दक्षिणी अमेरिका और पैलेसटाइन में भी इसकी खेती अधिक क्षेत्रफल में की जाती है। इटली में नीबू जाति के फलों को अन्य फलों के साथ उद्यान में ही उगाया जाता है। अतः इनके क्षेत्रफल का सही आँकड़ा नहीं दिया जा सकता। स्पेन में द्वितीय विश्व महायुद्ध के पूर्व ये अधिक परिमाण में उगाये जाते थे। किन्तु युद्ध काल में उत्पादन क्षेत्र में कुछ घटती हो गई। पैलेसटाइन में सन्तरे और ग्रेप फ्रूट लगभग ७५,००० एकड़ में उगाए जाते हैं।

भारतवर्ष का नीबू जाति के फलों के उत्पादन में महत्वपूर्ण स्थान है। १६४३ ई० में इसके क्षेत्रफल का अनुमान १३,००० एकड़ से कुछ ऊपर किया गया था जबकि देश में फलों का सम्पूर्ण क्षेत्रफल लगभग २० लाख एकड़ था। नीबू के जाति के फलों का यह क्षेत्रफल सम्पूर्ण फल के क्षेत्रफल का ६·५% था। १६४३ ई० की नीबू जाति के फलों की मारकेटिंग रिपोर्ट के अनुसार मद्रास में ४६,००० एकड़ जिसमें स्वीट औरेंज (Sweet orange) १६,६०० एकड़, खट्टा नीबू ८,००० एकड़, लून जैकेट औरेंज ५,००० एकड़, बिदालपुरी औरेंज और अन्य नीबू जाति के फल १,४०० एकड़ हैं। मध्य प्रदेश में २२,६४७ एकड़, मैसूर

और कुर्ग में १०,०७१ एकड़, पंजाब में १७,१५० एकड़, बम्बई में १६,४०० एकड़, आसाम में १४,०२५ और अन्य प्रदेशों में १८,१४८ एकड़ है। विभाजन की दृष्टि-कोण से मद्रास अधिक नीबू पैदा करने वाला प्रदेश है। के० सी० नायक के अनुसार मद्रास के नीबू का क्षेत्रफल भारत और पाकिस्तान के सम्पूर्ण फल उत्पादन क्षेत्र का चौथाई है। प्रायः भारतवर्ष का कोई भाग ऐसा नहीं है जहाँ नीबू जाति का कोई फल उगाया न जाता हो। चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार भारत में नीबू जाति के फलों का सम्पूर्ण क्षेत्रफल १६५,५७० एकड़ है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भी उसका क्षेत्रफल अंकित किया है जो इस प्रकार है—

मध्य प्रदेश	३८,७३८ एकड़
मद्रास	३०,१३० ”
बम्बई	२५,७८६ ”
कुर्ग	१६,८५५ ”
आसाम	१५,००० ”
बिहार	१२,७६६ ”
मैसूर	५,१७० ”
पूर्वी पंजाब	३,५३६ ”
हैदराबाद	२,७०० ”
पश्चिमी बंगाल	१,७४२ ”
उत्तर प्रदेश	१,१४७ ”

उत्तर प्रदेश में नीबू जाति के फल १,१४७ एकड़ क्षेत्र में उगाए जाते हैं। किन्तु चाँद ने यह क्षेत्र १,६२६ एकड़ बतलाया है। यह विचाराधीन है कि कौन आँकड़ा स्वीकार किया जाय।

भूमि—जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, हमारे देश की भूमि सभी स्थानों पर एक-सी नहीं है। यह स्थान-स्थान पर भिन्न होती जाती है। किन्तु प्रयोगों के आधार पर इसकी खेती दोमट भूमि में, जिसका टेक्स्चर उत्तम होता है, जिसमें उर्वरा शक्ति अधिक होती है और जिसकी गहराई लगभग ८ फीट होती है, अच्छी सिद्ध हुई है। कम गहराई वाली भूमि या पहाड़ी भूमि में पौधों का उत्पादन संतोष-जनक नहीं हो पाता। यद्यपि ये प्रारम्भिक वर्षों में बड़ी तेजी से बढ़ते हैं और कुछ वर्षों तक फसल अच्छी देते हैं, किन्तु बाद में यह मुरझाना प्रारम्भ कर देते हैं और मर जाते हैं। कारण यह होता है कि भूमि की गहराई में पौधों की जड़ें दूर तक नहीं जा पातीं, जिससे उन्हें आवश्यकतानुसार आहार नहीं मिल पाता। बम्बई में कोंकन भाग में भूमि काफी उथली है जहाँ भूमि का अधः तल १ से २ फीट नीचे

तक पाया जाता है। यहाँ पोमैलो की खेती होती है। कोलार और अहमदनगर जिले में भी ऐसी ही भूमि पाई जाती है। यहाँ संतरा, मुसम्मी और कागदी नीबू के कुछ वृक्ष लगाए गए और यह देखा गया कि लगभग सभी वृक्ष ३ वर्ष की अवस्था तक मर गए। उनमें से कोई ३ वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सका। इसका कारण यह है कि वृक्षों की जड़ें जब तक धरातल और अधःभूमि तक रहती हैं तो उनके प्रसार में न तो कोई कठिनाई उपस्थित होती है और न आहार के अभाव का ही अनुभव होता है किन्तु ज्यों ही जड़ें भूमि की यह सीमा पार कर आगे की ओर अग्रसर होती हैं कि उन्हें चट्टानें या पहाड़ी अथवा जल-निकासरहित भूमि की पर्त मिल जाती है। इस पर्त में जड़ें भली भाँति बढ़ नहीं पातीं और उन्हें आवश्यकतानुसार भोजन भी नहीं प्राप्त हो पाता है। ऐसी भूमि में जब नीबू की जाति के वृक्ष लगाने हों तो भूमि को गहराई तक बिना खोदे वृक्षारोपण करना उचित नहीं होता है। इसके लिए ३'×३'×३' आकार का गड्ढा बना कर उनमें खाद की उचित मात्रा के साथ बाहर से उर्वर मिट्टी डाल दी जाती है। ऐसे ही गड्ढों में वृक्ष लगा दिए जाते हैं। किन्तु इस बात का भी अनुभव किया गया है कि अधिक आयु के होने पर वृक्ष की जड़ें जब भूमि की यह गहराई पार कर जाती हैं तो उनकी वृद्धि में आसपास या नीचे की चट्टानों या कठोर पर्तों के कारण व्यवधान प्रस्तुत हो जाता है।

भूमि में जल के स्तर का ऊँचा होना भी नीबू जाति के फलों के लिए उचित नहीं होता। ऐसी स्थिति में वृक्ष पनप नहीं पाते। उनकी जड़ें दुर्बल हो जाती या मर जाती हैं। निचली सतहों में पानी के आ जाने से उनके आसपास के आहार-तत्व पानी में घुल कर उनकी पहुँच के बाहर चले जाते हैं। प्रयोगों से यह देखा गया है कि नीबू जाति के नीची भूमि वाले उद्यान मानसून के समय काफी क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। अधिक पानी बरसने से उद्यान की भूमि पानी से ढक जाती है और भूमि का जल-स्तर भी ऊँचा हो जाता है। इससे वृक्ष की जड़ें रोगग्रस्त हो जाती हैं या वृक्ष के फल-फूल मुरझा जाते हैं। अतः नीबू जाति के फलों के लिए वैसी ही भूमि चुननी चाहिए जिसमें जल-निकास का आम प्रबन्ध हो। कठोर या चिपकदार अधःतल वाली भूमि वृक्ष के स्वास्थ्य के लिए अच्छी नहीं होती। बम्बई प्रदेश में पूना की काली मिट्टी और ससवाद तथा अन्य जिलों की लाल मिट्टी इसके लिए अच्छी पड़ती है। गुजरात की दोमट मिट्टी भी अधिक उचित होती है। दक्षिण की कठोर भूमि नीबू के फलों के लिए श्रेष्ठकर नहीं होती किन्तु काली या साधारण काली भूमि जिसके अधःतल में मुलायम मिट्टी पाई जाती है उत्तम होती है। वृक्षों की सिंचाई करते समय भी इस बात से काफी सतर्क रहना चाहिए कि पानी में

घुलित नमक विशेषतया साधारण नमक या क्लोराइड के रूप में उपस्थित न हो। भूमि में कैलशियम कार्बोनेट का उपस्थित होना भी इस जाति के लिए हानिकर है। भूमि यदि उदासीन, थोड़ा अम्लीय अथवा क्षारीय हो तो अच्छा होता है। मीठी नारंगी (स्वीट आरेंज) की खेती ५ से ८ PH की स्थिति में सफलतापूर्वक की जा सकती है, किन्तु इससे अधिक अम्लीयता या क्षारीयपन अच्छा नहीं होता। यदि भूमि में अम्लीयता ४ PH से नीचे होती है तो वृक्षों पर उल्टा प्रभाव पड़ता है। यही स्थिति क्षारों के अधिक होने अर्थात् P″ के ८ से बढ़ने पर होती है। भूमि में जब क्षारों की मात्रा अधिक हो जाती है वृक्ष की जड़ें रोगग्रस्त हो जाती हैं और वृक्ष पर अनेक प्रकार के अभाव परिलक्षित होने लगते हैं। अस्तु उद्यान के चुनाव के पहले ही उसकी भूमि का वैज्ञानिक विश्लेषण कर लेना चाहिए।

नीबू जाति के फल क्षारीय भूमि में सफलतापूर्वक उगाए जा सकते हैं। जिस भूमि में साधारण नमक (Sodium Chloride) उपस्थित हो उसमें नीबू जाति के वृक्ष कदापि नहीं उगाने चाहिए।

नीबू जाति के फलों की खेती नदी के किनारे वाली अलूवियल भूमि में अच्छी होती है क्योंकि इसमें भूमि की गहराई अधिक पाई जाती है। गंगा-यमुना के मैदान की भूमि इसके लिए बहुत अच्छी है किन्तु बलुई भूमि या बलुई में मटियार भूमि का थोड़ा मिश्रण इसके लिए अनुपयुक्त होता है। जिस भूमि में सोडियम और कैलशियम की उचित मात्रा उपस्थित होती है, वह नीबू के फलों के लिए विशेष उपयुक्त मानी जाती है। भूमि-चुनाव में इस बात का अधिक ध्यान रखना चाहिए कि भूमि आवश्यक तत्वों से परिपूर्ण हो क्योंकि इसका उद्यान की सफलता पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

जलवायु—नीबू जाति के फल बहुधा भारी वर्षा वाले स्थानों में अच्छी उपज नहीं देते यद्यपि इनकी कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो ऐसे स्थानों पर अच्छी उपज देती हैं जैसे मोसम्बी और सन्तरा। नीबू की ये जातियाँ कुछ वर्षों तक नम और तर जलवायु में तेजी से बढ़ती हैं किन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् इनके वृद्धि की गति मन्द हो जाती है और इनका फलन् भी अच्छा नहीं हो पाता। स्वीट आरेंज के फल शुष्क जलवायु में भली भाँति फसल देते हैं। दक्षिण भारत में रायलसीमा तथा उत्तरी सरकार में इनकी अच्छी उपज होती है। सन्तरा और मोसम्बी की जातियाँ सूखी जलवायु अधिक पसन्द करती हैं। इनके लिए वह स्थान अधिक उपयुक्त होता है जहाँ वार्षिक वर्षा ३०″ होती है। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ भूमि ढालवाँ होती है अथवा जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध होता है, १००″ वार्षिक वर्षा होने पर भी सन्तरा की खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है। यद्यपि फलों के उद्भेदन पर वर्षा

की मात्रा का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि वर्षा विभाजन का, फिर भी सन्तरा और मोसम्बी मानसूनी प्रदेशों में भी सफलतापूर्वक उगाए जा सकते हैं। पश्चिमी घाट के आसपास जहाँ वर्षा अधिक होती है और जलवायु नम है सन्तरा की खेती होती है। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि दक्षिण के पठार पर उगाए सन्तरे इन स्थानों के फलों की अपेक्षा स्वाद में मीठे होते हैं। मोसम्बी के फलों में भी यही बात होती है। बदलापुदी आरेंज के फल उन स्थानों पर अच्छी तरह उगाए जाते हैं जहाँ वातावरण काफी नम होता है और ग्रीष्म ऋतु अधिक होती है। कागदी नीबू की खेती उत्तरी भारत में, जहाँ पाले की संभावना कम होती है और वातावरण नम होता है तथा जाड़े की ऋतु लम्बी होती है, की जाती है। खट्टे नीबू के फल शुष्क और नम दोनों प्रकार की जलवायु में उगाए जाते हैं। इसे उन स्थानों पर भी उगाया जा सकता है जहाँ वार्षिक वर्षा १२०″ के ऊपर होती है। इसे शुष्क जलवायु में उसी स्थिति में उगाया जा सकता है जब कि सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध हो। पूना, नासिक, और खानदेश में, जहाँ वार्षिक वर्षा केवल ३०″ ही होती है, इसे सिंचाई के बल पर अधिक परिमाण में उगाया जाता है। कागदी नीबू ४,००० फीट की ऊँचाई तक सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

नीबू जाति के फलोत्पादन पर तापक्रम का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। इन्हें समुद्र तल के धरातल से लेकर कुछ निश्चित ऊँचाई तक सफलतापूर्वक उगाया जाता है। दक्षिणी पठार पर, जहाँ ऊँचाई औसत है, सन्तरे की खेती अधिक परिमाण में होती है। बम्बई प्रदेश की भूमि जो समुद्र तल से २००० फीट से ऊँची नहीं है नीबू जाति के फलों के लिए विशेष उपयुक्त होती है। वे स्थान जहाँ पाले का कम भय होता है नीबू की उपज अच्छी देते है क्योंकि सर्द जलवायु में इनके वृक्ष शीघ्र क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। लंका में खट्टे नीबू समुद्र तल से ३००० से ४५०० फीट की ऊँचाई पर उगाए जाते हैं। इन्हें अधःशुष्क जलवायु अधिक उपयुक्त लगती है। लोगों का विचार है कि यह जाति बहुत नम भूमि अथवा जल-निकास-रहित भूमि में भी सफलतापूर्वक उग सकती है। किन्तु उस भूमि में जिसमें जल निकास का उत्तम प्रबन्ध होता है इसकी फसल अच्छी ली जा सकती है।

मूल स्थान—नींबू जाति के फलों के मूल स्थान के विषय में लोगों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ लोगों का मत है कि नींबू जाति के फल भारत के उत्तर-पूर्व देशों स्याम या दक्षिणी-चीन में सर्व प्रथम उगाए गए। डेकन्डोले (Decondolle) इस मत के समर्थक हैं। एशिया महाद्वीप में इन फलों के मूल स्थान होने के कुछ साक्ष्य प्रारंभिक काल के उपलब्ध होते हैं। उनका कथन है कि यह फल इन्हीं स्थानों से योरुप और अमेरिका पहुँचाये गए। कुछ लोग जो इस मत के पक्ष में हैं

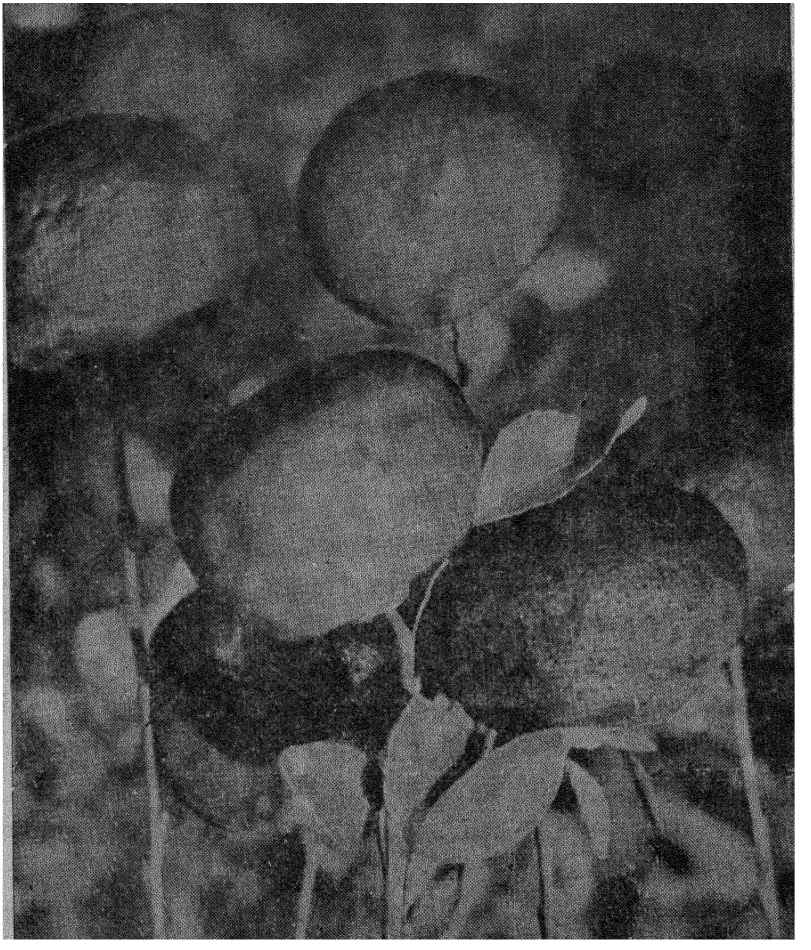
वे इसका समर्थन करते हैं और यह मानते हैं कि नीबू जाति के मूल स्थान भारत, स्याम और चीन हैं, जहाँ से ये योरुप और अमेरिका हाल ही में लाए गए हैं। डेकन्डोले ने ४००० ई० पूर्व के उगाए जाने वाले फलों की नामावली में नीबू जाति के फलों को सम्बन्धित नहीं किया है। इससे पता चलता है कि चीन में इस अवधि के पूर्व भी नीबू की कुछ जातियाँ उगाई जाती थीं। हू ने २२०० ई० पू० में उगाए गए नीबू जाति के कुछ फलों की खेती का उल्लेख किया है। इन बातों से यह परिलक्षित होता है कि चीन में इस जाति के फल बहुत पुराने समय से ही उगाए जाते थे और चूँकि चीन और भारत का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से रहा है, अतः यह कहा जा सकता है कि नीबू जाति के फल एक देश से दूसरे देश में लाए गए होंगे। इन फलों के मूल स्थान का योरोप में होना संभव नहीं क्योंकि इस वृत्त में साक्ष्यों का पूर्ण अभाव है। सदाफल (Citron) का मूल स्थान भारतवर्ष ही बतलाया जाता है। यद्यपि यह योरोप में सबसे पहले पहुँचा और आज वहाँ यह मूल फल की भाँति दृष्टिगत होता है किन्तु वास्तव में इसका मूल स्थान भारतवर्ष या उसके निकट का ही भू-भाग है। यूनानियों में सदाफल की खेती मेडिका और फारस के निकट ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ही देखी थी। यहीं से यह जाति बेबीलोन और योरोप के अन्य देशों में पहुँची होगी।

खट्टे नीबू के मूल स्थान के विषय में लोगों का यह विचार है कि यह भारतवर्ष में ही सबसे पहले उगाया गया। किन्तु कुछ लोग इस कथन के पक्ष में नहीं है। उनका कहना है कि इसका मूल स्थान मलाया है। नीबू की जातियों में अधिक भिन्नता न होने के कारण इनके पहचानने में असुविधा होती है। यही कारण है कि इनके मूल स्थानों के विषय में भिन्न-भिन्न मत पाए जाते हैं। किन्तु पहाड़ी खट्टा नीबू या पहाड़ी कागदी या बिहारी नीबू का मूल स्थान निश्चय ही भारतवर्ष है। खट्टे नीबू योरोप में दशवीं शताब्दी में लाए गए। कुछ लोग सदाफल, खट्टा नीबू और नारंगी का योरुप में लाया जाना ईसा के प्रथम शताब्दी में बताते हैं। खट्टे नीबू और मीठे नीबू में इतनी समानता है कि कभी-कभी लोग इनके पहचानने में भूल कर जाते हैं। इसी कारण इनके मूल स्थान के पता लगाने में भी कठिनाई होती है।

नीबू जाति के फलों की जातियाँ—जैसा कि हमने कहा है कि नीबू जाति के फलों के पहचानने में काफी कठिनाई होती है क्योंकि ये एक दूसरे से रूप और गुण में काफी समानता रखते हैं। इनकी मुख्य जातियाँ निम्नलिखित हैं :—

माल्टा या मोसम्बी, मंदारिन, खट्टा नीबू, मीठा नीबू, सदाफल, पमैलो या गागर, ग्रेपफ्रूट, कमकट, खट्टी नारंगी।

बम्बई प्रदेश में सन्तरे और मोसम्बी अधिकता से उगाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त नीबू (कागदी) भी अधिक परिमाण में उगाया जाता है। कुर्ग में मंदारिन और नीलगिरी में मोसम्बी उगाए जाते हैं। मद्रास प्रदेश में नारंगी की दो जातियाँ साठगोदी या चीनी और बटेवियन उगाए जाते हैं। कर्नूल जिले में मोसम्बी उगाई जाती है।



चित्र—सन्तरे के फल

मध्य प्रदेश में मुख्यतया संतरे की खेती होती है। उड़ीसा के कुछ भाग में भी थोड़े क्षेत्र में संतरे उगाए जाते हैं। पंजाब, या पश्चिमोत्तर भारत, सिन्ध और

पश्चिमी यू० पी० में संतरा, मीठा नीबू, और माल्टा उगाए जाते हैं। हिमालय की तराई में कागदी नीबू और खट्टे नीबू की जातियाँ पैदा की जाती हैं। आसाम में भी नीबू जाति के कुछ फल उत्पन्न होते हैं।

माल्टा मोस्मबी—इस जाति के फल मध्यम आकार के होते हैं। इनका छिलका नारंगी रंग का और गूदा मीठा पाया जाता है। गूदे का रंग छिलके से मिलता-जुलता है। यह फल अनेक बीज वाले होते हैं। इसकी तीन किस्में होती हैं, (१) जिनके फल साधारण आकार के होते हैं, (२) जिनके फल बड़े आकार के होते हैं, (३) जिनके फलों का रंग लाल या लाल धारियों युक्त होता है। प्रथम किस्म के फल व्यापारिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व के हैं। इनकी खेती दक्षिण भारत में लगभग १० हजार एकड़ में होती है। प्रारंभ में मोसम्बी का यह विभाजन नहीं होता था। लोग इन्हें एक ही समझते थे। किन्तु बुनोविया ने इनका गहन अध्ययन किया था और इनमें भिन्नता दिखाकर दो किस्में बताई थीं। स्विंगिल ने भी इनकी दो जातियाँ घने छिलके वाली (मोसम्बी) और ढीले छिलके वाली (संतरा) बताई। मोसम्बी और संतरा दोनों ही नीबू जाति के प्रसिद्ध फल हैं।

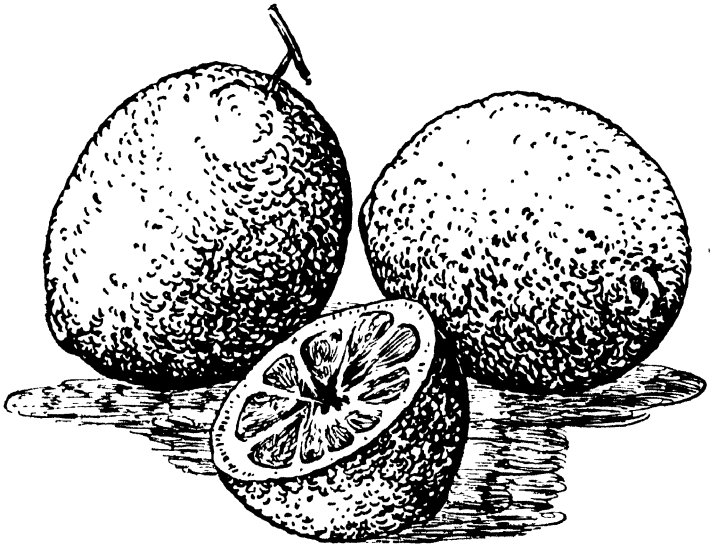
साठगूदी फल जिसे चीनी नारंगी भी कहते हैं दक्षिण भारत में प्रचुरता से उगाई जाती है। वहाँ यह पश्चिमी घाट और कुछ ऊँचे भागों को छोड़ कर सम्पूर्ण भूमि पर उगाई जाती है। आकार के अनुसार यह गोलाकार होती है। इसके फल छोटे और बड़े दोनों होते हैं। छिलका पकने पर नारङ्गी रंग का हो जाता है जो स्पर्श में बहुत चिकना होता है। छिलके की मोटाई सदैव एक समान नहीं होती। इसके दबाने से एक प्रकार का तेल जैसा रस निकलता है। फल में बीज अनेक होते हैं। किन्तु सभी फलों में इनकी मात्रा समान नहीं होती। जिन फलों के छिलके मुलायम और पतले होते हैं उनमें रस अधिक होता है और स्वाद भी अच्छा होता है। साठगूदी के वृक्ष काँटेदार, पंखदार और संकरी पत्ती वाले होते हैं। इनमें अक्टूबर से फर्वरी तक फल पक जाते हैं। इसका नामकरण साठगूदी इसलिए पड़ा कि यह सब से पहले उत्तरी अर्काट जिले के साठगुर नामक ग्राम में पाया गया। मद्रास की बाजारों में इसे चीनी नागरी या कोदूर साठगूदी के नाम से भी पुकारते हैं।

नारङ्गी की दूसरी जाति वटाबियन है। इसका नामकरण इसके प्राप्त-कर्ता वटाविया के नाम पर हुआ। प्रारंभ में गोदावरी जिले में इसका अधिक महत्व रहा जहाँ डच लोगों की अधिक बस्ती थी। उसके अतिरिक्त यह देश के अन्य भागों में भी अधिकता से उगाई जाती है। दक्षिण में उत्तरी सरकार में ही अकेले २,००० एकड़ क्षेत्रफल में इसकी खेती होती है। इसके फल का रंग हल्का पीला-हरा होता

है। हरे रंग पर पीले धब्बे पड़े होते हैं जिससे इसे साठगूदी से सरलतापूर्वक पहिचाना जाता है। इसे स्वाद से भी पहिचाना जा सकता है क्योंकि इसका स्वाद साठगूदी से कुछ घटिया किस्म का होता है।

नारंगी जाति की तीसरी किस्म मोसम्बी जिसे मोजम्बी, मोजम्बिक या स्वीट आरेंज कहते हैं। यह चार भिन्न किस्में सम्मिलित करती है जिसमें शंतरह, कावला, लादू और रेशमी नारंगी हैं। शंतरह ढीले छिलके वाले नारंगी की सर्वोत्तम किस्म है। यह मध्य प्रदेश में नागपुर में अधिक परिमाण में उगाया जाता है। तनका ने इसे असमान गुण वाली नाबू की जाति बताई है। नारंगी की अन्य जातियाँ इससे घटिया किस्म की होती हैं। इसके फल में अनेक बीज होते हैं। इसका छिलका खुरदरा होता हैं जिससे छिलका उतारने में कठिनाई होती है। इसका स्वाद मीठा होता है। किन्तु कभी-कभी यह तीखा भी हो जाता है। इसके तीखेपन का कारण है अम्ल और चीनी का अत्यधिक परिमाण उपस्थित होना।

मन्दारिन—यह ढीले छिलके वाली नारंगी है। जिसका छिलका गूदे से ढिलाई में लगा रहता है जिससे यह सरलतापूर्वक उतारा जा सकता है। इसका स्वाद मीठा और फल अनेक बीजों वाला होता है। मंदारिन के फूल पूर्ण होते हैं। पत्र-दल सँकरे या चौड़े पंख वाले होते हैं। ढीले छिलके वाली नारंगियाँ मद्रास,



चित्र—मन्दारिन (जम्बूरी फल)

मलाबार, नीलिगिरी, कुर्ग, मैसूर, बम्बई में अधिकता से उगाई जाती है। मद्रास में इसका सम्पूर्ण क्षेत्रफल ८,००० एकड़ है जब कि मालावार और नीलिगिरी में क्रमशः ६,००० और १,००० एकड़ में उगाई जाती है। कुर्ग में इसका क्षेत्रफल बहुत अधिक है। वहाँ यह १०,००० एकड़ में उत्पन्न की जाती है। मैसूर राज्य में यह १,००० एकड़ में उत्पन्न होती है। नीबू जाति की यह किस्म बहुत सस्ते में ही उगाई जा सकती है। इसके नाम से मिलती-जुलती टैन्जरीन नामक एक और जाति पाई जाती है किन्तु इसके फल गहरे नारंगी रंग के और धब्बेदार होते हैं।

पोमेलो—यह नाम अँगरेजी है जो लैटिन शब्द पोनुममेलो के नाम से विख्यात है। हिन्दुस्तान में इसका नाम उत्तरी भारत में मेहताबी और चकोतरा है। शायद मेहताब नाम चाँद के आकार के फल उत्पन्न करने के कारण से हुआ, और चकोतरा चाक के आकार का निर्देश करता है। बोनाविया ने मेहताबी को बेताबी और चकोतरा को जकोतरा का अपभ्रंश बताया है जिसका अर्थ बटाविया से है और इसी आधार पर उसने इस जाति का मूलस्थान जावा में निर्धारित किया है। श्याम में भी यह जाति अधिकता से उत्पन्न की जाती है जिससे पता चलता है कि इसकी खेती यहाँ बहुत प्राचीन काल से होती आ रही है और इसी आधार पर दक्षिणी एशिया को इसका मूल स्थान ठहराया जा सकता है। टालकोषकी और ब्रेसचैनीजर ने इस बात का समर्थन किया है कि इस किस्म के फलों का मूल स्थान चीन है।

भारतवर्ष में मन्दारिन के फल बहुत अधिक परिमाण में उगाये जाते हैं। नीबू जाति के फलों की मार्केटिंग रिपोर्ट के अनुसार इसका सम्पूर्ण क्षेत्रफल ६७,६४५ एकड़ है। उसका एक-तिहाई भाग मध्य प्रदेश, जिसमें नागपुर अधिक प्रसिद्ध है उगाया जाता है। आसाम की खासिया पहाड़ियों में भी यह अधिक क्षेत्र में उगाई जाती है। वहाँ उसका क्षेत्रफल १३,८२५ एकड़ है। कुर्ग में ६,६६७ एकड़ है जबकि नायक ने उसका क्षेत्रफल १०,००० एकड़ बताया है। देवार्जन ने वहाँ का क्षेत्रफल १,२०० एकड़ अंकित किया है। पंजाब में उसका क्षेत्रफल ७,३२६ एकड़, हैदराबाद में १,३५० एकड़, बंगाल में १,३०० और शिक्कम में २,५०० एकड़ है। मन्दारिन के अतिरिक्त मीठी नारंगी भी भारत में अधिक परिमाण में उत्पन्न की जाती है। बम्बई प्रदेश में इसका क्षेत्रफल १०,६६६ एकड़, मद्रास में ८,२३० एकड़ और पंजाब में ६,६८३ एकड़ हैं। मद्रास में मार्केटिंग रिपोर्ट के अनुसार १५,००० एकड़ और बाम्बे रिपोर्ट के अनुसार बम्बई में १६४८ ई० में २७४०२ एकड़ थी।

तंगराइन—जैसा कि हमने ऊपर कहा है तंगराइन के फल मन्दारिन से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। इसके फल गहरे नारंगी रंग के चिकने धरातल वाले

और पेंदे पर कुछ दबे हुए .होते हैं। इनके छिलके पतले कठोर परन्तु ढीले होते हैं जिससे उन्हें सरलतापूर्वक उतारा जा सकता है। फल में अनेक बीज उपस्थित होते हैं। इसके फल का गूदा गहरे नारंगी रंग का और कोमल होता है। तंगराइन का वृक्ष काँटे रहित लम्बा और ऊँचा होता है। उसकी शाखाएँ फल से रहित होने पर सीधी होती है। इस फल को दक्षिण भारत में अधिक परिमाण में उगाया जाता है। डाक्टर टनाका के अनुसार यह शंतरह के वर्ग से सम्बन्ध रखता है। अतः कुछ लोग इसे शंतरह के नाम से पुकारते हैं।

कागदी नीबू (Lime) – कागदी नीबू, खट्टा नीबू और सदाफल की जातियाँ सिटरेस मेडिका जाति से सम्बन्धित हैं। किन्तु कुछ लोग इन्हें अलग-अलग नाम से पुकारते हैं। स्वींगिल ने सिटरान को सिटरेस मेडिका लीन कहा है। नीबू या खट्टा नीबू को सिटरेस लिमोनिया आस्बिक और कागदी नीबू को सिटरेस आरेन्टी फोलिया कहा है। बम्बई प्रदेश में सिटरेस नीबू की तीन जातियाँ प्रचलित हैं। प्रथम जम्बूरी, दूसरा इदलीम्बू और तीसरा शेखर लीम्बू है। शेखर लीम्बू स्वाद में मीठा होता है। इस लिए उसे मीठा कागदी नीबू के नाम से पुकारते हैं। अन्य दो जातियाँ खट्टे स्वाद की होती हैं। शेखर लीम्बू को सिटरेस आरेन्टी फोलिया के नाम से स्वीकार किया जाता है। डाक्टर टनाका ने भी इस मत का समर्थन किया है। कागदी नीबू स्वींगिल के अनुसार सिटरेस आरेन्टी फोलिया के नाम से पुकारा जाता है। बम्बई में कागदी नीबू या दाहिल नींबू और पात नीबू इसी किस्म में सम्मिलित होते हैं। कागदी नीबू हमारे देश के लगभग सम्पूर्ण भागों में उगाया जाता है। १६४८ ई० में इसका कुल क्षेत्रफल मद्रास में ११७६० एकड़, बम्बई में २७८६, बंगाल में १,५६० और पंजाब में १,५४६ एकड़ था। किन्तु नायक के अनुसार मद्रास में उसका क्षेत्रफल १६,६०० एकड़ और मैसूर में ३०० एकड़ स्वीकार किया जाता है।

कागदी नीबू आकार में छोटे अम्लीय गूदे वाले और अनेक बीजयुक्त होते हैं। इनके छिलके पीले हरे रंग के होते हैं और गूदे से सरलतापूर्वक नहीं निकल पाते। सम्पूर्ण भारत में भोजन में या घरेलू प्रयोगों में यह बहुत अधिक परिमाण में प्रयुक्त होता है। यह नायक के शब्दों में दक्षिण भारत में ही अकेले भारत की कागदी नीबू की कुल उपज का लगभग आधा उगाया जाता है और वहाँ से प्रति वर्ष ४०० टन बाहर भेजा जाता है, फिर भी वहाँ इसकी कृषि में प्रसार की आवश्यकता है। दक्षिण भारत में यह सरकार के भाग में गोदावरी, कृष्णा, नीलोर, गन्टूर, रायलसीमा, चित्तूर, मदुरा, उत्तरी अर्काट और तिनेवली में उत्पन्न किया जाता है।

कागदी नीबू के वृक्ष का आकार झाड़ीनुमा होता है। इसके तने और शाखाओं में लम्बे, तेज, नुकीले काँटे होते हैं। पत्तियाँ छोटी कोमल टहनियों पर होती हैं। इनका आकार सँकरा पंखदार या बिल्कुल पंखरहित होता है। इसके फूल गन्ध राहित होते हैं, रंग धवल होता है। इसके बीज काटने पर हरे रंग के दिखाई देते हैं। एक वृक्ष पर अनेक फल आते हैं जिससे व्यापरिक दृष्टिकोण से इनकी खेती अधिक लाभप्रद है। कागदी नीबू की कुछ किस्में भारत के कुछ हिस्सों में मीठे कागदी नीबू के नाम से उत्पन्न की जाती हैं जिनके फल मीठे स्वाद वाले होते हैं। इन फलों का मूल हाईब्रिड माना जाता है। उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण भारत में भी इसकी खेती अधिक परिमाण में होती है। दक्षिण भारत में यह मलाबार, नीलगिरी और मदुरा के भागों में उगाई जाती है।

कागदी नीबू का स्थानीय महत्त्व बहुत अधिक है। इसे लोग शर्बत बनाते हैं या घरेलू कामों में लाते हैं। चौधरी के अनुसार यह आसाम में बहुत प्राचीन काल से उगाया जा रहा है। इसलिए इसकी जन्मभूमि आसाम ही माना जाता है किन्तु कुछ इसकी किस्में, जो चाइना कागदी शर्बती और चाइना पाती के नाम से प्रसिद्ध हैं, इसमें संदेह उत्पन्न कर देती हैं कि इनका मूल स्थान आसाम है अथवा चीन। जो भी हो इतना तो निश्चय है कि आसाम में यह व्यापारिक तौर पर नहीं उगाया जाता।

खट्टा नीबू (लीमू) - इस किस्म के फल साधारण आकार के तीखा या अम्लीय स्वाद वाले होते हैं। इनका गूदा छिलके से लगा होता है जिससे छिलके उतारने में कठिनाई होती है। इसकी कई किस्में प्रचलित हैं। कुछ बीज रहित कुछ बीज वाली होती हैं। उनका उल्लेख नीचे दिया जा रहा है:—

खट्टे नीबू की बीज रहित जातियाँ औसत आकार के फैलने वाले और घने सिरे के वृक्ष होते हैं। इनके फल बीज रहित होते हैं और आकार तिकोना होता है। यह काफी रसदार होते हैं। नेपाली राउण्ड और इटौलियन इसकी दो अन्य किस्में हैं जो बीज रहित होती हैं। नेपाली राउण्ड के वृक्ष औसत या बड़े आकार वाले होते हैं। इनकी शाखाएँ घनी और काँटे रहित होती हैं। फल धब्बेदार छिलके वाला गोलाकार और रसदार होता है। इटैलियन बीज रहित खट्टे नीबू के वृक्ष बड़े काँटेदार और अधिक स्थान घेरने वाले होते हैं। इसके फल काफी रसदार होते हैं। बीज रहित खट्टे नीबू तथा नेपाली राउण्ड कोनूर में अधिक परिमाण में लगाए गए हैं। वहाँ इनके लगाने के नौवें वर्ष प्रति वृक्ष २,६६१ तथा १,६६८ फल प्राप्त किए गए हैं। इटैलियन खट्टे नीबू अपेक्षाकृत अधिक उपज देते हैं। इसने वृक्षरोपण के नौवें वर्ष ३,१७३ फल पैदा किए हैं।

बीज रहित खट्टे नीबू के अतिरिक्त खट्टे नीबू की बीज वाली कई किस्में पाई जाती हैं। इनमें नेपाली आयताकार माल्टा, विलाक्रेंका यूरेका और लिम्सन हैं। नेपाली आयताकार वृक्ष का आकार औसत और लम्बा होता है। शाखाएँ घनी और काँटों युक्त होती हैं। इसके फल में बहुत कम बीज पाए जाते हैं। फल काफी रसदार होता है। आकार, जैसा कि किस्म के नाम से ही विदित है, आयताकार होता है। माल्टा किस्म के खट्टे नीबू नेपाली आयताकार नीबू के फल की अपेक्षा आधे आकार का होता है। इसके वृक्ष झाड़ीदार और घनी शाखाओं से युक्त होते है। प्रायः वृक्ष नाटे या बौने कद का होता है। इसके फल बीज वाले और रसदार होते हैं। विलाक्रेंका काँटेदार और घनी पत्तियों से युक्त होता है। यूरेका जाति का खट्टा नीबू विलाक्रेंका से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। इसके वृक्ष छोटे आकार के होते हैं किन्तु अधिक स्थान घेरते हैं। लिम्सन किस्म का खट्टा नीबू यूरेका से बहुत कुछ भिन्न और विलाक्रेंका से घटिया होता है। इसके फल चिकने होते हैं। इसके वृक्ष बहुत कम दिनों तक जीवित रहते हैं। इनके जीवन की सम्पूर्ण अवधि लगभग १० वर्ष की होती है। पश्चिमी घाट और कोदूर में इनका व्यापारिक महत्व कम है। खट्टे नीबू के वृक्ष मद्रास के कोदूर फार्म पर लगाने के नौवें वर्ष में १,२४८ फल प्राप्त किए गए। ये वृक्ष प्रायः बीज से तैयार होते हैं। खट्टे नीबू की एक दूसरी जाति कागदी नीबू से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इसकी पत्तियाँ बिल्कुल कागदी नीबू की पत्तियों के समान होती हैं। इसे राजामुन्द्री खट्टे नीबू के नाम से सम्बोधित करते हैं। कोदूर फार्म पर इससे लगाने के पाँचवें वर्ष ६०३ फल प्राप्त किए गए हैं और लगाने के समय से ५ वर्ष तक कुल १,६६१ फल प्राप्त किए गए हैं। खट्टे नीबू की यह जाति बीज रहित भी कभी-कभी पाई जाती है किन्तु बहुधा इसके फल बीज युक्त ही होते हैं।

जम्बारी या खुरदरा खट्टा नीबू एक हाइब्रिड है जिसका गूदा खट्टा होता है। इस जाति का प्रयोग प्रायः संतरह, मंदारिन आदि की कलम में रूट स्टाक की भाँति प्रयुक्त होती है।

ग्रेप फ्रूट—(Grapefruit) ग्रेपफ्रूट पौमैलो या गागर से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। कुछ लोग इसे सिटरेस ग्रैन्डीसवार बाकायी समझते हैं। यह फल एशिया महाद्वीप में वेस्ट इन्डीज के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता है। जमायका में इसकी कुछ खेती होती है किन्तु १८८५ के पहले इसे व्यापारिक महत्व नहीं प्राप्त था। इसके फल बड़े गूदेदार होते हैं। गूदे का रंग हल्का हरा होता है। गूदे में काफी रस पाया जाता है। इसका छिलका गूदे से चिपका होता है। इसके फल में बीज पाए

जाते है जिनका रंग धवल और चिकना होता है। ग्रेपफ्रूट का महत्व नागरिक क्षेत्रों में ही है। देहातों के लोग अभी इसके ज्ञान से दूर हैं। यह स्वास्थ्य के दृष्टि-कोण से बहुत उपयोगी है पूना में ग्रेपफ्रूट की अनेक जातियाँ उगाई गई है। कोदूर में भी इस पर प्रयोग किए जा रहे हैं किन्तु अभी तक भारत में उसका प्रचार नीबू जाति के फलों की अपेक्षा कम है। कलार फल अन्वेषण केन्द्र पर ग्रेपफ्रूट की मार्स औरट्रम्फ दो जातियाँ उगाई जा रही हैं किन्तु यहाँ इनकी उपज संतोषप्रद नहीं है। पेना गालर में एक प्रयोग से यह अनुभव किया गया कि ट्रम्फ जाति बिल्कुल असफल हो गई और इसके विपरीत मार्स जाति के ग्रेपफ्रूट सफलतापूर्वक उत्पन्न किए गए। मार्स जाति की उपज प्रति वर्ष १५०० फल प्रति एकड़ थी।

ग्रेपफ्रूट के वृक्ष लम्बे होते हैं। इनके फल तौल में १ पौन्ड ८ औंस (कोटूर फार्म पर) वाले प्राप्त किए गए हैं। इनका व्यास ४″ और लम्बाई भी इतनी ही होती है। इसके फल मोटे छिलके वाले होते हैं। जिनकी मोटाई लगभग ६″ होती है। फल का आकार गोला होता है और रंग ठीक वैसा ही होता है जैसा खट्टे नीबू का। फल में काफी रस होता है और उसका स्वाद भी रुचिकर होता है।

सिट्रॉन या सदाफल—सदाफल के जाति के फल मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त किए जाते हैं, १—मीठे सदाफल और २—खट्टे सदाफल। मीठे सदाफल का स्वाद मीठा होता है और खट्टे सदाफल का स्वाद इसके विपरीत पाया जाता है। मीठे फलों में गूदा तो मीठा होता ही है छिलके और गूदे के बीच का भाग भी मीठा होता है। कोटूर फार्म पर बंगाल और महालुँग सदा फल की जातियाँ लगाई गईं। फल आने पर ज्ञात किया गया कि पहला सदाफल खट्टा और दूसरा मीठा स्वाद वाला था। इस फर्म पर सदा फल की ऊँची जातियाँ तैयार की जाती हैं जिनका आकार ४.५″ व्यास और ६″ लम्बा होता है। छिलके का रंग पीला और उसकी मोटाई ७″ होती है। फल का स्वाद मीठा होता है। साधारणतया इस जाति के फल लम्बे और औसत आकार के होते हैं। इनका गूदा खट्टा या अम्लीय या कभी-कभी मीठा या तीखा होता है। इसके छिलके बहुत मोटे होते हैं। सम्पूर्ण वृक्ष छोटे आकार वाला होता है।

कमकट—नीबू जाति के फलों में कमकट का अपेक्षाकृत कम महत्त्व है। इसे व्यापारिक तौर पर नहीं उगाया जाता। साधारणतया दक्षिण भारत में यह केवल उद्यान के सौन्दर्य के लिए रोपा जाता है। इसके वृक्ष बहुत छोटे फल उत्पन्न करते हैं जो लगभग वर्ष के प्रत्येक माह में पाए जा सकते हैं। फलों की संख्या बहुत अधिक होती है। इनका आकार कभी गोल, कभी लम्बाकार, कभी अन्डाकार और

कभी आयताकार होता है। इनके वृक्ष आकार में इतने छोटे होते हैं कि इन्हें बडे गमलों या नाँदों में लगाया जा सकता है।

खट्टी नारंगी—नीबू की यह जाति कभी-कभी सिर्खली या विगारडे भी कही जाती है। यह मीठी नारंगी से बहुत कुछ समता रखती है। वृक्ष का आकार ठीक मीठी नारंगी के ही जैसा होता है। इसके फल भी उससे काफी मिलते-जुलते हैं किन्तु स्वाद के आधार पर इन दोनों जातियों को सहज में ही पहिचाना जा सकता है। इस जाति के फल औसत आकार के मोटे और खुरदरे छिलके वाले होते हैं। छिलके पर धब्बे पाए जाते हैं। इनका स्वाद अत्यधिक खट्टा और तीखा होता है। बीज काटने पर हरे रंग के देखे जाते हैं। नीबू की यह जाति एक प्रकार की बीमारी, जिसे गुम रोग कहते हैं, से बिल्कुल नहीं प्रभावित होती। इसे मीठी नारंगी की कलम में रूट स्टाक की भाँति भी प्रयोग किया जाता है।

ऊपर वर्णित जातियों के अतिरिक्त नीबू जाति की कुछ ऐसी भी किस्में पाई जाती हैं जो पैत्रिक प्रभावयुक्त होती हैं। ऐसी किस्में हाईब्रिड नाम से सम्बोधित की जाती हैं। इनमें बिदालपुदी, किचिली कुली, किचिली और गजानिभा सम्मिलित किए जाते हैं। बिदालपुदी किस्म का गूदा मीठा और कुछ खट्टापन लिए होता है। इसका मुरब्बा और सास बहुत बढ़िया बनता है। इसका गूदा धवल या कुछ पीलापन लिए हुए लाल रंग का होता है। दक्षिण भारत में इसकी खेती अधिक परिमाण में होती है। कोदूर फार्म पर एक बढ़िया किस्म की कुछ मीठे स्वाद की जाति तैयार की गई है जिसमें साधारण बिदालपुदी की अपेक्षा कम बीज पाए जाते हैं। किचिली जाति बिदालपुदी से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। इसमें बिदालपुदी की अपेक्षा कभी-कभी मिठास अधिक पाया जाता है। गजानिभा के फल किचिली की अपेक्षा बड़े होते हैं। इसके वृक्ष अधिक सख्त होते हैं। विली किचिली क्लोपट्रा मंदारिन से अधिक समता रखती हैं। इसके छिलके पतले होते हैं और गूदे से बहुत ढीले रूप में चिपके होते हैं। इनके बीज काटने पर हरे रंग के पाए जाते हैं।

नीबू की जातियाँ कई प्रकार की भूमि में उगाई जाती हैं। पंजाब में इन्हें हल्की भूमि में उगाया जाता है। इन्हें वैसी भूमि में कदापि नहीं उगाया जा सकता जहाँ मल निकास का उत्तम प्रबन्ध न हो। नागपुर क्षेत्र में जहाँ की मिट्टी भारी काली है और अधःतल सुगम है जिसमें जल-निकास अधिक होता है इसके लिए उपयुक्त होती है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में शंतरह के अधिक उद्यान पाए जाते हैं।

वानस्पतिक उत्पादन—यद्यपि नीबू जाति के कुछ फल बीजों द्वारा भी उगाए जाते हैं, किन्तु अधिकांशतः इन्हें कृत्रिम वानस्पतिक प्रजनन द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है। इन्हें उत्पन्न करने का पुराना ढंग बीज द्वारा है जिससे उस जाति के गुण अधिक समय तक स्थिर नहीं रखे जा सकते। इनके गुणों को स्थिर रखने का एक मात्र साधन वानस्पतिक प्रजनन द्वारा ही है। जब से इस विधि का ज्ञान मानव जाति को हुआ तब से यही विधि प्रयुक्त की जाने लगी है यद्यपि मद्रास राज्य और आसाम की खासी की पहाड़ियों में अब भी इन्हें बीजों द्वारा उगाया जाता है। नायक के शब्दों में कोदूर के फार्म पर साठगुदी के उद्यान इसी विधि से उगाए जाते हैं जिसमें १७·४८% वृक्ष अधिक परिमाण में फल उत्पन्न करते हैं और १२·६२% कम फल उत्पन्न करते हैं या बिल्कुल नहीं फलते। दूसरे उद्यानों में १६·८% अधिक फल देते हैं और ३०·२१% फल के रूप से फलते हैं। इन प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि बीज द्वारा उगाए गए वृक्ष संतोषप्रद उपज नहीं देते और न उत्पादक को अधिक लाभ ही हो पाता है। अस्तु, इन वृक्षों के स्थान पर कलमी वृक्ष उगाना आवश्यक जान पड़ता है। नीबू की जाति में मुख्यतः चश्में द्वारा ही कलम तैयार की जाती है। दक्षिण भारत में इस विधि का काफी प्रचलन है। मीठी नारंगी या माल्टा या मोसम्बी के उद्यान में प्रायः यही विधि प्रयुक्त होती है। इससे फल के गुण स्थिर रक्खे जा सकते हैं और उपज भी अधिक ली जा सकती है। कोदूर फार्म पर कागदी नीबू के वृक्षों के अन्वेषण से यह ज्ञात किया गया कि चश्मे द्वारा उत्पन्न वृक्ष बीजों द्वारा उत्पन्न वृक्षों की अपेक्षा कम उपज देते हैं बशर्ते कि बीज काफी स्वस्थ अच्छी जाति वाले और रोग रहित हों। यही स्थिति मन्दारिन और सदाफल में भी पाई जाती है। कोदूर फार्म पर दो उद्यानों में लगाए गए बीजू साठगूदी वृक्षों का निरीक्षण किया गया। निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि अलाभकर वृक्ष दूसरे से २३·६% से ५२·६% परिवर्तित होते हैं। सबसे अधिक उपज देने वाले वृक्ष से १६३७ व ३८ में एक बाग में १४६५ फल लिए गए। ७·२% वृक्ष कोई फल नहीं लाए। इससे यह परिणाम निकाला गया कि फल के गुण में काफी परिवर्तन हो जाता है, उनका आकार और रूप भी कुछ बदल जाता है। वास्तव में साठगुदी के वृक्ष में बीज द्वारा उत्पन्न किए गए वृक्ष घटिया किस्म के पौधे तैयार करते हैं। खट्टे नीबू, पोमैलो और ग्रेपफ्रूट में भी सम्भवतः यही बात होती है। अतः अच्छे गुण के फल पैदा करने के लिए तथा उद्यान से अधिक-से-अधिक लाभ कमाने के लिए पौधों की कलम करना आवश्यक है।

बम्बई प्रदेश में नीबू जाति के वृक्ष जिनमें नारंगी का मुख्य स्थान है, चश्मे द्वारा तैयार किये जाते है। इन्हें चश्मा तैयार करने के लिए जम्बूरी के रूट स्टाक या

तने पर लगाया है। कागदी नीबू, सदाफल और पोमैलों में यहाँ अब तक व्यापारिक ढंग से वानस्पतिक प्रजनन की कोई विधि प्रयोग नहीं की जाती। इसमें अधिक परिमाण में प्रयुक्त होने वाला ढंग शिल्ड मेथड है। इस विधि के प्रयोग करने का मुख्य कारण यह है कि इसमें उत्पादक को असफलता बहुत कम मिलती है या बिल्कुल नहीं मिलती।

नीबू की जाति के सभी वृक्ष प्रत्येक प्रकार की मिट्टी में नहीं उगाए जा सकते क्योंकि इन्हें विशेष प्रकार की मिट्टी ही पसन्द होती है। मीठी नारंगी अनुर्वर बलुई भूमि अथवा ऊँचे धरातल वाली भारी मिट्टी में नहीं उगाई जा सकती। विदाल पुदी का पौधा भी ऐसी भूमि में नहीं बढ़ पाता किन्तु ऐसी भूमि में कागदी नीबू बड़ी तेजी से बढ़ता है। अतः पौधों के रूट स्टाक तैयार करते समय इन बातों पर ध्यान रखना चाहिए। कोदूर फार्म पर एक प्रयोग में यह ज्ञात किया गया है कि कलमी वृक्ष बीजू की अपेक्षा शीघ्र फल देना प्रारंभ कर देते हैं। वहाँ देखा गया कि साठगुदी का पौधा एक विशेष रूट स्टाक पर कलम किया गया और उसने तीन वर्ष के पश्चात् ही फल देना शुरू कर दिया—जबकि बीजू वृक्ष में जो उसी जाति का था उसमें ८ वर्ष पश्चात् फल आने प्रारम्भ हुए। एक अन्य प्रयोग में कागदी नीबू के वृक्ष पर भी यह निरीक्षण किया गया कि कलमी वृक्ष और बीजू वृक्ष की उपज में लगाने के छठवें वर्ष में ४ और १ का अनुपात था। खट्टे नीबू में लगाने के दूसरे वर्ष ही रायल सीमा और पश्चिमी घाट-जैसे जलवायु वाले भू-भाग में फल प्राप्त किए गए जबकि उसकी बीजू जातियों से लगाने के आठवें वर्ष (कोदूर में) फल प्राप्त किए गए।

रूट स्टाक तैयार करना—रूट स्टाक तैयार करने के लिए बहुत से ढंग अपनाए जाते हैं। जैसा कि हमने कहीं पढ़ा था, नीबू जाति के फलों में शील्ड बडिंग का अधिकता से प्रयोग किया जाता है। इस ढंग में रूट स्टाक और साइन तैयार किए जाते हैं। रूट स्टाक तैयार करने के लिए किसी उत्तम जाति के फल चुने जाते हैं और उनके बीज निकाल लिए जाते हैं। ये बीज गूदे से पृथक् किए जाते हैं और फिर उन्हें पानी से धोकर साफ कर लिया जाता है। बीजों को साफ कर लेने के पश्चात् उन्हें छाए में सुखा लेते हैं और फिर शीघ्र ही तैयार किए गए बीयड़ में उन्हें बो देते हैं। ये बीयड़ आकार में ४ फीट लम्बे और २ से ३ फीट चौड़े होते हैं। इनकी धरातल समान धरातल से लगभग $\frac{1}{2}$ फीट ऊपर उठी रहती है। बीयड़ में कतारें बना ली जाती हैं जिन के बीच की दूरी ३″ रखी जाती है। इन्हीं कतारों में बीज १″ की दूरी पर गाड़ दिए जाते हैं। इस प्रकार के बीयड़ उस समय ही तैयार कर लेते हैं जब कि बीज की सफाई का काम प्रारम्भ किया जाता है। यदि

आवश्यकता हुई तो एक से अधिक बीयड़ बनाए जा सकते हैं किन्तु ये बीयड़ एक दूसरे से लगे हुए नहीं होने चाहिए क्योंकि इससे सिंचाई आदि कार्यों में कठिनाई पड़ती है। बीयड़ों के आपस की दूरी ६″ से ७″ तक रखी जाती है। किन्तु उन प्रत्येक का आकार समान रखा जाता है। यदि किसी कारण बीज बोने के लिए तैयार कर लेने पर भी बीयड़ की तैयारी अभी अधूरी हो तो बीजों की सुरक्षा के लिए उन्हें चारकोल के पाउडर में टीन या बक्स में भर कर ढक्कन से भली भाँति बन्द कर देते हैं। जब बीयड़ में बोआई कर दी जाती है तो ऊपर से बलुई मिट्टी या शुद्ध बालू की एक तह छिड़क दी जाती है क्योंकि इसमें बीयड़ के पौधे अधिक पानी से क्षतिग्रस्त नहीं होने पाते। बोआई के शीघ्र पश्चात् एक हल्की सिंचाई की जाती है। सिंचाई का यह क्रम बोने के लगभग २ माह पश्चात् तक चलता रहता है। बीयड़ में थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तर पर सिंचाई करते रहना चाहिए। जब बीजों का जमाव हो जाता है और अंकुर लगभग ३″ के हो जाते हैं तो उनकी सिंचाई कूँडों की उत्तम विधि द्वारा करते हैं। इस विधि से यह लाभ होता है कि सिंचाई का खर्च कम पड़ता है और पौधों को आवश्यकतानुसार पानी भी उपलब्ध हो जाता है।

अंकुरण बोआई के लगभग २० दिनों पश्चात् हो जाता है। किन्तु यह कोई निश्चित समय नहीं है। कोई बीज देर में और कोई शीघ्र भी आ सकता है। नीबू जाति के फलों की किस्मों में अंकुरण की भी समान योग्यता नहीं होती। खुदरा कागदी नीबू ६६%, पमैलो या गागर ६१%, गजामिना ६२%, साठगुदी ४३ से ६२% अंकुरण की क्षमता रखते हैं। जमे हुए पौधों में सभी स्वस्थ और होनहार भी नहीं होते। कुछ जन्म से ही रोगी और दुर्बल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त न्यूसेलर किशोर पौधों का भी अंकुरण होता है जिनकी संख्या सभी जातियों में समान नहीं होती। खुदरे कागदी नीबू में ७३% होती है किन्तु पोमैलो चूँकि एक इम्ब्रियो वाला फल है, इसलिए इसमें ऐसे पौधे एक भी नहीं आते। साठगूदी में १६% ऐसे पौधे उगते हैं और गजामिना में ६५%। ऊपर लिखित प्रयोग कोदूर फार्म पर किया गया और उपर्युक्त परिणाम निकाला गया। इस परिणाम के अनुसार खुदरे कागदी नीबू में अंकुरण और न्यूसेलर किशोर पौधों से उगाने की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है। बोने के लगभग ६ से ६ महीने पश्चात् बीयड़ से किशोर पौधे निकाल लिए जाते हैं। इन पौधों को निकालते समय इस बात का ध्यान देना चाहिए कि घटिया या रोगी पौधे भी न उखाड़ लिए जायँ। अच्छा तो यह होगा कि ऐसे पौधे बीयड़ की निराई-गोड़ाई करते समय उखाड़ दिए जायँ। निराई-गोड़ाई की क्रिया खुरपी से की जाती है। बीयड़ में आवश्यकतानुसार गोड़ाई-निराई करना उतना ही लाभदायक होता है जितना कि बीयड़ में खाद या फर्टिलाइजर डालना। इसमें

खाद प्रत्येक सिंचाई के पश्चात् दी जाती है। अमोनियम सल्फेट का हल्का अंश भी बीयड़ के पौधों के लिए अधिक उपादेय होता है। प्रयोगों के आधार पर यह ज्ञात किया गया है कि पशुओं का मूत्र अंकुरित किशोर पौधों के लिए बहुत लाभप्रद होता है क्योंकि इन्हें इस अवस्था में नाइट्रोजन की अधिक मात्रा आवश्यक होती है। खाद देने के पश्चात् महीने में एक बार बीयड़ की गोड़ाई अवश्य कर देनी चाहिए।

बीयड़ या नर्सरी में पौधे जब तक रहें उसकी प्रत्येक प्रकार की देखभाल करते रहना चाहिए। दो कतारों के बीच की दूरी में उगे हुए पौधों को उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। जहाँ पौधे घने हों उन्हें निकाल कर हटा देना चाहिए या उन स्थानों पर लगा देना चाहिए जहाँ पौधे न जमे हों। यह क्रिया बोआई के लगभग २ माह पश्चात् की जाती है क्योंकि इस अवधि तक जो बीज अंकुरित होने वाले होते हैं वे अंकुरित हो जाते हैं। बीयड़ की देखभाल में कीड़े-पतंगे आदि का भी निरीक्षण करना चाहिए क्योंकि पौधों की इस किशोरावस्था में जब कि इसके तने और पत्तियाँ अत्यन्त कोमल होती हैं अनेक हानि पहुँचाने वाले कीड़े आक्रमण करते हैं। इन कीड़ों में खट्टे नीबू का तितली कीड़ा अधिक हानिकार है। यह किशोर पौधों पर बुरी तरह लिपट जाता है और उनकी पत्तियों तथा कोमल तने और शाखाओं का स्वाहा कर देता है। इनकी रक्षा के लिए ऐसे कीड़ों को हाथ से पकड़ कर मार देना चाहिए। ये कीड़े प्रायः वर्षा ऋतु में आक्रमण करते हैं। अतः इस ऋतु में इनके आक्रमण से अधिक सावधान रहना चाहिए।

यदि बीयड़ में कूँड़े नहीं बनाई गई हैं तो इन्हें यहाँ से तीन-चार महीने के पश्चात् ही चौड़े बीयड़ में, जिसमें कूँड़े और मेंड़ बने होते हैं, स्थानान्तरित कर देते हैं। मेंड़ों की आपस की दूरी लगभग २ फीट रखी जाती है और इन्हीं मेड़ों पर किशोर पौधे १ फुट या इससे कम दूरी पर रोक दिये जाते हैं। इन चौड़े बीयड़ो (Flat fields) में एक फुट की दूरी पर दो कतारें बनाई जाती हैं और फिर ऐसी दोहरी कतारों से २ फीट के अन्तर पर दूसरी दोहरी कतार बनाई जाती है। इस प्रकार प्रत्येक ऐसे बीयड़ में पौधों वाली कतारें संख्या में ४ होती हैं। इनमें लगाए गए पौधे सीधे आते हैं और बगल से शाखाएँ भी उत्पन्न करते हैं। इनमें भी गुड़ाई, सिंचाई तथा खाद की लगभग वे ही सावधानियाँ रक्खी जाती हैं जो बीयड़ में रखी जाती हैं।

जब किशोर पौधे ६-९ महीने की आयु में स्थानान्तरित किए जाते हैं तो चौड़े बीयड़ का सुविधानुसार कोई भी आकार रखा जाता है। साधारणतया इनका आकार ४० × २० वर्ग फीट होता है। खेत चुनने के पश्चात् उसकी मिट्टी भलीभाँति जोत गोंड़ कर काफी भुरभुरी बना दी जाती है और इसी तैयार भूमि में बीयड़ के

पौधे रोप दिए जाते हैं। पौधे कतारों में लगाए जाते हैं जिनकी पारस्परिक दूरी १८ से २४″ और प्रत्येक कतार में पौधे से पौधे की दूरी ६ से १२″ रखी जाती है। एक पौधे से दूसरे पौधे के बीच पर्याप्त स्थान होने से सिंचाई-गुड़ाई में सुविधा होती है और स्थानान्तरण करते समय पौधों की खोदाई भी भलीभाँति हो पाती है। स्थानान्तरण के शीघ्र पश्चात् सिंचाई की जाती है और यहाँ भी पौधे की वृद्धि के लगभग सभी साधनों पर आवश्यक ध्यान रखा जाता है। समुचित देखभाल से ये पौधे होनहार और स्वस्थ होते हैं।

किशोर पौधों का चुनाव—अच्छे चश्में लगाने और उत्तम वृक्ष तैयार करने के लिए यह आवश्यक है कि वैसे ही रूट स्टाक चुने जायँ जो सुदृढ़ और स्वस्थ हों। इसके लिए प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी के पौधे चुने जाते हैं और इस प्रकार रोपे जाते हैं कि उद्यान में समान स्तर के वृक्ष उत्पन्न हों। वेबर साहब (Webber) ने पूना में बीयड़ के कुछ पौधों की चुनाई की। इसका विवरण निम्नलिखित है :—

"उन्होंने कुछ पौधे ३ श्रेणियों में चुने। प्रथम श्रेणी के किशोर पौधे जब उद्यान में लगाए गए तो प्रारम्भ में ही उनकी वृद्धि बड़ी तीव्र गति से हुई। इन की सगति द्वितीय श्रेणी के पौधों से तीव्रतर रही। बाद में भी इन पौधों की वृद्धि रुक नहीं की और वे वृद्धि में द्वितीय श्रेणी के पौधों से सदैव श्रेष्ट रहीं।

द्वितीय श्रेणी के पौधे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही बगल की शाखाएँ देने लगे। इतनी शाखाएँ प्रथम श्रेणी के पौधों में नहीं थी।

प्रथम और द्वितीय श्रेणी के पौधे ४ माह की अवस्था में १.४४ सेन्टीमीटर तथा १·२६ सेन्टीमीटर का गर्थ (girth) बना लिये और ग्यारहवें महीने में यह गर्थ क्रमशः २·६ से० मी० और २·० से० मी० का हो गया। इस आयु में प्रथम श्रेणी का पौधा चश्में के योग्य हो गया। किन्तु द्वितीय श्रेणी के पौधे में अभी कुछ कमी रही। "पौधे ६ से ८″ की ऊँचाई पर चश्मे लगाने योग्य हो जाते हैं। यदि ऐसे पौधे शाखा रहित हों तो अधिक उत्तम होता है क्योंकि २५ से० मी० की ऊँचाई तक शाखाओं के निकलने से पौधे के तने की मोटाई काम योग्य नहीं हो पाती। इसके लिए उत्पादक को दो ढंग अपनाने चाहिए। प्रथम तो यह कि ज्यों-ज्यों पौधे बढ़ते जायँ, उनके बगल की शाखाएँ उस समय तक तोड़ी न जायँ जब तक कि उनकी ऊँचाई २५ से० मी० के ऊपर न हो जाय। दूसरा ढंग यह है कि पौधे चौड़े बीयड़ में इस प्रकार स्थानान्तरित किए जायँ कि उनके बीच केवल इतनी ही दूरी छूटे कि उनमें चश्मे की क्रिया की जा सके। इससे तनों से शाखाएँ कम निकलती हैं या जो निकलती हैं वे दुर्बल या शक्तिहीन होती हैं। [प्रायः प्रथम श्रेणी के चुने गए

पौधे शाखा रहित होते हैं और इस प्रकार उनसे बहुत अच्छा रूट स्टाक तैयार किया जा सकता है क्योंकि वे इतनी तीव्रगति से बढ़ते हैं कि उनमें लगभग २५″ की ऊँचाई तक शाखाएँ निकलने ही नहीं पातीं। अतः चश्में की क्रिया में ऐसे ही पौधे चुनने चाहिए। जो शाखा रहित होने के साथ-साथ पर्याप्त स्वस्थ, सुदृढ़ और होनहार हों। कलम के लिए रूट स्टाक उसी समय काम में लाये जाते हैं जब कि उनमें सैप (Sap) का प्रवाह द्रुत गति से होता रहता है। इस स्थिति में छिलके आसानी से उतर जाते हैं और आँखें भी शीघ्र लग जाती हैं। यहाँ एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए कि रूट स्टाक की आयु प्रौढ़ावस्था से कम न हो क्योंकि ऐसी दशा में आँख का लगना संभव नहीं होता है। कभी-कभी आँखें लगाते समय गुमोसिस (Gumosis) रोग का आक्रमण हो जाया करता है जो पानी या मिट्टी की गीली अवस्था में तेजी से बढ़ना प्रारम्भ कर देते हैं। इन्हें रोग से बचाने के लिए मिट्टी और पानी से जोड़ तथा तने की रक्षा करनी चाहिए। प्रायः लोग सिंचाई करते समय ऐसी लापरवाही से काम लेते हैं कि पानी जोड़ और तने से होता हुआ भूमि पर जाता है। कभी-कभी जोड़ भूमि से इतना निकट बनाया जाता है कि उस पर सिंचाई का पानी सरलतापूर्वक पहुँच जाता है। इससे रोग की वृद्धि में संदेह नहीं रह जाता। अच्छा तो यह होगा कि रूट स्टाक का जोड़ १८″ की ऊँचाई से कम न रखा जाय।

चश्मा लगाना—रूट स्टाक तैयार हो जाने पर चश्मा लगाना प्रारम्भ करते हैं। चश्मा लगाने के लिए नीबू जाति की प्रत्येक किस्म काम में नहीं लाई जातीं। साधारणतया खुदरे खट्टे नीबू (Rough acid lemon) के पौधे इस कार्य के लिए बहुत उपयुक्त माने जाते हैं। यह किस्म जम्बूरी के नाम से भी सम्बोधित की जाती है। बम्बई प्रदेश में इस किस्म के रूट स्टाक का अधिक प्रचार है क्योंकि यह बहुत घटिया किस्म की नीबू की जाति है और इसके तने भी बहुत सख्त होते हैं। इसके फल केवल अँचार के काम में लाए जाते हैं। पैरेज जापाई ने जम्बूरी के रूट स्टाक पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है "एक स्टाक के लिए आवश्यक बात यह है कि उसमें एक निश्चित अवधि तक सैप का प्रवाह होता रहे ताकि चश्मा लगाने पर आँखें लग जाने में कोई संदेह न रहे। सैप के प्रवाह होते समय चश्मा लगाने से आँख का जोड़ शीघ्र हो जाता है और छिलका भी चश्मा लगाते समय सरलतापूर्वक हटाया जा सकता है और इधर-उधर नहीं फट पाता। इसकी पहचान के लिए कटे हुए भाग में उँगली डालने पर पानी-जैसा अनुभव होता है। इस प्रकार का तना जम्बूरी में ही पाया जाता है जिसे चश्में के लिए निस्संदेह रूप से प्रयोग किया जा सकता है।" उन्होंने आगे भी कहा है कि "महलुँग (सदाफल

या सिटरान) का छिलका सख्त तथा कम लचकदार होता है और उसमें सैप का प्रवाह भी कम दिनों तक ही रहता है। रेशमी नारङ्गी (Silky orange) इस तने के लिए बिल्कुल नहीं उपयुक्त होती है क्योंकि उसका छिलका लकड़ी से काफी सटा रहता है और भीतर की ओर नमी भी नहीं होती।" इस किस्म और नागपुर की नारङ्गी के स्टाक या तने जब ऊपर से काट दिए जाते हैं तो कटाव के पास सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है और उसका रङ्ग काला पड़ जाता है। पोमैलो के स्टाक के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यह भूमि में अपनी मूल जड़ के कारण सीधा नहीं खड़ा हो पाता जिससे यह स्टाक के लिए अच्छा नहीं होता। इसे पुनः स्थानान्तरण की आवश्यकता होती है। मोसम्बी का स्टाक सर्दी से बहुत प्रभावित होता है। कम तापक्रम पर छिलके का कुछ हिस्सा जो पानी के सम्पर्क में रहता है, शीघ्र सड़ाव प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जम्बरी का रूट स्टाक अति उत्तम पड़ता है। अनेक प्रयोगों से भी यह ज्ञात किया गया है कि जम्बूरी का रूट स्टाक मोसम्बी और माल्टा पर बहुत अच्छा पड़ता है। पंजाब के मान्टगोमरी नामक स्थान पर एक प्रयोग से यह ज्ञात हुआ कि नीबू जाति की सभी किस्मों में सिवा बीजू-माल्टा के, खरन खट्टा का स्टाक उत्तम होता है। यहाँ यह भी देखा गया है कि फुलुन्द्री खाटी का रूट स्टाक साधारण कोटि का होता है जो स्थानीय माल्टा के लिए अच्छा पड़ता है, किन्तु यह अच्छे और भारी उपज देने वाली तथा श्रेष्ठ जाति की कलम के लिए उपयुक्त नहीं होती। कैलीफोर्निया में १९३६ ई० में मीठी नारङ्गी का स्टाक प्रत्येक किस्म की नारङ्गी के लिए प्रयोग किया गया। यहाँ खुरदरा खट्टा नीबू बहुत कम प्रयोग किया जाता है।

यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के रूट स्टाक प्रयोग किए जाते हैं किन्तु बम्बई प्रदेश में जम्बूरी का स्टाक जितना सफल है, उतना और कोई नहीं। वहाँ प्रत्येक श्रेष्ठ जाति के लिए जम्बूरी के ही पौधे तैयार किए जाते हैं। किन्तु हमारे देश में नीबू जाति में इस नाम की कई किस्में प्रचलित हैं—जैसे जम्बूरी, जम्बीरी, जम्बेरी आदि। इन किस्मों के फलों के रूप-रंग आदि में बहुत अंतर होता है। पूना के एग्रीकल्चर कालेज के मोदीबाग में नीबू जाति की अनेक किस्में, जिनका नाम जम्बूरी था, एकत्रित की गईं। इन्हें उद्यान में रोपा गया और फल प्राप्त किए गए। फलों से यह ज्ञात किया गया कि ये अपने पड़ोसियों से कुछ-न-कुछ रूप में भिन्न थे। किन्तु जम्बूरी किस्म के फलों की कोई विशेष पहिचान नहीं ज्ञात की जा सकी। बम्बई प्रदेश में जिस किस्म की जम्बूरी स्टाक के लिए प्रयुक्त होती है उसके फल रंग में पीले, आकार में गोल, लगभग ३" व्यास वाले, छिलका रिंकिल रंग का और गूदा अम्लीय (खट्टा) होता है। इनके वृक्ष वर्ष में लगभग ३ बार फल-फूल देते

हैं। प्रथम, दिसम्बर-जनवरी, द्वितीय जून-जुलाई और तृतीय अक्टूबर। उत्तर भारत में अक्टूबर से जनवरी तक इसके फल प्राप्त किए जा सकते हैं।

स्थानान्तरित किशोर पौधा जब लगभग एक वर्ष का हो जाता है तो चश्मा लगाने के योग्य माना जाता है। इसकी कलम या चश्मा श्रेष्ठ किस्म के नीबू की जाति, संतरे मोसम्बी आदि की आँखों से की जाती है। चश्मा लगाने के यों तो कई ढंग हैं किन्तु इनमें सबसे प्रचलित शील्ड विधि मानी जाती है। इसका ढंग यह है कि स्टाक की छाल में अंगरेजी के अक्षर T या उल्टी T का कटाव कर लेते हैं। यह कटाव पौधे के तने पर कोई अच्छा स्थान चुन कर करते हैं। प्रायः कटाव भूमि के धरातल से ८-९″ ऊपर रखा जाता है। सायन शाखा से आँखें या कलियाँ सावधानी के साथ निकाल लेते हैं। आँख निकालते समय उसके साथ थोड़ा सा छिलका भी लगा होना चाहिए क्योंकि इससे उनके क्षतिग्रस्त होने की कम आशंका होती है। जब आँख सायन से बाहर कर ली जाती है तब उसे सावधानी के साथ रूट स्टाक में बनाये गए कटाव में अन्तर्निवेशित कर देते हैं। अन्तर्निवेशन के बाद जोड़ पर केले की छाल हल्के रूप में बाँध दी जाती है किन्तु इस बँधाव में कली की आँख खुली रहने दी जाती है ताकि वह सरलतापूर्वक अंकुरित हो सके। रूट स्टाक की कुछ आवश्यक पत्तियाँ काट देनी चाहिए और उन्हें केले की छाल पर कुछ समय के लिए बाँध देना चाहिए ताकि आँखें कड़ी धूप से बच सकें। सूर्य की सीधी किरणों से बचाव के लिए रूट स्टाक में कटाव यदि उत्तर दिशा की ओर किया जाता है तो धूप से रक्षा की अत्यधिक सम्भावना रहती है। कभी-कभी जब रूट स्टाक का कटाव बिलकुल सीधा-सा होता है तो पूरे पौधे को एक ओर झुका लेते हैं। ऐसा करने से कटाव का आकार कुछ अधिक हो जाता है और कली का अन्तर्निवेश हो जाता है। कभी-कभी जोड़ पर केले की छाल न बाँध कर मोम का कपड़ा या चिथड़े आदि बाँध देते हैं। इनसे कली की काफी सुरक्षा होती है।

१९३६-३७ में कोदूरफार्म पर साठगुदी नारंगी का गजानिमा और किचली के रूट स्टाक पर चश्मा लगाया गया और यह ज्ञात किया गया कि आँख का अन्तर्निवेश जुलाई और सितम्बर के महीने में काफी सफल रहा। इसके अतिरिक्त जनवरी-फरवरी, अगस्त और जून में भी बहुत अच्छा जोड़ पाया गया किन्तु नवम्बर दिसम्बर में, जब कि काफी सर्दी पड़ती है या मार्च से मई में जब कि काफी गर्मी पड़ती है, जोड़ अच्छे नहीं मिले। इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकाला गया कि नीबू जाति के फलों में चश्मे की सफलता तापक्रम और मौसम की स्थिति दोनों पर निर्भर करती

है। इस दृष्टिकोण से जुलाई से सितम्बर का महीना चश्मे लगाने के लिए बहुत उपयुक्त होता है।

जैसा कि हमने पहले ही कहा है, सायन से कलियाँ तभी निकालनी चाहिए जब कि उसकी स्थिति संतोषजनक हो। नीबू जाति के किशोर पौधे बहुत कोमल और मुलायम होते हैं। किन्तु पौधे या शाखाएँ जो एक या दो ऋतु की हो जाती हैं वे प्रौढ़ावस्था में आ जाती हैं। उनमें कुछ भूरा रंग भी उत्पन्न होने लगता है। ऐसी ही शाखाएँ चश्मे की कली के निमित्त उपयुक्त होती हैं। वह शाखा जिससे कली ली जाय उनके वृत्त में सैप का प्रवाह होता रहना चाहिये क्योंकि इस स्थिति में उन्हें सरलता-पूर्वक बाहर निकाला जा सकता है। इस पहिचान के लिए कि वृत्त में सैप प्रवाह किस प्रकार हो रहा है वृत्त की छाल में एक छिद्र कर देना चाहिए और जब इस छिद्र से कुछ रस निकल कर खुली लकड़ी पर आ जाय तो समझना चाहिए कि शाखा से कली ली जा सकती है। कली वाली शाखाएँ लगभग ६″ लम्बी होनी चाहिये उसमें ३ या इससे अधिक अंकुरित किन्तु पूर्ण प्रौढ़ कलियाँ या आँखे उपस्थित होनी चाहिए। अंकुरित काँटेदार कलियाँ कभी नहीं चुननी चाहिए। यदि कली के साथ शाखा से थोड़ी बहुत लकड़ी कट जाती है तो कोई हानि नहीं। जैसा हमने अन्यत्र कहा है कि कली के साथ सायन की कुछ लकड़ी का कटना आवश्यक भी है किन्तु यह लकड़ी श्रेष्ठ और उत्तम किस्म के वृत्त के स्वस्थ भाग से लेनी चाहिए ताकि नया पौधा श्रेष्ठ फल पैदा कर सके। कोदूर फार्म पर कली के साथ २·५ से० मी० × ·४ से० मी × ·१५ से० मी० लकड़ी का कतरा काटा जाता है और देखा गया है कि उससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती। प्रायः लकड़ी का आकार वही होना चाहिए जो सायन से कली के निकालते समय चाकू के लपेट में आ जाय। यदि लकड़ी जानबूझ कर अधिक काटी जाती है तो इससे रूट स्टाक के कटाव में अन्तर्निवेशण करने में असुविधा होती है क्योंकि कटाव छोटे रहने पर बड़ी लकड़ी वाली आँख उसमें नहीं रखी जा सकती। जब लकड़ी का कतरा असमान और टेढ़ा-मेढ़ा होता है तो शील्ड बडिंग सफल नहीं हो पाती। किन्तु मामूली कतरे से कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं होने पाती। यह देखा गया है कि उत्पादक को इसमें ३२% तक सफलता प्राप्त हो जाती है। चूँकि आँख के काटने में थोड़ी सी भूल हो जाने पर उत्पादक को अधिक घाटे की संभावना होती है अतः चश्में निकालने और रूट स्टाक में जोड़ने का काम उसी व्यक्ति से सम्पादित कराना चाहिए जो इस विज्ञान में कुशलहस्त हो। जोड़ को सफलीभूत बनाने के लिए उसे सायन से निकालने के पश्चात् शीघ्र-से-शीघ्र रूट स्टाक में जोड़ देना चाहिए क्योंकि कली यदि थोड़े समय तक भी खुली रह जाती है तो जोड़ की सफलता में संदेह उत्पन्न हो जाता

है। इसके लिए एक धातु का डिब्बा, जिसके ऊपर स्फैगनम् की कलई की रहती है, अच्छा सिद्ध होता है। कलियाँ शाखा से निकालकर उसमें रख दी जाती हैं और जब आवश्यकता होती है बाहर निकाल लेते हैं। कलियाँ स्फैगनम् के मास में लपेट कर धातु के डिब्बे में रख दी जाती हैं और ऊपर से ढक्कन से डिब्बे को बँद कर देते हैं।

जब चश्में की क्रिया पूरी हो जाती है तो जोड़ के ऊपर का रूट स्टाक काट दिया जाता है। रूट स्टाक के काटने की अवधि सर्वत्र एक सी नहीं है। कहीं-कहीं अन्तर्निवेशण का कार्य ज्यों ही समाप्त होता है और आँख के ऊपर बँध बँधाव कर लिया जाता है उसी समय जोड़ के ऊपर का तना काट कर पृथक कर दिया जाता है, किन्तु यह विधि सर्वत्र प्रचलित नहीं है। अन्य स्थानों पर अन्तर्निवेशण के लगभग १ माह पश्चात् यह क्रिया की जाती है जब कि आँखें सूज जाती हैं और उनसे प्रांकुर निकल पड़ते हैं। ये प्रांकुर लगभग २ से ६″ की ऊँचाई के जब हो जाते हैं तो जोड़ के ऊपर का भाग अलग करने में नए प्रांकुर के ऊपर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ने पाता। यदि जोड़ लगाने के पश्चात् लगभग १५ दिनों तक कली या आँख हरी रहती है तो उसके जोड़ में कोई सन्देह नहीं रह जाता और प्रांकुर १ महीने में इस योग्य हो जाता है कि रूट स्टाक के ऊपरी भाग की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। रूट स्टाक के कटाव के लिए तेज चाकू प्रयोग किया जाता है और उसे इस प्रकार पृथक किया जाता है कि जोड़ के ऊपर २″ लम्बा भाग छूट जाय। ऐसा करने से यह लाभ होता है कि आँख के निकट सैप का जमाव अधिक हो पाता है। रूट स्टाक की कटाई करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि नए प्रांकुर को कोई क्षति न पहुँचे। सायन कली के नीचे की ओर को निकलती हुई अंखुड़ियाँ नोंच दी जाती हैं ताकि वे बढ़कर मुख्य प्रांकुर की हानि न कर सकें। मद्रास में कोदूर फार्म पर एक प्रयोग से यह ज्ञात किया गया है कि प्रांकुर निकलने के पश्चात् रूट स्टाक की कटाई करना अधिक श्रेयकर है क्योंकि उससे प्रांकुर स्वस्थ और होनहार होता है। वह बढ़कर इस योग्य हो जाता है कि अपना भरण-पोषण स्वतः कर सकें। कोदूर फार्म में प्रांकुर जब लगभग एक फुट लम्बाई का हो जाता है तो जोड़ के ऊपर का तना काट दिया जाता है और फिर नए प्रांकुर को किसी लकड़ी या अन्य साधन से सीधा किया जाता है। किन्तु इस फार्म पर यह भी अनुभव किया गया कि आँख के अन्तर्निवेशण के समय ही रूट स्टाक को पृथक कर देना आँख के जोड़ पर कोई प्रभाव नहीं डालता। किन्तु साठगुदी पर किचिली रूट स्टाक को ५ दिनों के पश्चात् आँख के सूखने में सहायता देता है। खट्टे कागदी नीबू के सायन का किचिली पर अन्तर्निवेशण जोड़ को २०% घटा देता है और कली

लगभग २० दिन पहले ही सूख जाती है। दूसरी स्थिति में एक महीने पश्चात् की जाने वाली कटाई प्रांकुर की वृद्धि में अधिक सहायता करता है। अतः अधिक परिमाण पर चश्में की विधि के प्रयोग में दूसरी ही विधि को प्राथमिकता दी जाती है।

रूट स्टाक और सायन के जोड़ पर अध्ययन करते हुए कोदूर में यह ज्ञात किया गया है कि खुरदरा खट्टा नीबू का रूट स्टाक अत्यन्त उपयुक्त होता है। जोड़ लगाने के पश्चात् उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि उसे अन्य हानिकारक परिस्थितियों से बचाने के लिए सावधान रहा जाय। यदि नए प्रांकुर पर हानि पहुँचाने वाली तितलियाँ आक्रमण करें तो उन्हें हाथ से पकड़कर मार डालना चाहिए। जोड़ को पानी या मिट्टी से भी बचाना आवश्यक होता है। जब चश्मा बिल्कुल तैयार हो जाता है तो उन्हें नर्सरी या बीयड़ से निकाल लिया जाता है। उन्हें निकालने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उनकी जड़ में उस स्थान की मिट्टी का एक बड़ा गोला भाग रहे जिससे उनकी जड़ें टूटने न पायें। कहीं-कहीं जहाँ अधिक वर्षा से बीयड़ काफी गीला होता है और मिट्टी यथेष्ट नरम होती है तो पौधे यों ही उखाड़ लिए जाते हैं। यहाँ मिट्टी के गोले निकालने का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। इन चश्में वाले पौधों को बीयड़ से उस समय तक नहीं निकालते जब तक कि प्रांकुर काफी प्रौढ़ न हो जाय। यह अवधि जोड़ लगाने की ६ से १२ महीने तक होती है।

पौधों का स्थानान्तरण—उत्पादक कलमी पौधे या तो अपने उद्यान में स्वतः तैयार करता है या बाजार से खरीदता है। यदि वह उद्यान में तैयार किए गए पौधे लगाना चाहता है तो उसे प्रायः स्वस्थ और नीरोग कलम ही प्रयोग करना चाहिए। यहाँ उसे धोखा खाने की संभावना नहीं रहती किन्तु बाजार से खरीदने पर उसे कभी भी बिना समझे-बूझे खरीदना नहीं चाहिए। पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में चश्में वाले पौधे, जड़ों को मजबूत बनाने के लिए बार-बार स्थानान्तरित किए जाते हैं। इससे जड़ों का फैलाव एक निश्चित सीमा में नहीं हो पाता। साथ ही पौधे की तौल भी कम हो जाती है क्योंकि पौधे की मुख्य जड़ घुमावदार हो जाती है और घूमकर एक गाँठ बना लेती है। इस गाँठ में सभी सहायक जड़ें बँध जाती हैं। चूँकि पौधे मिट्टी के गोले के साथ होते हैं इसलिए जड़ों की वह गाँठे दिखलाई नहीं पड़ती। जब ये पौधे अपने स्थायी स्थान पर मिट्टी के गोले को बिना तोड़े-फोड़े ही रोप दिए जाते हैं तो आगे चलकर पौधे के विकास में असुविधा होती है क्योंकि गाँठें जड़ों के फैलाव में रोक उत्पन्न कर देती हैं। इससे पौधे कमजोर हो जाते हैं और कुछ दिनों पश्चात् मर भी जाते हैं। अतः

चश्मे तैयार करने की यह विधि कदापि नहीं काम में लानी चाहिए। पूना के निकट शिकारपुर नामक स्थान पर नीबू जाति के फल बहुत अधिक परिमाण में उत्पन्न किए जाते हैं। वहाँ चश्मों का स्थानान्तरण मुख्य जड़ की वृद्धि पर अवरोध लगाने के उद्देश्य से किया जाता है। पौधे कम गहराई वाली छिछली भूमि पर लगाये जाते हैं जिनके नीचे सख्त मिट्टी की तह या चट्टानी मिट्टी होती है। ऐसा होने से जड़ें दूर तक नहीं जाने पातीं। यह सब इसीलिए किया जाता है कि पौधों को बेचने के लिए भूमि से निकालने में विशेष कठिनाई न हो। किन्तु इन बातों का कुपरिणाम यह होता है कि उत्पादक ऐसे पौधे खरीदकर अधिक उपज नहीं प्राप्त कर पाता। अस्तु, कलम तैयार करने वाले लोगों के लिए यह विधि छोड़ देना बहुत आवश्यक है। कुछ लोग पौधे तैयार करने की इन बुरी विधियों का त्यागकर वैज्ञानिक और श्रेष्ठकर ढंग अपना रहे हैं। वे पौधों के स्थानान्तरण के समय एक निश्चित गहराई पर मुख्य जड़ का निचला भाग काट देते हैं। ऐसा करने से जड़ें अधिक गहराई तक नहीं पहुँच पातीं अपितु सहायक जड़ें निकल पड़ती हैं जो भूमि के ऊपरी धरातल पर ही फैलती हैं। मुख्य जड़ का कटा भाग कैलस (Callus) बना लेता है और धीरे-धीरे घाव भी भर जाता है। यह विधि बहुत उत्तम सिद्ध हुई है, अतः नर्सरी वाले लोगों को इस विधि का ही प्रयोग करना चाहिए।

यद्यपि नीबू जाति के फलों में चश्मा लगाने का जितना प्रचार है उतना और किसी वानस्पतिक प्रजनन विधि का नहीं फिर भी कुछ स्थानों पर कलम लगाने, दाब लगाने आदि की विधियाँ प्रचालित हैं। नंदी और अन्य ने खासी मन्दारिन का खुरदरे खट्टे नीबू पर बड़े नम मौसम में कलम करते हुए सफलता पाई। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जब चश्मा असफल हो जाता है तो वहाँ छिलका कलम (Bark Grafting) सफल होती है। इनार्चिङ्ग विधि भी कुछ ऐसे स्थलों पर प्रयोग की जाती है, जहाँ चश्मे की क्रिया सफल नहीं हो पाती। किन्तु इसके पौधे चश्में द्वारा तैयार किए गए पौधे की भाँति नहीं होते। खासी-मन्दारिन का खुरदरे खट्टे नीबू पर इनार्चिङ्ग नम मौसम में सफल तो हो जाती है किन्तु पौधे उत्तम किस्म के नहीं हो पाते। इन विधियों के अतिरिक्त दब्बा या दाब लगाने की क्रिया भी प्रचलित है। यह क्रिया अधिकतर पोमैलो, कागदी नीबू और मीठे कागदी नीबू में प्रयोग की जाती है। नन्दी और अन्य के अनुसार सदाफल, मोसम्बी, खट्टा नीबू और मीठे कागदी नीबू में २० से ४४ दिनों में १००% सफलता मिली। उन्होंने खासी मन्दारिन में ४० से ५५ दिनों में ९% खट्टी नारंगी और ग्रेपफ्रूट ८०% और वैलेनशिया नारंगी ने ७०% सफलता प्राप्त की। के० सी० नायक ने दब्बा के विषय में लिखा है कि कई जातियों के खट्टे नीबू जैसे नेपाली अंडाकार और गोलाकार इसके लिए अत्यधिक उपयुक्त सिद्ध

हुए हैं। दाब की क्रिया मुख्यता कागदी नीबू और सदाफल में की जाती है और इनार्चिंग मीठी नारंगी और मन्दारिन में। यह विधि दक्षिण भारत में इस समय काफी प्रचलित थी जब कि लोग चश्मे की विधि से अपरिचित थे। अब भी इसका यत्र-तत्र प्रयोग हो रहा है। जहाँ लोग चश्में की सफलता से परिचित नहीं हैं, कुछ स्थानों पर कटिंग विधि का भी प्रयोग होता है। नन्दी और अन्य यद्यपि तने की कटिंग में तो सफल नहीं हो सके किन्तु जड़ों की कटिंग में जिसे रूट कटिंग कहते हैं इन्हें कुछ सफलता मिल सकी। उन्होंने सदा फल, मीठे कागदी नीबू और खुरदरे खट्टे नीबू की ४ से ६ मि० मी० व्यास वाली या इससे आधे व्यास वाली कटिंग ली और उन्हें इससे सफलता भी मिली। हल्मा ने तो सदा फल की कई किस्मों में पत्ती की कटिंग का प्रयोग किया। उसने इस ढंग में एक विशेष शैली से काम लिया और उसे सफलता भी मिली। किन्तु यह विधि व्यापारिक दृष्टिकोण से अच्छी नहीं। हल्मा ने वाशिंगटन, नावेल और वेलेंशिया नारंगी, यूरेका खट्टा नीबू की कटिंग और मीठी नारंगी और ग्रेपफ्रूट के रूट स्टाक पर चश्मा लगाने की सफलता पर तुलना की और पाया कि खट्टे नीबू की कटिंग कम उपज देने वाली होती है जब कि नारंगी में कोई परिवर्तन नहीं मिला। कुछ स्थानों पर जहाँ किशोर पौधों की अधिक संख्या तैयार करनी होती है वहाँ अब भी लोग बीजों द्वारा पौधे उगाते हैं। साठगुदी नारंगी, खट्टे कागदी नीबू और पौमैलो प्रायः ऐसे ही उगाए जाते हैं।

पौधों के आपस की दूरी—नीबू जाति के फलों में आपस की दूरी समान नहीं होती और न तो इनकी दूरी पर एक विचार ही है। नीबू की किस्म, भूमि, खेती के ढंग, तने की उपयुक्तता आदि बातें जाति विशेष की पारस्परिक दूरी को प्रभावित करती हैं। यदि उद्यान में पौधे काफी निकट लगा दिए जाते हैं तो एक तो पौधों का बढ़ाव समुचित रूप से नहीं हो पाता और दूसरे उद्यान में सिंचाई, गुड़ाई आदि की क्रिया भी सफलतापूर्वक नहीं हो पाती। हमारे देश में अन्य फलों की भाँति नीबू जाति के उद्यान भी इतने घने लगा दिये जाते हैं कि उद्यान में बैलों का घूमना कठिन हो जाता है। नीबू जाति के मार्केटिंग रिपोर्ट के अनुसार, देश के लगभग प्रत्येक भाग में पुराने बाग घने और बिना क्रम के पाए जाते हैं। मद्रास में तो कागदी नीबू के उद्यान में प्रति एकड़ ३०० वृक्ष और आसाम में नारंगी के उद्यान में ५०० वृक्ष प्रति एकड़ पाए जाते हैं। साठगुदी नारंगी के पौधे नायक के अनुसार साधारणतया २७ से ३० फीट की दूरी पर लगाए जाते हैं। जब पौधे चश्मे वाले होते हैं तो खट्टे कागदी नीबू, मीठी नारंगी तथा खुरदरे खट्टे नीबू में पौधों के आपस की दूरी २२ से २५ फीट रखी जाती है। कागदी नीबू में दुर्बल भूमि में पौधों की दूरी ८ से १२ फीट रखी जाती है। किन्तु उर्वरभूमि में यह दूरी २५ से ३०

फीट कर दी जाती है। कोदुर फार्म पर दोमट भूमि में यह दूरी १७ फीट ही रखी जाती है किन्तु चश्मे वाले पौधों में आपस की दूरी कुछ बढ़ा दी जाती है। इसी प्रकार २० फीट से कम की पारस्परिक दूरी खट्टे कागदी नीबू में कहीं नहीं होती क्योंकि पौधे प्रकाश की उचित मात्रा नहीं प्राप्त कर सकते। किचिली के बाग में ३० से ३६ फीट की दूरी रखी जाती है। बम्बई में पुराने उद्यानों में जिनमें मोसम्बी और संतरे लगाए गए हैं, १० से १२ फीट की दूरी रखी गई है जब कि नए उद्यान में पौधे १५ से २१ की दूरी पर लगाए जाते हैं। लगभग इतनी ही दूरी अन्य प्रदेशों में भी रखी जाती है। अलेन ने मीठी नारंगी के लिए १६ फीट, संतरे और ग्रेपफ्रूट के लिए १८ से २० फीट और पोमैलो के लिए २२ फीट की पारस्परिक दूरी स्वीकृति की है। भट्टाचार्य और दत्त ने आसाम प्रदेश के लिए कहा है कि नीबू जाति के वृक्ष इतनी दूरी पर लगाए जाँय कि इनकी शाखाएँ एक दूसरे को स्पर्श न करने पावें। इसके लिए उन्होंने खासी मन्दारिन में १५ से २० फीट, मीठी नारंगी में २० से २५ फीट, पोमैलो और ग्रेपफ्रूट में २२ से २५ फीट, खट्टे नीबू में १२ से १८ फीट और कागदी नीबू में १२ से १५ फीट पारस्परिक दूरी रखने की राय दी है। पैरेंजा बाई ने पूना में संतरा में १५ फीट और खान देश में १८ फीट तथा मीठी नारंगी में १८ फीट पारस्परिक दूरी रखने का समर्थन किया है। अन्य देशों में जहाँ नीबू जति के फल अधिक परिमाण में उगाए जाते हैं वहाँ पारस्परिक दूरी नारंगियों, खट्टे नीबू और ग्रेपफ्रूट के फलों में २० से २५ फीट रखी जाती है। डब्लू०, बी० हेज के अनुसार भारत में नीबू जाति के व्यापारिक दृष्टिकोण पर उगाई जाने वाली छोटी जातियों में पारस्परिक दूरी २० फीट से कम नहीं रखनी चाहिए। कुछ परिस्थितियों में यह दूरी १५ से २० फीट भी रखी जा सकती है और बाद में इसे बढ़ा कर २० से ३० फीट कर देनी चाहिए।

बिदालपुदीं नारंगी के उद्यान में पारस्परिक दूरी ३६ फीट तक रखी जाती है, जब कि उद्यान उर्वर भूमि में होता है। बैटेवियन नारंगी के पौधे ऐसी ही भूमि पर ३० फीट की दूरी पर लगाए जाते हैं। कमकट के वृक्ष केवल १८ फीट की दूरी पर पहाड़ी क्षेत्रों में लगाए जाते हैं। दक्षिण भारत में कोदूर की पहाड़ियों पर उन्हें उतनी ही दूरी पर लगाया जाता है क्योंकि उनके वृक्ष बहुत कम फैलते हैं। किन्तु ये ही वृक्ष जब मैदानी भागों में लगाए जाते हैं तो उद्यानों में २० फीट से कम दूरी नहीं रखी जाती है क्योंकि इनका बढ़ाव पहाड़ियों की अपेक्षा वहाँ अधिक होता है।

स्थानान्तरण के पश्चात् पौधे झकड़ा जड़ें पैदा करते हैं जो भूमि के ऊपरी धरातल पर फैली रहती हैं। इन जड़ों से उद्यान में जुताई-गुड़ाई करने में काफी

कठिनाई होती है क्योंकि जड़ें रुकावट पैदा करती हैं और जड़ों के बिना टूटे यह काम करना कठिन भी होता है। कोदूर फार्म पर १९४६ में जड़ों पर एक प्रयोग किया गया जिससे ज्ञात हुआ कि भूमि में सभी जड़ों का विकास एक समान नहीं होता। कुछ जड़ें कुछ विशेष भूमि में ही अधिक गहराई तक जाती हैं। साठगुदी के ९-१० वर्ष पुराने दो उद्यानों में जिनमें वृक्ष २७ फीट की पारस्परिक दूरी पर लगाए गये थे, यह देखा गया कि आहार प्राप्त करने वाली जड़ें ६ फीट की गहराई तक वृक्ष के चारों ओर फैली हुई थीं, जब कि भूमि लाल औसत दोमट और समान टेक्सचर वाली थी। किन्तु हल्की दोमट भूमि में जो कम उर्वर थी और क्षारीय अधिक थी, अली (alley) केन्द्र में आहार प्राप्त करने वाली कोई जड़ नहीं पाई गई। इस प्रकार यह परिणाम निकाला गया कि जड़ें कम दूरी रहने पर एक दूसरे से मिल जाती हैं। और उस समय उनमें आहार के लिए संघर्ष होने लगता है जिसके फलस्वरूप पौधे दुर्बल हो जाते हैं और अच्छी उपज नहीं मिल पाती।

बीयड़ में नीबू जाति के संतरा या मोसम्बी या और किसी किस्म के सीधे और और मजबूत किशोर पौधों को बोने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी समस्त सह शाखाएँ तोड़ कर अलग कर दी जायँ जो कली के जोड़ के निकट या उसी पर हों। कुछ जातियों जैसे संतरा और मोसम्बी में कली से अनेक अंकुर निकलते हुए दृष्टिगत होते हैं। यदि इन समस्त अंकुरों को वैसे ही छोड़ दिया जाता है तो पौधा अच्छा नहीं हो पाता है। यदि स्वस्थ शाखाओं की कलियों का निरीक्षण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक शाखा में कलियों के कोने में दो या अधिक साधारण किस्म की कलियाँ मौजूद हैं। किन्तु उन सभी का आकार एक-सा नहीं है। साधारणतया एक कली अन्य की अपेक्षा बड़ी और होनहार होती है जो अच्छी शाखाएँ और अच्छे अंकुर पैदा करती है।

किशोर पौधे का सीधा और शाखा रहित रूप कई कारणों से वांछनीय होता होता है। शाखा रहित तना कली के जोड़ को सुदृढ़ बना देता है और वृक्ष सुन्दर और सीधा हो पाता है। प्रायः देखा जाता हैं कि कली का जोड़ गुमोसिस रोग से अधिक प्रभावित होता है और यह बीमारी प्रायः उस समय ही आक्रमण करती है जब कि तने में शाखाओं के कारण अधिक कोण निर्मित होते हैं। शाखाओं के न रहने पर उनका आक्रमण कम हो जाता है। इस जोड़ से एक से अधिक अंकुर निकलने देने पर मुख्य तना दुर्बल हो जाता है और वृक्ष केवल झाड़ीदार हो पाता है। अधिक शाखाओं से शाखाएँ भी कमजोर निकलती है। यदि पौधे में अधिक शाखायें हैं तो तना छेदक (Stem Borer) का आक्रमण अधिक होता है क्योंकि यह भी गुमोसिस की भाँति शाखाओं के कोणों पर ही वृद्धि पाते हैं। पौधों

से शाखायें पृथक कर देने पर उसकी वृद्धि का कोई अवसर नहीं रह जाता। यदि पौधे में ३ फीट की ऊँचाई तक शाखायें नहीं रहतो तो सिंचाई-गुड़ाई आदि में काफी सुविधा होती है। स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से भी यह बहुत उचित होता है। मोसम्बी और ग्रेपफ्रूट के फल में नीचे की शाखायें पैदा करने की अधिक क्षमता होती है। अतः उन वृक्षों में इस बात की अधिक सावधानी रखनी चाहिए कि ये अधिक झाड़ीदार न होने पावे।। एक ही समय एक ही साथ पौधे की कई शाखाओं के काटने से उसे जोरों का धक्का लगता है, अत. इस बात पर विचार करके ही शाखायें एक के बाद दूसरी और तीसरी काटी जाती हैं।

बीयड़ से पौधों को निकालते समय इस बात की काफी सावधानी रखी जाती है कि जड़ें क्षतिग्रस्त न हों क्योंकि जड़ों के टूट जाने या घायल हो जाने पर पौधे वृद्धि नहीं कर पाते, अत. खोदते समय जड़ों की रक्षा के लिए उन्हें जड़ के पास की मिट्टी के साथ ही निकाला जाता है। मिट्टी का गोला किस आकार का हो इस पर मिट्टी की किस्म, पौधे की आयु और खोदने का समय का अधिक प्रभाव पड़ता है। साधारणतया मिट्टी के गोले का व्यास एक फुट रखा जाता है। यदि पौधा बार-बार स्थानान्तरित किया जाता है तो यह आकार छोटा रखा जाता है। कुर्ग में मन्दारिन के पौधे कभी-कभी बिना मिट्टी के ही बाहर निकाल लिए जाते हैं किन्तु यह ढंग कुछ खतरनाक होता है। क्योंकि यदि भूमि काफी ढीली नहीं है तो जड़ों के टूट जाने का भय रहता है। साथ ही यदि स्थानान्तरण में देर होता है तो जड़ें मुरझा जाती हैं। अतः यह ढंग तभी प्रयोग किया जा सकता है जब कि भूमि काफी नम और नरम हो तथा स्थानान्तरण भी शीघ्र और निकट ही करना हो। कुछ स्थानों पर बीयड़ से पौधे निकालते समय पौधे के कुछ अंश पत्तियों से उत्वेदन क्रिया कम करने के लिए पृथक कर दिये जाते हैं।

जैसा कि हमने अन्यत्र पढ़ा है, आम के लिए उद्यान में एक निश्चित आकार के गड्ढे खोदे जाते हैं। नीबू जाति के फल वृक्षों के भी रोपने के लिए गड्ढे तैयार किए जाते हैं। इन वृक्षों के लिए २ फीट लम्बे, २ फीट चौड़े और २ फीट गहरे गड्ढे पर्याप्त होते हैं। पौधे लगाने के कुछ समय पहले उन्हें फावड़े या कुदाली की सहायता से खोद लेते हैं और गड्ढे की मिट्टी बाहर रख देते हैं। फिर पौधे लगाने के पश्चात् इन्हें उसी मिट्टी से भर देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी किया जाता है कि गड्ढे जब तैयार हो जाते हैं तो उन्हें खुदी हुई मिट्टी से पुनः भर देते हैं। केवल ऊपर से थोड़ा स्थान रिक्त रखते हैं ताकि मिट्टी के गोले सहित पौधे उसी में भली भाँति आ जायँ। यह मिट्टी खोदने के पश्चात् काफी भुरभुरी कर दी जाती है। इसमें कभी-कभी अच्छी सड़ी गोबर की खाद या कम्पोट अथवा फॉस्फेटाइजर का कुछ

अंश मिला देते हैं और इन्हें मिट्टी में भलीभाँति मिश्रित कर देते हैं। यदि गड्ढे की यह खोदी हुई मिट्टी अच्छी नहीं जान पड़ती तो दूसरे स्थान की उर्वर मिट्टी भी उसके स्थान पर प्रयोग की जा सकती है। जब पौधा गड्ढे में लगा दिया जाता है तो उसके चारों तरफ की मिट्टी अच्छी तरह से दबा दी जाती है। किन्तु यहाँ इस बात का ध्यान रखा जाता है कि पौधे की जड़ें दब कर क्षतिग्रस्त न होने पावें। पौधा गड्ढे के बिल्कुल केन्द्र में रखना चाहिए ताकि पौधे की जड़ें सभी दिशाओं में समस्त रूप से बढ़ सकें। पौधा लगाने के पश्चात् गड्ढे की मिट्टी बराबर कर दी जाती है। पौधे लगाने की क्रिया शाम को करनी चाहिए क्योंकि उससे पौधे तेज धूप से अचानक प्रभावित नहीं होने पाते। यह क्रिया यदि प्रातः काल अथवा मध्याह्न में की जाती है तो पौधों के मुरझाने का भय रहता है। साधारणतया पौधे लगाने के शीघ्र पश्चात् एक हल्की सिंचाई कर दी जाती है। किन्तु यदि गड्ढे की मिट्टी काफी नम हो तथा वायु में आर्द्रता का प्रतिशत भी काफी अधिक हो तो सिंचाई अधिक आवश्यक नहीं होती। कभी-कभी लोग पौधे लगाने के पश्चात् गड्ढे पानी से लबालब भर देते हैं, जो पौधों के हक में उचित नहीं होता। पौधे लगाने का उपयुक्त समय बरसात का मौसम है। दिसम्बर-जनवरी में भी इनकी रोपाई की जा सकती है। शुष्क और गर्म हवाओं के चलते समय वृक्ष-रोपण कदापि नहीं करना चाहिए। पौधों के रोपण में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्हें उसी समय रोपने के लिये बीयड़ से निकाला जाय जब कि उनमें कुछ काल के लिए कलियों का प्रांकुर निकलना रुक गया हो और उसमें कोमल पत्तियाँ या कोमल प्रांकुर न उपस्थित हों। यदि पौधे से नई कलियाँ या प्रांकुर विकसित हो रहे हों तो उन्हें बीयड़ से खोदना अच्छा नहीं होता है। पौधे गड्ढे में उतनी ही गहराई पर गाड़ने चाहिए जितनी गहराई पर वे बीयड़ में थे। कभी-कभी लोग पौधे अधिक गहराई तक गाड़ देते हैं ताकि ये हवाओं के झोंके सहन कर सकें किन्तु ऐसा करना भूल है। तने पर मिट्टी चढ़ाने से उनमें सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है और शीघ्र ही वे दुर्बल हो कर सूख भी जाते हैं। पौधों के जोड़ पर मिट्टी या पानी का पहुँचना तो और भी भयंकर होता है। पौधे लगाते समय यदि इन पर कपड़े या छिलके का बँधाव लगा रहता है तो उसे खोल कर बाहर कर देते हैं। इन्हें सख्त धूप और तेज हवा से बचाने के लिए कुछ प्रबन्ध भी किए जाते हैं क्योंकि किशोर पौधे इनसे बहुत शीघ्र प्रभावित होते देखे जाते हैं। इनसे बचने के लिए मामूली किस्म के घास-फूस के छप्पर गड्ढे के चारों ओर खड़ा कर देते हैं। छप्पर के ऊपर का भाग खुला छोड़ देते हैं ताकि पौधों का बढ़ाव रुक न सके और पौधे अपनी आवश्यकतानुसार प्रकाश और वायु प्राप्त कर सके। यदि पौधे को केवल वायु के झोंके से ही बचाना हो तो उनके निकट लकड़ी

या बाँस का पतला सीधा खम्भा गाड़ देते हैं और रस्सी की सहायता से पौधे को मामूलीतौर पर बाँध देते हैं। वहाँ तने की बँधाई दृढ़तापूर्वक नहीं करते क्योंकि उससे तने के कट जाने का भय होता है।

सिंचाई—पौधों की पहली सिंचाई तो पौधे लगाने के शीघ्र पश्चात् की जाती है और दूसरी सिंचाई पौधे लगाने के ४-५ दिनों पश्चात्। तत्पश्चात् यह क्रिया निश्चित अवधि के अन्तर पर की जाती है। यदि उद्यान मानसूनी प्रदेश में है और पौधे मानसून में ही लगाये गए हैं तो उन्हें सिंचाई की कम आवश्यकता पड़ती है। किन्तु सूखे स्थानों पर या शुष्क ऋतु में पौधे की वृद्धि के लिए क्रमवार सिंचाई आवश्यक होती है। वास्तव में पौधों की वृद्धि बहुत कुछ उसकी सिंचाई पर निर्भर करती है और इस में व्यय भी अधिक पड़ता है। के० सी० नायक ने सिंचाई का विवरण देते हुए कहा है कि अनेक भागों में सिंचाई व्यय के साधनों में सब से बड़ा साधन है, जो लगभग उद्यान के सम्पूर्ण व्यय का लगभग तिहाई या चौथाई होता है। यद्यपि नीबू की जाति में कुछ ऐसे भी फल हैं जिन्हें सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। दक्षिण भारत में कुर्ग में मन्दारिन के उद्यान जल निकास-युक्त काली या लाल दोमट भूमि में जो समुद्र के धरातल से २५०० से ४००० फीट की ऊँचाई पर है और जहाँ वार्षिक वर्षा ३५ से २००″ होती है, बिना सिंचाई के ही तैयार किए जाते हैं। मैदानी भागों में भी आसाम प्रदेश में नीबू जाति के फल बिना सिंचाई किए तैयार किए जाते हैं। किन्तु सिंचाई कर देना लाभप्रद होता है। उत्तर भारत में, जहाँ नीबू जाति के फल फरवरी या मार्च अथवा अगस्त-सितम्बर में रोपे जाते हैं, समय-समय पर सिंचाई करनी आवश्यक होती है। सिंचाई उसी समय करनी चाहिए जब कि पौधों को पानी की आवश्यकता हो। सिंचाई करते समय अधिक पानी देना भी उचित नहीं होता। अधिक पानी देने से भूमि पानी से भर जाती है जिससे पौधों की जड़ें अपनी वृद्धि रोक देती हैं और पौधा दुर्बल होने लगता है। यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब कि भूमि में जल-निकास का उचित प्रबन्ध नहीं होता। नीबू जाति के फलों के लिए भूमि के जल-निकास का महत्व बताते हुए पाठक ने कहा है कि नागपुर कृषि विद्यालय के संतरा-उद्यान में जल-निकास से अधिक सफलता मिली है। यहाँ जल निकास के प्रभाव से ही यह संभव हुआ है कि वृक्षों की सिंचाई १ महीने के अन्तर पर की जाती है जब कि पड़ोस के उद्यान प्रति सप्ताह सींचे जाते हैं।

यदि उद्यान में सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध हो तो वृक्षों की सिंचाई गर्मी में मार्च से जून तक ६ से ८ दिनों के अन्तर पर करते रहना चाहिए। जाड़े के दिनों में नवम्बर से फरवरी तक यह अवधि बढ़ा कर १० से १२ दिनों तक कर दी जाती है।

मानसून के समय जुलाई से अक्टूबर तक उद्यान की सिंचाई निश्चित समय के अन्तर पर नहीं की जाती। केवल उन्हीं दिनों में सिंचाई करते हैं जब कि वर्षा काफी दिनों के लिए टल जाती है। पौधों को कुएँ का पानी अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है क्योंकि इस पानी में हानिकारक नमक बहुत कम उपस्थित होते हैं जिससे पौधों को किसी प्रकार की हानि नहीं होने पाती। किन्तु यदि उद्यान की सिंचाई नाहर से की जाती है तो उत्पादक को बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है। प्रथम तो यह कि उत्पादक पानी उसी समय पा सकता है जब कि नहर खुलती है। यदि पौधों को पानी की आवश्यकता हो और नहर नहीं खुली तो उत्पादक को गहरी क्षति उठानी पड़ती है। दूसरे, नहर के जल में हानिकारक नमक काफी मात्रा में घुले होते हैं जिससे पौधों को कभी-कभी नुकसान हो जाता है। तीसरे, प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उत्पादक नहर से सिंचाई करते समय अधिक पानी ले लेता है जिससे भूमि जलपूर्ण हो जाती है। इसके फलस्वरूप जड़ों का श्वासोच्छ्वासन बंद हो जाता है और उनका सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है। अतः भरसक कुएँ की ही सिंचाई का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि उद्यान के चारों ओर धान या गन्ने के खेत हों और उद्यान की भूमि नीची हो तथा उनकी सिंचाई नहर से की जाती हो तो नीबू जाति के वृक्ष अधिक क्षतिग्रस्त होते हैं क्योंकि अगल-बगल का पानी रिस कर उद्यान की भूमि में संचित हो जाता है और भूमि जलपूर्ण हो जाती है। जब भूमि में पानी की मात्रा अधिक हो जाती है तो उसमें मृदा वायु का अत्यंत अभाव हो जाता है जो पौधों के वृद्धि के लिए अभिशाप है।

पौधों की कितनी मात्रा में सिंचाई की जाय इस पर संयुक्त राज्य अमेरिका के नारङ्गी उद्यान की रिपोर्ट के अनुसार औसत जल वर्ष में १६″ से २०″ होना चाहिए। कैलीफोर्निया में नावेल के लिए अप्रैल से अक्टूबर तक ६·२ एकड़ इंच जल की आवश्यकता होती है। थामस ने कहा है कि कैलीफोर्निया के कुछ भाग में एक सिंचाई की ऋतु में ६० एकड़ इंच प्रति एकड़ लगता है; किन्तु यह अपवाद-सा लगता है।

नीबू जाति के फलों की सिंचाई कई विधियों से की जाती है। इनमें कूँड़ों वाली तथा मेंड़ तक लबालब भरने वाली विधियाँ (Flooding method) अधिक मुख्य हैं। इन दोनों विधियों के अतिरिक्त सिंचाई में प्रयोग की जाने वाली विधियाँ बेसिन विधि, रिंग या अँगूठी विधि आदि भी हैं। कूँड़ विधि का प्रयोग अधिक स्थानों पर किया जाता है किन्तु यह अधिक महँगी पड़ती है क्योंकि इसमें कूँड़ और मेंड़ बनाने का व्यय अधिक पड़ जाता है। यह विधि उन्हीं स्थानों पर काम में लाई जा सकती है जहाँ भूमि चौरस और समतल हो या बहुत साधारण

किस्म का ढाल हो। ढाल होने पर पानी लाने वाली मुख्य नालियाँ ऊँचाई की ओर निर्मित की जाती हैं ताकि उनसे पानी ढाल की ओर सरलतापूर्वक बहता हुआ निकल जाय। वृक्षों की दो पंक्तियों के मध्य ४ से ८ कूँड़ें बना ली जाती हैं। आवश्यकतानुसार कूँड़ों की संख्या बढ़ाई या घटाई भी जा सकती है। यदि वृक्ष अधिक दूरी पर लगाये गये हैं और उन्हें पानी की अधिक आवश्यकता है तो उनके मध्य कूँड़ों की संख्या अधिक भी की जा सकती है। पौधों की किशोरावस्था में कम कूँड़ों की ही आवश्यकता होती है क्योंकि उन्हें पानी की अधिक जरूरत नहीं होती। इस स्थिति में प्रत्येक दो पंक्ति के मध्य दो कूँड़ें ही पर्याप्त होती हैं। ये कूँड़ें प्रत्येक पंक्ति के बगल में बनाई जाती हैं। यदि दो पंक्तियों के मध्य कई कूँड़ें बनाई जायँ तो उनके आपस की दूरी समान रखनी चाहिए। उनके आकार का निर्धारण उद्यान में पानी देने की मात्रा के अनुसार कर लेना चाहिए। किन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कूँड़ में कुछ-न-कुछ ढाल अवश्य हो ताकि पानी का बहाव भली-भाँति हो सके। कूँड़ बनाने के लिए दुहरे मोल्ड बोर्ड हल अधिक तर काम में लाये जाते हैं। कहीं कहीं मेंड़ निर्माता (Bund former) भी इस कार्य के लिए प्रयोग किये जाते हैं।

जिन स्थानों पर सिंचाई करने की फ्लड-विधि प्रयोग होती है वहाँ खेत में मेंड़बन्दी आदि की विशेष आवश्यकता नहीं होती। इस विधि में पानी सम्पूर्ण उद्यान की भूमि में फैला दिया जाता है और उसे लबालब भर दिया जाता है। इसमें पानी की अधिक मात्रा लगती है, अतः यह विधि वहीं काम में लाई जाती है जहाँ पानी की प्रचुरता होती है और उसे सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि से सिंचाई करने के लिए यह आवश्यक है कि उद्यान की भूमि समतल हो क्योंकि खेत के थोड़ा-सा भी ढालवाँ होने से सिंचाई करने में काफी अड़चन होती है। कभी-कभी ऐसी स्थिति में कुछ मेंड़ें बना ली जाती हैं और उनकी सहायता से सभी स्थानों पर बराबर पानी चढ़ाया जा सकता है। मेंड़ें इस प्रकार बनाई जाती हैं कि वृक्ष के थाले मेड़ों के आयताकार या वर्गाकार घेरे में आ जाते हैं। इसके लिए प्रत्येक दो कतारों के मध्य एक लम्बवत् मेंड़ बना ली जाती है और फिर इसे समकोण पर काटती हुई प्रत्येक दो वृक्षों के बीच से मेंड़ें बनाई जाती हैं। इन मेंड़ों से एक लाभ यह होता है कि पानी सर्वत्र समान मात्रा में पहुँचा दिया जाता है। दक्षिण भारत के बहुत-से नारंगी के उद्यानों में यही विधि प्रचलित है। किन्तु इस विधि से सिंचाई करने पर व्यय अधिक पड़ता है और मेंड़ें आदि बनाने में परिश्रम अधिक करना पड़ता है। इससे दो वृक्षों के मध्य के वे स्थान भी सींचे

जाते हैं जहाँ न तो वृक्ष ही उगे होते हैं और न वृक्षों की जड़ें ही पहुँची होती हैं। विशेषकर इन स्थानों की सिंचाई का उस समय कोई महत्व नहीं होता जबकि उद्यान में पौधों की आयु बहुत कम होती है। यदि उद्यान में कूँड़ विधि और इस विधि का सम्मिश्रित रूप प्रयोग किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इससे उद्यान के वे स्थान पृथक् किये जा सकते हैं जहाँ पानी देने की कोई आवश्यकता नहीं होती और पानी की मात्रा पर भी नियंत्रण रखा जा सकता है।

नीबू जाति के फलों की सिंचाई के लिए बेसिन विधि अधिक उपयुक्त होती है। छोटे पौधों या किशोर वृक्ष की सिंचाई के लिए तो यह सर्वश्रेष्ठ विधि है क्यंकि इससे पौधों को आवश्यकतानुसार पानी उपलब्ध हो जाता है और उद्यान में वृक्षों के बीच का वह रिक्त स्थान भी नहीं सींचना पड़ता जिसके सींचने से पौधों को कोई लाभ नहीं होता। इस विधि में पौधे चारों ओर गोलाकार थाला (बेसिन) बना लिया जाता है और इन्हें सिंचाई की मुख्य नालियों से जोड़ दिया जाता है। थाले इस प्रकार बनाये जाते हैं कि पौधे केन्द्र में पड़ें और मेड़ें तने से दूर कुछ निश्चित अर्धव्यास की दूरी पर परिधि पर हों। अर्धव्यास कितना हो यह पौधों की आयु पर निर्भर करता है। साधारणतया थाले का आकार पौधों की शाखाओं के घेरे से कुछ अधिक ही होना चाहिए क्योंकि अन्वेषणों से यह ज्ञात हो चुका है कि जड़ें शाखाओं से अधिक दूर तक जाती हैं। पौधों की आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती जाय थाले का आकार भी बढ़ाते जाना चाहिए। थाले का आकार २′-३′ के व्यास से कम का नहीं होना चाहिए। ढालवीं भूमि में बेसिन विधि अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होती है। दक्षिण भारत में कभी-कभी इस विधि का रुपान्तरित रूप प्रयोग किया जाता है जिसमें पौधे के तने के चारो ओर गोलाई में तने से २-३′ की दूरी पर मेंड़ें बना ली जाती हैं और बाहर से इसे सिंचाई की नाली से सम्बन्धित कर दिया जाता है। किन्तु यह विधि अच्छी नहीं पड़ती है क्योंकि जब पानी बेसिन में पहुँचता है तो वहाँ जमा हो जाता है जिससे पौधे का तना भी कुछ ऊँचाई तक पानी से ढक जाता है। बेसिन के प्रथम ढङ्ग में थाले इस हिसाब के बनाते हैं कि केन्द्र का भाग जहाँ पौधा होता है, ऊँचा होता है और परिधि की ओर ढाल बढ़ता जाता है। परिधि पर ढाल लगभग ३-४″ का रखा जाता है ताकि ३-४″ की ऊँचाई का पानी ही तने को स्पर्श कर सके।

बेसिन विधि की भाँति अँगूठी विधि का भी प्रयोग अधिकतर उन्हीं उद्यानों में किया जाता है जहाँ उगाये गये वृक्ष बहुत कम आयु वाले होते हैं। इस विधि में बेसिन विधि की भाँति तने के चारों ओर कुछ दूरी पर मेड़ें बनाई जाती हैं। मेंड़ें आकार में कुछ चौड़ी बनाई जाती हैं और उन्हें वृक्ष की आयु के बढ़ने के साथ ही ऊँचा बनाया जाता

है। वृक्ष के बड़े होने के साथ ही अँगूठी की चौड़ाई भी बढ़ा दी जाती है। बाद में पानी आने के लिए इसे एक सहायक नाली द्वारा पानी की मुख्य नली से जोड़ दिया जाता है। साथ ही इस बात का भी प्रबन्ध कर दिया जाता है कि तना सीधे रूप से पानी के सम्पर्क में न आने पाये। अँगूठी की दीवारें कुछ ऊँचाई पर ले जाकर छोड़ दी जाती हैं ताकि पौधों की शाखाओं के विकास में किसी प्रकार का व्यवधान न प्रस्तुत हो। ये दीवारें उस समय नष्ट कर दी जाती हैं जबकि वृक्ष प्रौढ़ हो जाते हैं और उन्हें सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ने पाती।

खाद—खाद की मात्रा प्रत्येक भूमि में समान नहीं होती। जैसा कि हम जानते हैं, हमारे देश की भूमि में कुछ-न-कुछ तत्वों का अभाव रहता ही है। किसी स्थान की भूमि नाइट्रोजन फास्फोरस और पोटाश की उपयुक्त मात्रा में धनी नहीं होती। नीबू जाति के फलों के उद्यान में खाद का प्रयोग अधिक आवश्यक होता है। अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि कोई भी किस्म स्थानीय भूमि के गुणों के अनुसार ही पैदा की जा सकती है। कैलिफोर्निया में किए गए एक प्रयोग से यह ज्ञात किया गया कि प्रत्येक वृक्ष की नाइट्रोजन की मात्रा ३ पौंड लगती है जिसका कुछ अंश जीवांश खाद के साथ देना चाहिए। अर्जोना में भी इसी प्रकार के प्रयोग से यह परिणाम निकाला गया कि ग्रेप फ्रूट में उपज की मात्रा बढ़ाने के लिए नाइट्रोजन देना आवश्यक होता है। साधारण किशोरावस्था में पौधों को नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है। पौधे लगभग ५ वर्ष की अवस्था तक अपनी शाखाएँ और पत्तियाँ बड़े जोरदार रूप से उत्पन्न करते हैं। इस समय इनमें सुदृढ़ उपयुक्त जड़ें भी निकलती हैं जो वृक्ष को स्वस्थ बनाये रखती हैं। पौधों के वानस्पतिक उत्पादन के लिए नाइट्रोजन देने वाली खादें अधिक आवश्यक होती हैं। जब पौधे प्रौढ़ हो जाते हैं और उनमें फल-फूल आने लगते हैं तो उन्हें फासफोरस देने वाली खादों की अधिक आवश्यकता होती है क्योंकि—फास्फोरस से पौधों का फलन बढ़ जाता है और साथ ही उनकी जड़ें भी काफी सुदृढ़ हो जाती हैं। पोटाश के प्रभाव से वृक्ष का बढ़ाव समान होता है और शाखाएँ तथा फल प्रौढ़ हो जाते हैं। पोटाश की उपस्थिति से फलों में चीनी और स्टार्च का निर्माण होता है।

चीमा, भट्ट और नायक ने कहा है, "स्थानान्तरण के लगभग १ वर्ष पश्चात् तक पौधों को किसी प्रकार की खाद नहीं दी जाती। उनके लिए स्थानान्तरण के पूर्व गड्ढों में दी गई खाद ही पर्याप्त होती है। एक वर्ष के पश्चात् इन्हें २० पौंड गोबर की खाद, ३ पौंड लकड़ी की राख और एक पौंड बोनमील तथा २ पौन्ड खली देना चाहिए। खाद की यह खुराक पौधों की आयु के साथ ही तब तक बढ़ाते जाना चाहिए जब तक इनकी आयु ५ वर्ष की न हो जाय। तत्पश्चात् खली की

मात्रा घटाकर वर्ष में ५ पौंड कर देनी चाहिए। किन्तु अन्य खादें ५ वर्ष तक वही रहने देना चाहिए।" उन्होंने आगे भी कहा है कि उन स्थानों पर जहाँ दीमक के आक्रमण का भय हो, खलियाँ नहीं दी जाती अपितु उनके स्थान पर अमोनियम सल्फेट का प्रयोग किया जाता है। अथवा यदि खली का प्रयोग किया जाता है तो केवल रेंडी और करौंना की खली उपयुक्त होती है क्योंकि इनका स्वाद तीखा होता है और आँशिकतौर पर ये इन कीड़ों के लिए विषैली होती हैं जिससे दीमक बढ़ नहीं पाते। अमोनियम सल्फेट, नाइट्रोजन देने वाली खाद है। इसमें लगभग २०% नाइट्रोजन उपस्थित होता है। अतः खलियों के स्थान पर इनका प्रयोग उत्तम होता है। दक्षिणी अफ्रीका में यह सिद्ध हो चुका है कि नाइट्रोजन का महत्व नीबू जाति के फलों के लिए बहुत अधिक है। फास्फोरस देने से नारंगी और ग्रेपफ्रूट के खट्टापन पर अधिक प्रभाव पड़ता है और फल का अधिक खट्टापन उसी दशा में सम्भव होता है जबकि भूमि में फास्फोरस की मात्रा कम होती है। अंडरसन (Anderssen) ने एक प्रयोग से यह अनुभव किया कि नाइट्रोजन के प्रयोग से फसल की उपज पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यह प्रयोग उसने वृक्ष में अमोनियम सल्फेट दे कर ज्ञात किया। उसने वृक्षों में, ४, और ६ पौंड अमोनियम सल्फेट डाले किन्तु उसे इस असमान परिणाम का उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं ज्ञात हुआ। अधिक नाइट्रोजन की उपस्थिति से फल में चीनी और अम्ल की मात्रा अधिक होती है। किन्तु जब नाइट्रोजन अत्यधिक मात्रा में उपस्थित रहता है तो इससे वृक्ष की फास्फोरस शोषण करने वाली शक्ति घट जाती है जिससे फल में अधिक अम्ल बन जाता है और उसका छिलका मोटा हो जाता है। जब फल में फास्फोरस की अधिक मात्रा होती है तो फल में अम्ल की मात्रा बहुत कम होती है और उसका छिलका भी पतला होता है। अंडरसन और बाथर्स्ट (Bathurst) ने यह ज्ञात कया कि नावल नारंगी (Navel oranges) में नाइट्रोजन की मात्रा जितनी ही अधिक होगी उसमें फास्फोरस उतना ही कम होगा और उसने यह बताया कि रस में जब १० लाख में १ हजार भाग नाइट्रोजन होता है तो उपज अच्छी होती है।

अन्डरसन ने दक्षिणी अफ्रीका में २५०० वाशिंगटन नावल नारंगियों के वृक्षों पर किये गये १४ फर्टिलाइजरों के प्रयोग का विवरण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि नाइट्रोजन और फास्फोरिक एसिड का सन्तुलित आहार इन वृक्षों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसने अमोनियम सल्फेट का महत्व बताते हुये कहा है कि इसके प्रयोग से फलों की संख्या और उपज में काफी वृद्धि हुई। किन्तु इसके विपरीत दाल वाली फसलों का फसल की उपज पर कोई विचारणीय प्रभाव नहीं पड़ा। पोटाश की

अधिक मात्रा देने से फल में अम्ल अधिक हो जाता है और फल के छिल्के भी मोटे हो जाते हैं, जैसा कि हमने ऊपर कहा है। किन्तु इसके विपरीत भूमि में जब चूने या फास्फोरस की अधिक मात्रा होती है तो फल की अम्लीयता कम होती जाती है और छिल्का भी पतला होता है। फास्फोरस और पोटाश युक्त खादों—सुपर फास्फेट और पौटेशियम सल्फेट तथा चूने का फसल की उपज पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु फ्लोरिडा में चूने वाली भूमि में उगे नीबू जाति के उद्यानों से अन्य उद्यानों की अपेक्षा अधिक मूल्य प्राप्त किया गया। वास्तव में भारी भूमि में जिसमें ह्यूमस (Humus) की मात्रा अधिक हो चूने का प्रयोग उपादेय होता है किन्तु यदि इसकी मात्रा अधिक हो जाती है तो भूमि पर इसका प्रभाव बुरा पड़ जाता है। इसी प्रकार भूमि में नाइट्रोजन की भी अधिकता हानिकर सिद्ध होती है क्योंकि इससे फल अच्छे नहीं मिलते और उनका छिल्का भी मोटा मिलता है। पोटाश की अनुपस्थिति में फलों का आकार छोटा होता हुआ पाया गया है। कुछ लोग फास्फोरस का प्रयोग व्यापारिक दृष्टिकोण से लाभकर नहीं बतलाते। उनका कथन है कि फास्फोरस शीघ्र ही अघुलनशील रूप में परिवर्तित हो जाता है और इस कारण उसकी बहुत कम मात्रा ही वृक्ष उपलब्ध कर पाते हैं। अस्तु, फास्फोरस का प्रयोग छिड़काव के रूप में करना चाहिए क्योंकि अन्डरसन के विचार से यह ढंग अच्छा पड़ता है और फल की अम्लीयता भी घट जाती है। नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश की पूर्ति के लिए एक मिश्रण, जिसमें अमोनियम सल्फेट ६ हण्डरवेट, सुपर-फास्फेट ३ हण्टरवेट और पोटाश सल्फेट १½ हण्डरवेट रहता है, अच्छा पड़ता है। इस मिश्रण की खूराक प्रति वृक्ष उसकी आयु के अनुसार दी जाती है। अर्थात यदि वृक्ष १० वर्ष की आयु का है तो उसे १ पौण्ड की खूराक, २ वर्ष का है तो २ पौंड और इसी प्रकार ४ वर्ष की आयु का है तो ४ पौंड की खूराक दी जाती है। यह खूराक पौधे को ७ वर्ष की आयु तक दी जाती है।

हमारे देश की भूमि में फास्फोरस और पोटाश की अपेक्षा नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है। नाइट्रोजन की पूर्ति का सबसे सस्ता और सरल स्रोत गोबर की खाद है। किन्हीं स्थानों पर हरी खाद और नाइट्रोजन वाले फार्टि-लाइजर भी प्रयोग किए जाते हैं। आसाम प्रदेश में एक प्रयोग द्वारा यह ज्ञात किया गया कि यहाँ कि भूमि में चूँकि अम्ल की मात्रा अधिक है, इसलिए गोबर की खाद और चूने का मिश्रण अधिक उपयुक्त है। पंजाब में भी ऐसा ही मिश्रण उपयुक्त सिद्ध हुआ है क्योंकि यह मिश्रण नाइट्रोजन में अधिक धनी होते हैं। पंजाब की भूमि पर प्रयोग करते हुए लाल सिंह आदि ने कहा है कि यहाँ की भूमि में पोटाश और फास्फोरस की अधिक आवश्यकता नहीं होती। किन्तु नाइट्रोजन की अधिक

आवश्यकता होती है। नाइट्रोजन के लिए उन्होंने माल्टा के उद्यान में अमोनियम सल्फेट प्रति वृक्ष ४७८ और १२ पौंड के हिसाब से स्वीकार किया है। इससे ज्ञात होता है कि फसल की उपज अमोनियम सल्फेट देकर बढ़ाई जा सकती है जिस पर मात्रा की असमानता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक प्रयोग में अमोनियम सल्फेट के स्थान पर गोबर की खाद प्रति वृक्ष ६० पौन्ड के हिसाब से दी गई किन्तु, माटिललीफ (Mottle leaf) नामक रोग के कारण उपज अच्छी नहीं मिली। यदि फसल पर इस रोग का आक्रमण न होता तो संभवतः उपज अच्छी प्राप्त की जाती। श्रीवास्तवा ने गोबर की खाद के विषय में कहा है कि यह वृक्ष की सारी आवश्यकताएँ पूरी करती है। किन्तु आगे उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया है कि पोटाश और फास्फोरस का प्रयोग भी लाभकर सिद्ध होता है। प्रायः हमारे देश में गोबर की खाद का जितना प्रयोग होता है उतना किसी अन्य खाद या फर्टिलाइजर का नहीं हरी खाद भी फसल पर अच्छा प्रभाव डालती है।

वैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त नाइट्रोजन के आँकड़ों से यह ज्ञात किया गया है कि वृक्ष में उपस्थित नाइट्रोजन का अर्द्धभाग पत्तियों में, लगभग दशांश फुनगियों और टहनियों में, चौथाई तने और शाखाओं में, उसका लगभग आधा छिलकों में और पाचवें अंश से कुछ कम जड़ों में उपस्थित होता है। यह प्रयोग वैलेनशिया नारंगी के ३६ वृक्षों पर २ वर्ष तक ३ सप्ताह के अन्तर पर किया गया। इस प्रयोग से यह भी फल निकाला गया कि वृक्ष में ग्रीष्म के मध्य ऋतु में सबसे कम और बसंत ऋतु के आगमन के समय, जब कि वृक्ष में नवीन कोपलें प्रस्फुटित होने वाली होती हैं, सबसे अधिक नाइट्रोजन की मात्रा उपस्थित होती है।

एक नारङ्गी के उद्यान में वृक्षों के निकट से आहार वाली मिट्टी हटाई गई जो लगभग प्रति एकड़ ३०० बक्स के लगभग थी। इस मिट्टी से अनुमान लगाया गया कि इसमें नाइट्रोजन ४३ पौंड, फास्फोरस १२ पौंड और पोटाश ४६ पौंड था। फास्फोरस और पोटाश नाइट्रोजन की अपेक्षा अधिक स्थिर रहे जब कि नाइट्रोजन बहुत शीघ्र रिस गया। यहाँ यह भी ज्ञात किया गया कि नम प्रदेश में नाइट्रोजन की हानि अर्द्ध शुष्क या शुष्क प्रदेश की अपेक्षा अधिक होती है। कैलीफोर्निया में एक प्रयोग से यह मालूम किया गया कि नीबू जाति के फलों की उपज में खाद के मिश्रण में आधे पौंड नाइट्रोजन की मात्रा होने पर अधिक वृद्धि हुई। यह वृद्धि लगभग ४३% थी। इस स्थान पर पोटाश और फास्फोरस का कोई प्रभाव नहीं ज्ञात किया गया।

खाद देने का समय नीबू जाति के पौधों के लिए अधिक महत्व रखता है। अजोना में नाइट्रोजन का प्रयोग जाड़े की ऋतु में जबकि बसंत

ऋतु १० दिन बाद आने वाली थी, किया गया और यह परिणाम निकाला गया कि इसका प्रभाव उपज पर अच्छा पड़ा किन्तु यही प्रयोग जब गर्मी कि दिनों में किया गया तो वृक्षों से भद्दे फल पाये गए। यह ख्याल रखना चाहिए कि खादों का प्रयोग वृक्षों में ठीक समय पर ही हो क्योंकि अनुपयुक्त समय पर इसे प्रयोग करने से फल पर प्रभाव विलोम हो जाता है। जैसे यदि सरद ऋतु में वृक्ष में नाइट्रोजन का अभाव है तो उपज घट जायगी किन्तु ग्रीष्म में वही अभाव फसल पर अच्छा प्रभाव डालेगा और श्रेष्ठ तथा चिकने फल उत्पन्न होंगे। बम्बई में किशोर पौधों में खाद मानसून के प्रारम्भ में दी जाती है। फिर जब उनमें फल आने प्रारम्भ होते हैं तो उन्हें खाद दी जाती है। किन्तु उनकी सिंचाई बन्द कर दी जाती है। इसी समय फूल आने की शक्ति में वृद्धि के लिए जड़ें नंगी कर दी जाती हैं और जब फल आ जाते हैं तो नाइट्रोजन वाली खादें डाल दी जाती हैं। नाइट्रोजन वाली खादें यदि अन्य खादों के साथ दी जाती हैं तो अच्छा प्रभाव पड़ता है क्योंकि केवल नाइट्रोजन देने से वृक्षों में फल आना बंद हो जाता है। और वृक्ष के वानस्पतिक विकास होने लगते हैं। यहाँ एक बार अमोनियम सल्फेट और गोबर की खाद का मिश्रण प्रति वृक्ष ४ पौन्ड के हिसाब से देकर यह ज्ञात किया गया कि इसका प्रभाव उपज पर अच्छा पड़ता है। बम्बई में कसाई खाने के व्यर्थ पदार्थ भी खाद के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। यह देखा गया है कि सन्तरा और मोसम्बी के ३ वर्ष की आयु वाले वृक्षों पर प्रति वृक्ष दो टोकरी पदार्थ का प्रभाव अच्छा पड़ता है। ट्रांसवाल के पश्चिमी भाग में खाद का प्रयोग जून और जूलाई के महीने में किया जाता है वहाँ क्राल (Kraal) खाद प्रति वृक्ष १५० से २०० पौन्ड प्रति वर्ष दी जाती है। खाद उन्हीं वृक्षों में दी जाती है जो फल देने वाले होते हैं। फूल-फल देने वाले नावल नारंगी में खाद की इस मात्रा के अतिरिक्त ५ पौन्ड अमोनियम सल्फेट जुलाई के महीने में और बड़े किशोर पौधों में १० पौन्ड सुपरफास्फेट दी जाती है। नाइट्रोजन का अधिक अंश बसंत ऋतु में ही दिया जाता है। किन्तु शिशिर में फास्फोरस और पोटाश के साथ नाइट्रोजन की हल्की मात्रा देने से फसल की प्रौढ़ता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रेस्ट के अनुसार खट्टे नींबू के वृक्षों में ६ हण्डरवेट अमोनियम सल्फेट, ४ हन्डरवेट फास्फोरस और २ से ३ पौन्ड पोटाश दिया जाता है। उसने आगे कहा है कि प्रति एकड़ २० टन के हिसाब से गोबर की खाद भी प्रयोग की जा सकती है। मद्रास प्रदेश में मूँगफली की खली और मछली की खाद का भी प्रयोग किया जाता है। वहाँ राजम्पत तालुके में नारंगी के उत्पादक प्रति वृक्ष प्रति वर्ष १२ पौन्ड मूँगफली की खली, ६ पौन्ड मछली की खाद, ३ पौन्ड बोनमिल और १०० पौन्ड गोबर की सड़ी खाद दी जाती

हैं। अहमद नगर और बम्बई में मोसम्बी के वृक्षों में रेंड़ी की खली का प्रयोग किया जाता है। उसकी मात्रा प्रतिवृक्ष ५-६ पौन्ड होती है जबकि वृक्षों की आयु १५ से २० वर्ष तक की होती है। इसका प्रयोग अधिक आयु के वृक्षों में और भी प्रभावपूर्ण सिद्ध होता है। खाद का प्रयोग वृक्ष में फल फूल आने के पूर्व किया जाता है ताकि वृक्ष के फूल-फल पर खाद का अत्यधिक प्रभाव पड़े। यहाँ रेंडी की खली के अतिरिक्त गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता है। इसकी मात्रा प्रति वृक्ष ४० से ८० पौन्ड होती है।

खाद देने के ढङ्ग सर्वत्र समान नहीं होते हैं। हरी खाद की दशा में उसे पलटना ही पर्याप्त होता है। जिस उद्यान में हरी खाद दी जाती है उसमें हरे पौधों को सड़ाने के लिए कई बार उलट-फेर किया जाता है। सड़ जाने पर वृक्षों को जीवांश की अधिक मात्रा उपलब्ध होने लगती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में फर्टिलाइजर के प्रयोग के लिए उद्यान में कूँड़े बनाई जाती हैं। उन्हीं कूँड़ों में खादें छिड़क दी जाती हैं। कूँड़ों का आकार वृक्षों की लम्बाई में होता है। पहिली ऋतु के लिए कूँड़े वृक्ष के दोनों ओर बनायी जाती हैं जिधर को सिंचाई की नालियाँ बिछी हों। दूसरी ऋतु में पहली ऋतु के विलोम उन्हें समकोण पर बनाया जाता है और फिर तीसरी ऋतु में पहली ऋतु के स्थान पर निर्मित किया जाता है। इन कूँड़ों की गहराई ८ से १५″ होती है। कभी-कभी उद्यान में खादें छिड़काव के रूप में भी प्रयोग की जाती हैं। जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा है, फास्फोरस शीघ्र ही अनघुल रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः उसका प्रयोग छिड़काव के रूप में ही करते हैं। भूमि के ऊपरी धरातल पर खाद का प्रयोग विशेष अच्छा नहीं होता है।

नीबू जाति के फलों में नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्वों का भी अभाव कभी-कभी अलाभकर सिद्ध होता है और उपज पर हानिकर प्रभाव भी डालता है। फ्लोरिडा में नीबू जाति के वृक्षों में जो हल्की अम्लीय भूमि में उगाए गए थे, देखा गया कि भारी वर्षा से रिसने के कारण जस्ते, मैंग्नीज और ताँबा का अधिक अभाव था। इस भूमि में लोहा मैगनिसियम और बोरान की भी अनुपस्थिति पाई गई। बोरान का अभाव दक्षिणी अफ्रीका में भी पाया गया। जहाँ इसकी अनुपस्थिति में फल के कड़े ने का रोग होता था वहाँ की भूमि में बोराक्स की थोड़ी मात्रा डाल कर इस रोग का निराकरण किया गया। नीबू के वृक्षों में कुछ और भी ऐसे रोग हैं जो तत्व-विशेष के अभाव में उत्पन्न हो जाते हैं। पंजाब में माटिललीफ का एक ऐसा रोग है जो वृक्ष में फास्फोरस के अभाव में हो जाता है। मध्य प्रदेश में भी संतरे के उद्यान में कुछ इसी प्रकार के रोग पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त फ्रेनसिंग या फोलियो सिलोसिस आदि भी रोग

वृक्षों में तत्वों के अभाव के कारण ही उत्पन्न होते देखे जाते हैं। हालैंड में एक आधुनिकतम प्रयोग से यह ज्ञात किया गया है कि पौधों में विटामिन C और A की उपस्थिति पौधों में उपस्थित नाइट्रोजन और पोटाश की मात्रा पर निर्भर करती है। जब नाइट्रोजन भूमि में अधिक मात्रा में पाया जाता है तो विटामिन C और A में वृद्धि होती है। किन्तु जब पोटाश की मात्रा अधिक होती है तो विटामिन A तो बढ़ता है किन्तु विटामिन C घटने लगता है।

गोड़ाई—उद्यान में सिंचाई करने और खाद देने के साथ-साथ भूमि की गुड़ाई और जुताई भी अधिक महत्व रखती है जैसा कि हमने आम की खेती में देखा था। भूमि में गोड़ाई न करने से एक तो वायु का गमनागमन उचित रूप से नहीं हो पाता और दूसरे उद्यान में उगे अनावश्यक घास-पात का निराकरण नहीं होता है। उचित जुताई-गोड़ाई से भूमि का टेक्सचर और स्ट्रकचर ठीक हो जाता है। और भूमि के कण इतने बारीक हो जाते हैं कि हवा भूमि के अन्दर सरलता-पूर्वक आ-जा सकती है। हवा की प्रचुरता से भूमि में जड़ों का प्रसार अधिक हो पाता है। जिससे पौधा या वृक्ष होनहार हो जाते हैं। समुचित जुताई-गोड़ाई से रिक्त-छिद्र बढ़ जाते हैं जिससे पानी का बहाव नीचे से ऊपर को उचित गति से होने लगता है और जड़ें पानी की आवश्यक मात्रा प्राप्त करने लगती हैं। जुताई-गोड़ाई का सब से महत्वपूर्ण कार्य है—भूमि के धरातल से उगे घास-फूस का निराकरण। यह घास-फूस उद्यान में रह कर पौधों और वृक्षों का आहार छीनते हैं और भूमि की नमी की अधिक मात्रा भी ले लेते हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से उद्यान में इनकी उपस्थिति का कोई महत्व नहीं होता। किन्तु कुछ स्थानों पर यह सिद्ध हुआ है कि घास-पात के धरातल पर विद्यमान होने से भूमि-क्षरण कम हो जाता है और जब इन्हें जोत-गोड़ कर भूमि में पलट दिया जाता है तो ये सड़ कर कुछ दिनों के पश्चात् खाद का काम देने लगते हैं। बहुत से उद्यानों में घास-पात कवर क्राप (Cover Crop) का कार्य पूरा करते हैं। जब उद्यान के वृक्ष काफी प्रौढ़ हों और उसमें कोई कवरक्राप न बोई गई हो तो घासों से कुछ पैसा भी प्राप्त किया जा सकता है। अमेरिका में बहुत से उद्यानों में घास-पात का निराकरण गौड़ कार्य समझा जाने लगा है। वहाँ के उत्पादक नीबू जाति के उद्यानों में पूर्ण जुताई नहीं करते। अपितु उस दशा में जबकि उद्यान में कोई मध्यस्थ फसल (Inter Crop) न ली गई हो तो कम जुताई-गुड़ाई करते हैं जिससे घासों के उगने का अवसर रहे। भूमि की उर्वराशक्ति की वृद्धि के लिए टिलेज की क्रिया आवश्यक होती है क्योंकि इससे भूमि की स्थिति में काफी सुधार पाया जाता है। किन्तु गहरी जुताई-गोड़ाई से पौधों या वृक्षों को गहरी क्षति भी उठानी पड़ती है। किशोर पौधों के उद्यान में

गहरी जुताई से जड़ें क्षतिग्रस्त हो जाती हैं जिससे कभी-कभी पौधों की मृत्यु भी हो जाती है। जुताई या गुड़ाई उसी समय करनी चाहिए जब कि भूमि न तो अधिक गीली हो और न अधिक शुष्क। गीली भूमि में जुताई करने से भूमि का टेक्सचर और स्ट्रक्चर खराब हो जाता है। बड़े-बड़े ढेले निकल आते हैं और भूमि अत्यधिक कड़ी हो जाती है जिससे पानी का बहाव रुक जाता है और पौधे पानी की आवश्यक मात्रा नहीं प्राप्त कर पाते। शुष्क भूमि में जुताई-गोड़ाई करना कठिन कार्य होता है। यदि संभव भी होता है तो व्यय अधिक पड़ता है और श्रम अधिक लगता है। उद्यान की अधिक जुताई-गुड़ाई भी अच्छी नहीं होती क्योंकि इससे पौधों की जड़ों का समुचित विकास नहीं हो पाता। भूमि के जीवांश कम हो जाते हैं और लाभदायक बैक्टीरिया का जीवन-काल भी घट जाता है। भूमि की लगातार जुताई करते रहने से हल के पेंदे से रगड़ कर भूमि में एक कड़ी पर्त बन जाती है जो वायु के गमनागमन और जल के बहाव में अवरोध प्रस्तुत करती है। उद्यान में गहरी जुताई उसी समय की जा सकती है जब कि पौधों की आयु कम हो और उनकी जड़ें अधिक गहराई तक पहुँची हों। अधिक आयु के प्रौढ़ वृक्षों वाले उद्यानों में यह क्रिया सर्वथा वर्जित है।

मध्यस्थ फसलें (Inter Crop)—जैसा कि हमने आम के प्रकरण में पढ़ा था, उद्यान में वृक्षों के मध्य के रिक्तस्थान में कुछ फसलें उगा लेना आर्थिक दृष्टिकोण से लाभकर होता है। विशेषकर उस समय जब कि उद्यान के पौधे बहुत छोटे और कम आयु के होते हैं। उद्यान में वृक्षों के बीच काफी स्थान रिक्त रहता है। अतः रिक्त स्थान में कुछ साधारण किस्म की फसलें बो दी जाती हैं। कभी-कभी कुछ तरकारियाँ या फल भी उगा लिए जाते हैं जो उद्यान में बहुत कम समय में ही तैयार हो जाते हैं। विशेषकर इन फसलों के उगाने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि इन्हें उसी समय तक उगाय जाय जबकि उद्यान के वृक्ष छोटे हों और फसलों के उगाने में न तो कोई कठिनाई हो और न उससे उद्यान के वृक्षों को ही किसी क्षति की आशंका हो। साधारणतया मौसमी फसलें जो एक या दो ही मौसम में तैयार हो जाती हैं, उसमें बराबर ली जा सकती हैं किन्तु ऐसा उद्यान की सफलता के दृष्टिकोण से अधिक लाभकर नहीं होता। मध्यस्थ फसलों में वे ही फसलें सम्मिलित की जाती हैं जो सिंचाई बहुत कम चाहती हैं और वर्ष के कुछ ही महीनों में बो कर काट ली जाती हैं। अधिक सिंचाई चाहने वाली फसलों के उगाने से उद्यान की भूमि पर्याप्त नम हो जाती है जिससे उद्यान के वृक्ष की हानि हो जाने की आशंका होती है। फसलों जैसे गन्ना, रिजको (Lucerne) अथवा फल जैसे केला अधिक पानी चाहते हैं। अतः उन्हें जहाँ तक हो सके मध्यस्थ फसल के रूप में नहीं बोना चाहिए। यद्यपि कुछ

ऐसे स्थान है जहाँ अत्यधिक गर्मी पड़ती है, वहाँ केला जैसे फल पौधों की छोटी अवस्था में उगाए जा सकते हैं क्योंकि ऊँचे तापक्रम और गर्म हवाओं के चलने से भूमि के अत्यधिक नम रहने के कम अवसर होते हैं और नीबू जाति के वृक्ष क्षति-ग्रस्त भी नहीं होने पाते।

मध्यस्थ फसलों के बोने का मुख्य तात्पर्य यह होता है कि उत्पादक उद्यान से उस समय भी कुछ लाभ अर्जित कर सके जब कि वृक्ष छोटे हो और उनमें फल-फूल न आते हों। बम्बई प्रदेश में बीजापुर और पूर्वी पश्चिमी खानदेश के जिलों में नारङ्गी के उद्यान में बौने और अल्पजीवी किस्म के केले उगाये जाते हैं। केले की यह किस्म बसराई के नाम से सम्बोधित की जाती हैं। ये नारङ्गी के वृक्षों के साथ ही उद्यान में रोप दिए जाते हैं। किशोरावस्था में केले के पौधों से नारङ्गी के पौधों की धूप या तेज हवाओं से रक्षा होती है। दो वर्ष पश्चात् जब इन्हें काफी धूप की आवश्यकता होती है तो केले के वृक्ष उद्यान से बाहर कर दिए जाते हैं। मध्यस्थ फसल के रूप में उगाई जाने वाली तरकारियों में टमाटर, बैंगन, फूलगोभी, पातगोभी, गाँठ गोभी, आदि को अधिक प्राथमिकता दी जाती है। ये तरकारियाँ बहुत कम दिनों लगभग ५ महीने में ही तैयार हो जाती हैं। इन्हें सिंचाई की भी अधिक आवश्यकता नहीं होती। इन्हें बरसात अथवा जाड़े के दिनों में उगाते हैं। शेष मासों में उद्यान की भूमि रिक्त रहती है जो उद्यान के स्वास्थ्य के विचार से अधिक आवश्यक होता है क्योंकि इससे भूमि को धूप की उचित मात्रा उप-लब्ध हो जाती है और उसका तापक्रम उपयुक्त हो जाता है। भूमि के रिक्त रहने से उद्यान की जुताई-गुड़ाई आदि क्रियाओं में भी सुविधा हो जाती है।

छँटाई (Prunning)—नीबू जाति के वृक्षों की छँटाई के विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न राय हैं। साधारणतया लोग इस पक्ष में हैं कि नीबू जाति के फलों की छँटाई कम की जाय क्योंकि अधिक छँटाई से वृक्ष को यथेष्ट हानि उठानी पड़ती है। यद्यपि खट्टा नीबू, नीबू की एक ऐसी जाति है जो अपवाद है किन्तु इसकी भी अधिक छँटाई से उपज को काफी हानि पहुँचती है। हागसन (Hogson) के मतानुसार नीबू की प्रत्येक जातियों को कुछ-न-कुछ मात्रा में ट्रेनिंग होनी चाहिए जबकि उनका आकार उपयुक्त बनाना हो। किशोर पौधों में छँटाई केवल इस उद्देश्य से की जाती है कि उनका आकार सुन्दर हो सके। जब इनकी ऊँचाई बहुत कम हो तो नीचे की शाखाएँ तोड़ देनी चाहिए। नीचे की शाखाएँ भूमि से डेढ़ या २ फीट की ऊँचाई पर होनी चाहिए। ऊपर की शाखाओं में यदि कोई शाखा अनीच्छित ऊँचे तो उसे छाँट कर पौधे से पृथक् कर देना चाहिए। उन्हें छाँटने के

लिए तेज चाकू का प्रयोग किया जाता है। यदि कोई शाखा काफी लम्बी हो तो उसे काट देना अच्छा होता है। कुछ लोग पौधों की छटाई २ या ३ वर्ष की आयु के पहले नहीं करना चाहते। किन्तु इस अवधि के पश्चात् उनके आकार पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इस आयु में पौधे में केवल ३ या ४ शाखाएँ होनी चाहिए जो पूरे तने में बिखरी हों। इन मुख्य शाखाओं को छाँटना उचित नहीं होता। हागसन के अनुसार उन्हीं अंगों की छँटाई करनी चाहिए जिनके छाँटने से पौधे के आकार-प्रकार पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। उसने कहा है कि नीबू जाति के किशोर पौधों की छँटाई में इस बात का अधिक ध्यान देना चाहिए कि जब किसी शाखा के छाँटने में संदेह हो तो उसे बिना छाँटे ही छोड़ देना चाहिए। पौधों की छोटी अवस्था में कुछ शाखाएँ ऐसी भी छोड़ देनी चाहिए जिनसे कड़ी धूप से कोमल तने की रक्षा हो सके और उन्हें उस समय तक नहीं छाँटना चाहिए जब तक कि ऊपर की शाखाएँ यथेष्ट बढ़ न जायँ। शाखाओं में कुछ ऐसी टहनियाँ निकलती हैं जो कुछ ही वर्षों में मर जाती हैं, ऐसी टहनियों को वृक्ष से पृथक् कर देना अच्छा होता है।

जब वृक्ष में फल-फूल आने प्रारम्भ हो जाते हैं तो शाखाएँ भूमि की ओर झुकने लगती हैं और टहनियाँ तथा डालें इनसे निकलना प्रारम्भ करती हैं तो ऊपर की ओर जाती हैं। ऐसा इसलिए होता है कि फल भूमि से अधिक ऊँचाई पर आवें। इसे रोकने के लिए इन टहनियों की छँटाई कर देनी चाहिए। नीचे वाली शाखाएँ भी छाँट देनी चाहिए। इस समय वृक्ष में जो चूसक (Sucker) अंग पुत्तियाँ निकलें उनकी छँटाई कर देना अधिक उपयुक्त होता है। नीबू जाति की कुछ जातियों में ऐसा देखा जाता है कि उनमें चूसक तथा जल-प्रांकुर (Water Sprout) अधिक निकलते हैं। बाद में ये शाखाएँ निकाल कर फल पैदा करने लगती हैं। ये फल कुछ वर्षों तक मद्दे आकार के होते हैं और कुछ वर्षों के पश्चात् कुछ ऐसा परिवर्तित हो जाते हैं कि अन्य शाखाओं के फलों से इनकी कोई समता नहीं रह जाती। अतः उन्हें प्रारंभ में ही छाँटकर निकाल देना चाहिए। कभी-कभी इन्हें स्थिर रख कर भी ट्रेनिंगकर के लाभदायक बनाया जा सकता है। इस दशा में इन्हें एक या दो बार छाँट कर इस योग्य बना दिया जाता है कि इनकी शाखाएँ काफी झुक सकें और लम्बी शाखा मात्र न रहें। किन्तु वृक्ष के चूसक तो शीघ्रातिशीघ्र निकाल देना चाहिए। वृक्ष की आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती जाय वैसे ही फल-फूल उत्पन्न करने वाली पुरानी टहनियाँ कुछ समय के अन्तर पर हटाते जाना चाहिए ताकि इनके स्थान पर नई टहनियाँ निकल आवें। नीचे वाली शाखायें चूँकि घटिया किस्म के फल उत्पन्न करती हैं अतः इनकी छँटाई कर देना चाहिए। किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि छँटाई उस

सीमा तक न पहुँच जाय कि वृक्ष बिलकुल नङ्गा हो जाय। वृक्ष की सभी शाखाओं को धूप प्राप्त होने के लिए केवल ऐसी टहनियाँ निकाल देनी चाहिये जो धूप रोकती हों। मीठी नारंगी में मन्दारिन की अपेक्षा कम छँटाई की जाती है। खट्टे नीबू में छँटाई नीबू के प्रत्येक जातियों से अधिक की जाती है क्योंकि यह बहुत लम्बी ऐसी शाखाएँ उत्पन्न करती है जो अन्तिम सिरे पर फल देती हैं। इन फलों के बोझ से शाखाएँ अधिक झुक जाती हैं। जब इन्हें काट कर छोटा कर दिया जाता है तो इनके झुकने का भय कम हो जाता है।

कुछ स्थानों पर नीबू जाति के वृक्षों में रिंगिंग (Ringing) की क्रिया की जाती है। इससे वृक्ष की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है। किन्तु कैलीफोर्निया में समेल और पोंमराय ने यह ज्ञात किया कि रिंगिंग के पश्चात् उपज में कमी आ गई।

फूल-फल आना—नीबू जाति के कुछ वृक्ष वर्ष के लगभग बारहों महीने फूल-फल देते हैं और अधिक वृक्ष एक या दो मौसम ही फल देते हैं। उत्तरी भारत में फूल-फल देने का समय प्रारम्भिक बसन्त ऋतु अर्थात् फरवरी है। संतरे और मोसम्बी के वृक्ष बम्बई प्रदेश में तीन बार फल देते हैं। पहले जून-जुलाई के महीने में जब कि मानसून प्रारम्भ होती है, और दूसरे सितम्बर-अक्टूबर के महीने में जब कि मानसून प्रायः समाप्त होती है और तीसरे फरवरी-मार्च के महीने में। ये वृक्ष फल-फूल लगने के प्रत्येक मौसम में नई टहनियाँ उत्पन्न करते हैं और फूल तथा फल पैदा करते हैं। इस प्रदेश में कुछ उत्पादक कभी कभी ऐसा प्रबन्ध कर देते है कि वृक्ष में केवल एक ही फसल आती है और वे एक ही फसल में काफी उपज प्राप्त करते हैं। संतरा के फल फूल लगने के लगभग ८-१० महीने में तैयार होते हैं। कभी-कभी तो ये वृक्ष पर दूसरे वर्ष के फूलों के समय तक पाए जाते हैं। किन्तु इससे फलों की अधिक हानि हो जाती है क्योंकि उत्तरी भारत में मन्दारिन, नारंगी और चकोतरा आदि के ऐसे फल जो बहुत दिनों तक वृक्ष पर स्थिर रहते हैं, सख्त गूदे वाले हो जाते हैं। ग्रेपफ्रूट में तो यह क्रिया बहुत देर में होती है, उसमें अधिक देरी हो जाने में कुछ बीज अंकुरित भी हो जाते हैं जिससे फल का स्वाद बदल जाता है। नीबू जाति के वृक्षों में फल लगने का समय बहार के नाम से प्रसिद्ध है।

वर्ष में तीन बहार आते हैं जिनमें वृक्षों में फल-फूल लगते है। जून-जुलाई के फल लगने का समय मृग बहार, सितम्बर-अक्टूबर का समय हत्ती या हस्त बहार और फरवरी-मार्च का समय अम्बे बहार के नाम से प्रसिद्ध है। किसी भी वृक्ष से इन तीनों बहारों में से किसी एक में ही फल पैदा किया जाता है। उत्तरी भारत में चूँकि जाड़े

की ऋतु काफी लम्बी होती है, अतः वृक्षों में फूल-फल या तो फरवरी में उत्पन्न कराये जा सकते हैं या जुलाई में। बम्बई मद्रास और मध्य प्रदेश में वृक्षों में फल आने का समय अधिक महत्व रखता है। अम्बे बहार में फल लगने पर उद्यान में २ महीने पूर्व सिंचाई की क्रिया रोक दी जाती है। फूल आने के १ महीने पश्चात् वहाँ यह प्रथा है कि वृक्ष की जड़ों से ८" गहरी मिट्टी निकाल दी जाती है और इस प्रकार जड़ें बिलकुल नङ्गी हो जाती हैं। इस क्रिया में वृक्ष की कुछ छोटी जड़े कट भी जाती हैं जिससे जड़ों की छँटाई हो जाती है। मिट्टी की खुदाई से यदि किसी मोटी और स्वस्थ जड़ की लकड़ी कट जाती है तो उस स्थान पर कोलतार लगा देना चाहिए। कोलतार लगाने से जड़ के सड़ने का भय नहीं रहता है। वे जड़ें जो $\frac{1}{2}$" व्यास से अधिक मोटी होती है उनकी छँटाई नहीं की जाती। जड़ों पर से जो मिट्टी हटाई जाती है वह तने से ३' की दूरी पर होती है क्योंकि तने के निकट की मिट्टी के हटाने से अधिक हानि की आशंका होती है। हटाई हुई मिट्टी लगभग १० दिनों तक उसी दशा में रहने दी जाती है और जड़ें खुली छोड़ दी जाती हैं। १० दिनों के उपरान्त मिट्टी में आवश्यक खाद की वार्षिक खुराक मिला कर इसे मूल स्थान पर ला देते हैं और खुली जड़ें ढक देते हैं। मिट्टी में खाद मिलाते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि इसमें नाइट्रोजन-प्रधान खादें न उपस्थित रहें क्योंकि इनकी उपस्थिति से वृक्ष में वानस्पतिक विकास होने लगता है। खुदी मिट्टी जब अपने स्थान पर ला दी जाती है तो उसमें सिंचाई की नालियाँ, बेसिन आदि निर्मित कर ली जाती हैं क्योंकि इस समय वृक्ष की सिंचाई करना आवश्यक होता है। पहली सिंचाई जनवरी के मध्य में होती है। इसमें पानी बहुत कम दिया जाता है। दूसरी सिंचाई इसके ४-५ दिनों पश्चात् दी जाती है। इस सिंचाई में पानी की मात्रा पहली की अपेक्षा कुछ अधिक दी जाती है। तीसरी सिंचाई दूसरी सिंचाई के लगभग १० दिनों पश्चात् की जाती है और इसमें वृक्ष पानी की पूर्ण खुराक पाता है। इस सिंचाई के उपरान्त कुछ दिनों के अन्तर पर बराबर सिंचाइयाँ करते रहते हैं। प्रथम सिंचाई के लगभग १ माह पश्चात् अर्थात् फरवरी के मध्य तक वृक्ष में नई टहनियाँ और फुनगियाँ निकलना आरम्भ कर देती हैं जिनमें फूल-फल उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। ये टहनियाँ इसी समय फूल भी उत्पन्न करने लगती हैं। यह क्रिया आधे मार्च तक जारी रहती है।

वृक्ष में सिंचाई की क्रिया कुछ दिनों के लिए इसी उद्देश्य से रोक दी जाती है कि वृक्ष में वानस्पतिक विकास की गति कुछ शिथिल हो जाय। अधिक आयु वाले वृक्षों में यह क्रिया करने और उचित ढंग से खाद देने से उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और उनका स्वास्थ्य भी अधिक अच्छा रहता है। यदि भूमि बलुई

हो तो उसमें मोसम्बी के वृक्षों की जड़ों की मिट्टी का खोदना आवश्यक नहीं होता। किन्तु अन्य भूमियों में ऐसा किया जा सकता है।

जून के महीने में वृक्ष में खाद की उपयुक्त मात्रा दी जाती है। इस खाद में नाइट्रोजन का अंश अधिक होना चाहिए क्योंकि इस समय वृक्ष में वानस्पतिक विकास की आवश्यकता होती है। नाइट्रोजन के लिए खलियाँ अधिक उपयुक्त होती हैं। खाद देने के पश्चात् जड़ के निकट की मिट्टी भली भाँति खोद दी जाती है ताकि खाद मिट्टी में अच्छी तरह मिल सके। मिट्टी खोदने से जड़ के निकट के घास-पात का उन्मूलन हो जाता है और भूमि में वायु का गमनागमन भी उचित रूप से होने लगता है। इससे जड़ों का विकास होता है और वृक्षों के फलों के बढ़ने की आशा होती है। अच्छा तो यह होता है कि जड़ों के निकट भूमि कुछ दिनों के अन्तर पर गोड़ दी जाय। गोड़ने के पश्चात् जड़ की भूमि बराबर कर देनी चाहिए। इस प्रकार सिंचाई, गोड़ाई आदि की लगातार क्रिया करते रहने से अम्बे बहार के फल नवम्बर-दिसम्बर तक में तैयार हो जाते हैं। फल तैयार होने की यह अवधि कोई निश्चित अवधि नहीं है क्योंकि कुछ फल ऐसे भी होते हैं जो जनवरी-फरवरी तक तैयार होते हैं। यह बहार अम्बे बहार इसलिए कही जाती है कि इसमें आम के वृक्ष भी फलना-फूलना प्रारम्भ करते हैं।

जुलाई का फूल लगना जिसे मृग बहार के नाम से सम्बोधित करते हैं, संतरे के वृक्ष में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। नीबू जाति के अन्य वृक्षों में भी थोड़ा-बहुत इसका प्रयोग होता है किन्तु कागदी नीबू में यह क्रिया बिल्कुल वर्जित होती है। मृग बहार की क्रिया अप्रैल से प्रारम्भ होती है तथा वृक्ष में सिंचाई की मात्रा धीरे-धीरे घटाई जाती है और इस माह के अन्त तक पूर्णरूपेण बन्द कर दी जाती है। सिंचाई बन्द कर देने पर मई के मध्य में उद्यान की भूमि जोत-गोड़ दी जाती है और इस माह के अन्तिम सप्ताह में वृक्ष की जड़ें भी खोल दी जाती हैं तथा उनकी आवश्यक छँटाई भी कर दी जाती है। जून के मध्य में खुदी मिट्टी में खाद मिला दी जाती है और उसे अम्बे बहार की भाँति पुनः अपने स्थान पर ला दिया जाता है। खुली जड़ें पूर्ववत ढक दी जाती हैं। जड़ों को ढक देने पर भूमि में सिंचाई की नालियाँ तैयार कर ली जाती हैं। पहली सिंचाई साधारण रूप से की जाती है किन्तु दूसरी इससे अधिक और तीसरी पूर्ण खुराक की मात्रा में। यदि वर्षा का आगमन शीघ्र होने का अनुमान हो तो सिंचाई की क्रिया में शीघ्रता करनी चाहिए किन्तु बीच में ही यदि पानी बरस गया तो सिंचाई की क्रिया आवश्यकतानुसार ही करनी चाहिए। वृक्ष में जुलाई के मध्य तक फूल दृष्टिगत होने लगते हैं और मार्च तक फसल तैयार हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु में फसल के तैयार होने से अधिक लाभ की आशा रहती है क्योंकि इन बाजारों में नीबू जाति के फलों की अधिक माँग रहती है।

हस्ति या हाथी बहार सितम्बर-अक्टूबर के महीने में आती है जो मानसून का समय होता है। मानसून में वृक्ष को न तो पानी प्राप्त करने से रोका जा सकता है और न उसके वानस्पतिक विकास से। अतः यह क्रिया अन्य दो बहारों की तुलना में नहीं आती और भरसक इसका प्रयोग भी नहीं किया जाता। यह उसी समय काम में लाई जा सकती है जब कि अम्बे बहार और मृग बहार दोनों की क्रिया असफल हो जाय, किन्तु इस बहार से बहुत खराब उपज मिलती है और उत्पादक को लाभ भी बहुत कम प्राप्त हो पाता है।

उद्यान में किस बहार का उपयोग किया जाय, यह वहाँ की स्थानीय दशा, फल की जाति आदि बातों पर निर्भर करती है। स्थान-विशेष, श्रम की सुविधा, सिंचाई के साधन और बाजार की दूरी का भी बहार के उपयोग पर अधिक प्रभाव पड़ता है। श्रम की सुविधा से बहार की क्रिया प्रत्येक समय सरलतापूर्वक की जा सकती है। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ मजदूर बहुत मँहगे मिलते हैं या किसी-किसी समय मिलते ही नहीं, बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। सिंचाई की सुविधा होने पर प्रत्येक मौसम में बहार की क्रिया की जा सकती है किन्तु जिन स्थानों पर इसका समुचित प्रबन्ध नहीं होता, वहाँ सिंचाई के कार्यों में बहुत दिक्कत होती है। बाजार के निकट और दूर होने से फल के ले आने, ले जाने में सुविधा होती है। वृक्ष पर रोगों और कीड़ों का प्रभाव भी बहार के चुनाव में प्रभाव डालता है। उदाहरणतः अम्बे बहार में जो फल उत्पन्न किए जाते हैं उनमें मानसून के दिनों में फल खाने वाले कीड़ों का अधिक आक्रमण होता है। किन्तु मृग बहार में उसका अधिक आक्रमण नहीं होता क्योंकि मानसून के दिनों में इनके फल बहुत कच्चे और अधिक अम्लीय होते हैं। पूना, नासिक और अहमदनगर जिलों में नारङ्गी के वृक्ष अम्बे बहार में ही फलाए जाते हैं क्योंकि यहाँ सिंचाई की काफी सुविधा है। इन स्थानों पर नहर का पानी सस्ते दर में प्राप्त हो जाता है और उन्हें प्रत्येक मौसम में वृक्षों को पानी दिया भी जा सकता है। चूँकि, अम्बे बहार की क्रिया खरीफ की फसलों के घटने के पश्चात् की जाती है। अतः श्रम भी सरलतापूर्वक सस्ते रूप में मिल जाता है। बम्बई, पूना, नासिक और अहमदनगर जैसे प्रसिद्ध शहर निकट ही हैं जिससे माल की खपत में सुविधा होती है। इन नगरों में नीबू जाति के फलों की माँग भी बहुत अधिक होती है। प्रधानतः बड़े दिन के समय उन फलों की माँग बढ़ जाती है जिससे उत्पादक को अधिक लाभ की संभावना रहती है। यद्यपि इस बहार पर फलों के कीड़ों का अधिक आक्रमण होता है किन्तु अन्य लाभ के साधनों के कारण उसका कोई महत्व नहीं होता। मध्य भारत और खानदेश में मृग बहार का अधिक प्रचलन है। वहाँ नारङ्गी के वृक्ष जून-जुलाई के महीने में फलाए जाते हैं। बहार की क्रिया

गर्मों के दिनों में प्रारम्भ होती है जब कि सिंचाई कम कर दी जाती है। यदि इन क्षेत्रों में अम्बे बहार का प्रयोग किया जाता तो उद्यान की सिंचाई गर्मी के दिनों में भी करनी पड़ती जबकि इस भू-भाग के कुएँ अधिक गर्मी के कारण सूख जाते हैं। यहाँ सिंचाई के अन्य साधनों का भी अभाव है। अतः यहाँ के लिए मृग बहार ही उत्तम है। जैसा कि हमने पहले ही कहा है, इस बहार के फल मानसून के दिनों में जबकि हानिकारक कीड़े और रोगों का फसल पर अधिक आक्रमण होता है, कच्चे और खट्टे रहते हैं। इस अवस्था में इन पर इनका आक्रमण कम हो पाता है। इस बहार के फल मार्च-अप्रैल में तैयार होते हैं जबकि बाजारों में इस जाति के फलों की माँग अधिक होती है। अतः अम्बे बहार की अपेक्षा यह बहार अच्छी पड़ती है। यद्यपि इस बहार की क्रिया में मई और जून के महीने में श्रम की कुछ कठिनाई पड़ती है क्योंकि मजदूर मानसून के प्रारम्भ होने से खेत की तैयारी में लगे रहते हैं फिर भी यह विधि उत्पादक के लिए अच्छी पड़ती है। हस्ति बहार उपर्युक्त दोनों बहारों की समानता में अच्छी नहीं पड़ती। इसका प्रयोग उसी समय किया जाता है जब कि अम्बे बहार और मृग बहार असफल सिद्ध होती हैं। यदि ये बहारें किसी उद्यान में सफल हों तो हस्ति बहार की उपेक्षा करना ही उत्तम होता है।

किसी वृक्ष को बराबर एक निश्चित बहार में फल लेने से उसमें उसी मौसम में फल देने की आदत पड़ जाती है और यह उचित भी पड़ता है। यदि किसी वृक्ष से फल अम्बे बहार में प्राप्त किए जाते हैं तो उससे सदैव इसी ऋतु में फल लेने चाहिए, ऐसा न करने से उत्पादन अच्छा नहीं हो पाता। यदि किसी वृक्ष से एक वर्ष अम्बे बहार में फल लिए गए और दूसरे वर्ष मृग बहार में तो उस वृक्ष के क्रम में गड़बड़ी आ जाती है और फलस्वरूप उत्पादक को हानि उठानी पड़ती है। यदि वृक्ष में बहार का बदलना आवश्यक हो तो एक बहार का नागा करना चाहिए। यदि दिसम्बर माह में अम्बे बहार की क्रिया की गई तो अगले वर्ष के जून में मृग बहार की क्रिया नहीं की जा सकती, जब तक कि अम्बे बहार के फल की आशा न छोड़ दी जाय। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वर्ष में एक मौसम से अधिक तक नागा होना वृक्ष के लिये उपादेय नहीं होता। यदि कोई वृक्ष अम्बे बहार का आदी है और उत्पादक उसे मृग बहार में लाना चाहता है तो उस वृक्ष पर दिसम्बर के महीने में अम्बे बहार की कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए। गर्मी के दिनों में उसमें मृग बहार की क्रिया भी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार दो बहारों के बीच ६ माह की हानि होती है किन्तु बहार के परिवर्तन से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

नीबू जाति के वृक्षों की छटाँई उत्पादन के हक में अच्छी नहीं पड़ती क्योंकि यह एक दुर्बल क्रिया है। पंजाब में लालसिंह ने जड़ की छँटाई पर ३ वर्षों तक एक प्रयोग किया। इस प्रयोग में वृक्ष के तने से १ फुट की दूरी पर ३ फीट चौड़ा और ६, १२ या १५" गहरा वृत्त बनाया गया और देखा गया कि उस क्रिया से वृक्ष की उपज इस अवधि में बढ़ गई। सब से अधिक उपज उस दशा में प्राप्त की गई जब कि गहराई ६" थी और जड़ें पूरे वर्ष भर खुली रहीं। लालसिंह ने अपना मत प्रकट किया कि यह क्रिया केवल उसी समय प्रयोग की जानी चाहिए जबकि वृक्ष में वानस्पतिक विकास तीव्रगति से हो और फलन् की मात्रा कम हो। उन्होंने यह भी कहा है कि क्रिया एक वर्ष के अन्तर पर करनी चाहिए। जड़ों की छँटाई पर अन्य स्थानों पर भी प्रयोग हुए किन्तु उनमें अधिक सफलता नहीं मिली। अली ने भी नागरी नारंगी का विवरण देते हुए कहा है कि मद्रास में इस जाति की उपज बढ़ाने के लिए जड़ की छँटाई बड़े जोर-शोर से की गई और वास्तव में इस क्रिया से प्रारम्भिक वर्षों में यथेष्ट वृद्धि भी हुई। किन्तु कुछ वर्ष पश्चात् उपज कम होने लगी और अन्त में बिल्कुल कम हो गई। वृक्ष पर बीमारियों का आक्रमण बढ़ गया जिससे उत्पादक को अधिक हानि उठानी पड़ी। किन्तु बम्बई प्रदेश में यह क्रिया अधिकता से की जाती है। वहाँ यह स्वस्थ और होनहार वृक्षों में प्रति वर्ष और साधारण वृक्षों में २ या ३ वर्षों में की जाती है।

उद्यान में फलन् की वृद्धि के लिए जिन स्थानों पर जड़ की छँटाई नहीं की जाती, वहाँ रिंगिंग और गर्डलिंग की क्रिया की जाती है, किन्तु हमारे देश में इनका बहुत कम प्रचार है। लालसिंह ने एक प्रयोग में संतरा के वृक्ष पर जड़ की छँटाई का कुप्रभाव दूर करने के लिए रिंगिंग का प्रयोग किया और १० वर्ष की आयु के वृक्ष की उपज में कुछ वृद्धि भी हुई। किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से इस विधि का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। शामसिंह ने भी एक विवरण में कहा है कि एक १६ वर्षीय संतरा के वृक्ष पर रिंगिंग क्रिया सफल सिद्ध हुई जबकि उस पर जड़ की छँटाई का प्रभाव नहीं पड़ा।

साधारणतया सभी प्रयत्न करने पर वृक्षों में कुछ-न-कुछ फूल, फल बनने में असफल हो ही जाते हैं। कुछ तो सेंचन क्रिया की गड़बड़ी से व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि उनका गर्भाधान ही नहीं हो पाता और वे सूखकर गिर जाते हैं। कुछ फूल हवा के झोंकों से ही गिर जाते हैं। कभी-कभी फसल में नाइट्रोजन के अभाव से वृक्ष के फूलों पर अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि नाइट्रोजन के अभाव में फूल, फल बन नहीं पाते। कुछ जातियाँ तो ऐसी भी होती हैं जिनमें न तो कोई पराग उत्पन्न होते हैं और न बीज ही, जैसे वाशिंगटन नावल में, किन्तु इसकी कुछ किस्में ऐसी

भी होती हैं जिनमें कुछ पराग उपस्थित होते हैं और बहुत थोड़े बीज उत्पन्न होते पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में सैंचम-क्रिया अधिक अंश में असफल हो जाती है। कभी-कभी बड़े फल पैदा करने के लिए वृक्ष में फलों की संख्या कम कर दी जाती है, किन्तु हमारे देश में इस क्रिया का अधिक प्रचलन नहीं है। कुछ स्थानों पर यह उसी दशा में प्रयुक्त होती है जबकि शाखाओं पर फल इतनी अधिक मात्रा में लग जाते हैं कि शाखाओं के टूटने का भय उत्पन्न हो जाता है। बड़े फल पैदा करने के लिए कुछ स्थानों पर नीबू जाति की कुछ किस्मों में उनके योनिसूत्र (Style) निकाल लिए जाते हैं। इससे बड़े फूल पैदा होते हैं। इनमें विटामिन C अधिक मात्रा में उपस्थित होता है और इनकी मिठास भी बढ़ जाती है।

फलों की तोड़ाई—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा है, नीबू जाति के फल लगभग १० महीने में तैयार हो जाते हैं। इनके पकने का समय बहुत लम्बा होता है किन्तु साधारणतया इनकी तोड़ाई एक ही साथ कर ली जाती है। पकने पर इनका रंग बदल जाता है और इनमें कुछ नारंगी रंग का पीलापन आ जाता है। जिन स्थानों पर जाड़े के दिनों में अधिक सर्दी और गर्मी के दिनों में अधिक गर्मी पड़ती है तथा ऋतु शुष्क होती है वहाँ फलों का रंग सुनहला हो जाता है। इन फलों में एक विशेषता यह होती है कि ये पकने के पश्चात् भी वृक्ष पर अधिक दिनों तक छोड़े जा सकते हैं और इनकी हानि कम हो पाती है किन्तु जब फलों की हानि का भय रहे तो प्रौढ़ फलों को पकने के पूर्व ही तोड़ा जा सकता है! यद्यपि नीबू की मीठी जातियाँ प्रौढ़ होने के पूर्व कदापि नहीं तोड़ी जातीं और कुछ देश में तो इसके लिए नियम है कि फल में जब तक एक निश्चित मात्रा की अम्लीय मात्रा न हो, उन्हें बेचा नहीं जा सकता। फिर भी उत्पादक इन्हें बाजार के अनुसार तोड़ते रहते हैं। फल में अम्ल और ठोस पदार्थों की मात्रा संयुक्त राज्य अमेरिका में मीठे नारंगी के फल में ८ और १ के अनुपात में रखी जाती है। किन्तु अच्छे फलों में वह मात्रा ठोस भाग की १० से १२% और अम्ल की ·८७२ से १·१२५% होती है। इस प्रकार दोनों का अनुपात १० और १३ का होता है। नायक और सुगरघा ने साठ-गुदी का उदाहरण देते हुए कहा है कि नवम्बर और दिसम्बर में उस फल में ठोस की मात्रा ८·२ से ६% और अम्ल की ·४४१ से ·४८२% होती है तथा जुलाई और अगस्त की दूसरी ऋतु में अम्ल की मात्रा दूनी हो जाती है जबकि ठोस भाग में बहुत थोड़ी वृद्धि होती है।

फल के वृक्ष पर स्थिर रखने का उल्लेख करते हुए चीमा, भट्ट और नायक ने कहा है कि बम्बई प्रदेश में नारंगी के फल प्रौढ़ होने के पश्चात् लगभग ३ माह तक रखे जा सकते हैं। उनका कहना है कि पुराने बहार के फल अधिक मीठे और

अच्छे गुण वाले होते हैं, अतः नए फलों की अपेक्षा बाजारों में इनकी माँग भी अधिक रहती है। फल की प्रौढ़ता का रंग-परिवर्तन खरा पहिचान नहीं है। ठंडे स्थानों में नीबू जाति के फल बहुत दिनों तक अपना रंग स्थिर रखते हैं। उनमें पकने के पूर्व ही पकने का रंग आ जाता है किन्तु गर्म स्थानों में पकने का रंग देर में आता है और कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि फल रंग आने के पहले ही काफी मीठे हो जाते हैं और उनमें रंग कुछ समय बाद आता है।

फलों की तोड़ाई के समय कुछ बातों की सावधानी रखी जाती है। नीबू जाति के फलों वाले देश में फलों की तोड़ाई के लिए एक क्लीपर रखा जाता है, जिससे फल सरलतापूर्वक तोड़े जा सकते है और उनके क्षतिग्रस्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। फल की तोड़ाई हाथ से कदापि नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे फलों के गिर जाने का भय रहता है। तोड़ाई के पश्चात् फल एक स्थान पर सावधानी के साथ रखे जाते हैं फिर उन्हें डालियों में भर कर वांछित स्थानों पर पहुँचा दिया जाता है जहाँ से इनकी बिक्री का प्रबन्ध किया जाता है। उस दशा में जबकि फल प्रौढ़ होने के पश्चात् पकने के कुछ समय पूर्व ही तोड़ लिए जाते हैं और यदि बाजार की दशा उचित नहीं होती है तो कुछ दिनों के लिए छिछले ट्रे में रख दिए जाते हैं। इससे फलों में उपस्थित अत्यधिक नमी सूख जाती है। पैलेस टाइन नारंगियों को बक्स बन्दी के पूर्व भंडार-घर में ३ दिनों के लिए रखा जाता है ताकि ऊपर का छिलका कुछ कम क्रियाशील हो जाय और फल का अधिक पानी बाहर निकल जाय। फलों को भंडार-घर में रखने के समय यह देख लेना चाहिए कि अच्छे फलों के साथ घायल फल न रहें। इन्हें भंडार घर में रखने के लिए भली-भाँति जाँच लिया जाता है और धोकर सुखा लिया जाता है। फलों को कापर सल्फेट के १२% घोल में १-२ मिनट तक डुबा लिया जाता है। डुबाने के पश्चात् उन्हें सुखा लेना आवश्यक होता है और तब कहीं इन्हें भंडार-घर में रखा जाता है या इनकी बक्स-बन्दी की जाती है।

नागपुर क्षेत्र में उद्यानों से संतरे बाजार तक लाने के लिए बैलगाड़ियाँ प्रयोग की जाती हैं किन्तु इस विधि में गाड़ी के उछलने से फलों के घायल होने का भय रहता है। आसाम में इस कार्य के लिए नावें प्रयोग की जाती हैं और उन नावों में हल्के बाँस की टोकरियों में फल भर दिए जाते हैं। किन्तु यह दोनों ढंग फल की रक्षा के दृष्टिकोण से अच्छे नहीं होते क्योंकि नीबू जाति के ये फल जिनके छिलके बहुत मुलायम होते हैं, कड़े बाँस की टोकरियों में छिल जाते हैं। बाहर भेजने के लिए लकड़ी के हल्के बक्स प्रयोग किए जाते हैं और उनमें चुनाई के पश्चात्

टीसू पेपर (Tissue paper) से बँधे फल रख दिए जाते हैं। ऐसे बक्सों में हानि की कम संभावना होती है।

फल की तोड़ाई किसी अच्छे दिन करनी चाहिए जब कि आकाश स्वच्छ हो और कुहरा या ओस का कोई प्रभाव न हो। तोड़ाई की क्रिया प्रातःकाल ही करनी चाहिए। तोड़ाई के दिनों में पानी बरसने से अधिक हानि होती है क्योंकि इससे फल के वाह्य कोसा नमी से प्रभावित हो जाते हैं और उनका सड़ाव प्रारंभ हो जाता है। अतः इन्हें नम मौसम में कभी नहीं तोड़ना चाहिए। फल की तोड़ाई निचली शाखाओं से प्रारंभ की जाती है, तत्पश्चात् उन शाखाओं के फल तोड़े जाते हैं जिनके टूट जाने का भय होता है। अंत में मध्य की शाखा के फल तोड़े जाते हैं। फल तोड़ने का वैज्ञानिक ढंग यह है कि उन्हें वृन्त से काट लिया जाय, तोड़ा न जाय। तोड़ने से फल के क्षतिग्रस्त होने की आशंका होती है।

उपज—नीबू जाति के फल जाति उपज में और स्थान के अनुसार बदलते रहते हैं। किन्तु यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में नारंगियों की औसत उपज का विश्व के अधिक उपज वाले स्थलों में चतुर्थ स्थान है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसकी उपज १३२ मन प्रति एकड़ होती है जबकि भारत में ६८ मन प्रति एकड़। मद्रास के क्षेत्र में मीठी नारंगी की उपज लगभग १०० मन प्रति एकड़ होती है और यहाँ १ एकड़ से १,००० रुपए वार्षिक आय प्राप्त की जाती है। इससे यह ज्ञात होता है कि नीबू जाति के फल आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। बम्बई प्रदेश में नारंगी की उपज १४० मन और हैदराबाद में १८० मन होती है। पंजाब और उत्तर प्रदेश में मद्रास के ही समान उपज है। मध्य प्रदेश में मन्दारिन के फल की उपज ८५ से २५० मन पाई जाती है। पोमैलो ८३ से ४००, मीठा नीबू १०० से १५२ और कागदी नीबू ७६ से ३०० मन उपज देते हैं। कैलीफोर्निया में १६३६ में एक रिपोर्ट के अनुसार यह ज्ञात होता है कि वहाँ सबसे अधिक लाभ देने वाले उद्यान की उपज प्रति एकड़ २६० बक्स थी जब कि प्रत्येक बक्स में २·१ पौन्ड फल आते थे।

चुनाई—नायक और सुगरघा के अनुसार कोदूर के उत्पादकों की कोआपरेटिव-सोटायटी लिमिटेड ने चुनाई करने की हाथ की मशीन का प्रचलन कर लिया है जो बहुत सस्ती और साधारण होती है। १६३७ ई० में आगमार्क स्कीम के अनुसार पहला चुनाई केन्द्र स्थापित हुआ और फिर बाद में अनेक केन्द्र खुल गए। इस चुनाई की मशीन में स्टैन्ड पर पटरी लगी होती है। उसमें कई आकार के अनेक छिद्र बने होते हैं। पटरी स्टैन्ड पर कुछ झुका कर लगाई गई होती है ताकि छिद्रों में फल के जाने की सुविधा हो। इन छिद्रों से फल नीचे गिरते हैं और फिर

एक ओर को ढुलक जाते हैं। सब से छोटा छेद पटरी के ऊपर की ओर और बड़ा नीचे की ओर किया रहता है ताकि मशीन में जब फल छोड़े जायँ तो उनकी चुनाई उचित ढंग से हो सके। यदि छिद्रों का क्रम विलोम रखा जाता तो बड़े फलों के साथ-साथ छोटे फल भी उन्हीं छिद्रों से गिर जाते और चुनाई संतोषप्रद नहीं हो पाती। छिद्रों से गिरने पर फल गनी के झोलों में आते हैं जो छिद्र के नीचे लटकाए गए रहते हैं। पटरी से झोले में गिरने का ऐसा प्रबन्ध होता है कि वे सीधे नहीं गिरने पाते बल्कि ढुलक कर गिरते हैं जिससे उनके क्षति की संभावना नहीं रहती है। संतरा और मोसम्बी की चुनाई फलों के आकार और पकने की दशा तथा बाह्य रूप के अनुसार निश्चित कर दी गई है किन्तु संतरे की चुनाई हाथ से अच्छी होती है। अभी हाल ही में मद्रास कृषि विभाग ने एक बहुत अच्छी क्रियाशील चुनाई की मशीन का प्रचलन किया है जो अब बहुत प्रसिद्ध हो रही है। फलों की चुनाई में उनके आकार-प्रकार पर ही ध्यान नहीं दिया जाता अपितु उनके रंग, प्रौढ़ता की स्थिति तथा फल की दशा भी विचारी जाती है। ऐसा करने से बाजारों में लाभ की अधिक आशा होती है।

फलों का संचय--नीबू जाति के फलों की आवश्यकता और बाजार की माँग के अनुसार कुछ समय तक संचित रखने के लिए उन्हें भंडार-घरों में रखा जाता है। साधारण ताप-क्रम पर इन फलों को कुछ ही समय रखा जा सकता है किन्तु शीतभंडारों में कई महीनों तक सुरक्षित रखा जा सकता है। नारंगी और मन्दारिन के फलों पर हमारे देश में कई प्रयोग किए गए जिनसे यह ज्ञात किया गया कि इन्हें ऊँचे तापक्रम पर रखा जा सकता है। किन्तु लालसिंह और हमीद ने नीबू जाति के फलों के लिए तापक्रम ३२ से ५०° फारेनहाइट स्वीकार किया है। नागपुर में संतरे के फल पर फ्रूट इक्सपेरिमेन्टल स्टेशन खिरकी, गनेशखिण्ड में एक प्रयोग किया गया और यह परिणाम निकाला गया कि ये फल ४०° फा० के निम्न पता क्रम पर ३ महीने तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं किन्तु यह तापक्रम सभी देशों और स्थानों के लिए उचित नहीं है। कैलिफोर्निया में नारंगी के लिए ३८ से ४०° फा० स्वीकार किया जाता है। निम्न तापक्रम पर यह ऐसा देखा जाता है कि फलों का रंग बहुत मंद गति से बदलता है। माल्टा ४° फा० पर ४° महीने, मोसम्बी ५२° पर ४ महीने और ४०° पर ५ महीने रखी जा सकती है। मोसम्बी अन्य नारंगियों की भाँति अधिक दिनों तक नहीं रहती। आजकल शीत भंडारों के अतिरिक्त गैस भंडार का प्रचलन भी हो चला है। इस भंडार में गैसों का ही प्रयोग होता और उन्हीं की सहायता से फल सुरक्षित रखे जाते हैं।

फलों की पैकिंग या बक्सा बंदी—जैसा कि ऊपर कहा गया है, नीबू जाति के फल तोड़ कर हल्के बक्सों में टीसू कागजों में लपेट कर बन्द किए जाते हैं। किन्तु बम्बई प्रदेश में ऐसे बक्सों का प्रचलन नहीं है। वहाँ बाँस की हल्की टोकरियाँ बनाई जाती हैं और संतरा तथा मुसम्बी के फल इन्हीं टोकरियों में भर कर बाजारों में भेजे जाते हैं। ये टोकरियाँ इस प्रकार की होती हैं कि इनके ऊपर की ओर का भाग खुला रहता है। जब ये फल से भर दी जाती हैं तो बाँस के ढक्कन से इन्हें बन्द कर दिया जाता है। कभी-कभी इन्हें मुदृढ़ बनाने के लिए रस्सियों से बाँध भी देते हैं। तत्पश्चात् इनमें पहचान (लेबुल) लगा दिया जाता है जिस पर पता, फल की जाति और नाम आदि लिखा होता है। कभी-कभी लेबुल पर टोकरी के फलों की संख्या की तौल भी लिखी जाती है। एक बक्स में साधारणतः ३६ फल आते हैं जब फलों का बक्स तैयार हो जाता है तो उन्हें मोटर, लारियों या रेलगाड़ियों से दूर की बाजारों में भेजते हैं। यद्यपि बाँस की टोकरियाँ काठ के बक्सों की अपेक्षा सस्ती होती हैं और शीघ्र तैयार भी कर ली जाती हैं किन्तु दूर की बाजारों में भेजने पर काठ के बक्सों की अपेक्षा इनमें क्षति की अधिक आशंका रहती है। विदेशों में ये ही बक्से प्रयोग किए जाते हैं। हमारे देश में भी कुछ मात्रा में इनका प्रयोग होने लगा है।

फलों की बिक्री—हमारे देश में नीबू जाति के फलों की बिक्री के लिए अब तक किसी आर्थिक दृष्टि कोण की विधि नहीं निकाली गई है। विदेशों में इस क्षेत्र में काफी प्रगति है। कैलीफोर्निया और फ्लोरिडा में सहकारिता के सिद्धान्त पर उत्पादकों के संघ स्थापित किए गए हैं और वहाँ इसी सिद्धांत पर फलों की अदला-बदली की जाती है। ये संघ नीबू जाति के फल तथा फलों से बनी उपयोगी वस्तुएँ बेचते हैं और फिर प्रत्येक उत्पादक को लाभांश का भाग देते हैं। इन संघों से उत्पादक हानि नहीं पाता। हमारे देश में अभी तक इस परिपाटी का प्रचलन नहीं है। यहाँ नीबू जाति के फल उद्यान में खड़ी अवस्था में ही बेच दिये जाते हैं। उद्यानों की खरीद करने वाले मध्यस्थ जिन्हें ठेकेदार या कुँजड़ा कहते हैं, होते हैं जो न तो उत्पादक ही होते हैं। और न विक्रेता ही; ये उत्पादक से फल खरीद कर कमीशन एजेन्टों को बेंच देते हैं। कमीशन एजेन्ट दूकानदारों को माल देते हैं और तब कहीं उपभोक्ता फल प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार लाभ के साझीदार कई एक हो जाते हैं और उत्पादक उसका कुछ अंश ही प्राप्त कर पाता है। इधर उपभोक्ता को भी अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। कभी-कभी उत्पादक अपना उद्यान फल लगते समय ही बेंच देता है और उद्यान की देखभाल पारस्परिक समझौते के अनुसार या तो उत्पादक करता है या ठेकेदार। देहातों में ऐसा भी देखा जाता है कि ठेकेदार लगातार २-३ वर्ष तक के

लिए उद्यान खरीद लेते हैं; और उत्पादक एक निश्चित अवधि के लिए बँधी-बँधाई रकम भर पा जाता है। यद्यपि इस प्रणाली से उत्पादक जो कुछ धन पाता है वह ठोस होता है, उसमें प्राकृतिक व्यवधानों की संभावना नहीं होती किन्तु लाभ के दृष्टि कोण से यह उचित नहीं पड़ता क्योंकि उसे लाभ का बहुत कम भाग ही मिल पाता है। इस प्रणाली की समाप्ति के लिए यदि उत्पादक अपना माल स्वयं उपभोक्ता को बेंचे तो लाभ की अधिक आशा होती है। कभी-कभी कमीशन एजेन्ट ही ठेकेदार बन जाते हैं और उद्यान का ठेका ले लेते हैं। ये फल तैयार होने पर अपने कमीशन के भंडारों में फल सुरक्षित रख देते हैं। इन्हीं भंडारों से माल दूकानदारों, रिटेलरों (retailers) या उपभोक्ता को बेंचे जाते हैं। कमीशन एजेन्ट अपना माल आपस के भाव-ताव पर बेचता है या नीलाम बोल देता है। नीलाम प्रायः उस समय किया जाता है जब कि फल सड़ने लगता है नीलाम बोलने वाले बोली बोलते हैं और अधिक बोली बोलने वाला माल का खरीदार हो जाता है जब माल रिटेलर के हाथ में आता है तो वह दूकानदारों या खोंचे वालों को बेचता है। कभी-कभी कमीशन एजेन्ट बहुत खोंचे वालों से सम्पर्क रखते हैं, और उन्हें ही अपना माल विक्रय के हेतु देते हैं। वे प्रत्येक दिन गोदाम से माल लेते हैं और दिन भर बेंचने के पश्चात् शाम को उसे फल का मूल्य चुकता कर देते हैं। किन्तु ये ढङ्ग ऐसे हैं जिनसे उत्पादक कोसों दूर छूट जाता है। उसका उपभोक्ता से कोई सम्बन्ध नहीं रहता जो आर्थिक दृष्टिकोण से उचित नहीं है। कमीशन एजेन्ट, रिटेलर, दूकानदार, खोंचे वाले आदि मनमाने ढङ्ग से फल बेचते हैं और अधिक-से-अधिक लाभ कमाने की चेष्टा करते हैं। यदि हमारे देश में क्रय-विक्रय की सहकारी समितियाँ स्थापित हो जायँ जो उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मध्यस्थ लोगों का निराकरण कर दें तो उत्पादक उद्यान से अधिक लाभ अर्जित कर सकता है।

फल के रोग और कीड़े—नीबू जाति के फल प्रति वर्ष अनेक रोगों और हानिकारक कीड़ों से बहुत अधिक क्षतिग्रस्त होते हैं। डब्लू० वी० हेज ने तो यहाँ तक कहा है कि नीबू जाति के फलों को कीड़े उतना ही चाहते हैं जितना मनुष्य मात्र, किन्तु मनुष्य फल अधिक चाहता है और ये पुष्प दल। रोगों में मुख्य गुमोसिस रूट-राट, डाई बैंक, कैंकर, फल का कटना आदि हैं। माटिल लीक एक अन्य रोग है जो नीबू जाति के वृक्षों पर देखा जाता है। हानिकारक कीड़ों में स्टेम बोरर, तना छेदक, डस्केल इन्सेक्ट, माथ खट्टे नीबू के कीड़े और आकिस हैं।

गुमोसित—यह एक ऐसा रोग है जो प्रति वर्ष नीबू जाति के फलों को काफी हानि पहुँचाता है। भारत में ही नहीं अपितु विश्व के प्रत्येक नीबू जाति के फल पैदा करने वाले स्थान पर इसका आक्रमण होता है। यह रोग एक

प्रकार के फफूँदी द्वारा होता है जो फाइटोप्थोरा पल्मीवोरा (Phytopthara palmivora) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। फाइटोप्थोरा, जीनस के फफूँदी भूरेसड़ाय गुमोसिस के नाम से भी पुकारे जाते हैं। भारत में इसी किस्म के फफूँदी आक्रमण करते हैं। किन्तु फफूँदी के कारण यह रोग कुछ ही स्थानों पर देखा जाता है। ये फफूँदी भूमि में पाए जाते हैं और उचित तापक्रम और नमी की दशा में स्पोर पैदा करते हैं। स्पोर से कुछ दिनों पश्चात् स्पर्म बनते हैं और फिर धागे के आकार के हाइफी निकल आते हैं। ये धागे जैसे अंग पौधे में घुस जाते हैं और अपनी वृद्धि प्रारम्भ कर देते हैं। ये उन तनों में सरलतापूर्वक छेद कर लेते हैं जिनके छिलके बहुत मुलायम होते हैं, किन्तु जम्बूरी के तने में ये घुस नहीं पाते क्योंकि ये बहुत कठोर होते हैं। जब फफूँदी का प्रवेश वृक्ष की शाखा में हो जाता है तो छिलका मर जाता है और एक जलमय पदार्थ इसके नीचे निर्मित हो जाता है। जब ऐसे पदार्थ की मात्रा अधिक संचित हो जाती है तो दबाव बढ़ जाता है जिससे छिलका फट जाता है और गोंद (जलमय पदार्थ) दरारों से बाहर निकल आता है। यदि आक्रमण हुए इस स्थान का छिलका चाकू से खुरचा जाय तो भीतर का रंग भूरे रङ्ग का दिखलाई पड़ता है, यदि उस समय रोग के रोक थाम की कोई चेष्टा नहीं की जाती तो रोग बढ़ता जाता है और रोग के बढ़ जाने पर वृक्ष की रक्षा करना कठिन हो जाता है। अतः ज्योंही रोग के लक्षण दिखाई दें उसी समय रोग की दवा शुरू कर देनी चाहिए। यदि रोग की वृद्धि में कोई रोक नहीं होता तो यह बढ़ता जाती है और छिलका रोग के कारण सूखकर गिर जाता है जिससे तने की लकड़ी दिखाई पड़ने लगती है। कुछ दिनों पश्चात् लकड़ी में भी सड़ाव प्रारंभ हो जाता है जिससे सारा वृक्ष व्यर्थ हो जाता है। रोग की वृद्धि कलियों के सम्पर्क से (Bud union) से होता है। रोग का आक्रमण प्रायः उस समय ही होता है जबकि छिलका गीला होता है और तापक्रम उचित होता है। बम्बई प्रदेश में इसकी वृद्धि का तापक्रम ८० से ८५° फा० माना गया है।

इस रोग की रोकथाम के लिए कई उपाय प्रयोग किए जाते हैं। सर्व प्रथम उद्यान में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे पौधे लगाए जायँ जो जम्बूरी के तने या अन्य किसी ऐसी किस्म के तने से कलम किए गए हैं और जो रोग का सरलतापूर्वक आक्रमण सहन कर सकें। पौधे के लगाने में इस बात की काफी सावधानी रखनी चाहिए कि कलम का जोड़ रूट स्टाक के कोलार के डेढ़ फीट ऊपर हो। दूसरे, पौधे की सिंचाई करते समय इस बात से काफी सतर्क रहना चाहिए कि तना पानी से न भीगने पावे। पौधे को रोपते समय इतनी गहराई में नहीं गाड़ना चाहिए कि कलम का जोड़ मिट्टी के काफी निकट हो और सिंचाई का पानी जोड़ तक पहुँच

जाय, ऐसा होने से फँफूदी भूमि से जोड़ तक सरलतापूर्वक पहुँच जाते हैं और तने में प्रवेश कर जाते हैं। तीसरे, उद्यान की सिंचाई कभी भी इस प्रकार नहीं करनी चाहिए कि वह पानी से लबालब भर जाय। ऐसा होने से भारी मिट्टी जलपूर्ण हो जाती है और भूमि का तापक्रम गिर जाता है जिससे फँफूदी के आक्रमण की संभावना हो जाती है। इस रोग से तने को बचाने के लिए कुछ रासायनिक दवाइयाँ भी प्रयोग की जाती हैं। पहले तो तने के जिस स्थान पर रोग का प्रभाव रहता है वहाँ के छिलके का ऊपरी अंश तेज चाकू से काट कर निकाल दिया जाता है। यह कटाव लकड़ी को छूते हुए करना चाहिए ताकि रोग से प्रभावित पूरा भाग बाहर निकल आवे। यदि आवश्यकता हो तो लकड़ी का भी कुछ अंश काट लिया जाता है। किन्तु लकड़ी के काटने में यह बात ध्यान में रखी जाती है कि लकड़ी क्षतिग्रस्त न होने पावे। कटाव क्षतिग्रस्त भाग से ½" नीचे तक होना चाहिए। जब यह क्रिया समाप्त हो जाय तो इसे २५ से ३०% शक्ति वाला कीरोशोट तेल प्रयोग किया जाता है। यह तेल एक ब्रश की सहायता से कटे हुए क्षेत्र के चारों ओर लगा दिया जाता है ताकि वहाँ पर उपस्थित फँफूदी मर जायँ। जब लकड़ी का ऊपरी भाग सूख जाय तो उसको सड़ाव से बचाने के लिए कोलतार का लेपकर दिया जाता है। कीरोशोट एक ऐसा तेल है जिसमें फँफूदी के मारने की शक्ति होती है। साधारण तौर पर एक गैलन तेल से पाँच सौ (५००) रोगी वृक्ष बचाए जा सकते हैं। इस तेल से तने के तंतु क्षतिग्रस्त नहीं होते। कभी-कभी उसकी रक्षा के लिए कार्बोनिक एसिड का भी प्रयोग किया जाता है किन्तु इससे पौधे के तन्तु जल जाते हैं।

यदि पौधे के तने को पानी से भीगने की अधिक संभावना होती है तो इसमें १८ भाग जिंक सल्फेट, १ भाग कापरसल्फेट और ६ भाग हाइड्रेटेड लाइम का मिश्रण लेपकर दिया जाता है। उसके स्थान या बोडा लेई या कापरसल्फेट का चूर्ण और चूने का मिश्रण भी प्रयोग किया जाता है।

जड़ों का सड़ाव—गुमोसिस के अतिरिक्त नीबू जाति के वृक्षों के लिए जड़ों का सड़ाव अधिक भंयकर रोग है। इसका प्रभाव जड़ों पर भी पड़ता है। अतः इन्हें रूट-राट (Root Rot) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसके प्रभाव से जड़ें सड़ने लगती हैं। जड़ों पर या वृक्ष पर पीले रंग के धब्बे पड़ जाते हैं और वृक्ष मुरझाने लगता है। ऐसे वृक्ष पानी की कमी से नहीं मुरझाते अपितु यह जड़ के सड़ाव का ही प्रभाव होता है। सड़ी हुई जड़ें बहुत बुरी गन्ध देती हैं और उनका रंग काला हो जाता है। इन्हें दूर करने के लिए प्रभावित वृक्ष को उखाड़ कर उसी स्थान पर जला देना चाहिए। इसे दूर करने का एक ढंग यह भी है कि वृक्ष के चारों ओर प्रभावित जड़ को लिए हुए एक खाईं तैयार की जाती है और खाईं की

मिट्टी प्रभावित जड़ पर जमा कर दी जाती है। यह स्थान ब्रश वुड या अन्य पदार्थ जला कर इस योग्य बना दिया जाता है कि रोग का प्रभाव दूर हो जाय। मुसम्बी और संतरे के पौधे किशोरावस्था में इस रोग से अधिक प्रभावित हो जाते हैं। दक्षिण भारत में नारंगी के पौधे भी इनसे अधिक मात्रा में आक्रांत होते हैं।

माटिल लीफ—जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, माटिल लीफ रोग पौधों में कुछ विशेष तत्वों के अभाव में हो जाता है। इस रोग के लक्षण प्रभावित नीबू जाति के वृक्ष की पत्तियों पर देखा जा सकता है। पत्तियों के धरातल पर बिना क्रम के टेढ़े-मेढ़े धब्बे बन जाते हैं और धीरे-धीरे बढ़ने लगते हैं। इन धब्बों का रंग पहले तो हल्का होता है किन्तु बाद में धीरे-धीरे गहरा होने लगता है। प्रभावित पत्तियों की नसें हरे रंग की होती हैं किन्तु रोग से प्रभावित अंश पीले रंग की हो जाती हैं। जब इस रोग का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है तो उपज में भारी कमी आ जाती है और वृक्ष भी बौना हो जाता है।

माटिल लीफ रोग उत्पन्न होने का मुख्य कारण है—जिन्क और लोहे के यौगिकों का अभाव। ये यौगिक जब भूमि में अनुपस्थित होते हैं या इनकी मात्रा बहुत कम होती है तो पौधे में हरियाली की कमी हो जाती है क्योंकि पत्तियाँ तब तक हरियाली नहीं निर्मित कर सकतीं जब कि उन्हें जस्ते और लोहे की उचित मात्रा उपलब्ध हो। अतः इस रोग का निवारण जिन्क सल्फेट या फेरस सल्फेट के प्रयोग से किया जा सकता है। प्रयोग किया जाने वाला जिन्क सल्फेट अत्यधिक शुद्ध लिया जाता है क्योंकि अधिकांश जिन्क सल्फेट फेरस सल्फेट की अशुद्धि रखते हैं। अतः इसका ६८% शुद्ध होना आवश्यक होता है। जिन्क सल्फेट जलमय चूना या हाइड्रेटेड लाइम, आक्टीन और पानी का मिश्रण क्रमशः १० पौंड, ५ पौंड, ½ पौंड और १०० गैलन में अच्छा सिद्ध होता है। यह मिश्रण प्रभावित वृक्ष पर छिड़काव द्वारा प्रयोग किया जाता है। उसे प्रयोग करने के पूर्व भली भाँति हिला लिया जाता है ताकि इसके मिश्रण आपस में काफी घुलमिल जायँ। जिन्क सल्फेट के अतिरिक्त फेरस सल्फेट के छिड़काव से भी रोग का निवारण किया जा सकता है किन्तु इसका घोल .०००१% होना चाहिए। इसका प्रभाव बड़ौदा के मुसम्बी और नावल नारंगी के माटिल लीफ के रोग पर बहुत अच्छा सिद्ध हुआ है, किन्तु छिड़काव के कई महीनों पश्चात् इसका प्रभाव पड़ा। यह घोल जिन्क सल्फेट की अपेक्षा कम व्यय-शील है किन्तु छिड़काव साफ मौसम में करना अच्छा होता है। मद्रास प्रदेश में जिन्क सल्फेट का एक दूसरा ही मिश्रण तैयार किया गया और यह देखा गया कि उसका प्रभाव रोग पर कुछ ही दिनों में पड़ा और उस ऋतु के लिए रोग का प्रभाव समाप्त हो गया। इस मिश्रण में जिन्क सल्फेट १० पौंड, हाइड्रेटेड लाइम ५ पौंड

तथा लाइम केल्सीन या मलाई उतारा हुआ दूध १०० गैलन पानी में बनाया गया। इस प्रयोग से यह भी परिणाम निकाला गया कि यह मिश्रण वृक्ष पर रोग की अनुपस्थित में भी प्रयोग किया जा सकता है और इसका प्रभाव फल निकलने के समय अच्छा पड़ता है।

कैन्कर—हमारे देश में यह रोग अधिक भयंकर सिद्ध हुआ है और अब भी इसका प्रसार होता ही जा रहा है। डब्लू० बी० हेज के शब्दों में इसका प्रारम्भ १८३१ के पूर्व उस समय हुआ जबकि हारबेरियम के कुछ पौधे देहरादून से क्यू भेजे गए। उन्होंने इसका मूल स्थान बताते हुए कहा है कि सम्भवतः इसका प्रारम्भ एशिया के ही किसी भाग में हुआ किन्तु इस समय तो यह विश्व के नीबू जाति के फल पैदा करने वाले कई देशों में फैला है। इस रोग का प्रभाव वृक्ष की पत्तियों, तनों और फलों पर पड़ता है। प्रारम्भ में एक छोटा पीला धब्बा बनता है और फिर ३ या ४ मि० मी० व्यास का होता है। यह धब्बा भूरे रंग का खुरदरा और कुछ उठा हुआ होता है। इसका आकार टेढ़ा-मेढ़ा होता है और सभी किस्मों पर एक आकार का नहीं होता।

इस रोग को पैदा करने वाला एक बैक्टीरिया है जिसे पहले सीडोमोनससिट्री कहा जाता था किन्तु अब इसका नाम बदल कर फाइटोमोनस सिट्री हो गया है। इसका प्रभाव कागदी नीबू के वृक्षों पर अत्यधिक रूप से पड़ता है। कारण यह है कि यह नीबू विश्व के अधिक क्षेत्र में उगाया जाता है। ग्रेपफ्रूट पर भी इस का प्रभाव देखा जाता है। इस रोग से इसके फल का रूप ही नहीं प्रभावित होता किन्तु कभी-कभी स्वाद भी खराब हो जाता है। पत्तियाँ और तने अपेक्षा-कृत कम प्रभावित होते हैं। पोमैलो और संतरा बहुत कम प्रभावित होते हैं। मीठी नारंगी पर साधारणतया इस रोग का कम प्रभाव पड़ता है। कैन्कर रोग का निवारण सरल नहीं है क्योंकि यह बहुत तेजी से बढ़ता है। कुछ मात्रा में प्रभावित पत्तियों, फलों, टहनियों आदि को वृक्ष से अलग कर रोग को रोक-थाम की जा सकती है। यह क्रिया उसी समय प्रारम्भ कर देनी चाहिए जब कि रोग का प्रारम्भ ही हुआ हो। तोड़ी हुई पत्तियाँ और टहनियाँ जला देनी चाहिए और वृक्ष पर बोर्डो मिश्रण का (५ : ५ : ५०) छिड़काव कर देना चाहिए। इससे इसका प्रभाव रुक जाता है। पंजाब में एक प्रयोग में प्रभावित फल बोर्डो मिश्रण के (४ : ४ : ५०) के अनुपात के छिड़काव से २५% से ६०% तक बचाए गए। इलाहाबाद में ग्रेपफ्रूट पर इस रोग का प्रभाव कम पड़ता है। विशेष कर उस समय सावधानी रखी जाती है जबकि प्रभावित वृक्ष की छँटाई होती है या उसकी पत्तियाँ प्राकृतिक रूप से गिरती हैं। इन पत्तियों को एकत्रित कर जला देना चाहिए।

डाई बैक—नीबू जाति के फलों में डाई बैक का रोग संतरा ग्रेपफ्रूट और मोसम्बी में बहुत अधिक आक्रमण करता है। हमारे देश में इसका प्रभाव पौधों की किशोरावस्था में अधिक पड़ता है। उसके लक्षण ये हैं कि पौधों की पत्तियाँ या तने पीले हो जाते हैं और सूख जाते हैं। धीरे-धीरे इस रोग का प्रभाव वृक्ष के सम्पूर्ण अंग पर पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप वृक्ष की मृत्यु हो जाती है। यदि वृक्ष कुछ अधिक वर्ष तक जीता भी है तो उसमें फल बहुत कम लगते हैं। कभी-कभी वृक्ष से गोंद भी निकलता पाया गया है। इसके लक्षण विभिन्न दशाओं में भिन्न-भिन्न पाए जाते हैं। इस रोग का आक्रमण पहली या दूसरी फलाई के बाद होता है और सम्पूर्ण वृक्ष एक विभिन्न धब्बे से भर जाता है। इस रोग का कारण अभी तक नहीं ज्ञात हो पाया है। बम्बई प्रदेश के कृषि विभाग ने १९१२ में इसके कुप्रभाव की पहिचान की। १९२१ में कुछ रोक-थाम के उपाय भी निकाले गए। १९२४-२५ में कई प्रयोग किए गए जिनसे रोक-थाम की कुछ अन्य विधियाँ निकाली गईं। इसका कारण बताते हुए यह कहा गया कि भूमि और जलवायु की दशा से इस रोग का गहरा सम्बन्ध है। यह किसी कीड़े या नीबू द्वारा नहीं उत्पन्न होता, अपितु उसका कारण पौधे के शरीर की कुछ गड़बड़ी है। बम्बई प्रदेश के कृषि विभाग ने डाई बैक के उत्पन्न होने की कुछ स्थितियों पर कहा है कि यह केवल ५ प्रकार की भूमि में उत्पन्न हो सकता है। १. भूमि जिसमें चूना अधिक हो २. भूमि जिसमें वायु का अभाव है, ३. भूमि जिसका अधः-तल कड़ा हो ४. भूमि जो जल मय हो और ५. भूमि जिसमें पौधों के आहार का अभाव हो। साउथ अफ्रीका में नीबू जाति के डाई बैक रोग के अन्वेषणों पर प्रकाश डालते हुए बेट ने कहा है कि यह रोग उस समय पैदा होता जब कि नम और बदली का मौसम कुछ दिनों के अन्तर पर होता रहता है और साथ में जोरों की वर्षा भी होती है अथवा उद्यान में सनई की फसल के घने बोने से भी इस रोग का प्रभाव पड़ जाता है जब कि सनई के पौधे वृक्ष से ६ फीट के अर्ध व्यास पर होते हैं या नीबू जाति के पौधों से सनई के पौधे लम्बे होते हैं। कभी-कभी यह रोग उस समय भी उत्पन्न हो जाता है जब कि कलम के जोड़ या सिरे पर अनेक टहनियाँ निकल आती हैं।

डाई बैक रोग का निवारण उसके कारणों पर ध्यान देने से किया जा सकता है। बड़ौदा में गनेशखिण्ड फ्रूट एक्सपेरिमेन्टल स्टेशन किरकी में ११० पाँच वर्षीय पौधों पर एक प्रयोग किया गया जिससे ज्ञात किया गया कि पौधों में खाद और खाई खोदने का प्रभाव रोग की रोक-थाम पर अच्छा पड़ता है। अमोनियम सल्फेट का ३ वर्ष के अन्तर पर प्रयोग करने से वृक्ष का विकास बढ़ गया और रोग की

वृद्धि भी रुक गई। उद्यान में जो खाइयाँ खोदी गई थीं वे ३ फीट गहरी और २ फीट चौड़ी थी। ये २० फीट की दूरी की पँक्तियों के मध्य खोदी गई थीं। उनका भी प्रभाव रोग की रोक-थाम में अच्छा पड़ा। कुछ स्थानों पर गुमोसिस की भाँति कलम में जम्बूरी के रूट स्टाक के प्रयोग से भी सफलता प्राप्त की गई है। प्रयोगों से यह भी ज्ञात किया गया है कि चूने वाली भूमि में पत्तियों की अच्छी सड़ी खाद रोग पर अच्छा रोक लगाती है। मोसम्बी के वृक्ष पर इस प्रयोग का अधिक प्रभाव देखा गया है। जिन स्थानों पर भूमि सूखी रहती है वहाँ भूमि की समय पर जुताई-गुड़ाई कर देने से अच्छा परिणाम प्राप्त किया गया है। जलयुक्त भूमि वाले उद्यान में जल निकाल का उचित प्रबन्ध कर देने से रोग का प्रभाव कम हो जाता है। अहमदनगर जिले की काली मिट्टी में सहराबडु ने नारंगी के वृक्ष पर डाई बैक रोग की रोक-थाम पर एक प्रयोग किया उसने भूमि में वायु का आवागमन बढ़ाने के लिए खाइयाँ खुदवाई। उसने ये खाइयाँ वृक्षों की पत्तियों के बीच में रखीं और उनमें खाद तथा पानी दिया गया। खाद की खुराक इस प्रकार थी। निशिकास १½ पौंड, अमोनियम सल्फेट १½ पौंड और गोबर की खाद २ टोकरी। ये खाइयाँ खाद देने के पश्चात् बन्द कर दी गई और वृक्षों की सिंचाई कर दी गई। अन्त में देखा गया कि वृक्ष से अधिक उपज प्राप्त हुई।

वीदर ब्लिप—यह रोग डाईबैक से अधिक समानता रखता है क्योंकि इसके लक्षण डाई बैक रोग से काफी मिलते-जुलते हैं, किन्तु एक लक्षण से इसे सरलतापूर्वक पहिचाना जा सकता है। इससे प्रभावित मरी टहनियों पर छोटे-छोटे बिन्दु उपस्थित होते हैं जो स्वस्थ भाग से सरलतापूर्वक पहिचाने जा सकते हैं। यह रोग कोलेटोट्राइकम ग्लियोस्पोरायड के कारण होता है जो सब जगह पाए जाते हैं। हमारे देश में इसका बहुत प्रचार है, किन्तु इसका प्रभाव अधिक भयंकर नहीं होता। कुछ स्थानों पर इसका प्रभाव वृक्ष की दुर्बलता पर पड़ता है। उत्तर प्रदेश में डे के अनुसार यह रोग ग्लिवोस्पोरियम लाइमोटिकोलम द्वारा होता है। पंजाब में इस रोग का अधिक प्रभाव पाया जाता है। विशेषकर यह तराई के भागों में अधिक आक्रमण करता है। इस रोग को दूर करने के लिए बोडा मिश्रण अधिक सफल सिद्ध हुआ है। चौधरी ने इस मिश्रण का ५:५% का अनुपात स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसका प्रयोग प्रभावित टहनियों को जलाने और वृक्ष की छटाई करने का समय फरवरी-मार्च और सितम्बर है। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि जब इस रोग का प्रभाव बीयड में उगे पौधों पर पड़े तो शीघ्र ही रोक-थाम प्रारम्भ कर देनी चाहिए, अन्यथा उसका प्रभाव तनों पर पड़ जाता है।

पिंक रोग—यह रोग आसाम, मध्य प्रदेश, और दक्षिण भारत में अधिक आक्रमण करता है। इसका प्रभाव ग्रीष्म कटिबन्धीय वृक्षों पर पड़ता है। यह एक प्रकार के फफूँदी बोरटिसियम सल्मोनिकोलर के कारण होता है। इसको दूर करने के लिए बोर्डापेस्ट (लेई) या फ्रेसोट अच्छा सिद्ध होता है।

पत्तियों और फलों का गिरना—कुछ स्थानों पर ऐसा देखा जाता है कि पत्तियाँ और फल जलमय हो जाते हैं और फिर वे भाग सड़ना प्रारम्भ करते हैं। ऐसा कच्चे फलों में भी देखा जाता है। धीरे-धीरे यह प्रभाव कई स्थानों पर हो जाता है। इसे रोकने के लिए बोर्डा मिश्रण कर छिड़काव मानसून के पहले और समाप्त होने पर कर देने से उसका प्रभाव जाता रहता है।

तम्बेरा—कभी-कभी कागदी नीबू, खट्टे नीबू मोसम्बी और संतरा के फल फटे हुए देख जाते हैं। यह कटाव पौधों की शारीरिक गड़बड़ी से हो जाता है जिसका कारण है बिना क्रम के पौधों की सिंचाई और खाद देना। यदि पौधो में ये क्रियाएँ क्रम से की जायँ तो यह प्रभाव दूर जा किया सकता है।

मोसम्बी के फलों में जिनमें अधिक सिंचाई कर दी जाती है, वहाँ फलों पर एक गहरे भूरे रंग की परत जम जाती है। ऐसा उन स्थानों पर भी देखा जाता है जहाँ कि जलवायु वर्ष भर नम बनी रहती है। इस भूरी परत का फल के छिलके पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु फल का रूप बिल्कुल कुरूप हो जाता है जिससे बाजार में उत्पादक लाभ कम प्राप्त कर पाता है। इस रोग का कारण बताते हुए चोमा और भट्ट ने कहा है कि यह एक बहुत छोटा कीड़ा है। इस रोग का निवारण लाइम सल्फर के छिड़काव से किया जा सकता है।

कीड़े—नीबू जाति के फल रोगों की भाँति अनेक प्रकार के हानिकारक कीड़ों से भी अधिक क्षतिग्रस्त होते हुए पाए जाते हैं। इन कीड़ों में अनेक प्रकार की किस्में हैं। किन्तु जहाँ तक भारत का प्रश्न है अन्य देशों की अपेक्षा कम कीड़े पाए जाते हैं जो नीबू जाति के फलों को क्षति पहुँचाते हैं। इनकी संख्या सीमित है। ये अधिकांशतः बीयड़ के कोमल पौधों पर आक्रमण करते हैं और उनकी कोमल पत्तियों पर निर्वाह करते हैं। उद्यानों में भी इनका कुप्रभाव देखा जाता है किन्तु यहाँ इनसे कम क्षति होती है। हानि पहुँचाने वाले मुख्य कीड़े तना-छेदक, फल-चूसक, माथ, सफेद मक्खियाँ, खट्टे नीबू के कीड़े आदि हैं।

तना-छेदक—यह कीड़ा प्रायः खट्टे नीबू और नारंगी के उन उद्यानों में पाया जाता है जो पुराने होते हैं। इनका आक्रमण तनों पर ही होता है। ये नीबू के

जाति के वृक्षों के साथ-साथ अन्य फलों जैसे आम, अमरूद, अनार आदि पर भी आक्रमण करते हैं। ये कीड़े अरबेला ट्रेटानिस के नाम से सम्बोधित होते हैं। यह पेड़ के तनों के छिलके पर उपस्थित रहता है और उनमें छिद्र बना कर उन्हीं पर जीवन निर्वाह करता है। यह रात को छिद्रों से बाहर आता है और छिलके खाना प्रारम्भ करता है। उसका लक्षण वृक्ष पर ताजे खाए हुए छिलकों को फेंक कर ज्ञात किया जा सकता है। इन्हें मारने के लिए एक तार लिया जाता है और उसे छिद्र में डाल कर हिलाया जाता है। पिट्रोल या क्लोरोफार्म और केलोट के मिश्रण से भी इनकी रोक-थाम की जा सकती है। मिश्रण में क्लोरोफार्म केरोशोट का दूना होता है। इसे छिद्र में डाल कर छिद्र बन्द कर देते हैं जिससे कीड़े घुट कर मर जाते हैं। इसके रोक-थाम का एक दूसरा उपाय यह है कि प्रभावित वृक्ष के छिलके को हरे पेरिस घोल से पोत दिया जाता है। यह घोल एक औंस की मात्रा में २ गैलन पानी में मिला दिया जाता है और तब उसकी रँगाई की जाती है। रँगाई करने के पहले तने पर का उपस्थित व्यर्थ पदार्थ हटा दिया जाता है। मध्य प्रदेश में उसी प्रकार का एक दूसरा कीड़ा स्ट्रोमोटियम बारबेटम लगता है जिसे दूर करने के लिए किरोशोट का प्रयोग किया जाता है।

फल-चूसक माथ—यह भारत के मैदानी भागों में अधिक आक्रमण करता है। इसकी कई जातियाँ हैं जिनमें ओफीडिरिस फलोनिका अधिक मुख्य है। इस कीड़े का ऊपरी पंख भूरे रङ्ग का होता है किन्तु निचले पंख काले और चमकीले नारङ्गी रंग के होते हैं। ये नीबू जाति के फलों पर आक्रमण करते हैं और फल में छेद कर देते हैं। छेद करने के पश्चात् ये फल का रस चूसना प्रारम्भ करते हैं। उनका आक्रमण अधिकतर पके फलों पर ही होता है और जिस फल पर आक्रमण हो जाता है वह २-३ दिनों में ही गिर जाते हैं। इन कीड़ों का स्वभाव ऐसा होता है कि दिन में तो ये छिपे रहते हैं और रात में खाना प्रारम्भ करते हैं। इन्हें दूर करने के लिए छोटे कच्चे फलों का झोला, जिस पर पार्लमरा की पत्तियाँ लगी होती हैं, अच्छा पड़ता है क्योंकि ये इन्हीं पर आक्रमण करते हैं। कभी-कभी कागज के भी झोले प्रयोग किए जाते हैं। इन्हें रात के समय हाथ से पकड़ कर भी मारा जा सकता है। इन्हें पकड़ने में चिमटों का प्रयोग करना चाहिए। ये कीड़े प्रायः मन्दारिन मीठे कागदी नीबू पर आक्रमण करते हैं।

सफेद मक्खियाँ—उस कीड़े का प्रभाव नीबू जाति के फलों पर अधिक पड़ता है। इन्हें डाइलिरोड्स सिट्री कहते हैं। इनका आक्रमण प्रायः पत्तियों पर ही होता है। इनके काले बच्चे पत्तियाँ खाते देखे जाते हैं किन्तु पत्तियों के ऊपरी धरातल पर ये नहीं पाए जाते। निचले धरातल पर उपस्थित रहते हैं और एक प्रकार

का काला चूर्ण-सा स्रवित करते हैं जिससे पत्तियों का रूप असुन्दर हो जाता है। इस क्रिया से पत्तियों में कार्बन एसिमिलेशन रुक जाता है। इसे रोकने के लिए रोजिन यौगिक या मछली के तेल का साबुन प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी टुबैको डिकोकशन (तम्बाकू की कुट्टी) भी प्रयोग की जाती है।

नीबू का कीड़ा—जैसा कि नाम ही से विदित है, इसका प्रभाव कागदी नीबू पर विशेषतः पड़ता है। अन्य नीबू की जातियाँ अपेक्षाकृत कम प्रभावित होती हैं। इस जाति का कीड़ा पेमिलो डिमोलियस एल के नाम से पुकारा जाता है। यह रंगीन तितली है। इसका आकार बड़ा होता है। यह वृक्ष के ऊचे शिखर पर अंडा देती है ताकि बच्चे कोमल पत्तियाँ खा सकें। इनका रंग पहले भूरा होता है और फिर बदलने लगता है। जब ये पूर्ण प्रौढ़ हो जाती हैं तो इनका रंग भूरापन लिए हुए हरा होता है। इन्हें हाथ से पकड़ कर मारा जा सकता है। कहीं-कहीं लेड आर्सिनेट का छिड़काव भी किया जाता है जिससे ये कीड़े नष्ट हो जाते हैं। किन्तु कुछ समय के अन्तर पर छिड़काव करते रहने से अच्छा प्रभाव पड़ता है।

स्केल इन्सेक्ट—इस कीड़े का प्रभाव पौधों की पत्तियों और फलों पर पड़ता है। ये कीड़े आकार में गोले और छोटे होते हैं इनका रंग काला भूरा होता है। ये जिस स्थान पर आक्रमण करते हैं वहाँ वाह्य रूप से चिपक जाते हैं जिससे फल या पत्ती का आकार खराब हो जाता है। इन्हें दूर करने के लिए एक कपड़ा लेकर प्रभावित स्थान को रगड़ देना चाहिए। रगड़ने से ये विनष्ट हो जाते हैं। मछली के तेल का रोजिन साबुन एक पौंड की मात्रा में ४ गैलन पानी में मिला कर प्रभावित वृक्ष पर छिड़कने से भी सफलता प्राप्त की जा सकती है।

लीफ माइनर—इस कीड़े का प्रभाव भारतवर्ष के अतिरिक्त पश्चिमी एशिया और जापान तक पाया जाता है। उसे फाइलेक्निसोटिस सिट्रेला कहते हैं। इसका आक्रमण प्रायः कोमल पत्तियों पर पड़ता है। इसी कारण इसका नाम लीफ माइनर है। इस कीड़े का लक्षण पत्तियों पर अनेक बिना क्रम के धब्बों में असंख्य टेढ़े-मेढ़े माइंस द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। इन्हें दूर करने के लिए प्रभावित पत्तियाँ तोड़ दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त निकोटीन सल्फेट (१:८) का भी प्रयोग अच्छा पड़ता है। कभी-कभी टुबैको डिकोक्शन भी प्रयोग किया जाता है।

नीबू जाति के फलों में कभी-कभी कुछ विशेष ऋतु में कुछ कच्चे फल गिरे हुए पाए जाते हैं जो आर्थिक दृष्टिकोण से अच्छा नहीं होता। फल का इस प्रकार गिरना कई कारणों से होता है। कुछ तो फफूँदी रोगों से और हानिकारक कीड़ों के प्रभाव से गिरता है और कुछ वृक्ष के दुर्बल स्वास्थ्य के कारण गिरता है। गर्मियों के दिनों में तेज हवाओं के बहने से भी गिर जाते हैं। मौसम के अचानक बदलने

और तापक्रम के गिरने से भी फलों का गिर जाना सम्भव होता है। उत्पादक को फलों का इस प्रकार गिरना आवश्यक सावधानियों से कम करना चाहिए।

नीबू जाति के फलों का भोज्य महत्व—इस जाति के फलों में विटामिन A और C अधिकांश मात्रा में पाए जाते हैं। इनमें पेक्टन पाया जाता है जो जेली-मुरब्बा बनाने में अधिक महत्व रखता है। इन फलों में अम्लीयता अधिक होती है जिससे उनकी जेली बहुत बढ़िया बनती है। इनके रस में कैलशियम की मात्रा अधिक होती है जिससे ये स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से संतुलित भोजन माने जाते हैं। इनसे स्क्वाश, जेली, अचार, मुरब्बा आदि पदार्थ बनाए जाते हैं जिनको बाजारों में अधिक माँग होती है।

खाद्य मूल्य—नीबू जाति के फल अपने स्वास्थ्यप्रद खाद्य-गुणों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें कैल्शियम की मात्रा उपस्थित होती है जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। नारंगी के फल में कैल्शियम की मात्रा उसकी किस्म, उसमें प्रयुक्त किये गये फर्टिलाइजर और भूमि पर निर्भर करती है। प्रयोगों से विदित हुआ है कि फल के सभी भागों में कैल्शियम की मात्रा समान नहीं होती। ऊपरी झिल्ली के साथ फल में इस तत्व का परिमाण झिल्ली के हटा देने से प्राप्त परिमाण से दूना होता है। कैल्शियम के अतिरिक्त नीबू जाति के फलों में पेक्टिन और फल के अम्ल की उपस्थिति से ही रस द्वारा जेली अथवा मार्मलेड तैयार होते हैं। जिन फलों में पेक्टिन अनुपस्थित होता है। उनकी जेली तैयार करते समय यह पदार्थ इन्हीं फलों से लेकर अलग से मिलाया जाता है। फल के अम्ल के अभाव में जेली में नीबू के फल निचोड़ कर डाले जाते हैं क्योंकि नीबू इसमें अधिक धनी फल है। नीबू का अँचार बहुत स्वादिष्ट बनता है और उत्तरी भारत के लगभग सभी घरों में कुछ-न-कुछ मात्रा में तैयार किया जाता है। नीबू के फल बहुत खट्टे होते हैं, इसी लिए इसे ताजे रूप में नही खाया जाता। इसे तरकारियों, मांस, मछली, दाल, शर्बत आदि में डाल कर स्वादिष्ट बनाया जाता है। सन्तरे-माल्टा आदि नीबू की भाँति खट्टे नहीं होते। उनमें फलों की खाँड, अम्ल, लोहा, फास्फोरस आदि पाये जाते हैं। सन्तरे के रस में विटामिन A और C अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इन विटामिनों के अतिरिक्त इसमें विटामिन B भी पाया जाता है। सन्तरे में भूख को बढ़ाने की अद्‌भुत शक्ति होती है और उसे यदि गूदे के साथ लगे हुए पतले छिलके सहित खाया जाय तो उससे कब्जियत की कोई शिकायत न उत्पन्न हो।

नीबू जाति के फलों के रस के पेय पदार्थ भी तैयार किये जाते हैं जो फल से कहीं अधिक स्वादिष्ट होते हैं। सन्तरे से कई प्रकार के पेय पदार्थ तैयार होते

हैं। नीबू के रस में खांड मिलाकर शिकंजी अथवा शर्बत बनाया जाता है जो अति स्वादिष्ट पेय हैं। नीबू और सन्तरे के ऊपरी छिलके भी व्यर्थ नहीं जाते। उनसे बहुमूल्य तेल निकाला जाता है जिससे भोजन पदार्थ स्वादिष्ट बनाये जाते हैं। इनके प्रयोग से भोजन से एक बढ़िया किस्म की सुगन्ध आती है। बाल में लगाने का तेल भी इससे तैयार किया जाता है। नीबू के रस से तैयार किया जाने वाला नीबू का सत्व एक बढ़िया पदार्थ है। नीबू या खट्टे नीबू का रस त्वचा को मुलायम बना कर मुखड़े को कान्तिमय बना देता है। नीबू जाति के फलों से तैयार पेय-पदार्थों में ओरेन्ज स्क्वाश, लाइम या लीम् स्क्वाश, लाइमजूस, मार्मलेड, लीमू-बार्ली-वाटर अधिक प्रसिद्ध हैं।

अध्याय १६

केला (Banana)

हमारे देश में फलों में केला का प्रमुख स्थान है, यह फल बहुत जायकेदार होता है। प्राचीन काल से ही आहार के दृष्टिकोण से यह बहुत महत्वपूर्ण फल गिना जाता रहा है। आज भी केला का स्थान आहार-उत्पादन में अधिक महत्व-पूर्ण है। लगभग सम्पूर्ण विश्व के अधिकांश क्षेत्रों में इसकी कृषि होती है और अन्य फलों की अपेक्षा इसका औद्योगीकरण भी प्रायः अधिक है। इसके महत्व का विवरण देते हुए डिजराइली ने लिखा है कि यह विश्व के सभी फलों में अधिक स्वादपूर्ण वस्तु है। योरप में जिस समय इसका प्रवेश हुआ तो लोग इसे विलासिता का साधन कहते थे और इसका फल बहुत उच्चकोटि का माना जाता था। उत्पत्ति के दृष्टिकोण से यह कृषि अथवा बागवानी की फसलों में बहुत अधिक उपज देने वाला है। हमारे देश में इसकी उपज औसत ६०,००० पौन्ड है। हमारे देश में जहाँ जनसंख्या इतनी अधिक है उपज के विचार से इसका उत्पादन अधिक श्रेयष्कर है क्योंकि इससे खाद्य पदार्थ प्रति एकड़ बहुत अधिक प्राप्त होता है। यह अनुमान लगाया गया है कि यदि कई फसलें केला के साथ ही उर्वर भूमि में समान सुविधायें प्रदान कर उगाई जायँ तो केला की उपज सर्वश्रेष्ठ होगी। केले के फल से पोटाश, फासफो-रस, चूना, लोहा और कई प्रकार के विटामिन प्राप्त किये जाते हैं। विटामिनों में A, B_1, B_2 और C. अधिक परिमाण में उपस्थित होते हैं। इनके अतिरिक्त विटामिन D और E भी कुछ मात्रा में पाये जाते हैं। हिसाब लगाकर देखा गया है कि केले के फलों में उपस्थित तत्व और विटामिन सेव अथवा नारंगी की अपेक्षा परिमाण में अधिक होते हैं। विटामिन C पके फल से प्रति ग्राम ·१ से० ·११ मिली ग्राम पाया जाता है। विटामिन C की मात्रा पके फलों की अपेक्षा हरे और अधिक पके फलों में कम होती है, अतः स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अच्छे पके केले के फल उत्तम माने जाते हैं और इसी आधार पर वर्नेल ने कहा है कि २४ केले केवल दूध के साथ शारीरिक श्रम न करने वाले प्रौढ़ व्यक्ति के लिए संतुलित भोजन का काम देते हैं। फलों के अतिरिक्त हरे फल तरकारी के काम में भी आते हैं। यदि इन्हें दूर की बाजारों में भेजना होता है तो पकने के पूर्व हरे प्रौढ़ ही फल तोड़ लिए जाते हैं क्योंकि ऐसी दशा में इन्हें बिना सड़े हुए दूर तक भेजा जा सकता है। केले की खेती

बहुत कम व्यय में ही की जा सकती है किन्तु इसके लिए वही स्थान उपयुक्त होते हैं जहाँ वर्षा अधिक होती है। अधिक वर्षा वाले स्थान पर सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह बहुत अधिक सिंचाई चाहने वाली फसल है। इसी आधार पर इसे निर्धन लोगों का भोजन भी कहते है। इसका प्रभाव यह है कि दक्षिण भारत में किसान घरों या खेतों में शुद्ध या मिले रूप में कुछ-न-कुछ प्रति वर्ष तैयार कर लेते हैं। वहाँ यह फसल-चक्र में भी प्रयोग की जाती है। किन्तु यह धान और गन्ना पैदा करने वाली भूमि में ही उग सकता है। केले के फल में विशेषता यह भी होती है कि ये वर्ष के प्रत्येक समय फल देते रहते हैं, जैसा कि अन्य फलों में नहीं देखा जाता। केवल फल ही अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते, केले की पत्तियाँ, झूठा तना, जड़ें, आदि भी अधिक महत्व रखती हैं। केले की पत्तियाँ, खाना खाने की प्लेट के स्थान पर प्रयोग की जा सकती हैं। इन्हें कुछ सामानों को बाँधने में भी काम में लाया जा सकता है। केले के छिलके कलम करने वाले स्थानों पर जोड़ के बाँधने में अच्छा काम देते हैं। इसका तना रसोई के कामों में प्रयोग किया जाता है। उद्यान में सौन्दर्य के लिए भी इन्हें प्रयोग किया जा सकता है। ये फल-वृक्ष उस समय अच्छा काम देते हैं जब कि उद्यान के वृक्ष छोटे रहते हैं और उनके मध्य काफी स्थान रिक्त रहता है। ऐसी दशा में इन्हें रोप कर उत्पादक एक दो वर्ष में ही लाभ प्राप्त करने लगता है।

मूल-स्थान—केला एक ऊष्ण कटिबन्धीय फल है। अतः इसका मूल स्थान इन्हीं भागों में हो सकता है। कुछ लोग इसके मूल का अनुमान मलाया प्रायद्वीप अथवा उसके निकट मानते हैं। कुछ लोग इसका प्रारम्भ एशिया महाद्वीप के उष्ण कटिबन्धीय जंगलों में मानते हैं। एशिया के दक्षिणी देशों, भारत, चीन तथा कुछ अन्य दक्षिणी-पूर्वी द्वीपों में यह बहुत प्राचीन काल से उगाया जा रहा है। अतः किस देश में इसका मूल स्थान है यह कहना कुछ कठिन है। कुछ प्राचीन, मिश्री और असीरियन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर १००० ई० पू० में भी इनकी खेती होती थी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जो पौधे यहाँ उगाये जाते थे वे अफ्रीका की किस्म मुसा इन्सटी (Musa ensete) से सम्बन्धित हैं। योरोप में इस फल का प्रचार बहुत बाद में हुआ। अनुमानतः इसका प्रचार यहाँ उस समय हुआ जबकि सिकन्दर ने भारत के आक्रमण के समय सिन्ध की घाटी में इनकी खेती देखी। अरब देश में भी इस फल का प्रादुर्भाव भारत में मुसलमानों के पूर्व नहीं था। सम्भवतः यह यहाँ ७वीं शताब्दी में लाया गया और यहीं से यह अफ्रीका के पूर्वी तट पर पहुँचा होगा और साथ ही इसका प्रचार योरोप के पश्चिमी किनारे पर भी हुआ होगा। १७७८ ई० में कप्तान कुक ने जब हवाई आदि

द्वीपों का अन्वेषण किया तो उस समय वहाँ केला की खेती होती थी। इससे अनुमान यह लगाया गया कि केला यहाँ बहुत पहले से उगाया जाता था। अमेरिका में उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र में सम्भवतः १५१६ ई० में पहुँचा और आज तो यहाँ इसकी उपज इतनी बढ़ गयी है कि विश्व में केला की उपज यहाँ सबसे अधिक होती है। यद्यपि इसका प्रचार विश्व के लगभग सम्पूर्ण देशों में है और विश्व के लगभग सभी देशों में जहाँ फल के आने-जाने की सुविधा है, इसे सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है तथापि इसका सीमित क्षेत्र भी विश्व के ऊष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों तक ही है।

केला को अंग्रेजी में बैनाना (Banana) के नाम से सम्बोधित करते हैं जो सम्भवतः एपिल आफ पैराडाइज से निकला हुआ लगता है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि यह अफ्रीका के कांगो जाति द्वारा निकाला गया है। जो भी हो, भारतीय साहित्य में इसका कोई नाम नहीं उपलब्ध होता। अधिक रूप में इसे सैपीएन्टम किस्म का माना जाता है जो सम्भवतः इसके नाम का उद्गम है।

वानस्पतिक विवरण—केले का वृक्ष लगभग ३०″ तक की ऊँचाई का पाया जाता है किन्तु इसका तना वास्तविक तना नहीं होता है। यह तो झूठा तना (Pseudo stem) होता है। वास्तविक तना भूमि के भीतर पाया जाता है जिसे राइजोम (Rizome) के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह तना भूमि के अन्दर से ही अंकुर पैदा करता है। ये अंकुर भूमि के ऊपर आकर झूठा तना बनाते हैं जिससे पत्तियाँ निकलती हैं और सिरे पर फूल निकलते हैं जिससे फल तैयार होते हैं। फूल का गुच्छा स्पाइक रूप में होता है जो झूठे तने के सिरे पर लटकता हुआ दिखाई पड़ता है। फूल इस प्रकार से लगते हैं कि एक गुच्छा बन जाता है जिसमें दो कतारें लगी होती हैं। फूल तीन प्रकार के होते हैं कुछ मादा अंग प्रधान होते हैं और स्पाइक में आधार की ओर उपस्थित होते हैं। ये सर्व प्रथम विकसित होते हैं। स्पाइक के सिरे पर नपुन्सक फूल होते हैं जो न तो मादा अंग ही प्रधान होते हैं और न नर-अंग ही। इसी सिरे पर कुछ नर-प्रधान फूल भी पाये जाते हैं जिससे फूलों के सेंचन में कठिनाई नहीं होती। फलों का निर्माण गर्भाधान के पश्चात् ही प्रारम्भ हो जाता है। सबसे पहले फल स्पाइक (Spike) के आधार की ओर बनते हैं और ज्यों-ज्यों इनका निर्माण होता जाता है, सिरे के फूल गिरते जाते हैं। प्रौढ़ फल हरे रंग के होते हैं जिन्हें छीमियाँ कहते हैं। पकने पर इनका रंग पीला हो जाता है। किन्तु कुछ किस्मों में रंग-परिवर्तन नहीं होता अथवा यदि होता भी है तो बहुत साधारण ढंग से। केले की जड़ें भूमि में फैली रहती हैं। इनमें दो प्रकार की जड़ें पाई जाती हैं। एक तो भूमि में पृथ्वी के समानान्तर फैलती हैं और दूसरे खड़े रूप में। समानान्तर वाली जड़ें भूमि के धरातल से दो फीट नीचे फैलती हैं और सीधे जाने

वाली जड़ें लगभग ६ फीट की गहराई तक जाती हैं। सीधे जाने वाली जड़ ही मुख्य जड़ होती है जिससे अनेकानेक सहायक जड़ें निकल कर इधर-उधर बिखर जाती हैं और वृक्ष के लिए आवश्यक मात्रा तैयार करती हैं।

वितरण—हमारे देश में केले की खेती बड़े पैमाने पर की जाती है। क्षेत्र फल के दृष्टिकोण से इसका स्थान आम के बाद निश्चित किया जाता है। हमारे देश के मद्रास, ट्रावनकोर, कोचीन, पश्चिमी बङ्गाल, बम्बई, बिहार, मैसूर, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, आसाम, उत्तर प्रदेश आदि प्रदेश हैं। हमारे देश में केले का क्षेत्रफल ३,०६,०११ एकड़ है। इसकी खेती मद्रास में १,२८,१६३ एकड़ है। किन्तु सुनमुख सुन्दरम् और नायडू के अनुसार १,५०,००० और इम्पीरियल कौन्सिल आफ एग्रीकल्चर रिसर्च १९४० के अनुसार १,३२,००० एकड़ है। ट्रावनकोर कोचीन में ४७,५०४ एकड़। पश्चिमी बङ्गाल में ४३,८८० एकड़, बम्बई में ३९,०६० एकड़ मैसूर में १८,६०९ एकड़, बिहार में १२,७०० एकड़, उड़ीसा में ६,००० एकड़, मध्य भारत में ३,०६९ एकड़, आसाम में २,५०० और उत्तर प्रदेश में १,४९० एकड़ है। भारत में सबसे अधिक केला पैदा करने वाला प्रदेश मद्रास है जहाँ नायक के शब्दों में १,३६,४५५ एकड़ क्षेत्र है। केले की उपज प्रत्येक वर्ष एक-सी नहीं होती। यह प्रति वर्ष कुछ-न-कुछ बदला करती है। जैसे मद्रास में १९३४-३५ में नायब के शब्दों में इसका क्षेत्रफल १,५४,००० था और १९३९-४१ में १,३६,००० हो गया। १९४२-४३ में क्षेत्रफल घट कर १,३०,००० तक रह गया। इसी प्रकार देश के अन्य भागों में भी क्षेत्रफल परिवर्तित होता रहता है।

भारत के अतिरिक्त एशिया के उष्ण कटिबन्धीय वनों में भी इसे अधिक क्षेत्रफल में उगाया जाता है। वहाँ यह मलाया प्रायद्वीप तथा इसके पड़ोसी देशों में उत्पन्न किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका का केला-उत्पादन करने वाले देशों में प्रथम स्थान है। यूनाइटेड किंगडम (United Kingdom) में भी केला के फल का उत्पादन प्रति वर्ष २७२ हजार टन है जब कि यह उत्पादन संयुक्त राज्य अमेरिका में १,२१,००० टन है। कनाडा में भी इसकी खेती होती है किन्तु इसका क्षेत्रफल यहाँ केवल ६९,००० ही है। फ्रान्स और जर्मनी में भी केला बड़े पैमाने पर उगाया जाता है और इसकी उपज क्रमशः १,११,००० और ८७,००० टन है।

भूमि—जैसा कि ऊपर बताया गया है, केले की खेती उन्हीं स्थानों पर होती है जहाँ कि भूमि गन्ना और धान जैसी फसलों के लिए उपयुक्त हो और जहाँ पानी भी प्रचुर मात्रा में बरसता हो। यह अधिक उर्वर तथा भुरभुरी भूमि में सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है जहाँ इसकी आवश्यकता के लगभग सभी तत्व सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सके। यह धान के अधिक नम खेतों में उस दशा में अच्छी उपज दे

सकता है जबकि भूमि में जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध हो। मद्रास प्रदेश में यह भारी मटियार भूमि में भी उत्पन्न किया जा सकता है जब कि भूमि में जल-निकास का समुचित प्रबन्ध होता है। छिछली भूमि जहाँ कि गहराई बहुत थोड़ी होती है उर्वर होने पर केले के लिए उत्तम मानी जाती है। इसकी गहराई कम-से-कम ३ फीट अवश्य होनी चाहिए। यदि गहराई इससे कम हो या भूमि अनुर्वर हो तो उसमें केला नहीं उगाया जा सकता। मद्रास में लेटेराइटिक भूमि जो मलावार-तट के पहाड़ी ढाल पर जाती है अच्छी पड़ती है। यहाँ अलूवियल भूमि भी जो कावेरी नदी के किनारे पाई जाती है इसके लिए उपयुक्त सिद्ध होती है। इस नदी के किनारे तंजौर जिले में केले का एक उद्यान लगभग १०० वर्ष पुराना पाया जाता है। बम्बई प्रदेश की कपास वाली काली मिट्टी जो लगभग ४-५ फीट गहरी होती है, केले की खेती के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती है। किन्तु इस भूमि का जल-निकास होना अधिक आवश्यक होता है। हल्की काली भूमि भी केले की खेती के काम लाई जाती है किन्तु यह उस दशा में ही अच्छा काम देती है जब कि भूमि में सिंचाई का अच्छा प्रबन्ध होता है। किन्तु प्रयोगों से ऐसा ज्ञात हुआ है कि बलुवार भूमि काली भूमि से अच्छी पड़ती है वशर्ते कि ऐसे उद्यान में सिंचाई का पूर्ण प्रबन्ध हो। उत्तरी कनारा जिलों में ऐसी ही भूमि पाई जाती है। कोंकन जिले में भी इसकी अधिक खेती होती है क्योंकि यहाँ पर्वतीय प्रदेश की घाटी में केले की खेती के योग्य प्रत्येक साधन उपलब्ध हो जाते हैं।

केले के वृक्ष अम्लीय भूमि में जिसमें अम्लों की अधिकता होती है, बिल्कुल अनुपयुक्त होते हैं। इनमें यदि अम्लीयता ·०५% से अधिक हो जाती है तो पौधे मरना प्रारंभ हो जाते हैं। क्षारीय भूमि में केला उगाने से अच्छा प्रभाव पड़ता है। लोगों का ऐसा विचार है कि वह भूमि जिसमें चूने और ह्यूमस की मात्रा अधिक होती है, केले के लिए बहुत उपयुक्त है। खाद देने से फसल की उपज बढ़ाई जा सकती है। फसल की उपज पर भूमि की टेक्सचर का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके लिए चीभा, भट्ट और नायक ने कुछ भूमियों का साधारण ट्रेक्सचर निर्धारित किया है जो केले की खेती के लिए उपयुक्त होता है।

बलुई-दोंमट मिट्टी	·०३%
चिकनी-दोमट मिट्टी	·०४५%
औसत मटियार भूमि	·०५%
भारी मटियार भूमि	·०७%

ट्रेक्सचर के दृष्टिकोण से हल्की बलुई भूमि ही केले की खेती के लिए अच्छी सिद्ध होती है किन्तु बिल्कुल बलुवार भूमि जिसमें न तो जल-शोषण शक्ति हो और न जल-धारण शक्ति। अथवा जिसमें पौधों के आवश्यक तत्त्व भी कम परिमाण

में हों या बिल्कुल न हों, केले के लिए अनुपयुक्त होती है। खुले ट्रेक्सचर वाली दोमट भूमि में भी यदि पौधों के आवश्यक तत्त्वों का अभाव हो तो उनसे अच्छी उपज नहीं प्राप्त की जा सकती। उससे तो बन्द ट्रेक्सचर वाली मटियार भूमि ही अच्छी पड़ती है जिसमें उर्वरता अधिक हो और सिंचाई आदि का प्रबन्ध भी अच्छा हो। कोयमबटूर में यह ज्ञात किया गया कि एक ऋतु में केला की उपज नम भूमि की अपेक्षा जिसमें सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं थी सींचे उद्यान की अपेक्षा उपज अधिक हुई। केले की कई जातियों में सींचे फल के गुच्छे भी अपेक्षाकृत कुछ पहले निकल पड़े। ऐसा देखा गया है कि जलनिकास रहित भारी या छिछली भूमि में उत्पादित केले एक प्रकार के रोग से कुप्रभावित होते हैं। इनमें पानामा (Panama) नामक एक रोग हो जाता है जो एक फँफूदी के कारण उत्पन्न होता है। यह फँफूदी भूमि में उपयुक्त परिस्थिति में उत्पन्न हो जाती है और वृद्धि करने लगती है। केले की खेती आसाम प्रदेश के तराई क्षेत्र में अधिक होती है। केले के वृक्ष ५,००० फीट की ऊँचाई तक सफलतापूर्वक उगाये जा सकते हैं।

जलवायु—केला एक उष्ण कटिबन्धीय फल है, अतः इसे केवल गरम और नम जलवायु में ही सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। अपनी उसी आदत के कारण यह न तो अधिक सर्द स्थानों में उगाया जा सकता है, जहाँ तापक्रम के नीचे गिरने से पाले का भय उत्पन्न हो जाता है और न उन स्थानों पर ही जहाँ कि जलवायु शुष्क होती है और सिंचाई का कोई प्रबन्ध नहीं होता। तापक्रम के गिरने पर पौधे के तंतु क्षतिग्रस्त हो जाते हैं जिससे फल की वृद्धि रुक जाती है। पानी के अभाव में भी पौधे मुरझा जाते हैं और फलों के बढ़ाव में व्यवधान प्रस्तुत हो जाता है। दक्षिण भारत में मद्रास प्रदेश में अनन्तपुर क्षेत्र में सिंचाई का अभाव है और मौसम भी काफी सूखा है, अतः यहाँ की जलवायु उसके लिए अच्छी नहीं पड़ती। इसके विपरीत नीलिगिरी क्षेत्र की जलवायु अधिक उपयोगी सिद्ध होती है क्योंकि यहाँ वर्षा काफी होती है और जलवायु भी अधिक नम है। बम्बई प्रदेश में उत्तरी कनारा जिले का क्षेत्र केला उत्पादन के लिए आदर्श माना जाता है किन्तु इस क्षेत्र में उद्यान की सिंचाई माल भेजने और बेंचने की कुछ उपयुक्त सुविधा नहीं मिल पाती। केले के फल-फूल आते समय कुछ अधिक गर्मी और सूखी ऋतु चाहते हैं जिसके लिए दक्षिण भारत में रायल सीमा और गन्टूर के भूभाग उपयुक्त पड़ते हैं। केले की खेती के लिए नम जलवायु की अधिक आवश्यकता होती है, अतः उसके उद्यान वर्षा के अभाव में सिंचाई के अनेक साधनों द्वारा नम बनाए रहने चाहिए।

केले के वृक्ष उन स्थानों पर सरलतापूर्वक उगाए जा सकते हैं जहाँ वार्षिक वर्षा १५०″ होती है। उसे उन स्थानों पर भी उगाया जा सकता है जहाँ वार्षिक

वर्षा लगभग ७० से ८०" हो किन्तु ऐसे स्थान पर वर्षा का उपयुक्त विभाजन अधिक आवश्यक होता है। केले के लिए अधिक वर्षा का होना विशेष हानिकारक नहीं होता किन्तु तापक्रम का निम्न स्तर पर चला जाना और तेज हवाओं का चलना इसके लिए अधिक हानिकर होता है। वर्षा होते समय तेज हवाओं का चलना और भी क्षतिपूर्ण होता है क्योंकि उससे केले के वृक्ष उखड़ कर भूमि पर गिर जाते हैं। तेज हवाओं के चलने से तो छोटे-छोटे वृक्ष भी गिरते देखे जाते हैं। बौने किस्म वाले केले भी ऐसी हवाओं से बर्बाद होते देखे जाते हैं। अत्यधिक वर्षा होने पर उद्यान की भूमि का जल-निकास करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में उद्यान में अधःतल में पाइप लगा दिए जाते हैं किन्तु उद्यान में खाइयाँ बनाकर पानी निकाल देना अच्छा पड़ता है। जल-निकास के प्रबन्ध न होने पर भूमि पर पानी जमा हो जाता है और भूमि जल-मग्न हो जाती है। ऐसा होने से वृक्षों की जड़ें बढ़ाव बन्द कर देती है और उनका विकास भी बन्द हो जाता है। तापक्रम के नीचे गिरने से पाले का आक्रमण फसल को बिल्कुल चौपट कर देता है। यही कारण है कि केले के वृक्ष उत्तर प्रदेश और पूर्वी पंजाब में नहीं उगाए जा सकते क्योंकि यहाँ जाड़े में तापक्रम बहुत नीचे गिर जाता है जिस पर पाले के आक्रमण का भय होता है और यहाँ गर्मियों में तेज हवाएँ चलती हैं जिनसे वृक्षों के अधिक क्षति-ग्रस्त होने की आशंका होती है। यद्यपि तेज हवाओं से रक्षा के लिए वायु रोधक वृक्ष लगाए जा सकते हैं और उनसे उद्यान की कुछ सीमा तक रक्षा की जा सकती है। खानदेश जिले में उस प्रकार का प्रबन्ध किया गया है किन्तु अधिक तेज हवाओं की स्थिति में फलों की हानि रोकी नहीं जा सकती। तापक्रम के गिरने की भी वही दशा है। जब तापक्रम औसत तापक्रम से नीचे गिर जाता है तो पौधों की स्थिति बड़ी शोचनीय हो जाती है। तापक्रम जब पिघलने के बिन्दु से भी नीचे चला जाता है तो पौधों के जीवन की आशा नहीं रहती। कभी-कभी तो तापक्रम ३५° फा० से भी नीचे गिर जाता है। किन्तु केले की कुछ ऐसी भी जातियाँ पाई जाती हैं जो इस तापक्रम पर भी स्थिर रहती हैं। पर जब तापक्रम पिघलने के बिन्दु से और नीचे गिर जाता है तो लगभग सभी जातियाँ प्रभावित देखी जाती हैं तापक्रम के नीचे गिरने से पौधों की स्थिति इतनी नाजुक हो जाती है कि उनका विकास लगभग ३ महीने तक रुक जाता है। ज्ञात किया गया है कि बसराई केले की जाति वालदा या राजलपुरी जाति की अपेक्षा सर्दी से अधिक प्रभावित होती है।

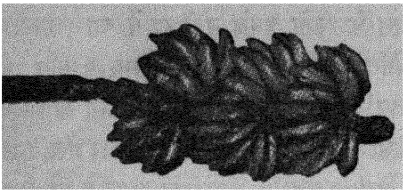
जातियाँ— यद्यपि केले की खेती सम्पूर्ण विश्व में बहुत प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण रही है किन्तु आज तक इसका ऐसा कोई सुसज्जित वर्ण विभाग (Classification) नहीं प्रस्तुत किया गया है जिस पर सभी लोगों का मतैक्य हो। वर्ण

विभाग पर मतैक्य न होने का मुख्य कारण है कि इसकी समस्त जातियों के युक्ति-पूर्ण विवरण का अभाव। इस अभाव के कारण लोगों ने इनका भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण किया और उन्हीं पर अपने मत दिये जिससे उनके विवरणों का भिन्न-भिन्न आना सम्भव था। साधारणतया केला प्राकृतिक क्रम में (Natura Order) सिटैमिनी (Scitamineae) और जेनस (Genus) मुसा (Musa) से सम्बन्ध रखता है। इस जेनस में २ या ३ स्पेसीज (Species) सम्मिलित होती हैं। लिनियस (Linnoeus) के अनुसार इसमें २ किस्में (Species)—पैराडिसियाका (Paradisiooa) और सेपाइन्टम (Sapientum) ही सम्मिलित की जाती हैं। बाद में उपर्युक्त दो किस्मों के अतिरिक्त एक तीसरी किस्म भी जोड़ दी गई। जिसे केवेन्डिशी (Cavendishii) का सम्बोधन दिया जाता है। सेपाइन्टम किस्म के फल कच्चे ही खाने योग्य हो जाते हैं अर्थात् इन्हें आग पर पकाने की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु पैराडिसियाका किस्म के केले कच्चे नहीं खाये जा सकते। इन्हें खाने के पहले पकाना पड़ता है। केवेन्डिशी किस्म के वृक्ष लगभग ६ फी० की ऊँचाई के होते हैं। इनकी ऊँचाई इससे अधिक नहीं पाई जाती। किन्तु चीजमैन (Cheeseman) इस तीसरी किस्म के मानने के पक्ष में नहीं है। वह लिनियस के इस मत का भी समर्थन नहीं करता कि सभी बहुवर्षी (Persistent) नर फूल पैराडिसियाका और द्विवर्षीय नर फूल सेपाइन्टम के साथ जोड़ दिये जायँ। उसका कथन है कि मुसा पैराडिसियाका केले की उगाई जाने वाले रूप के लिए प्रयोग किया जा सकता है। डाड्स और सिमान्ड्स (Dodds and Simmonds) का मत है कि सेपाइन्टम का प्रयोग प्रारम्भ में इन्टर स्पेसिफिक हायब्रिड के लिए किया जाता था। इससे चीजमैन के कथन की पुष्टि हो जाती है कि मुसा पैराडिसियाका केले के सभी खाने योग्य रूप के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

बोल-चाल के शब्दों में हमारे यहाँ केले को अँग्रेजी में Banana कहा जाता है किन्तु कुछ स्थानों पर इसे Plantain के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। प्रारम्भ में Banana शब्द केले के उस रूप के लिए प्रयोग किया जाता था जो कच्चा ही खाया जाता था अर्थात् यह सेपाइन्टम किस्म के समतुल्य है और Plantain शब्द केले के उस रूप के लिए प्रयोग किया जाता था जो पकाने के बाद खाने योग्य होते थे अर्थात् यह पैराडिसियाका किस्म के समतुल्य था। अमेरिका में Plantain शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं केले के लिए किया जाता है जो पकाने के पश्चात् खाने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु हमारे देश में Banana शब्द सभी केलों के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ इन दोनों शब्दों में कोई भिन्नता नहीं मानी जाती। दक्षिण भारत में केले के लिए

Plantain शब्द ही प्रयोग किया जाता है चाहे वह कच्चा खाया जाय या पकाने के पश्चात् । किन्तु केले के सभी रूपों के लिये Banana शब्द ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है ।

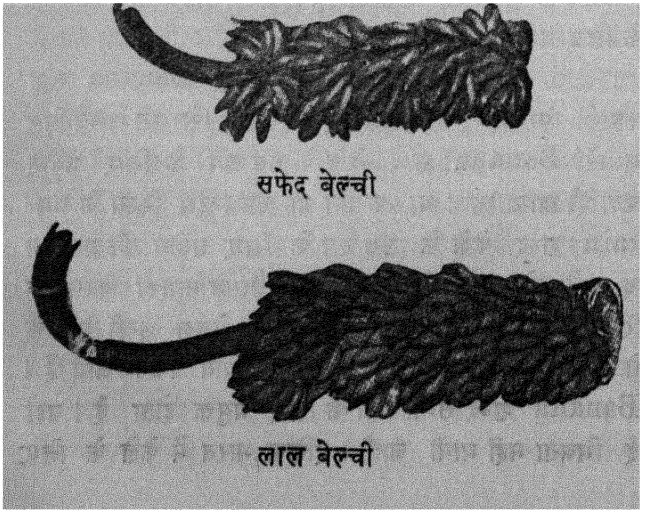
उपर्युक्त किस्मों के अतिरिक्त केले की ५०-७५ अन्य किस्में पाई जाती हैं जो खाने वाले फल उत्पन्न करती हैं । कुछ जातियाँ मध्य-पूर्व, कुछ जापान, कुछ मलाया प्रायद्वीप, कुछ कोचीन-चीन और कुछ प्रशान्त महासागर के द्वीपों में पाई जाती हैं । इनमें से कुछ जातियों का आर्थिक महत्व भी बहुत अधिक है । मुसा इन्सेटे के जो अफ्रीका में उगाई जाती है, राइजोम और झूठे तने खाने के काम में लाये जाते हैं । फिलिपाइन द्वीप समूह में मुसा टेक्सटिलिस (M. toxtilis) और जापान में किस्म बासजू (M. basjoo) आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं । अधिक प्रसिद्ध केले की जातियों का विवरण नीचे दिया जा रहा है ।



लाल केला

लाल केला—केले की यह मुख्य जाति है । बम्बई प्रदेश में इसका अधिक प्रचलन है, इसका पौधा ऊँचा और पत्तियाँ बहुत लम्बी तथा हरे रङ्ग की होती हैं । इनके फल लगभग ८″ लम्बे और १·५″ व्यास वाले होते है आकार में ये एक ओर मोटे और दूसरे ओर पतले होते जाते हैं । फल का छिलका हल्के रंग का और गूदा पीला होता है ।

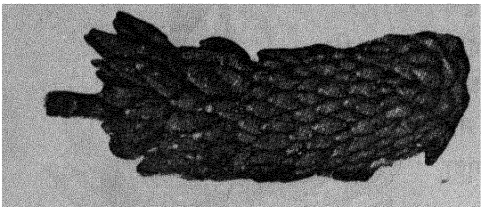
बेलची—यह जाति बम्बई प्रदेश में अधिकता से पाई जाती है । इसके पौधे लम्बे, पत्तियाँ हरे रंग की और लम्बी होती हैं । इनके फल आकार में छोटे होते हैं ।



पकने पर इनका रंग पीला हो जाता है । छिलका बहुत पतला होता है जिसके हटाने पर धवल रंग का गूदा दिखलाई देने लगता है । उसका गूदा बहुत जायकेदार और श्रेष्ठ गुण वाला होता है । गूदे के धवल होने ही के

कारण इसे सफेद या ह्वाइट बेलची कहते हैं। एक दूसरी जाति लाल बेलची के नाम से भी पाई जाती है जिसका रंग लाल होता है।

राजेली—व्यापारिक क्षेत्र में केले को सुखा कर जो पदार्थ बनाया जाता है उसका स्रोत राजेली जाति का केला है। इसका वृक्ष पीले हरे रङ्ग के तने वाला होता है। पत्तियाँ लम्बी और तिकोनी होती हैं। इनके फल लाल केला की अपेक्षा बड़े लगभग ८ से १०″ लम्बे और १ या १½″ व्यास वाले होते हैं। इनका रंग पीला होता है। इसे अधिकतर शुष्क पदार्थ के बनाने के काम में लाते हैं।



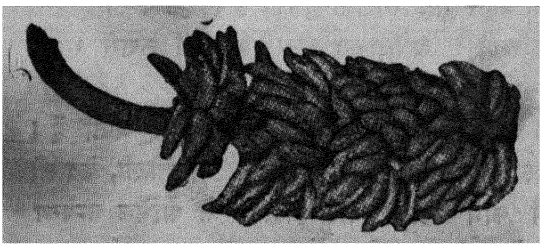
राजेली

मिन्डोली—यह जाति अधिक उपज देने वाले नेन्द्रन वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इसका वृक्ष लम्बा होता है। तने के सिरे पर फूल निकलते हैं जिससे लगभग ५० पीले रङ्ग के फल उत्पन्न होते हैं। फलों के छिलके अधिक मोटे होते हैं। इसके इसी गुण के कारण विदेशों में इसे सफलतापूर्वक भेजा जा सकता है।

सोनाई या साँकेल—यह जाति लम्बे वृक्ष पैदा करती हैं। इसकी पत्तियाँ चौड़ी और लाल किनारे वाली होती हैं। इनके फल काफी मीठे होते हैं।

कवेन्डिश—यह जाति हवाई और कनारी महाद्वीपों तथा भारत के अतिरिक्त अन्य कई देशों में उगाई जाती है। उसके वृक्ष बौने किस्म के होते हैं जिससे इन पर तेज हवाओं का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

बसराई—यह बौने किस्म वाली किस्म है। इसके तने छोटे और पत्तियाँ चौड़ी होती हैं। इनका रङ्ग कुछ पीलापन लिए हुए हरा होता है। इनके फल लम्बे और बराबर की मोटाई के होते हैं। इनका गूदा बहुत स्वादिष्ट होता है। पकने पर भी इनका रङ्ग कच्चे फल की ही भाँति होता है। इस जाति में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि इसमें सड़ाव बहुत शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है।



बसराई



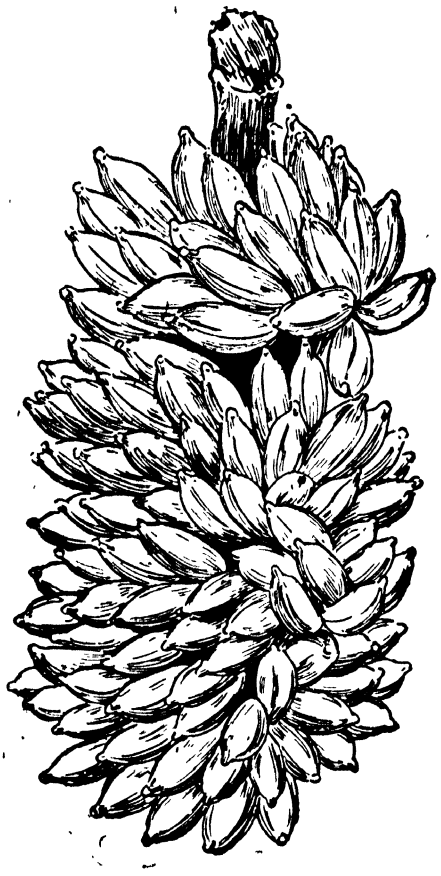
राजापुरी

वाल्हा या राजापुरी—केले की यह जाति बसराई की अपेक्षा अधिक सर्दी बरदाश्त कर पाती है और बौने किस्म की होने के कारण इस पर तेज हवाओं का प्रभाव भी कम पड़ता है। इसके वृक्ष बौने होते हैं। फल छोटे और मोटे होते हैं। फल आधार की ओर से सिर की ओर पतला होता जाता है। पकने के पश्चात् यह वृक्ष से शीघ्र ही गिर जाता है। इसका गूदा साधारण किस्म का होता है।

मुथेली—यह जाति मक्खन केले के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके फल बहुत मीठे होते हैं। इनकी मोटाई इस प्रकार की होती है कि इनका आकार कटोरे की भाँति दिखलाई पड़ता है। पकने के बाद इनका रङ्ग पीला हो जाता है। इनके तने बौने किस्म के और पत्तियाँ छोटी तथा चौड़ी होती हैं। बम्बई प्रदेश में लाल केला, लाल वेल्ची, सफेद वेल्ची, साँकेल, बसराई और राजेली अधिक प्रसिद्ध हैं।

बंगाल में केले की कई जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं इनमें चम्पा चीनी, चम्पा, डैका और मर्तबान अधिक प्रसिद्ध हैं। चम्पा केला लगभग ६″ लम्बा होता है। इसका रंग गहरा पीला पाया जाता है। स्वाद के दृष्टि कोण से यह बहुत जायकेदार होता है। चिनियाँ चम्पा, चम्पा केले से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसका स्वाद उसी प्रकार का होता है किन्तु फलों का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है। उत्तरी भारत में चम्पा, पंकेला, मर्तबान डेका जातियाँ अधिक मुख्य हैं।

दक्षिण भारत में केले की कई जातियाँ अधिक परिमाण में उगाई जाती हैं। इनमें बन्द्राण, पूवन, कुनान, मारूतियल, रस्ताली, पक्का नदान, चक्राकेली, केदाली आदि है। नन्द्राण जाति रसोई में काम आने वाले पदार्थों से अधिक सम्बन्ध रखती है क्योंकि उससे जेली, जेम, चिप आदि अनेक बहुमूल्य पदार्थ बनाए जाते हैं। यह दक्षिण भारत में मलाबार तट पर लगभग ४ हजार एकड़ से



राजवेल केला

अधिक क्षेत्र में उगाई जाती है। त्रावणकोर-कोचीन तथा दक्षिणी कनारा में भी यह अधिक परिमाण में उगाई जाती है। इस जाति की मुख्य विशेषता यह है कि इसे लगभग १५ दिनों तक पकने के बाद से सरलता-पूर्वक सुरक्षित रखा जा सकता है और यह गुच्छे से गिरता भी नहीं। इसके कच्चे फल तरकारी के काम में लाए जाते हैं। पके फल सुरक्षित रख कर जैम, जेली आदि बनाने के काम आते हैं। इस जाति में नाना नन्द्राण, अत्तू नन्द्राण, मुँगिल और मिन्डोली जातियाँ अधिक मुख्य हैं। कुछ लोगों ने इनके अतिरिक्त नेदू नन्द्राण, कुदीर वाली, तीरू बोदान, चेंगाई कोदान आदि जातियाँ भी बतलाते हैं। पश्चिमी घाट पर नन्द्राण की कुछ जातियाँ जैसे अत्तू नन्द्राण, काली उत्थान आदि पाई जाती हैं। नन्द्राण जाति के केला बहुत लम्बे फल पैदा करते हैं जिससे इसका स्थानीय नाम 'निर्धन लोगों का भोजन' पड़ा है।

मोन्थन जाति का केला पकाने के ही अर्थ में प्रयोग होता है। यह दक्षिण भारत में मलाबार, मदुरा, तंजौर, त्रिचनापल्ली, कोयम्बटूर आदि स्थानों में उगाया जाता है। इसके झूठे तने लगभग १२ फीट ऊँचे होते हैं। फल का गुच्छा ५-७ हस्तों युक्त होता है और प्रत्येक हस्त में लगभग १० फल पाए जाते हैं। फल लगभग १०′ लम्बे होते हैं। इनका आकार कुछ टेढ़ा होता है और रंग पीला होता है। फल के ऊपर का छिलका सख्त और मोटा होता है। रसोई में काम आने वाले कुछ अन्य केले की जातियाँ भी पाई जाती हैं जो मोन्थन से बहुत मिलती-जुलती हैं। इनमें पंच मोन्था बार्दास, पीलेटेन, नीमैनन आदि हैं।



पूवन—दक्षिण भारत में इस जाति के केले मलाबार त्रिचनापल्ली, तंजौर, मदुरा, और पूर्वी तथा पश्चिमी गोदावरी तट पर उगाए जाते हैं। इस जाति का प्रयोग अधिकतर खाने के काम में किया जाता है इसके वृक्ष १० से १७ फीट ऊँचे होते हैं। इनके फल गुच्छे में उत्पन्न होते हैं। हरेक गुच्छे में कई हस्त और प्रत्येक हस्त में अनेक केले लटकते रहते हैं। इस जाति के फल वर्ष के प्रत्येक महीने में उगाए जा सकते हैं।

कुनान—दक्षिण भारत की यह एक अन्य प्रसिद्ध जाति है। इस जाति में कई फल जैसे कुमान, पातीला कुनान अदका कुनान और देन कुनान है। कुनान का वृक्ष ६ फीट ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ सीधी और सँकरी होती हैं। इनके फल बहुत छोटे होते हैं जिनकी लम्बाई लगभग ४-५″ होती हैं। इनका रंग चमकदार भूरे-फीके रंग का होता है। इनका गूदा खाने में बहुत स्वादिष्ट होता है। पातीला कुनान में यह विशेषता होती है कि इसके वृक्ष केवल स्त्री-प्रधान फूल उत्पन्न करते हैं। उनमें नर-प्रधान फूल नहीं पाए जाते।

मारुतिपस—केले की यह जाति बौने किस्म की होती है। इसमें बम्बई की बसराई कवैन्डीश, गवर्नर, चीनिया केला आदि जातियाँ पायी जाती हैं। ये जातियाँ उत्तरी भारत तथा मध्य प्रदेश में खाने के काम में अधिकता से प्रयोग की जाती हैं।

चक्राकेली—यह जाति दक्षिण भारत में उत्तर की ओर अधिक क्षेत्रफल में उग ई जाती है। यह जाति बहुत सख्त और अधिक उपज देने वाली कही जाती है। इसके तने ६ फीट लम्बे होते हैं। इनके फल मध्यम आकार के होते हैं। पकने पर इनका रंग पीला हो जाता है।

पक्का नंदन—यह जाति १० फीट लम्बे तने पैदा करने वाली होती है। इसके फल ५½″ लम्बे होते हैं। इनका आकार कुछ टेढ़ा होता है। इनकी छाल मोटी पाई जाती है। फलों का रंग कुछ हरापन लिए हुए पीला होता है और गूदे से सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है।

रसताली—इस जाति का प्रयोग खाने में प्रायः किया जाता है। इसके तने पक्का नंदन की भाँति १० फीट लम्बे होते हैं। इनके फल पक जाने पर डंडी से गिर जाते हैं किन्तु ये अधिक दिनों तक पक्की अवस्था में सुरक्षित रखी जाती हैं।

कापो—यह एक केले की हवाई जाति है जो कोयम्बटूर में केले के प्रयोग-स्थल पर उगाई जाती है। यह नन्द्राण केले से गूदे और स्वाद में बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इसके फल ७½" लम्बे होते हैं।

पहाड़ी केला—यह केला पहाड़ी ढालों पर उगाने के ही कारण पहाड़ी केला कहा जाता है। ये दक्षिण भारत में मदुरा जिले के पर्वती ढालों पर लगभग ६,७०० एकड़ में उगाए जाते हैं। इन्हें २ हजार से ५ हजार फीट की ऊँचाई पर उत्पन्न किया जा सकता है। इस जाति की एक किस्म सिरूमलाई है जो २ हजार से २५ सौ फीट की ऊँचाई पर उगायी जाती है। इसकी एक दूसरी जाति पीरू पच्ची है जो सेरूमलाई से अधिक ऊँचाई पर उगाई जाती है। यह लगभग ३,५०० से ५,००० फीट की ऊँचाई पर सफलतापूर्वक फल दे सकती है।



केले की पुत्तियाँ

केले की कुछ जातियाँ जंगली भी होती हैं जो बिहार, व आसाम की पहाड़ियों आदि में पाई जाती हैं। इन्हें अधिकतर जंगलों में जंगली रूप में ही पाया जाता है। इसके फल बीज से भरे होते हैं जिससे यह खाने के योग्य नहीं होता।

पौधे तैयार करना—केले की जोती जाने वाली जातियाँ, जैसा कि हमें ज्ञात है, बीज नहीं पैदा करती अतः इनका वानस्पतिक प्रजनन वानस्पतिक ढंग से ही किया जाता है। इसके लिए उद्यान से सकर (Sucker-पुत्तियाँ) चुने जाते हैं। ये वृक्ष के राईजोम से बहुत अधिक संख्या में निकलते हैं। सकर दो प्रकार के होते हैं। कुछ लम्बी और सँकरी पत्तियाँ उत्पन्न करती हैं जिन्हें सोर्ड सकर कहते हैं। इनका आधार बहुत मोटा होता है और ये ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं पतले होते जाते हैं। ऊपर की ओर कुछ पत्तियाँ भी निकलती हैं जिनके आकार पर ही इन्हें सोर्ड सकर का नाम दिया जाता है। यह सकर वानस्पतिक उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

दूसरे प्रकार का सकर लम्बी पत्तियों वाला होता है जिसे जल सकर के नाम से पुकारते हैं। इसकी ऊँचाई ३ फीट से कम होती है। सकर के चुनाव



पुत्तियाँ (सकर)

में ये दो जातियाँ अधिक पसंद की जाती हैं; किन्तु ऐसा देखा जाता है कि लम्बे सकर छोटे की अपेक्षा शीघ्र फल देते हैं किन्तु इनके गुच्छे छोटे होते हैं। अतः चुनाव में लम्बे सकर छाँट दिए जाते हैं और वे ही चुने जाते हैं जो नाटे होते हैं और काफी [illegible] दिखाई देते हैं। पेड़ से निकालते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उन्हें सावधानी से बाहर निकाला जाय; उनकी ऊँचाई २-३ फीट से अधिक न हो और एक वृक्ष में उनकी संख्या २-३ से अधिक भी नहीं होनी चाहिए। लोगों का ऐसा विचार है कि उस वृक्ष से सकर कदापि न लिए जायँ जो फल-फूल न पैदा किए हों। कुछ स्थानों पर वानस्पतिक उत्पादन राईजोम को टुकड़ों में काट कर कुछ दिनों तक रखने के पश्चात् किया जाता है। ऐसा करने से राईजोम का कटा हुआ धरातल सूख जाता है। कुछ स्थानों पर तो राईजोम के ऐसे टुकड़े जिनमें एक या एक से अधिक सुसुप्त आँख वाले टुकड़े हों पूरा पौधा तैयार कर सकते हैं।

वेस्ट इंडीज और मध्य अमेरिका में केला के राईजोम ही टुकड़ों में काटकर

वानस्पतिक उत्पादन के कार्यों में लाए जाते हैं; किन्तु यह वहीं संभव हो सकता है जहाँ से कि जंगल आंशिक रूप में हटा दिये गए हों और वहाँ एक-दो वृक्ष अब भी लगे हों। इन टुकड़ों में कम-से-कम एक आँख तो अवश्य होनी चाहिए। इन्हें भूमि में कुछ इञ्च की गहराई में लगा दिया जाता है। इनके उगने में मध्य की आँख को उगने से रोका जाता है और पूरे टुकड़े से २-३ से अधिक आँखें नहीं उगने दी जातीं। यह विधि अधिक सफल होती है किन्तु व्यापारिक तौर पर इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

जब उद्यान में सकर का चुनाव कर लिया जाता है तो उसे मातृ वृक्ष से इस सावधानी से अलग किया जाता है कि न तो किशोर सकर को ही क्षति पहुँचे और न मातृ राईजोम को। इन्हें तेज चाकू से काट लेना चाहिए। जो सकर काटा जाय उसमें राईजोम का कुछ भाग लगा होना चाहिए जिसमें कुछ जड़ें भी हों। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि सकर के झूठे तने को राईजोम से लगभग १२″ की ऊँचाई पर काट कर अलग कर दिया जाय। किन्तु बहुत से लोग इसे पसन्द नहीं करते। कुछ लोग सकर को ३-४″ की ही ऊँचाई पर काट देते हैं और तब उसे उद्यान में लगाते हैं। सकर को चुनते समय उसकी स्वस्थता पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि उस पर किसी रोग का प्रभाव हो तो उसे प्रयोग में लाना ही नहीं चाहिए। जो सकर चुने जायँ उन्हें २% कापर सल्फेट के घोल में डुबा लेना अच्छा होता है। मद्रास में सकर उद्यान में लगने के पूर्व ही जब कि वह मातृ वृक्ष में ही लगा होता है काफी कठोर बना दिया जाता है। इसके लिए उन्हें धूप में उस समय तक रखा जाता है जब तक वे फूट नहीं पड़ते। कभी-कभी कटे हुए सकर गोबर के घोल में भी डुबोये जाते हैं और फिर उन पर बारीक राख छिड़क दी जाती है। ऐसा करने से वे तब तक सुरक्षित रह पाते हैं जब तक कि उनमें अंकुरण नहीं हो जाता। बसराई केले की जाति में बहुत छोटे सकर चुने जाते हैं और देखा जाता है कि उपज बहुत अच्छी मिलती है। बम्बई प्रदेश में सकर का दो-तिहाई भाग काट दिया जाता है। कटे भाग पर गोबर और पानी का मिश्रण लपेट दिया जाता है। कभी-कभी पूरा पौधा ही गोबर के घोल में डुबा दिया जाता है और फिर बारीक लकड़ी की राख का छिड़काव कर दिया जाता है।

मातृ वृक्ष से पृथक करने के शीघ्र पश्चात् ही सकर उद्यान में लगाये जाते हैं। किन्तु कभी-कभी इन्हें ४-५ दिनों के लिए छाए में रख छोड़ा जाता है। कुछ स्थानों पर ऐसा भी किया जाता है कि इन्हें काटने के पश्चात् कुछ क्षण तक धूप में छोड़ दिया जाता है ताकि इनमें धूप सहन करने की शक्ति आ जाय।

स्थानान्तरण—सकर का स्थानान्तरण किस समय किया जाय, यह प्रत्येक

स्थान के लिए समान नहीं होता। दक्षिण भारत में कावेरी के डेल्टे पर पौधे फरवरी-मार्च के महीने में स्थानान्तरित किये जाते हैं किन्तु कुछ स्थानों पर यह क्रिया जुलाई-अक्टूबर के महीनें में भी स्थापित की जाती है। मद्रास प्रदेश में सयालकोट ऐग्रीकल्चरल रिसर्च स्टेशन पर चक्रकेलि और मारूतियस जातियों के लिए स्थानान्तरण का उत्तम समय जून माना गया है किन्तु पूवन जाति के लिए नवम्बर से जनवरी का समय सर्वश्रेष्ठ पड़ता है। पौधों के स्थानान्तरण पर प्रकाश डालते हुए चीमा, भट्ट और नायक ने लिखा है कि मद्रास प्रदेश में पूवन जाति का केला मानसून के महीनों को छोड़ कर वर्ष भर लगाया जाता है, कुछ उत्पादक वर्ष के अधिक भाग तक फसल लेने के लिए इसे दो या तीन ऋतुओं में लगाते हैं। पश्चिमी घाट में पौधे सितम्बर से नवम्बर तक रोपे जाते हैं। बम्बई प्रदेश में यह कार्य अधिकतर जुलाई-अगस्त के माह में किया जाता है।

केले के उद्यान के योग्य जब उपयुक्त भूमि का चुनाव हो जाता है तो उसे सकर निकालने के पूर्व रोपाई करने योग्य भली-भाँति तैयार कर लिया जाता है। भूमि की तैयारी के लिये सर्व प्रथम उसकी जुताई करते हैं। जुताई किसी मिट्टी पलटने वाले उन्नत हल, कल्टिवेटर या ट्रैक्टर आदि से करते हैं ताकि भूमि की गहरी खुदाई हो जाय। जुताई के पश्चात् पाटा या बेलन का प्रयोग करके भूमि प्रर्याप्त भुरभुरी बना देते हैं और उद्यान की भूमि समतल भी कर देते हैं। यदि भूमि में नमी की मात्रा कुछ कम पाई जाती है तो उसे सिंचाई करके काफी नम बनाना चाहिए। बेसिन नामक स्थान पर केले उगाने वाली भूमि कठोर होने पर सींच दी जाती है और सिंचाई के लगभग एक सप्ताह पश्चात् जुताई की क्रिया प्रारम्भ की जाती है।

भूमि की तैयारी के पश्चात् उद्यान में पौधों की रोपाई के लिए गड्ढे तैयार किये जाते हैं। इन गड्ढों का आकार स्थान-विशेष की भूमि पर बहुत कुछ निर्भर करता है। हल्की भूमि में गड्ढों का आकार भारी भूमि की अपेक्षा कम रखा जाता है क्योंकि भूमि के ढीली होने से और गढ्ढे के कुछ तंग होने से जड़ों के प्रसार में कुछ अवरोध नहीं आता किन्तु भारी और कठोर भूमि में इस बात के अधिक अवसर होते हैं। भारी भूमि में गड्ढों का आकार लगभग १८″ × १८″ होता है। उद्यान में पौधों की रोपाई के लिए गड्ढे सीधी पँक्तियों में निर्मित किये जाते हैं। कुछ स्थानों पर पौधे रोपने के लिए कूंड़े बना ली जाती हैं। वे कूँड़े २ फीट गहरी और १½ फीट या एक फुट ३″ चौड़ी होती हैं। एक कूँड़ से दूसरे की दूरी ३० फीट रखी जाती है। बम्बई प्रदेश में ½ फीट से १० फीट की दूरी पर लम्बी कूँड़ें बनाई जाती हैं और उन्हीं में गड्ढे खोद कर चुने हुए पौधों की रोपाई कर दी जाती है।

पौधों की पारस्परिक दूरी सभी स्थानों पर एक समान नहीं होती। हमारे देश

में बौनी जातियों के लिए ८ या १० फीट की दूरी उचित पड़ती है। किन्तु कुछ लोग ६ से १० फीट की दूरी रखते हैं। कभी कभी तो हमारे यहाँ केले के वृक्ष ६ फीट की ही दूरी पर रोप दिये जाते हैं। बड़ौदा में ४ या ५ फीट की ही दूरी पर पौधे रोपे जाते हैं। लम्बी जाति के केलों की जातियों में पौधों के आपस की दूरी १४ से १० फीट रखी जाती है। अमेरिका के पौधे २४ फीट की दूरी पर लगाए जाते हैं। क्विन्सलेण्ड में बौने जाति के केले १२ से १५ फीट की दूरी पर और लम्बी जाति के वृक्ष २० से २५ फीट की दूरी में रोपे जाते हैं। पौधों की रोपाई में इसका ध्यान रखना चाहिए कि वे एक दूसरे से इतनी दूरी पर रहें कि उनको धूप की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध हो सके और उनको जड़ों के विकास के लिए प्रचुर स्थान भी मिल सके। जब पौधे उद्यान में ६ फीट की दूरी पर रोपे जाते हैं तो सकर की संख्या प्रति एकड़ २,४०० होती है। किन्तु जब दूरी अधिक कर दी जाती है तो लगभग ८०० से १,००० पौधे ही काफी होते हैं। मद्रास प्रदेश में सकर की संख्या प्रति एकड़ ८०० से १,२५० तक होती है। जब पौधे आपस में ८ फीट की ही दूरी पर रोपे जाते हैं तो एक एकड़ में ७५० पौधे लगते हैं। किन्तु केले के पौधे जब अन्य फलों के साथ उत्पन्न किए जाते हैं तो सकर की कम संख्या आवश्यक होती है। चीमा, भट्ट और नायक ने केले की विभिन्न जातियों के लिए निम्नलिखित पारस्परिक दूरी निर्धारित की है:—

लाल केला	८ से १० फीट
लाल वेल्ची	८ से ६ फीट
मुथेली	८ से ६ फीट
सफेद वेल्ची	८ से ६ फीट
राजेली	७ से ८ फीट
बसराई	५ से ६ फीट
लोखंडी	५ से ६ फीट
मास केल	५ से ६ फीट

उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त चक्रकेली के लिए ६ से ८ फीट, मारूतियम के लिए ५ से ७ फीट, नन्द्राण के लिए ६ फीट की दूरी रखी जाती है। साधारणतया पौधों की दूरी ८ फीट सर्वश्रेष्ठ पड़ती है क्योंकि इससे जुताई-गोड़ाई तथा सिंचाई आदि क्रियाओं में अधिक सुविधा होती है।

गड्ढों में पौधों की रोपाई करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सकर का राईजोम भूमि में बिल्कुल ढक जाय। यदि उसके साथ भूठे तने का कुछ भाग भी मिट्टी से ढक जाता है तो कोई हर्ज नहीं होता। पौधे लगाने के पश्चात् तने के चारों ओर की मिट्टी सावधानी से दबा देनी चाहिए और गड्ढों की हल्की

सिंचाई भी कर देनी चाहिए। पौधा गड्ढे के बिल्कुल केन्द्र में हो और उसमें बिल्कुल सीधा खड़ा हो तो उद्यान की सफलता की अधिक आशा होती है।

खाद—हमने पहले ही इस बात पर प्रकाश डाला है कि केले के वृक्ष अधिक उर्वर भूमि में ही उगाए जा सकते हैं। यदि भूमि अत्यधिक उर्वर होती है तो उसमें खाद की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती अन्यथा यह बहुत महत्वपूर्ण क्रिया है। साधारणतया केले के उद्यान में गोबर की खाद अच्छी सड़ी अवस्था में उपयुक्त मानी जाती है क्योंकि इससे आवश्यक नाइट्रोजन फसल को उपलब्ध हो जाता है। गोबर की खाद पौधे रोपने के कुछ समय पश्चात् लगभग १५ दिन से १ माह तक दी जाती है। पुनः ५-६ सप्ताह पश्चात् दूसरी और तीसरी खूराक दी जाती है। बेसीन में रेड़ी की खाद, अमोनियम सल्फेट, सुपर फास्फेट और पोटेशियम सल्फेट का मिश्रण प्रयोग किया जाता है। इस मिश्रण में रेड़ी की खाद ४ से ५ पौंड, अमोनियम सल्फेट १½ पौंड, सुपर फास्फेट ११ से १२ औंस और पाटैशियम सल्फेट १ से ११ औंस होता है। रेंडी की खली के स्थान पर कोई अन्य खली उपयुक्त नहीं पड़ती। हाँ, यदि आवश्यक हो तो अन्य खली उसके साथ दी जा सकती है। वहाँ यह मिश्रण रोपाई के पश्चात् १ महीने के अन्तर पर दिया जाता है और यह क्रम लगभग ३-४ महीनों तक चलता है। खाद का उपर्युक्त मिश्रण केले की प्रत्येक जाति के लिए समान रूप से नहीं दिया जाता। लाल केला के पौधे को ४ खूराकें लगभग २० दिनों के अन्तर पर इस प्रकार दी जाती हैं—पहली खूराक रेंडी की खाद ४ पौन्ड, दूसरी खूराक ६ पौन्ड, तीसरी खूराक रेंडी की खाद २ पौन्ड और ५ से ६ पौन्ड ताजी मछली और चौथी खूराक रेड़ी की खाद ४ पौन्ड। लाल बेल्ची का पौधा १ महीने के अन्तर पर रेंड़ी की खाद ४ पौन्ड के हिसाब से प्रति बार पाता है। कुछ लोगों ने केले के पौधों के लिए अमोनियम सल्फेट, सुपर फास्फेट और पोटैशियम सल्फेट का मिश्रण १ : २ : १ के अनुसार देना स्वीकार किया है। इस मिश्रण से पौधे नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश की आवश्यक मात्रा प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु जमायका में किए गए प्रयोग से यह ज्ञात हुआ है कि फास्फोरस का प्रभाव फसल पर कोई महत्त्वपूर्ण नहीं पड़ता किन्तु सोडियम नाइट्रेट और पोटाश से उपज में अधिक वृद्धि पाई गई। मद्रास में पोटेशियम के प्रयोग से फसल की उपज पर अच्छा प्रभाव ज्ञात किया गया है। नाइट्रोजन से भी फसल में काफी वृद्धि पाई जाती है क्योंकि हमारे देश की भूमि, जैसा कि हमें ज्ञात है, नाइट्रोजन में बहुत निर्धन है।

बम्बई प्रदेश में मूँगफली की खली का भी प्रयोग किया जाता है। वहाँ फर्टि-लाइजर का प्रयोग पौधों पर उस समय किया जाता है जब कि बरसात समाप्त हो जाती

है और पौधों की छँटाई कर दी जाती है। केले की वाल्हा जाति में गोबर की खाद और मेंगनी का अच्छा प्रभाव ज्ञात किया गया है। वाल्हा के उद्यान में पहली जुताई के पश्चात् गोबर की खाद और मेंगनी का मिश्रण डाल दिया जाता है। पौधों की रोपाई के पश्चात् भी आवश्यकतानुसार गोबर की खाद दी जाती रहती है किन्तु मेंगनी का प्रयोग केवल एक बार ही किया जाता है। दक्षिण भारत में कुछ स्थानों पर जहाँ केले का फसल-चक्र धान के साथ बनता है, वहाँ गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता है। गोबर की खाद के स्थान पर मूँगफली या अन्य खलियाँ भी प्रयोग की जा सकती हैं। गोबर की खाद प्रति एकड़ ४० बैल गाड़ी दी जाती है। मूँगफली का प्रयोग उसी दशा में किया जाता है जब कि गोबर की खाद प्राप्य होती है। इसकी मात्रा प्रति एकड़ १५ सौ पौंड रखी जाती है। गनेशखिन्द फल अनुसंधान केन्द्र किरकी में बसराई जाति के पौधे पर गोबर की खाद अमोनियम सल्फेट, बोनमील, पोटाश और रेंड़ी की खाद का मिश्रण प्रयोग किया जाता है। ये मिश्रण गोबर की खाद और रेंड़ी की खली की ही दशा में अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होता है जब कि इनका अनुपात ८ : १ होता है।

सिंचाई—जैसा कि हमने पहले ही कहा है, केले के पौधे उन्हीं स्थानों पर उगाए जा सकते हैं जहाँ या तो अधिक वर्षा होती हो या सिंचाई की काफी सुविधा हो। जिन स्थानों पर ये बातें अनुकूल नहीं होतीं वहाँ फसल की वृद्धि उपयुक्त नहीं हो पाती। प्रथम सिंचाई तो उसी समय की जाती है जब कि गढों में पौधे रोपे जाते हैं। तत्पश्चात् प्रति आठवें-दसवें दिन सिंचाई करते रहना चाहिए किन्तु सिंचाई की अधिकता से फसल पर हानिकर प्रभाव भी पड़ सकता है। ऐसी दशा में भूमि में जल निकास का उत्तम प्रबन्ध भी आवश्यक होता है। गर्मी के दिनों में सिंचाई की प्रत्येक बारी में उद्यान को ३ एकड़ इंच पानी की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता फरवरी से मई तक रहती है। कुछ स्थानों पर फरवरी से मई तक १५ दिनों के अन्तर पर सिंचाई की क्रिया की जाती है और उद्यान में प्रति बारी ५ एकड़ इंच पानी दिया जाता है।

सिंचाई कई विधियों से की जाती है। साधारणतया कूँड़ विधि अथवा लबालब सिंचाई की विधि ही से सिंचाई की जाती है। कूँड़ विधि में लम्बी-चौड़ी कूँडें बना ली जाती है और उन्हीं द्वारा सम्पूर्ण उद्यान सींचा जाता है। कुछ स्थानों पर पौधे इस प्रकार रोपे जाते हैं कि प्रत्येक दो पंक्तियों के पश्चात् २ फीट गहरी और १½ फीट चौड़ी नालियाँ बना ली जाती हैं। नालियों की मिट्टी अगल बगल रख दी जाती है जिससे यह भाग मेंड़ का काम करने लगता है। कुछ स्थानों पर ४-५ पंक्तियों के अन्तर पर नालियाँ बनाई जाती हैं। सिंचाई करते समय पानी मुख्य

नाली से लाकर इन तक पहुँचा दिया जाता है और पौधे आवश्यकतानुसार पानी प्राप्त कर लेते हैं।

पूना में मोदीबाग में केला मेंड़ों पर यह ज्ञात करने के लिए उगाया गया कि इन पर ये सफलतापूर्वक उगाये जा सकते हैं या नहीं और इन्हें जल की आवश्यकता कितनी पड़ती है। उद्यान में मेंड़ें बनाई गईं और उनके बगल में लगभग २″ गहरी खाइयाँ खोदी गईं। खाइयाँ मेंड़ पर बोये गये केले के पौधे से ३″ की दूरी पर रखी गईं। अन्त में यह देखा गया कि मेंड़ों पर उगाये गये वृक्षों की उपज समतल भूमि के केलों से कहीं अधिक थी। समय की एक निर्धारित सीमा में मेंड़ों वाले उद्यान से जहाँ ६१ गुच्छे तोड़े गये वहाँ समतल उद्यान से केवल ३३। साथ ही प्रथम में प्रत्येक गुच्छे में जहाँ ६३ केले के फल थे वहाँ दूसरे में केवल ८०। अतः इस प्रयोग से यह परिणाम निकाला गया कि मेंड़ों की विधि अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक लाभप्रद विधि है। इससे प्रथम लाभ तो यह है कि प्रत्येक गुच्छे में फलों की संख्या १६% के साथ-साथ प्रति गुच्छा फलों की तौल ५५% के हिसाब से बढ़ जाती है। दूसरे, इस विधि की सिंचाई से चूँकि पौधे सीधे रूप से पानी के सम्पर्क में नहीं आते, अतः फफूँदी द्वारा रोग उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। तीसरे, फसल शीघ्र बढ़ती है और प्रौढ़ हो जाती है तथा उपज भी अधिक प्राप्त होने लगती है। चौथे, खाइयाँ और मेंड़ें एक बार की ही बनी अधिक दिनों तक स्थिर रहती हैं, अतः बार-बार बनाने का व्यय नहीं पड़ता। साथ ही सिंचाई में केवल खाइयाँ ही सींची जाती है मेंड़े नहीं, इससे सिंचाई का क्षेत्र बहुत कम पड़ता है। इन कारणों से श्रम और व्यय दोनों में कमी हो जाती है। इस विधि में एक अवगुण यह है कि इसमें खाइयों के गहरी होने पर पानी की मात्रा अधिक लगती है तथापि यह समतल सिंचाई करने वाली विधि से उत्तम पड़ती है। समतल सिंचाई वाली विधि में पानी की मात्रा तो कम लगती है किन्तु उसमें सिंचाई की नालियाँ तथा क्यारियाँ प्रति वर्ष बनाई जाती हैं जिससे व्यय अधिक पड़ जाता है और पानी तथा पौधों के सीधे सम्पर्क से फफूँदी की बीमारियों के बढ़ जाने की भी आशंका रहती है। किन्तु इस विधि की उपयुक्तता हल्की भूमि में बढ़ जाती है क्योंकि यह अधिक जल-निकास-पूर्ण होती है। ऐसी भूमि में एक सिंचाई से दूसरी का अन्तर बढ़ा देना चाहिए। यदि बहुत अधिक हल्की हुई तो यह दूरी ४-५ दिन तक रखी जा सकती है। सिंचाई की स्थिति पर भूमि के गुणों का ही प्रभाव नहीं पड़ता, मौसम की दशा भी इसे अधिक प्रभावित करती है। अतः गर्मी के दिनों में तापक्रम के ऊँचे होने और आर्द्रता के कम होने से सिंचाई ५-६ दिनों के ही अन्तर पर की जाती है। परन्तु जाड़े में यह अन्तर ८-१० दिनों तक का रखा जा सकता है। मानसून के

दिनों में भी सूखा पड़ने पर आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहना चाहिए। जलगाँव के समीप के क्षेत्रों में केले की सिंचाई गर्मी के दिनों में ४-५ दिनों के अन्तर पर की जाती है और जाड़ा ज्यों-ज्यों निकट आता है समय की दूरी बढ़ा दी जाती है। फावसेट्ट (Fawcett) के शब्दों में फूल आने के बाद की सिंचाई का गुच्छों के फलों की संख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः पानी की नालियाँ प्रारम्भ में तो छोटी-छोटी बनानी चाहिए पर जब पौधे प्रौढ़ हो जायँ और उनमें फूल आने लगें तो उनका आकार बड़ा कर देना चाहिए ताकि उन्हें पानी की मात्रा ही प्राप्त हो सके।

पौधों की सिंचाई करते समय इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि उन्हें इतना पानी न दे दिया जाय कि भूमि जलपूर्ण हो जाय और पौधों को लाभ के स्थान पर हानि होने लगे। भूमि यदि जलपूर्ण हो और उसमें जलनिकास का कोई उत्तम प्रबन्ध न हो तो पौधों में पनामा रोग और जड़ों के सड़ाव का प्रारम्भ हो जाता है। यह स्थिति प्रायः उसी समय उत्पन्न होती है जब कि उद्यान की सिंचाई समतल भूमि में क्यारियों में की जाती है।

सम्बन्धित टिलेज—केले के उद्यान में समय-समय पर जुताई-गोड़ाई करनी आवश्यक होती है। प्रत्येक सिंचाई के पश्चात् भूमि की गोड़ाई कर देने से एक तो भूमि काफी भुरभुरी हो जाती है और उसकी नमी अधिक दिनों तक स्थिर रह पाती है, दूसरे भूमि में उगे आवश्यक घास-पात भी निकल जाते हैं और भूमि में मिलकर जीवांश पदार्थ की वृद्धि करने लगते हैं। नागपुर में यह एक रिवाज-सा है कि वहाँ केले के वृक्ष प्रति सप्ताह सींचे जाते हैं और प्रति दूसरी सिंचाई के पूर्व बखर की सहायता से गोड़ दिए जाते हैं। गर्मियों के दिनों में जब कि भूमि अत्यधिक शुष्क हो जाती है और उसका ऊपरी धरातल जोतने-गोड़ने योग्य नहीं रह जाता है तो सम्बन्धित टिलेज की कोई क्रिया नहीं की जाती है। सम्बन्धित टिलेज की क्रिया उद्यान में सिंचाई के लिए नालियाँ और क्यारियाँ बनाने और भूमि से घास-फूस निकालने के साथ ही हो जाती है। चूँकि केले के वृक्ष उद्यान में अन्य वृक्षों की अपेक्षा अधिक घने होते हैं, अतः इनमें जुताई-गोड़ाई करने वाले उन यंत्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकता जो बैलों से चलाये जाते हैं। इनमें हाथ से चलाये जाने वाले साधारण यंत्र ही प्रयोग किये जाते हैं। ये यंत्र प्रत्येक समय आवश्यकतानुसार निश्चित गहराई तक प्रयोग किये जा सकते हैं।

निकाई की क्रिया उद्यान में उस समय अधिक आवश्यक होती है जब कि केले के पौधे बहुत कम आयु के होते हैं क्योंकि इस समय घास-पात की अधिक वृद्धि से पौधों का बढ़ाव रुक सकता है। प्रायः निकाई की क्रिया उद्यान में सदैव

आवश्यक होती है क्योंकि बराबर सिंचाई करते रहने से घास-पात के उग आने की अधिक सम्भावना होती है।

मध्यस्थ फसलें—कभी-कभी जब फसलें अधिक दूरी पर लगाई गई होती हैं तो उनके मध्य कुछ तरकारियाँ या अन्य फसलें उगा ली जाती हैं। किन्तु यदि पौधे अपने सामान्य अन्तर पर उगाए जाते हैं तो उनमें केवल एक वर्ष तक ही ये फसलें उगाई जा सकती हैं क्योंकि एक वर्ष के पश्चात् ये इतनी बढ़ जाती हैं कि इनके बीच बहुत कम स्थान रिक्त रह जाता है। नन्द्राण जाति के केले में त्रावणकोर क्षेत्र में यम (yams) नामक पौधे उगाए जाते हैं। ये केले के एक पौधे के साथ तीन की दर से दक्षिणी पश्चिमी मानसून के समाप्त होते-होते लगा दिए जाते हैं। शीघ्र पैदा होने वाली तरकारियाँ जैसे बैगन, टमाटर, फूलगोभी, पातगोभी और गाँठ-गोभी केले के उद्यान में लगभग एक वर्ष तक उगाई जा सकती हैं किन्तु इस अवधि के पश्चात् इनको बोआई श्रेयस्कर नहीं सिद्ध होती है। दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट के कुछ भागों के अतिरिक्त केले के विशुद्ध उद्यान में कोई मध्यस्थ-फसल नहीं उगाई जाती। फसलें ही नहीं वहाँ उद्यान में हरीखाद का भी प्रयोग नहीं किया जाता। यदि फसलें अन्य फलों के उद्यान में मिश्रित रूप से उगाई गई हैं तो उनमें वे ही मध्यस्थ फसल का काम देती हैं, फिर उनमें मध्यस्थ फसलें उगाने का कोई प्रश्न नहीं उठता। मध्यस्थ फसल उगाने से यह लाभ होता है कि उत्पादन उस समय भी उद्यान से कुछ लाभ प्राप्त करने लगता है जब कि उद्यान की मुख्य फसलें अभी बहुत छोटी होती हैं और उनसे कोई लाभ नहीं प्राप्त होता। मध्यस्थ फसलों से एक लाभ यह है कि उनसे किशोर पौधों को धूप से कोई हानि नहीं होने पाती क्योंकि इनसे उनकी रक्षा हो पाती है। यदि उद्यान में मध्यस्थ फसलें नहीं उगाई जातीं तो किशोर पौधों की धूप से सुरक्षा के लिए केले की शुष्क पत्तियाँ तनों में लपेट दी जाती हैं।

छँटाई—केले के उद्यान में छँटाई की क्रिया उस प्रकार नहीं की जाती जैसे अन्य वृक्षों में सम्पादित होती है। इसमें वृक्ष की सूखी पत्तियाँ निकाल कर बाहर कर दी जाती हैं जिनके रहने से कोई लाभ नहीं होता। कुछ स्थानों पर मुख्य वृक्ष की जड़ों से निकलने वाले सकर भी काट कर पृथक कर दिये जाते हैं जिन्हें रोपकर वृक्ष तैयार किये जाते हैं। बम्बई प्रदेश में यही उद्देश्य कार्यान्वित किया जाता है। रोपे गये सकर से जितने भी सहायक सकर उत्पन्न होते हैं उन्हें छाँट दिया जाता है। ऐसा करने से मुख्य वृक्ष अधिक उत्साहपूर्वक विकसित होता है और अधिक सुदृढ़ वृक्ष तैयार होता है। इस प्रदेश में बसराई और लाल केले की जातियों में मुख्य तने के अतिरिक्त अन्य सभी सकर ज्यों ही उत्पन्न होना प्रारम्भ करते हैं, उन्हें काट कर

पृथक कर दिया जाता है। किन्तु इस दशा में उद्यान से केवल कुछ समय तक ही फसल ली जा सकती है। उन स्थानों पर जहाँ केले के उद्यान अनेक वर्षों तक स्थिर रखे जाते हैं, ऐसा नहीं किया जाता। वहाँ मुख्य तने के साथ-साथ अन्य सहायक सकर भी उगने दिये जाते हैं और उन्हें बढ़ने का अवसर भी प्रदान किया जाता है। लाल वेल्ची, सानकेल और वाल्हा ऐसी ही जातियाँ हैं। मद्रास में यही क्रिया की जाती है अर्थात् वहाँ एक बार जब सकर रोप दिया जाता है तो उससे चाहे जितने भी सकर उत्पन्न हो छाँटे नहीं जाते। ऐसा करने से वहाँ केले की फसल बराबर ली जाती रहती है। इस प्रकार के उद्यान वहाँ लगभग १०० वर्ष या ऊपर तक के भी पाये जाते हैं। किन्तु जैकोब (Jacob) के अनुसार इस प्रदेश में प्रथम और दूसरा सकर उसी समय छाँट कर पृथक कर लेना चाहिए जब कि वे भूमि के बाहर निकलने लगें किन्तु तीसरे सकर के निकलने पर उसे वैसे ही छोड़ देने चाहिए ताकि वह बढ़कर दूसरा वृक्ष तैयार कर सके। तीसरे सकर के पश्चात् भी जो सकर उत्पन्न हों उन्हें छाँट देना अच्छा समझा जाता है।

वृक्ष से जब गुच्छा तैयार कर लिया जाता है तो उसे सावधानी से काट कर उद्यान से बाहर फेक देना चाहिए। यदि यह क्रिया सावधानी से नहीं की जाती तो वे पुत्री सकर जो तने की जड़ से उत्पन्न होती हैं विनष्ट हो जाती हैं। अतः इन्हें काटते समय सतर्क रहना चाहिए और कटाई इस प्रकार करनी चाहिए कि सकर को भी बढ़ने का अवसर मिले। कटाई एक प्रकार के तेज धार वाले चाकू से की जाती है। जब वृक्ष से सकर निकालने होते हैं तो इन्हें राइजोम के निकट से निकाल लेते हैं। किन्तु राइजोम से निकालते समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि मातृ राइजोम क्षतिग्रस्त न हो। उत्तरी भारत में केले के उद्यानों में यह प्रथा है कि पौधों की रोपाई के ८ महीने तक की अवधि तक उगने वाले लगभग सभी सकर निकाल दिए जाते हैं। किन्तु इसके बाद वृक्ष में जब कोई सुदृढ़ और होनहार सकर दिखाई पड़ता है तो उसे सुरक्षित रखा जाता है ताकि दूसरे मौसमों में वह फसल दे सके।

फल आना—केले की फसल में फल आने का समय केले की जाति के अनुसार बदलता रहता है। बसराई केला साधारणतः १४ महीने, बाल्टा १० महीने और लाल केले १२ महीने के पश्चात् फलते हैं। पौधे की फल देने की आयु सकर के रोपने के समय के आकार और अवस्था के अनुसार प्रभावित होती है। यदि सकर छोटे हुए तो फलफूल अधिक दिनों में आते हैं किन्तु बड़े सकर की स्थिति में फल-फूल शीघ्र ही आने प्रारम्भ हो जाते हैं। पूवन जाति १२ से १४ महीने में तैयार होती है जबकि नन्द्राण जाति के केले १२ महीने में फल देने लगते हैं। मारिशस जाति के केले ७½ महीने के पश्चात् फल फूल देना प्रारम्भ करते हैं। गोदावरी

जिले में केले के उद्यानों में प्रयोग करते समय यह ज्ञात किया गया है कि केले के वृक्ष ९ से १३ महीने में गुच्छा देने लगते हैं और जुलाई से नवम्बर तक बरसात के दिनों में बड़ी तेजी से बढ़ते हैं। पूवन जाति में देखा गया है कि यह दिसम्बर से मार्च तक बहुत उपज देता है जबकि मारिशस अक्टूबर से नवम्बर, रसवाली अप्रैल से मई और पहाड़ी केला लगभग पूरे वर्ष उपज देता है। मद्रास और बम्बई में यों तो केला वर्ष के सम्पूर्ण महीनों में उपलब्ध होता है किन्तु मानसून के दिनों में जुलाई से अक्टूबर तथा जाड़े के दिनों में दिसम्बर से मार्च तक अधिक उपज मिलता है। जैकोब ने कहा है कि नन्द्राण जाति के केले लगभग ९ महीने में और ११ महीने में तैयार हो जाते हैं। सयालकोट के प्रयोग से यह ज्ञात हुआ है कि जून में बोई गई चक्रकेलि की फसल ८५%, बोन्था ८३% और मारिशस ७५% जनवरी में फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। बोन्था के गुच्छे तो फलने के लगभग २ माह पश्चात् तैयार हो जाते हैं किन्तु अन्य दोनों जातियों के तैयार होने के लिए ३-४ महीने लग जाते हैं। मारिशस केले के लिए तो यह सिद्ध किया गया है कि यह बहुत कम समय में तैयार होने वाली जाति है। यह ९ महीने और २९ दिन में काटने योग्य हो जाती है।

तोड़ाई—बहुत कम स्थलों पर ही ऐसा देखा जाता है कि केले वृक्ष पर पकाए जाते हों। वे हरी अवस्था में ही जबकि फल पूर्णरूपेण प्रौढ़ हो जाते हैं वृक्ष से तेज हँसिया या किसी अन्य यंत्र द्वारा गुच्छे सहित काट लिया जाता है। काटने के पश्चात् यदि उन्हें बाहर भेजना होता है तो वे हरी अवस्था में ही भेज दिऐ जाते हैं क्योंकि उस अवस्था में फल के सड़ाव का भय कम होता। स्थानीय बाजारों के लिए जब फल की तोड़ाई में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वे डंठल सहित इतनी दूरी पर काटे जायँ कि गुच्छे के पहले फल से कटाव की दूरी लगभग १०″ हो। कटाई के पश्चात् यह भी ध्यान रखा जाता है कि गुच्छे ऊपर से गिर कर घायल न हों जायँ या इनमें कहीं से खरोंच न आ जाय। जब यह क्रिया समाप्त हो जाती है तो उसे गोदामों में पकाते हैं। केले के पकाने के कई ढंग प्रचलित हैं। सेन्ट्रल मार्केटिंग डिपार्टमेन्ट ने केले को पकाने की अन्यान्य विधियों जैसे—भण्डारों में धुएँ से फल पकाना, धूप में पकाना, भट्टी या गुच्छा रख देना या हरी पत्तियों से ढक कर पकाना आदि पर प्रकाश डाला है। ये विधियाँ अधिकतर लाभकर सिद्ध हुई हैं। धुयें से पकाने वाली बिधि इस प्रकार है कि केले के फल एक कमरे में उसके तीन-चौथाई भाग में ठीक ढंग से रख दिए जाते हैं। तत्पश्चात् फल पत्तियों से ढक दिए जाते हैं। कमरे के एक कोने में कुछ ऊपलें आदि रख दिए जाते हैं। जब फल के रखने और पत्तियों के ढकने की क्रिया समाप्त हो जाती है तो

ऊपले में आग लगा दी जाती है और कमरे को जहाँ तक हो सकता है इस प्रकार बंद करते हैं कि उसमें हवा के आने-जाने का कोई मार्ग न रहे। धुएँ पैदा करने की यह क्रिया लगभग ३० से ४० घंटे तक जारी रहती है और तब कहीं फल पक पाते हैं। कोयम्बटूर में फलों के पकाने की एक अन्य विधि प्रयोग की जाती है। इस विधि में फल एक कमरे के कोने में रखे जाते हैं और पत्तियों से ढक दिए जाते हैं। धरातल पर फलों की ढेर में एक मिट्टी का घड़ा जिसके पेंदे में छेद किया रहता है उलट कर इस प्रकार रख दिया जाता है कि घड़े का मुँह नीचे और छेद ऊपर की ओर रहता है। बर्तन उपले से भली-भाँति भर दिया जाता है और फिर उसमें आग सुलगा दी जाती है। आग सुलगाने से धुआँ उत्पन्न होता है। यह धुआँ ऊपर के छिद्र से निकल कर फल की तहों में जाता है। धुआँ देने की यह क्रिया जाड़े में ४८ घन्टे और गर्मियों में २४ घन्टे तक स्थिर रहती है। ऐसा करने से फल सुरक्षित रह पाता है। १९४६ ई० में एक प्रयोग के अनुसार यह सिद्ध किया गया कि गुच्छों के डंठल के कटाव पर वैसलीन लगाने से फलों का पकाव शीघ्र होता है। इससे पकने में केवल शीघ्रता ही नहीं होती है अपितु फल का रङ्ग भी समान हो जाता है। कोदूर में लहसुन का कुछ भाग फल के डण्ठल में अन्तर्निवेशित कर यह देखा गया कि फल वैसलीन के प्रभाव की भाँति ४ दिन पूर्व ही पक गए। दक्षिण भारत के नीलिगिरी की पहाड़ियों के ढाल पर फलों के पकने की एक अन्य विधि प्रयोग की जाती है। वहाँ एक गड्ढा खोद लिया जाता है जिसमें १२ से १५ गुच्छे सरलतापूर्वक रखे जा सकते हैं। गड्ढे ऊपर से लकड़ी के तख्ते या टीन की चादर से ढक दिए जाते हैं। इन तख्तों या चादरों में एक छोटा-सा छेद बना दिया जाता है। गुच्छों के साथ गड्ढे बन्द करने के पूर्व कुछ सूखे घास-पात रख दिये जाते है। तत्पश्चात् गड्ढा पूर्णरूपेण ढक दिया जाता है। उसे वायु-सिद्ध बनाने के लिए मिट्टी की लिपाई भी कर दी जाती है किन्तु तख्ते के छिद्र बन्द नहीं किए जाते अपितु उनके ऊपर मिट्टी के बर्तन जिनके पेंदे में छेद किया गया रहता है, केले के छिलके आदि से भर कर रख दिए जाते हैं। जब ये सभी क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं तो छिद्र से आग सुलगा दी जाती है। आग से उत्पन्न धुआँ गड्ढे के भीतर तक पहुँचता है। धुआँ देने की यह क्रिया १२ घंटे के अन्तर पर गर्मियों में ३ बार और जाड़ों में ४ बार की जाती है और तब कहीं फल पक पाता है।

कुछ स्थानों पर गैस हीटर द्वारा फल पकाये जाते हैं। गैसों में इथिलीन गैस अधिक प्रचलित है। केले के गुच्छे एक विशेष प्रकार के बने कमरे में बन्द कर दिये जाते हैं और तब इस गैस का प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं कोल गैस (Coal gas) का भी प्रयोग इस कार्य के लिए होता है। फलों के पकने के लिए

बन्द कमरे का तापक्रम ७५° से ८०° फा० उत्तम होता है। इस तापक्रम पर फल ६ से ४८ घन्टे में पक कर तैयार हो जाता है।

केले का बहुत अंश बिना किसी संरक्षण के बाहर भेज दिया जाता है। इन्हें भेजने में कोई सावधानी नहीं बर्ती जाती। एक गुच्छा दूसरे के ऊपर रख कर रेल का डब्बा भर दिया जाता है और इसी स्थिति में माल दूर तक चला जाता है। जहाजों में भी ऐसा ही प्रबन्ध रहता है। कम दूरी पर माल ले जाने के लिए लारियाँ अच्छी सिद्ध होती हैं जिनमें केले के गुच्छे ऊपर तक भर दिए जाते हैं। कुछ स्थानों पर गुच्छे से फल तोड़ लिए जाते हैं और इन्हें पत्तियों में लपेट कर बाहर भेजा जाता है किन्तु यह विधि कुछ सीमित स्थानों पर ही प्रचलित है।

उपज—केले की उपज जाति और स्थान के अनुसार समान नहीं होती है। स्यालकोट में बोन्था, मारिशस और चक्रकेली की उपज प्रति एकड़ ८००,१००० और ६०० पाई गई है। तौल के अनुसार चक्रकेली की जाति प्रति एकड़ ११,१२६ पौण्ड उपज देती है। यह उपज १६२४-२५ में ली गई थी, १६२६-२७ में यह बढ़कर १८,२०३ पौंड हो गई। मूल्य के अनुसार इन दोनों वर्षों की फसलें क्रमशः ६५७ रु० और १,३२७ रु० की थी। कोयमबटूर में लगभग १०० जातियों को एकत्रित किया गया जिससे यह ज्ञात हुआ कि मिन्डोली जाति की उपज सर्वश्रेष्ठ है जो प्रति वृक्ष ५७ पौंड उपज देती है। वहाँ सबसे कम उपज देने वाली जाति नमराई सिद्ध हुई जो केवल १ पौण्ड प्रति पौधा उत्पादन करती थी। सेन्ट्रल एग्रीकलचरल मारकेटिंग डिपार्टमेन्ट १६४५ के अनुसार भारतवर्ष में केले की औसत उपज १६४०-४१ में प्रति एकड़ १५५ मन थी और सम्पूर्ण देश की कुल उपज १०६,८४१,००० मन थी। मलाबार में नन्द्राण जाति के उद्यान में प्रति एकड़ ७०० गुच्छे प्राप्त किए गए।

चुनाई—केले के फलों के लिए भारत में चुनाई का कोई निश्चित स्तर नहीं है। विदेशों जैसे क्यूबा और नये दक्षिणी वेल्स में चुनाई और बक्साबन्दी का निश्चित स्तर प्रचलित है जिस पर उनकी चुनाई और बक्साबंदी की जाती है। इस स्तर के अभाव में उत्पादक अधिक लाभ नहीं अर्जित कर पाता क्योंकि इन फलों की बाजार में कोई विशेष माँग नहीं होती। अतः भिन्न आकार के केले पृथक करके बेचना ही अच्छा पड़ता है। क्वीन्सलैंड में केले के फल अपनी मोटाई और लम्बाई के अनुसार छठे, सातवें और आठवें के रूप में चुने जाते हैं।

संचय—जब केले के फल बाहर भेजने होते हैं तो सड़ाव के भय से उन्हें रिफ्रेजिरेटर में भेजना उपयुक्त होता है। उस यंत्र में तापक्रम आवश्यकतानुसार नियंत्रित किया जाता है। तापक्रम लगभग ५१ से ५५° फा० तक रखा जाता है।

इस तापक्रम पर फल सुरक्षित रहता है। रोज और अन्य का कथन है कि भण्डार-गृह का तापक्रम ५७° से कम नहीं होना चाहिए। फल के पकने के लिए ७५° फा० का तापक्रम उपयुक्त होता है किन्तु पूना में केले की कुछ जातियाँ ६०° और ६८° पर ही पक जाती हैं। रोज और अन्य का कहना है कि फल को हरी अवस्था में भण्डार-गृह में ९०-९५% आर्द्रता का रहना आवश्यक होता है, किन्तु पक जाने पर उसका प्रतिशत कम कर दिया जाता है। परन्तु यह कमी ८५% से नीचे नहीं होना चाहिए। सेन्ट्रल मारकेटिंग डिपार्टमेन्ट का कथन है कि केले ऐसे फल के लिए शीतागार उपयुक्त नहीं पड़ता क्योंकि इसमें व्यय अधिक पड़ जाता है। बम्बई प्रदेश में गुच्छे को अधिक दिनों तक स्वस्थ तथा ताजा बने रहने और गुच्छे में सड़ाव की क्रिया रोकने के लिए डण्ठल के कटे भाग में वैसलीन अथवा पिघला हुआ मोम या तारकोल लपेट दिया जाता है। ऐसा करने से गुच्छे में रोग भी नहीं लगने पाते।

केले का अधिकाँश भाग कच्चा ही ताजे रूप में खा डाला जाता है। कुछ भाग तरकारी के रूप में पका कर आहार के रूप में खाया जाता है। बहुत कम ही ऐसा केला बच रहता है जिसे फल के अन्य उपयोगी पदार्थ बनाने में प्रयोग किया जा सके।

बक्साबन्दी - केले के वृक्ष से फल के गुच्छे उसी समय तोड़े जाते हैं जबकि वे पूर्णरूपेण प्रौढ़ हो जाते हैं। प्रौढ़ावस्था में बक्साबन्दी के लगभग १२ घन्टे पूर्व उन्हें वृक्ष से पृथक कर लिया जाता है। तोड़ाई के पश्चात् फल के गुच्छे क्वीन्सलैंड में एक प्रकार के थैले में रख दिये जाते हैं जिनमें सूर्य का प्रचण्ड ताप कोई प्रभाव नहीं डाल पाता और न हानिकारक पक्षी और कीड़ों की ही पहुँच हो पाती है। किन्तु ये थैले पाले आदि से फल की रक्षा नहीं कर पाते तथापि इनका प्रयोग लाभप्रद सिद्ध होता है। ये थैले कई ऋतु तक काम दे सकते हैं, अतः इनके क्रय में जो कुछ मूल्य लगता है वह प्रति वर्ष नहीं लगता। अपितु कुछ वर्षों के अन्तर पर लगा करता है। कम दूरी पर ले जाते समय फलों की न तो बक्साबन्दी की जाती है और न उन्हें थैले में ही भरा जाता है, बल्कि ये नंगे रूप में ही गाड़ियों या लारियों में भरकर बाजार तक पहुँचा दिये जाते हैं। किन्तु दूर या विदेश भेजते समय बाँस या लकड़ी के बक्से बनाये जाते हैं और उन्हीं में गुच्छों को कई टुकड़ों में भरकर रख दिया जाता है। कुछ गुच्छों की फलियाँ तोड़ भी ली जाती हैं और उन्हें बक्से के रिक्त स्थानों में भर दिया जाता है। रिक्त स्थानों में कभी-कभी मक्के की भूसी का प्रयोग किया जाता है जो फलों की हिल-डुल कर घायल होने से रक्षा करती हैं। किन्तु भूसी भरने में यह ध्यान रखना चाहिए कि बक्से में वायु

का पूरा प्रबन्ध हो। कैवेन्डिश जाति के केले कुमारी द्वीप में सूती-ऊनी कपड़े में लपेट कर बक्से में बन्द किये जाते हैं और तब बाहर भेजे जाते हैं। मद्रास में बक्साबन्दी की कोई प्रथा नहीं है। वहाँ केले के गुच्छे नंगे रूप में रेल के डिब्बों में भर दिये जाते हैं या कभी-कभी केले के पत्तों में लपेट कर भर दिये जाते हैं और फिर बाहर भेज दिये जाते हैं।

केले का खाद्य अंश—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाला है, केले के फल में कैलशियम, फासफोरस, चीनी और अनेक विटामिन उपस्थित होते हैं। पके केले में चीनी की मात्रा लगभग १८ से २०% होती है। ब्रूक्स (Brooks) ने कहा है कि केले के फल में जब ५ से १०% चीनी उपस्थित होती है और ५०° से ६०° से० तक गर्म किया जाता है तो चीनी स्थिर रहती है। चीनी के साथ-साथ उसमें विटामिन A, B_2 काम्पलेक्स और C भी पाये जाते हैं। केले के फल में प्रोटीन की भी उपस्थिति होती है। साधारणतया केले की सभी जातियों में विटामिन A और C अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। उनमें विटामिन B_1, और B_2, जिसे G भी कहते हैं प्रायः पकने की अवस्था में प्राप्त किए जाते हैं। हवाई में केले फास्फोरस के अच्छे स्रोत गिने जाते हैं किन्तु कैलशियम के लिए ये निर्धन स्रोत हैं।

कच्चे और पके दोनों प्रकार के फल बाजार में बेचे जाते हैं। कच्चे फल तरकारी के प्रयोग में आते हैं। इस कार्य के लिए वे ही जातियाँ प्रयोग की जाती हैं जिन्हें पकाने के पश्चात् ही खाने के योग्य बनाया जाता है। पकाने पर ये शक्ति के दृष्टिकोण से बहुत लाभप्रद होती हैं। इनमें इस रूप में शकरकन्द और आलू की भाँति स्टार्च की मात्रा अधिक उपलब्ध होती है। कच्ची खायी जाने वाली जातियाँ बिना पकाए खाने के प्रयोग में नहीं लाई जानी चाहिए क्योंकि उनमें अपच का शिकायत हो जाती है। पके फल से अपच की कोई संभावना नहीं होती। केले की फल आहार के दृष्टिकोण से बहुत बढ़िया फल है और कम व्यय पर ही सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकता है।

फल के रोग और कीड़े—केले की फसल पर रोग और कीड़े आक्रमण कर अधिक हानि पहुँचाते हैं। किन्तु भाग्य से अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में उनका प्रभाव कम देखा जाता है। इस फसल का भयंकर रोग पनामा है। कीड़ों में कुख्यात घुन हैं जो समय पाकर आक्रमण कर देते हैं और फसल को अधिक हानि पहुँचाते हैं।

पनामा रोग—यह रोग सर्व प्रथम पुरटो रिको (Puerto Rico) द्वारा सन् १९३० ई० में ज्ञात किया गया। यह एक प्रकार के जीव से जिसे फ्यूजेरियम

कुबेन्स (Fusarium cubense) कहते हैं, उत्पन्न होता है। यह जीव बहुत छिछली भूमि में उत्पन्न होता और वृद्धि पाता है। यह वृक्ष के सकर और जड़ों पर आक्रमण करता है। इस रोग के लक्षण ये हैं कि जिस वृक्ष पर इसका आक्रमण हो जाता है उसकी पत्तियाँ उस समय सूखना प्रारंभ कर देती हैं जब कि वृक्ष में फल आना शुरू होता है। ऐसा होने से फलों की वृद्धि रुक जाती है। पत्तियाँ और सकर सूख जाते हैं। रोग का प्रभाव पौधे के आन्तरिक भागों पर भी पड़ता है। वैसकुलर तन्तु प्रभावित होकर रंग-हीन हो जाते हैं। इस रोग के प्रभाव से भूमि में पानी जमा हो जाता है जिससे वायु का आवागमन कम हो जाता है और भूमि अम्लीय हो जाती है।

पनामा रोग को रोकने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए। किन्तु अभी तक कोई महत्वपूर्ण उपाय नहीं निकाला गया है। इस रोग को रोकने के लिए १६२२ ई० में इम्पीरियल कालेज आफ ट्रापिकल एग्रीकल्चर, मिनियाद में रोग को सहन करने वाली कुछ जातियाँ ली गईं। इम्पीरियल कालेज नम्बर एक केले की जाति है जो इसे सहन करने में अच्छी सिद्ध होती है। यह ग्रास मिचेल जाति से अधिकांश रूप में मिलती-जुलती है। ग्रास-मिचेल केले की ऐसी जाति है जो वेस्ट-इंडीज में अधिकता से उत्पन्न की जाती है और यहाँ से यह उत्तरी योरप को अधिक मात्रा में भेजी भी जाती है। पनामा रोग बम्बई प्रदेश में पूना के निकट देखा गया है। यहाँ से यह निकट के स्थानों में फैल भी सकता है। उसके अतिरिक्त यह बड़ौदा और मद्रास में भी पाया जाता है। पनामा रोग को दूर करने के लिए कुछ स्थानों पर सिंचाई की भी विधि प्रयोग की जाती है। इस विधि में ६ महीने तक उद्यान पानी से भरा रखा जाता है और तब इस रोग का प्रभाव दूर हो पाता है।

पपड़ी का रोग—यह रोग एक प्रकार के फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है जिसे ग्लियोइस्पोरियम मुसारूम (Gloeosporium musarum) कहते हैं। इसका प्रभाव फल के डंठल पर पड़ता है और इसकी वृद्धि उसी समय होती है जब कि फल हरा होता है। इसका प्रभाव तब तक नहीं ज्ञात होता जब तक कि फल पक नहीं जाता। प्रभावित फल पर लाल और भूरा रंग उत्पन्न होता है और ध्यान-पूर्वक देखने से एक प्रकार का तिरछा चिह्न भी ज्ञात होता है। वह चिह्न पहले तिरछे होते हैं, बाद में उनको लम्बे रूप में काटते हुए दरार बन जाते हैं जो काले रंग में परिवर्तित हो जाते हैं। दरार हो जाने से छिलका सूखने लगता है और उनका रंग भी बदलने लगता है। रंग के साथ-साथ दरार भी बढ़ती जाती है और अन्त में गहरी और बड़ी हो जाती है। छिलके का रंग भूरा हो जाता है। इस रोग

का प्रभाव फल के केवल बाहरी अंगों पर ही नहीं पड़ता अपितु आन्तरिक अंग भी बिना प्रभावित हुए नहीं रहते। गूदा रंग-हीन हो जाता है और धीरे-धीरे सूखना प्रारम्भ कर देता है। इसकी रोक-थाम के लिए बरगन्दी के मिश्रण का छिड़काव किया जाता है। यह मिश्रण कापर सल्फेट, और धोने वाले सोडा को पानी में घोलकर बनाया जाता है। घोल में कापर सल्फेट की मात्रा ४ पौंड, सोडा ५ पौंड और पानी ५० गैलन होता है। रोग की रोक-थाम प्रौढ़ फलों की ध्यानपूर्वक देखभाल से भी की जा सकती है।

तने का सड़ाव—जैसा कि नाम से ही विदित है, यह रोग झूठे तने पर सड़ाव प्रारम्भ करता है। कम आयु वाले तने इससे अधिक प्रभावित देखे जाते हैं। इसके प्रभाव से तने में सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है और वे मर जाते हैं। प्रभावित तने का रङ्ग काला पड़ जाता है। इसे रोकने के लिए प्रभावित तने हटा देने चाहिए। राईजोम को कापर सल्फेट के २% घोल में लगभग १० मिनट तक डुबोना अच्छा होता है। यह क्रिया पौधों की रोपाई के कुछ समय पूर्व ही करनी चाहिए।

कुछ स्थानों पर बंची टाप (Bunchy top) नामक रोग पाया जाता है जिससे केले की फसल की कुछ मात्रा में हानि होती है। इसे दूर करने के लिए प्रभावित पौधे उद्यान से हटा लिए जाते हैं और उन्हें जला दिया जाता है। भण्डार घर में फलों पर एक अन्य भयंकर रोग आक्रमण करता है जिसे स्टेम एण्ड राट (Stem and rot) कहते हैं। यह गुच्छे के डण्ठल के कटे भाग पर आक्रमण करता है और धीरे-धीरे फलों पर भी अपना प्रभाव डाल देता है। इसका प्रभाव ऊँचें तापक्रम पर अधिक पड़ता है। ६५° पर फलों का सड़ाव तीव्र गति से होता है किन्तु ७०° से कम तापक्रम पर उसका प्रभाव बहुत कम देखा जाता है। अतः इसे तापक्रम नीचा करके रोका जा सकता है।

कभी-कभी गुच्छे के डण्ठल पर काले धब्बे देखे जाते हैं जिसके प्रभाव से वहाँ उपस्थित तंतु सिकुड़ जाते हैं और फिर सड़ना प्रारम्भ कर देते हैं किन्तु सड़ाव यहीं तक सीमित नहीं होता। वह बढ़ता जाता है और अपनी छाप फलों पर भी डाल देता है। इसे दूर करने के लिए बोर्डा मिश्रण प्रयोग किया जाता है।

घुन—केले पर कीड़ों का बहुत कम आक्रमण होते देखा जाता है। ब्रह्मचारी ने एक बैगवर्म कीड़े (Bagworm) का उल्लेख किया है जो केले की पत्तियाँ खाता है और उनमें छिद्र बना देता है। बेसीन और धरवार जिलों में एक प्रकार का ऐसा कीड़ा पाया जाता है जो राईजोम पर आक्रमण करता है। इसे घुन (Weevil)

कहते हैं। यह राईजोम में ही अपना घर बना लेता है किन्तु कभी-कभी तने के आधार तक भी पहुँच जाता है। इसे दूर करने का एक ही उपाय है कि जिस वृक्ष पर इसका आक्रमण हो जाय उसे उखाड़ कर जला देना चाहिए।

केले की फसल पर पाले का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इसे दूर करने के लिए हीटर (Heater) आदि का प्रयोग किया जाता है। ये हीटर प्रति एकड़ १२५ की संख्या में वायुमंडल का तापक्रम ५% फा० तक बढ़ा देते हैं। अमेरिका में इस विधि का बहुत अधिक प्रचलन है किन्तु हमारे देश के लिए यह अभी नई चीज है। कुछ स्थानों पर पाले का प्रभाव दूर करने के लिए उद्यान में लकड़ी या उपले के ढेर जलाए जाते हैं। जिससे तापक्रम ऊँचा हो जाता है और पाले का भय जाता रहता है।

अध्याय १७

अमरूद (Psidium Guayaval)

अमरूद भारत के सर्वश्रेष्ठ फलों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह सस्ते फलों की कोटि में रखा जाता है और बाजारों में सस्ते दर पर ही उपलब्ध हो जाता है, अतः सर्वसाधारण में इसकी माँग बहुत अधिक होती है।

मूल स्थान—अमरूद का वृक्ष एक उष्ण कटिबन्धीय वृक्ष है। इसकी उत्पत्ति अमेरिका के उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में बतलाई जाती है। अमरूद मैक्सिको से पेरू तक के सम्पूर्ण क्षेत्र में उस समय भी उगाया जाता था जबकि योरोपीय यात्री सर्व प्रथम वहाँ पहुँचे। स्पैनियार्डो (Spaniards) के शब्दों से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है क्योंकि उसने कहा है कि उन लोगों के अमेरिका में सर्वप्रथम पहुँचने पर अमरूद के वृक्ष कोलम्बिया से पेरू तक के वृहद् क्षेत्र में उगाये जाते हुये पाये गये थे। किन्तु आजकल यह विश्व के अनेक भूभागों में सफलतापूर्वक उगाया जा रहा है।

वितरण—अमरूद का वितरण अमेरिका के उष्ण कटिबन्धीय भाग से पूर्ण विश्व में किस प्रकार हुआ, यह बताना कुछ कठिन-सा लगता है। किन्तु इसमें कुछ तो प्राकृतिक साधन जैसे वायु, जल या पक्षियों आदि ने योग दिया और कुछ स्वयं मनुष्य ने भी। कहा जाता है कि स्पैनियार्ड अमरूद के फल अपने साथ स्वदेश लाये और इस प्रकार उसका बीज वितरित हुआ। अमरूद की खेती अमेरिका में बहुत अधिक होती है। यह क्यूबा, फ्लोरिडा, कैलिफोर्निया, मैक्सिको, ब्राजील और पेरू में अधिक क्षेत्र में उगाया जाता है। हवाई द्वीप में यह जंगली रूप में पाया जाता है। वहाँ यह अधिकता से उगाया जाता है। किन्तु इसकी जाति अच्छी नहीं हो पाती और इसी कारण बाजारों में इसकी कोई माँग भी नहीं है। फिजी द्वीप में अमरूद के वृक्ष खर-पतवार की भाँति उत्पन्न होते हैं और इसलिए इसे दूर करने के लिए वहाँ की सरकार प्रयत्नशील है। भूमध्य सागरीय तट पर यह अधिकांश रूप से नहीं पाया जाता किन्तु फ्रान्स और अल्जीरिया के कुछ भागों में इन्हें सफलता-पूर्वक उत्पन्न किया जाता है। एशिया के दक्षिणी भाग में यह अधिक परिमाण में उगाया जा रहा है। दक्षिणी चीन और मलाया प्राय द्वीप में यह एक मुख्य फसल है। भारत में यह कब लाया गया? अब तक ज्ञात नहीं है, किन्तु इतना मालूम है कि यह यहाँ बहुत पहले से उगाया जा रहा है। भारत में अमरूद का कुल क्षेत्रफल

लगभग १,०५,१५५ एकड़ है। उत्तर प्रदेश में यह ५८,४५४ एकड़, बिहार में १६,६३२ एकड़, मध्य भारत १०,०२३, बम्बई ७,४१५, उड़ीसा ६,०००, मद्रास २,५०० और हैदराबाद में ७७१ एकड़ में उत्पन्न किया जाता है। उत्तर प्रदेश भारत का अधिक अमरूद उत्पन्न करने वाला प्रदेश है। यहाँ इलाहाबाद, लखनऊ और बनारस अमरूद के फल के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। इलाहाबादी सफेदा अमरूद तो सम्पूर्ण देश में अपनी अच्छी जाति के लिए प्रसिद्ध है। दूसरे स्थानों के भी अमरूद अपने गुण और आकार के लिए विशेष महत्व रखते हैं।

भूमि—अमरूद के वृक्ष कई किस्म की भूमि में उगाए जाते हैं किन्तु अलूवियल और बलुवार भूमि इसके लिए विशेष उपयुक्त होती है। यमुना और गंगा के तटीय मैदानों की भूमि अमरूद की खेती के लिए बहुत अच्छी मानी जाती हैं। इसके लिए भारी मिट्टी जिसमें जल-निकास का कोई प्रबन्ध न हो अच्छी नहीं होती। गुजरात की काली और हल्की भूमि में भी अमरूद के उद्यान सफलतापूर्वक उगाए जाते हैं। यहाँ नदियों के तट की उपजाऊ अलूवियल भूमि भी इसके लिए अच्छी सिद्ध होती है। दक्षिण भारत में गोदावरी और कृष्णा नदियों के तट पर अमरूद के उद्यान अधिकता से देखे जाते हैं क्योंकि वहाँ की भूमि अलूवियल और काफी उपजाऊ होती है। गहरी काली, हल्की काली और जल-निकासरहित भूमि में यहाँ अमरूद के वृक्ष प्रायः देखे जाते हैं किन्तु यदि भूमि जल-निकास युक्त होते हुए भी हल्की हो तथा अनुर्वर हो तो उसमें अमरूद की खेती कम सफल होती है। धरवार के निकट की पहाड़ी भूमि तथा कर्नाटक की काली लाल और भूरी दोमट भूमि में अमरूद के वृक्ष अधिक तेजी से उगते हैं। ऐसे बहुत कम पौधे हैं जो अमरूद की भाँति भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि में उगाये जाते हैं। इसकी खेती काली मिट्टी से लेकर हल्की बलुवार भूमि तक में की जा सकती है।

जलवायु—जैसा कि हमने पढ़ा है, अमरूद का वृक्ष उष्ण-कटिबन्धीय होता है, अतः वही जलवायु पसन्द भी करता है, जिसमें गर्मी के साथ-साथ वर्षा भी होती हो। यह ४०° से लेकर ११४° फा० के तापक्रम पर अच्छी उपज देता है। किन्तु ऐसा देखा गया है कि यह उन स्थानों पर अधिक उपज दे सकता है जहाँ जाड़े की ऋतु लम्बी होती है किन्तु इसके साथ ही इस पर पाले का भी अधिक प्रभाव पड़ता है तथापि यह समशीतोष्ण जलवायु में भी उत्पन्न किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से इसकी खेती भारत के लगभग प्रत्येक भाग में हो सकती है। सिन्ध में जहाँ की वार्षिक वर्षा लगभग ७″ है, और तापक्रम गर्मियों में ११४-११५° तक जाता है तथा जाड़े में ४०° तक आ जाता है, यह सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है किन्तु फसल पर वार्षिक-वर्षा का कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है।

क्योंकि गुजरात में जहाँ वार्षिक वर्षा २६" के लगभग है इसे सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। इलाहाबाद में जहाँ वर्षा लगभग ६०" होती है इसकी फसल अधिक उपज देती है। अमरूद के वृक्ष में सूखापन बरदाश्त करने की अधिक क्षमता होती है, अतः इन्हें उन स्थानों पर सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है जहाँ वार्षिक वर्षा कम हो और सिंचाई का भी समुचित प्रबन्ध न हो। फसल पर अधिक वर्षा से कोई विशेष प्रभाव नहीं देखा जाता क्योंकि पश्चिमी घाट में इसकी खेती होती पाई जाती है जहाँ कि वार्षिक वर्षा बहुत अधिक है। हाँ, फसल को पाले की हानि से अवश्य बचाना चाहिये। यद्यपि अमरूद के पुराने वृक्ष पाले से अधिक प्रभावित नहीं होते किन्तु किशोर वृक्ष जिनके तने और शाखाएँ बहुत कोमल होती हैं, अधिक क्षतिग्रस्त होते देखे जाते हैं। इलाहाबाद में तो किशोर वृक्ष पाले से अधिक हानि पाते देखे जाते हैं। कभी-कभी इसके प्रभाव से नीची भूमि के पौधे मरते हुए भी देखे गए हैं। पुराने वृक्ष अधिक सख्त होते हैं, अतः ये पाले से बहुत कम प्रभावित होते हैं किन्तु चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार अमरूद के वृक्ष सर्दी से अधिक प्रभावित नहीं होते हैं। कर्नाटक क्षेत्र में वार्षिक वर्षा अधिक होती है और जलवायु भी समान है। यहाँ अमरूद के उद्यान अच्छी फसल देते हैं।

वानस्पतिक विवरण तथा जातियाँ—अमरूद मिरटिल (Myrtle) कुल का सदस्य है जिसमें साधारण अमरूद के अतिरिक्त कुछ कम महत्व वाले अमरूद सम्मिलित होते हैं। इनमें जमन यजम्बोलन मुख्य है। अमरूद सिडियम (Psidium) जीनस से सम्बन्ध रखता है और इसकी किस्म स्पेसीज (guajava) है। पोपेनों ने सिडियम जीनस की ५ स्पेसीज बतलाई हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

१. सिडियम गुजवा Psidium guajava)
२. ,, गायनेन्स (P. Guianense)
३. ,, चाइनेन्स (P.chinense)
४. ,, फ्रिड्रिकस्थैलेनम(P. Fridichsthalianme)
५. ,, कैटिलियेनम (P. cattleanum)

प्रथम स्पेसीज के अन्तर्गत साधारण अमरूद की जातियाँ सम्मिलित की जाती हैं जिनका हमारे यहाँ यथेष्ट प्रचार है। इस श्रेणी के फल के गूदे लाल, पीले और धवल तीन प्रकार के होते हैं। साधारणतया ये फल हमारे देश में भिन्न-भिन्न स्थानों पर उगाने के कारण स्थानीय नामों से ही सम्बोधित किये जाते हैं और कुछ अपने लाये गये मूल स्थान के ही नाम से पुकारे जाते हैं। उत्तर प्रदेश में अमरूद की मुख्य तीन जातियाँ अधिक प्रचलित हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध इलाहाबाद का सफेदा

है जिसका आकार गोला और तौल लगभग १ पौण्ड की होती है। इसका छिल्का बहुत चिकना और मुलायम होता है तथा गूदे का रंग धवल ही पाया जाता है। इस अमरूद का स्वाद बहुत मीठा होता है। इसमें बीज बहुत कम पाये जाते हैं और जो होते भी हैं वे मुलायम और आकार में बहुत छोटे। करैला एक दूसरी अमरूद की जाति है जो सफेदा से अधिक भिन्न होती है। इसका आकार नासपाती से बहुत कुछ मिलता-जुलता है किन्तु छिल्का अधिक सख्त और कड़ा होता है। गूदा धवल रंग का और मीठा होता है। अमरूद की चित्तीदार जाति छिलके पर चित्तियों के कारण ही इस नाम से सम्बोधित की जाती हैं। ये चित्तियाँ लाल रंग की होती हैं। इनका स्वाद सफेदा की अपेक्षा कुछ अधिक मीठा होता है। अमरूद की अन्य जाति हफ्जी कहलाती है जिसका अन्य जातियों की अपेक्षा कम प्रचार है। सम्भवतः इस जाति का यह नाम सर्वत्र प्रचलित नहीं है, कुछ स्थानों पर दूसरे नामों से सम्बोधित होती है। इस जाति के फल आकार में गोले, चिकने और मुलायम छिलके वाले होते हैं। इनका गूदा लाल रंग का होता है जिसके कारण कुछ लोग इन्हें बहुत अधिक पसन्द करते हैं, किन्तु स्वाद के विचार से ये सफेद गूदे की अपेक्षा कम मीठे होते हैं।

गायनेस स्पेसी के अमरूदों का मूल स्थान अफ्रीका में गाइनिया में है। अतः इसी के नाम पर इसे सम्बोधित भी किया जाता है। इसके फल सफेद गूदे वाले होते हैं। चीनी और कैटिलियेनम जातियों के वृक्ष हमारे देश के कुछ भागों में उगाये जाते हैं किन्तु इनका अभी अधिक प्रचार नहीं है। फ्रिड्रिकस्थैलेनम जाति के अमरूद पीले छिलके वाले और सफेद गूदे वाले होते हैं।

बम्बई प्रदेश में अमरूद की उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमुख जातियाँ उगाई जाती हैं। इनमें सिन्ध, लखनऊ, ढोलका, नासिक, धरवार अधिक प्रसिद्ध हैं। यह नाम चीमा और देशमुख द्वारा दिया गया है। साधारणतौर से फलों के आकार, तौल और स्वाद के दृष्टिकोण से उनकी दो श्रेणियाँ हो सकती हैं। प्रथम श्रेणी के फल आकार में लगभग १ पौण्ड की तौल वाले और स्वाद में जायकेदार होते हैं। इनमें बीज की मात्रा भी कम होती है और जो उपस्थित होते हैं उनका रूप बहुत ही कोमल होता है। इस श्रेणी में सिन्ध, लखनऊ, ढोलका और इलाहाबादी अमरूद सम्मिलित होते हैं। सिन्ध जाति के वृक्ष झाड़ीदार होते हैं और इनमें अधिक फैलने का गुण भी देखा जाता है। इनके फल अच्छे गुण वाले होते हैं। ये आकार में अंडाकार गोल होते हैं। गूदे का रंग सफेद या कभी-कभी लाल होता है बीज बहुत कम पाए जाते हैं। लखनऊ जाति के भी वृक्ष सिन्द की भाँति झाड़ीदार होते हैं। इनके फल लम्बे आकार के धारीदार पाए जाते हैं। इनमें अम्ल की मात्रा

उस समय कुछ अधिक मात्रा में हो जाती है जब कि फल प्रौढ़ हो जाता है। सिन्द की भाँति इनमें भी बीज कम और कोमल किस्म के पाए जाते हैं। ढोलका जाति के वृक्ष बम्बई प्रदेश के दक्षिण भाग में अधिकता से उगाए जाते हैं। इनके वृक्ष काफी होनहार होते हैं। फल लम्बे किस्म के और बीज कम तथा मुलायम होते हैं। ढोलका जाति के फल सिन्ध और लखनऊ की अपेक्षा उत्तम नहीं होते। दूसरी श्रेणी के फल पहले की अपेक्षा अधिक बीज वाले होते हैं तथा इनके बीज काफी सख्त भी पाए जाते हैं। इसमें धरवार, नासिक, मिराज आदि का स्थान होता है। धरवार जाति के वृक्ष झाड़ीदार किस्म के होते हैं। इनके फल सख्त और अंडाकार होते हैं। फल में बीज की मात्रा अधिक पाई जाती है। नासिक जाति के वृक्ष सीधे किस्म के होते हैं। उनके फल बोतल के आकार के होते हैं। जिस प्रकार कि बोतल में गर्दन होती है इस फल में भी एक लम्बी गर्दन होती है। मिराज और लिम्बगाँव आदि अमरूद की जातियाँ धरवार जाति की ही उपजातियाँ हैं किन्तु स्थानीय नाम के कारण कुछ लोग इन्हें भिन्न समझने लगते हैं। मद्रास प्रदेश में लगभग अमरूद की ६ जातियाँ उगाई जाती हैं। इन जातियों में ५ तो ऐसी हैं जिनके गूदे लाल होते हैं किन्तु एक जाति का गूदा सफेद होता है। बम्बई प्रदेश में अमरूद की कुछ,ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें लगभग एक भी बीज नहीं पाया जाता। ये जातियाँ बीज द्वारा नहीं उगाई जातीं। इनके लिए अधिक रूप में वानस्पतिक प्रजनन का प्रबन्ध किया जाता है जो वांछनीय भी है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया जाता तो अमरूद की जाति स्थिर नहीं रह पाती। यद्यपि भारत में अन्य स्थानों पर भी अमरूद की खेती व्यापारिक ढंग पर होती है किन्तु उत्तरी भारत की जातियों में जैसे सफेदा, करैला, हफ्जी आदि अपेक्षाकृत उत्तम पड़ती हैं। किन्तु दक्षिणी भारत की जातियाँ उत्तरी भारत की अपेक्षा अधिक दिनों तक स्थिर रखी जा सकती है।

अमरूद के वृक्ष और फलों पर अब तक काफी प्रयोग हुए हैं। गनेशखिण्ड फल प्रयोग स्टेशन पर इस जाति के फलों के निरीक्षण के अनुसार इन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। प्रथम सदैव अधिक फल पैदा करने वाले वृक्ष, द्वितीय बिना क्रम के फल पैदा करने वाले वृक्ष और तृतीय सदैव कम फल पैदा करने वाले वृक्ष। इस प्रकार यहाँ प्रत्येक व्यक्तिगत वृक्ष के अध्ययन के पश्चात् अनेक उन्नत जातियाँ भी खोज निकाली गईं। इनमें लखनऊ नम्बर ४६, लखनऊ नम्बर ४६ लखनऊ नम्बर २४, नासिक नम्बर ८८, ढोलका नम्बर ७, सिन्ध नम्बर ६३, धरवार नम्बर ३४, और कौत्थर्ड नम्बर १६, सम्मिलित होती हैं। इन उन्नत जातियों में लखनऊ नं० ४६ का महत्वपूर्ण स्थान है। यह जाति आजकल अधिक प्रसिद्ध होती

जा रही है और इसकी उपज तथा श्रेष्ठतम गुणों के कारण उत्पादक उद्यानों में इसे अधिक स्थान भी देने लगे हैं। इस जाति के फल बड़े और गोलाकार होते हैं। पकने के पश्चात् इसका छिलका चमकीला पीला हो जाता है। इसके गूदे दूध के समान धवल होते हैं। श्रेष्ठतम गुण वाला फल होने के कारण इसका स्वाद बहुत आनन्ददायक होता है।

वानस्पतिक उत्पादन—अमरूद प्रायः बीज द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इस कारण इसके गुण दिन प्रति दिन क्षीण होते जाते हैं और आज फल यह है कि घटिया किस्म के वृक्ष और कम उपज देने वाले उद्यान पाए जा रहे हैं। आज के युग में वैज्ञानिक मस्तिष्क यह अवनति कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। अतः उन्नत जातियाँ उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रयोग केन्द्रों पर प्रयत्न हुए। गनेशखिण्ड फल प्रयोग केन्द्र किरकी में ६०० अमरूद के वृक्ष वाले उद्यान में एक प्रयोग किया गया। यहाँ वृक्ष ४ भागों में बाँट दिए गए और उन्हें पृथक-पृथक भागों में रोप दिया गया। ये वृक्ष १४ वर्ष की आयु के थे। इन पर विभिन्न प्रकार के निरीक्षण किए गए। अन्त में परिणाम यह निकाला गया कि अमरूद के बीजू वृक्ष एक दूसरे से अधिक अन्तर रखते हैं। अतः लोगों का ध्यान बीज द्वारा वृक्ष उगाने की ओर से हट कर वानस्पतिक उत्पादन की ओर गया। वास्तव में बीज द्वारा उगाए गए पौधों के फलों का आकार उनकी तौल, गूदा, स्वाद आदि अनेक बातें कुछ-न-कुछ रूप में अवश्य परिवर्तित हो जाती हैं।

अमरूद अधिकतर कलम द्वारा उत्पादित किए जाते हैं। कलम में इनार्चिंग विधि अधिक मुख्य है। कलम के लिए रूट स्टाक ठीक वैसे ही उत्पन्न किए जाते हैं जिस प्रकार की हमने आम के प्रकरण में देखा था। बीज वृक्ष पर पके फलों से ही लिए जाते हैं। फल से निकालने के पश्चात् इन्हें पानी से भली-भाँति धो लिया जाता है और धोकर साये में सुखा लेते हैं। सूखे बीज बारीक लकड़ी की राख में मिला दिए जाते हैं। इन्हें सुरक्षित रखने के लिए टिन का बक्स उपयुक्त सिद्ध होता है जिसे अच्छी तरह बंद किया जा सके। बंद करने के पश्चात् बक्स किसी शीतल स्थान पर रख दिया जाता है और इन्हें उसी समय यहाँ से हटाया जाता है जब कि बीज की आवश्यकता होती है। बीज बोने के पहले बीयड़ की भली भाँति जुताई कर ली जाती है और उसमें खाद आदि की उपयुक्त मात्रा भी मिला दी जाती है क्योंकि भूमि में यदि आवश्यक तत्वों का अभाव रहता है तो न बीज का जमाव ही उपयुक्त हो पाता है और न किशोर पौधों का बढ़ाव ही। अतः उत्पादक को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। अंकुरण के पश्चात् लगभग ६" लम्बे किशोर पौधे बीयड़ से हटा कर गमलों में लगा दिए जाते हैं। गमलों में इन्हें रोपते समय दुर्बल और

रुग्ण पौधे उपेक्षित कर दिए जाते हैं। ऐसा करने से बचे पौधे होनहार और स्वस्थ ही रह जाते हैं। गमले सावधानी के साथ रखे जाते हैं और उनमें उगे पौधों की सभी आवश्यकताएँ समय-समय पर पूरी की जाती रहती हैं। इन्हें उपयुक्त खाद और सिंचाई कुछ दिनों के अन्तर पर निरन्तर दी जाती रहती है। ऐसा करने से पौधों की वृद्धि बहुत तेज होती है। समय-समय पर गमले की गुड़ाई भी कर देनी चाहिए। गुड़ाई करने से भूमि में वायु का प्रवेश भली-भाँति होने लगता है जिससे जड़ों का विकास हो पाता है। गुड़ाई की क्रिया महीने में कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही करनी चाहिए। इस क्रिया के शीघ्र पश्चात् खाद की आवश्यक मात्रा मिट्टी में दे दी जाती है। अच्छा हो यदि खाद ठोस न होकर किसी द्रव रूप में हो। इस प्रकार के पालन-पोषण से अमरूद के किशोर पौधे लगभग १ वर्ष के समय में कलम करने के योग्य हो जाते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, कलम की क्रिया प्रातः इनार्चिंग विधि से की जाती है। इस विधि की सफलता के लिए कलम का प्रारम्भ उसी समय करते हैं जबकि पौधे में सैप का प्रवाह समुचित वेग से हो रहा है। पौधों में यह स्थिति मानसून के दिनों में आती है, अतः इनार्चिङ्ग क्रिया उसी समय की जाती है जबकि मानसून के दिनों में वर्षा का होना कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गया हो। रूट स्टाक की कलम के लिए किसी उपयुक्त सायन का चुनाव पूर्वतः ही कर लेना चाहिए और कलम की क्रिया किसी अनुभवी व्यक्ति से सम्पन्न करानी चाहिए क्योंकि उस व्यक्ति के कार्य से इसमें संदिग्धता रहती है जो यह क्रिया पहले कभी नहीं किये रहता। कलम की क्रिया से लगभग ३ माह पश्चात् जोड़ की स्थिति का अध्ययन कर सायन मातृ वृक्ष से पृथक् कर दिया जाता है। इसे पृथक् करने के उपरान्त पौधा सहित गमला धूप से हटाकर छाये में रख दिया जाता है ताकि पौधा अधिक कठोर हो जाय और जोड़ में कुछ दृढ़ता आ जाय। यदि इस समय पौधे मुर्झाना प्रारम्भ कर दें तो जोड़ असफल सिद्ध होता है और पौधे की दुबारा कलम करने की आवश्यकता होती है, किन्तु ऐसा न होने पर कलम सफल होती है और तब रूट स्टाक के जोड़ के ऊपर का भाग काट दिया जाता है। इस कटाई के पश्चात् कलम-पौधे का जोड़ सुदृढ़ बनाने के लिए उसे तीन माह का और अवसर दिया जाता है क्योंकि इसी समय पौधों की रोपाई कर देने से वे अधिक होनहार नहीं हो पाते।

अमरूद के पौधे कलम के अतिरिक्त बडिङ्ग, दाब या गुट्टी, कटिंग आदि वानस्पतिक विधियों द्वारा भी तैयार किये जाते हैं। बडिंग की क्रिया कलम की भाँति सर्वत्र प्रचलित नहीं है किन्तु कुछ स्थानों पर इसका प्रयोग अवश्य किया जाता है।

फ्लोरिडा में शील्ड बडिंग का अधिक प्रचलन है। वहाँ बीजू पौधों की कलम के लिए वे ही कलियाँ (Buds) चुनी जाती हैं जिनका हरापन शीघ्र ही समाप्त हुआ रहता है। यह क्रिया जनवरी-फरवरी के महीने में सफल होती है। कुछ स्थानों पर शील्डबडिंग के स्थान पर पैच बडिंग (Patch budding) का भी प्रयोग किया जाता है। जावा में फार्कट विधि काम में लाई जाती है। मद्रास में वायु दाब क्रिया (Air layering) वानस्पतिक प्रजनन के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। किन्तु लोगों का ऐसा विचार है कि इस विधि से तैयार किये गये पौधे बहुत उथली जड़ें उत्पन्न करते हैं जिससे ये भूमि में बहुत कम गहराई तक जा पाती हैं। कम गहराई की जड़ों के होने से तेज हवाओं या आँधियों के समय वृक्षों के उखड़ जाने का भय रहता है। इस विधि का प्रयोग मद्रास के अतिरिक्त लंका में भी किया जाता है। लंका में गुट्टी विधि का भी अधिक प्रचलन है। कुछ स्थानों पर वृक्ष के सकर भी वानस्पतिक प्रजनन के लिए प्रयोग होते हैं। अमरूद के उद्यानों में वृक्षों के निकट ये अधिकतर पाये जाते हैं। यदि ये स्वतः न उगे हों और उत्पादक इन्हें उगाना चाहता हो तो उसे मुख्य तने से २-३' दूरी पर की कुछ सहायक जड़ें नङ्गी करके उन पर कुछ घाव या कटाव बना देना चाहिए। जड़ें कुछ दिनों के लिए इसी अवस्था में छोड़ दी जाती हैं। कुछ समय पश्चात् इन स्थानों से सकर निकलते हुए दिखलाई पड़ने लगते हैं जिन्हें कुछ जड़ सहित निकाल कर अन्यत्र रोपा जाता है।

स्थानान्तरण—नर्सरी या बीयड़ के पौधों की कलमें जब रोपने के लिए तैयार हो जाती है तो उन्हें उद्यान की तैयार की गई भूमि में गड्ढे खोदकर रोप दिया जाता है। उद्यान की भूमि रोपने के पूर्व ही भलीभाँति तैयार कर ली जाती है। उसे तैयार करने के लिए मिट्टी पलटने वाले हल से एक-दो जुताई की जाती है और फिर देशी हल की जुताइयाँ प्रारम्भ करते हैं। यदि उद्यान की भूमि अधिक अनुर्वर हो तो उसमें हरी खाद के लिए सनई की बोआई कर दी जाती है। बोआई के पश्चात् इसे जमने और बढ़ने का उपयुक्त अवसर प्रदान किया जाता है और उपयुक्त समय पर उसे भूमि में पलट दिया जाता है। इस प्रकार बहुत सस्ते रूप में एक अच्छी खाद तैयार कर ली जाती है और भूमि की अनुर्वरता भी दूर हो जाती है। यदि भूमि में हरी खाद का प्रबन्ध न हो सके तो कुछ अन्य खादों का ही प्रबन्ध करना चाहिए। कभी-कभी खाद का प्रयोग उस समय किया जाता है जब कि भूमि में गड्ढे बना लिये जाते हैं। खाद इन्हीं गड्ढों में एक उचित परिमाण में मिला दी जाती है किन्तु खेत की मिट्टी के उर्वर होने पर खाद मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

कलम-पौधों की रोपाई के लिए उद्यान में २'×२'×२' नाप के गड्ढे तैयार किये जाते हैं। गड्ढे की मिट्टी धरातल पर इस हिसाब से रखी जाती है कि उसके निचले आधे भाग की मिट्टी एक स्थान पर और ऊपरी आधे भाग की मिट्टी दूसरे स्थान पर रहे। इससे लाभ यह होता है कि गड्ढे को भरने के समय नीचे की मिट्टी ऊपर और ऊपर की नीचे हो जाती है। कभी-कभी गड्ढे तैयार करने के पश्चात् उसमें घास-पात आदि जला दिये जाते हैं ताकि भीतर की मिट्टी का टेक्स्चर ठीक हो सके। गड्ढे खोदने के पहले उद्यान की पूरी योजना तैयार कर ली जाती है और उसमें गड्ढों की पारस्परिक दूरी भी निश्चित कर ली जाती है। गड्ढों की पारस्परिक दूरी पौधों की आपस की दूरी के हिसाब से ही रखी जाती है। अमरूद के वृक्षों के बीच की दूरी लगभग १५' रखी जाती है। किन्तु कुछ स्थानों पर जहाँ ये बहुत घने रूप में लगाये जाते हैं, यह दूरी १०' से १२' तक रखी जाती है। घने उद्यानों में ऐसा भी देखा जाता है कि एक गड्ढे मे दो-दो पौधे रोपे गये रहते हैं। अहमदाबाद के ढोलका क्षेत्र में तो अमरूद के वृक्ष एक गड्ढे में ४-५ की संख्या में रोपे जाते हैं किन्तु इससे उद्यान काफी घना हो जाता है। वृक्षों की पारस्परिक दूरी गुजरात में २०' रखी जाती है। उत्तर प्रदेश में २५' की दूरी पर रोपे गये वृक्ष काफी सफल सिद्ध हुये हैं। गड्ढों की खुदाई गर्मी के दिनों में करते है और इन्हें कुछ दिनों के लिए खुला छोड़ देते हैं ताकि इन्हें वायु और धूप की प्रचुर मात्रा उपलब्ध हो सके। वर्षा प्रारम्भ होने के पूर्व गड्ढे के ऊपर रखी मिट्टी गोबर की खाद मिला कर अपने स्थान पर पहुँचा दी जाती है किन्तु गड्ढे भरते समय ऊपर की मिट्टी नीचे और नीचे की ऊपर अवश्य कर दी जाती है।

कलम किये पौधे इन्हीं गड्ढों में रोप दिये जाते है। पौधों की रोपाई के समय उनके जोड़ों को धरातल से काफी ऊँचाई पर रखते हैं ताकि उनका पानी या मिट्टी से कोई सीधा सम्बन्ध न हो। रोपाई की क्रिया वर्षा प्रारम्भ होने पर की जाती है किन्तु रोपने के दिन वर्षा का न होना ही अच्छा समझा जाता है। पौधे गड्ढे के केन्द्र में रखे जाते हैं और उनके निकट की मिट्टी भली-भाँति दबा दी जाती है ताकि पौधे खड़े रहें। रोपाई के पश्चात् पौधे की एक हल्की सिंचाई कर दी जाती है।

खाद—अमरूद के लिए खाद का प्रयोग बहुत आवश्यक होता है क्योंकि इसके अभाव में अच्छी उपज की आशा नहीं की जा सकती। गोबर की खाद इसके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इसकी मात्रा प्रति वृक्ष १०-५० पौ० तक दी जाती है। खाद की मात्रा भूमि की किस्म और वृक्ष की जाति तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती है। यद्यपि गोबर की खाद इसके लिए श्रेष्ठतम सिद्ध होती है। बम्बई प्रदेश में इस खाद के प्रयोग का अधिक प्रचलन है। कुछ स्थानों पर

गोबर की खाद की आवश्यक मात्रा के साथ साथ कुछ खलियाँ, लकड़ी की राख आदि भी प्रयोग की जाती हैं। बड़ौदा और पूना में लकड़ी की राख (उड ऐश) का उपयोग किया जाता है। खाद की यह अतिरिक्त मात्रा बीयड़ में ही दे दी जाती है। कर्नाटक में भेड़ की मेंगनी बीयड़ में डाली जाती है जिससे किशोर पौधों की वृद्धि बहुत तीव्रगति से होती है। बड़ौदा में दीमक का अधिक प्रभाव देखा जाता है, अतः इसकी रक्षा के लिए उद्यानों में रेंडी की खली प्रयोग की जाती है। यह खली, साधारण नमक के साथ मिलाकर प्रति गड्ढे ४ औंस के रूप में दी जाती है। कर्नाटक में पौधों के स्थानान्तरण के पश्चात् खाद का प्रयोग उस समय किया जाता है जबकि उनमें फूल आने को होते हैं क्योंकि वहाँ अमरूद के उद्यान में फसलें स्थानान्तरण होने पर ही उगाई जाने लगती हैं। मध्यस्थ फसलों के उगाने से उन्हें आवश्कतानुसार खाद प्रदान की जाती है जिससे अमरूद के वृक्ष भी अपनी आवश्यकता पूर्ति कर लेते हैं। किन्तु फूल आते समय चूँकि अधिक खाद की आवश्यकता होती है अतः इस समय गोबर की खाद ४० पौण्ड की मात्रा में ३—४ पौण्ड रेंडी की खली के साथ मिला कर प्रति वृक्ष के हिसाब से उद्यान में प्रयोग की जाती है।

सिंचाई—जैसा कि हमने पहले कहा है, अमरूद की पहली सिंचाई वृक्ष-रोपण के समय ही की जाती है किन्तु यह सिंचाई बहुत हल्के रूप से होती है क्योंकि अधिक पानी देने से पौधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का डर रहता है। प्रथम सिंचाई के पश्चात् कुछ दिनों के अन्तर पर सिंचाइयाँ की जाती रहती हैं। इन सिंचाइयों की अवधि में लगभग १० दिनों का अन्तर रखा जाता है किन्तु यह अवधि कोई निश्चित अवधि नहीं है क्योंकि मानसून के दिनों में वर्षा के होने से क्रम टूट जाता है। यही स्थिति गर्मी के दिनों में होती है क्योंकि तापक्रम बहुत ऊँचा रहता है और वायु में नमी की मात्रा बहुत कम होती है जिससे अधिक सिंचाई की आवश्यकता होती है। यह क्रम लगभग ३-४ वर्षों तक चलता रहता है। ३-४ वर्ष पश्चात् वृक्ष में जब फल-फूल आना प्रारंभ हो जाते हैं तो लगातार सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस आयु में इन्हें केवल फूल लगते समय ही पानी दिया जाता है क्योंकि नमी के अभाव में फूल सफलतापूर्वक नहीं आ पाते। फसल के कटते समय भी यदि पानी देने की सुविधा हो तो सिंचाई कर देना चाहिए। फलों के पकने के समय की सिंचाई का अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि इससे फलों का आकार बड़ा हो जाता है। अमरूद के वृक्ष जून के महीने में जब कि मानसून प्रारंभ होती है फल देना प्रारंभ करते हैं। यदि वृक्ष से मानसून की बहार लेनी हो तो वृक्ष की सिंचाई गर्मी से ही प्रारंभ करनी चाहिए। गनेशखिन्द फल प्रयोग केन्द्र पूना में जून से दिसम्बर तक ८ या ६ सिंचाइयाँ की जाती है किन्तु उत्तर प्रदेश के लिए

इतनी सिंचाई आवश्यक नहीं। अन्य फलों की अपेक्षा यह ग्रीष्म ऋतु में पानी के न मिलने पर भी अधिक दिनों तक स्थिर रह सकता है जब तक कि शुष्कांक न आ जाय तथापि उचित सिंचाई करने पर उपज उन उद्यानों की अपेक्षा अधिक मिल सकती है जिनमें सिंचाई नहीं की जाती या कम की जाती है।

अमरूद के उद्यान की सिंचाई के लिए कई विधियाँ प्रयोग की जाती हैं। इनमें कूँड़ विधि, रिंग विधि, बेसिन विधि आदि मुख्य हैं। कूँड़ विधि में कूँड़े बना ली जाती हैं और उन्हीं के द्वारा प्रत्येक वृक्ष तक पानी पहुँचा दिया जाता है किन्तु यह विधि अधिक प्रचलित नहीं है। सब से प्रचलित विधि रिंग विधि है। इस विधि में वृक्ष के तने के चारों ओर अँगूठी के आकार की नालियाँ बना ली जाती हैं और उन्हें सहायक नालियों द्वारा सम्बन्धित कर दिया जाता है। सहायक नालियाँ मुख्य नालियों से जुड़ी होती हैं जिनसे पानी उद्यान में पहुँचता है। उद्यान की सिंचाई कभी-कभी बरहों और क्यारियों की विधि से होती है किन्तु इस विधि का प्रयोग बहुत कम स्थानों पर किया जाता है।

सम्बन्धित टिलेज—वास्तव में अमरूद के उद्यानों पर उत्पादक बहुत कम ध्यान देते हैं। किन्तु ये उपज बढ़ाना चाहें तो उन्हें वृक्षों की प्रत्येक आवश्यकता पर ध्यान देना आवश्यक होता है। उन्हें प्रत्येक सिंचाई के पश्चात् वृक्ष के निकट की भूमि गोड़ देना चाहिए। उद्यान के प्रारंभिक वर्षों में यदि सम्बन्धित फसलें उगाई गई हों तो उनकी जुताई-गुड़ाई ही नव रोपित वृक्षों के लिए यथेष्ट होती है, किन्तु यदि ऐसी फसलें नहीं उगाई जातीं तो कुछ अच्छे यंत्रों से भूमि की जुताई-गुड़ाई समय-समय पर अवश्य करते रहना चाहिए। ऐसा करने से भूमि में नमी अधिक दिनों तक स्थिर रह पाती है और इसका तापक्रम भी उचित बना रहता है। इससे भूमि में वायु का आवागमन होता रहता है जिससे उपयोगी बैक्टीरिया का कार्य रुकने नहीं पाता।

सम्बन्धित फसलें—अन्य फलों की भाँति अमरूद के उद्यान में भी पौधों की किशोरावस्था में प्रचुर स्थान रिक्त रहता है जिसकी कुछ सीमित वर्षों तक कोई विशेष उपयोगिता नहीं रहती। इस रिक्त स्थान में कुछ वर्षों तक अन्य फसलें ले लेना आर्थिक दृष्टिकोण से लाभकर होता है क्योंकि उत्पादक वृक्षों की किशोरावस्था में भी कुछ-न-कुछ लाभ प्राप्त कर लेता है। अमरूद के उद्यान में ऐसी ही फसलें उगाई जाती हैं जो अल्पायु हों, जिन्हें एक या दो मौसम में ही काट लिया जाता हो और जिनके उगाने से स्थायी पौधे क्षतिग्रस्त न हों। इन फसलों में अधिकतर मौसमी तरकारियाँ सम्मिलित होती हैं। इनके अतिरिक्त प्याज, भिण्डी तथा हल्दी आदि की

फसलें भी उत्पन्न की जाती हैं। सतारा जिले में प्याज, लहसुन जैसी फसलें उगाई जाती हैं। पूना जिले में भी ऐसी ही फसलें उत्पन्न की जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्थानों पर फूलगोभी, गाँठगोभी, पातगोभी, बैंगन, मिरचा आदि तरकारियाँ उगाई जाती हैं। धरवार जिले में बाजरा, ज्वार या दाल वाली सूखी फसलें उत्पन्न की जाती हैं।

छँटाई—अमरूद के पौधों की पहली छँटाई उस समय ही की जाती है जबकि पौधे गड्ढों में लगाए जाते हैं। उस समय इनकी अनावश्यक पत्तियाँ या टहनियाँ छाँट दी जाती हैं। प्रौढ़ वृक्ष में छँटाई उपज की वृद्धि के लिए तथा वृक्ष के स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए की जाती हैं। कभी-कभी छँटाई की क्रिया वृक्ष के सुन्दर आकार के लिए भी की जाती है। ऐसी दशा में वृक्ष के सारे सकर तथा टहनियाँ आदि छाँट दी जाती हैं जिससे वृक्ष की सुन्दरता जाती रहती है। बम्बई प्रदेश में पौधे के आकार-निर्माण के लिए छँटाई की एक विशेष क्रिया प्रयोग की जाती है जो झुकाव की क्रिया या बेंडिंग (Bending) के नाम से सम्बोधित होती है। यह क्रिया पौधे के आराम की दशा में करनी अच्छी होती है। उसमें वृक्ष की शाखाएँ इस प्रकार झुकाई जाती हैं कि सैप का ऊपरी प्रवाह रुक जाय और तने की सुसुप्त कलियाँ विकसित हो उठें ताकि वे टहनियाँ पैदा कर सकें और फिर फूल। झुकाव की क्रिया में शाखाएँ जो क्षैतिज धरातल में होती हैं एक साथ बाँध दी जाती हैं। यह क्रिया १ वर्ष के अन्तर पर की जाती है, उससे शाखाएँ अधिक फैलती हैं। और सुसुप्त कलियाँ विकसित हो उठती हैं। गाडगिल ने कहा है कि पूना में १ वर्ष के अन्तर पर यह क्रिया की जाती है और जिस वर्ष यह क्रिया होती है उस वर्ष एक वृक्ष ३०० फल देता है जबकि दूसरे वर्ष केवल २५ फल, किन्तु यह उपज उत्तर प्रदेश के उन वृक्षों से बहुत कम है जिनमें झुकाव की यह क्रिया नहीं की जाती। इसी आधार पर कुछ लोगों ने इसका प्रयोग अधिक अच्छा नहीं माना है क्योंकि इसमें श्रम तथा धन व्यय होता है। कभी-कभी तो शाखाओं के टूट जाने का भी डर रहता है। झुकाव की क्रिया पर गनेशखिण्ड उद्यान में प्रयोग करते हुए चीमा और देशमुख ने कहा है कि यह क्रिया अमरूद के उद्यान में सफल होती है। इससे छँटे वृक्ष की अपेक्षा बड़े आकार के फल प्राप्त होते हैं।

अमरूद के वृक्ष में छँटाई की क्रिया बहुत उत्तम सिद्ध हुई है। बम्बई के कृषि विभाग ने छँटाई की क्रिया पर काफी खोजें की जिनसे इस क्रिया की सफलता ही मिली। इलाहाबाद में अमरूद के वृक्षों पर एक प्रयोग किया गया। ये वृक्ष २५ फीट की दूरी पर रोपे गए थे और कुछ १५ फीट की दूरी पर। २५ फीट की दूरी वाले वृक्षों की छँटाई साधारणरूप से की गई किन्तु १५ फीट की दूरी वाले वृक्ष

भयंकर रूप से छाँटें गए। छँटाई का परिणाम यह निकला कि वे वृक्ष जो अधिकता से छाँटें गए थे इनमें बड़े फल उत्पन्न हुये किन्तु फलों की मात्रा कम थी। उपज का हिसाब लगाने पर यह देखा गया कि कम छाँटे गए वृक्षों की उपज अधिक छाँटे गए वृक्षों की उपज के दूने से भी अधिक थी। यह प्रयोग १९३२ ई० में किया गया था।

छँटाई की क्रिया यदि उत्तम ढंग से हो तो उससे उद्यान की उपज पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। पिछले वर्ष की सभी टहनियाँ केवल कुछ कलियों के अतिरिक्त काट देनी चाहिए। इस प्रकार छँटी शाखाओं पर केवल २ या ३ कलियाँ उपस्थित रह जाती हैं। जो टहनियाँ छाँटी जाती हैं उनको आधार से २-३″ की दूरी पर छाँटते हैं, इससे लाभ यह होता है कि सैप का प्रवाह इनके सिरे तक ही पहुँच कर रुक जाता है जिससे यहाँ सैप की अधिक मात्रा एकत्र हो जाती है। सैप की अधिक मात्रा के एकत्रीकरण से वहाँ की उपस्थित कलियों को यथेष्ट उत्तेजना मिलती है और शीघ्र ही वे सुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में आ जाती हैं। जाग्रतावस्था में इनसे प्रांकुर निकलना प्रारम्भ हो जाते हैं जिनसे नवीन टहनियाँ उत्पन्न होती हैं। ये टहनियाँ फूलने के मौसम में फूल पैदा करने की क्षमता रखती हैं। छँटाई की क्रिया के लगभग १५-२० दिनों पश्चात् वृक्षों की सिंचाई कर देने से कलियों के विकास पर अधिक प्रभाव पड़ता है और वे शीघ्र ही अंकुरित हो जाती हैं। छँटाई किये गये वृक्ष न छँटे वृक्षों की अपेक्षा शीघ्र ही फूलना फलना प्रारम्भ करते हैं। इसके अतिरिक्त छँटाई करने से वृक्ष पर सूखी डालियाँ या पत्तियाँ नहीं रह जातीं और न वृक्ष में ऐसे झुरमुट रह पाते हैं जिनमें फलों को हानि पहुँचाने वाले पक्षी शरण ले सकें या छिप सकें।

फूल आना—अमरूद के वृक्ष में फूल आने के समय वे ही टहनियाँ फूल पैदा कर सकती हैं जो उसी वर्ष उत्पन्न हुई हों, पुरानी टहनियों में फूल पैदा करने की क्षमता नहीं होती। अमरूद के उद्यान में फूल आने का समय 'बहार' कहा जाता है जैसा कि हमने नीबू जाति के फलों में भी देखा था। इस जाति के वृक्ष प्रायः जून-जुलाई की बहार में जिसे 'मृग बहार' कहते हैं, फूल उत्पन्न करते हैं। दूसरी फूल उत्पन्न करने की ऋतु अक्टूबर-नवम्बर और तीसरी जनवरी-फरवरी है जो प्रायः प्रयोग में नहीं लाई जाती। यदि अमरूद का वृक्ष स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो प्राकृतिक नियमानुसार वह प्रत्येक ऋतु में नई टहनियाँ उत्पन्न करेगा और उनसे फूल-फल निकलेंगे। किन्तु ऐसी फसल उत्पादक के हक में अच्छी नहीं होती क्योंकि इनसे उपज कम मिल पाती है। अतः बनावटी ढंग से वृक्ष को ऐसी आदत का बना दिया जाता है कि उसमें फूल-फल एक ही ऋतु में उत्पन्न होते हैं।

एक ऋतु में ही जब फल-फूल आते हैं। तो वे बहुत अधिक परिमाण में उत्पन्न होते हैं और फलतः उपज भी बहुत अधिक होती है क्योंकि वृक्ष कुछ ऋतुओं में आराम कर लेता है।

जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है अमरूद के वृक्ष स्थानान्तरण के लगभग ३-४ वर्षों पश्चात् फूल-फल देना प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु यदि वृक्ष का पालन-पोषण असावधानी और लापरवाही से किया जाता है तो फूल-फल देने में देरी भी हो सकती है। साधारणतया उत्तर प्रदेश में इसी अवधि के पश्चात् फूल-फल देखे जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि वृक्ष में प्रथम बार ही फूल-फल इतने अधिक परिमाण में निकलते हैं कि वृक्ष की शाखाएँ बुरी तरह से झुक जाती हैं और कुछ टूट भी जाती हैं। इससे उत्पादक को हानि उठानी पड़ती है। अतः इस हानि से रक्षा के लिए वृक्ष के अधिक फूल या नन्हें फल तोड़ कर पृथक कर देना चाहिए। इस तोड़ाई से शाखाओं के टूटने का भय नहीं रहता और बचे फल आकार में बहुत बड़े हो जाते हैं।

वृक्ष से प्रति वर्ष अच्छी फसल लेने के लिए कुछ स्थानों पर एक अन्य विधि प्रयोग की जाती है। वहाँ वृक्ष के तने से ३-४′ के अर्ध व्यास का एक वृत्त बना लिया जाता है जिसकी गहराई लगभग ८-१०″ रखी जाती है। इस वृत की मिट्टी निकाल कर पृथक कर दी जाती है जिससे वृक्ष की कुछ जड़ें खुल जाती हैं और नंगी हो जाती हैं। कुछ साधारण जड़ें कट भी जाती हैं जिन्हें तारकोल से भर दिया जाता है ताकि कटाव के सड़ने का भय न रहे। कभी-कभी जड़ों को नंगा करते समय पतली और झकड़ादार जड़ें छाँट भी दी जाती हैं। इस प्रकार जड़ों की नंगी अवस्था में वृक्ष लगभग १५-१६ दिनों तक छोड़ दिया जाता है। इस अवधि के पश्चात् वृक्ष मुरझाना प्रारम्भ कर देता है और उसकी कुछ पत्तियाँ वृक्ष से गिर जाती हैं जिससे वृक्ष का वानस्पतिक उत्पादन कम हो जाता है। यदि इस अवधि तक वृक्ष मुरझाना प्रारम्भ न करें तो जड़ें कुछ और अधिक दिनों तक नंगी रखी जा सकती हैं। नंगी जड़ों को ढकते समय वहाँ की मौलिक मिट्टी में खाद की कुछ आवश्यक मात्रा मिला दी जाती है जिससे वृक्षों का नव विकास शीघ्रता से हो सके। जड़ों को ढकते समय उद्यान में सिंचाई की नालियाँ भी निर्मित कर ली जाती हैं ताकि सिंचाई करने में सुविधा हो। जड़ों को नंगी करने की क्रिया ग्रीष्म ऋतु में की जाती है और सिंचाई जून के दूसरे सप्ताह में प्रारम्भ कर दी जाती है। प्रथम दो-तीन सिंचाइयाँ बहुत हल्की की जाती हैं और बाद में साधारण रूप में। वर्षा होने पर सिंचाई की मात्रा बंदकर दी जाती है किन्तु सूखा के समय पौधों को पानी देना वांछनीय

होता है। वृक्ष की सिंचाई वर्षा के पश्चात् उसी ढंग से प्रारम्भ करते हैं और इसे उस समय तक जारी रखते हैं जब तक कि फल की तोड़ाई न कर ली जाय।

अमरूद के वृक्ष पालन-पोषण के आधार पर बहुत दिनों तक फूल-फल देते रहते हैं किन्तु साधारणतया ये ३०-४० वर्षों तक फूलने-फलने की अवस्था में पाये जाते हैं। चीमा और देशमुख के शब्दों में अमरूद के उद्यान लगभग २० वर्षों तक फूल-फल दे सकते हैं। किन्तु इस अवधि के पश्चात् भी अत्यधिक छँटाई करके इनकी उत्पादन-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। अमरूद के वृक्ष अहमदाबाद के निकट ५० वर्ष की आयु तक के पाये जाते हैं। दक्षिण भारत में कुछ वृक्ष तो इस आयु से भी अधिक के पाये जाते हैं। ढोलका में अमरूद के वृक्ष अधिक सिंचाई देकर बढ़ाए जाते हैं किन्तु इससे उपज अधिक दिनों तक नहीं ली जा सकती। उनकी जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है और वे केवल १२ वर्षों तक ही सफल उपज दे पाते हैं।

फलों की तोड़ाई—अमरूद के फल जब पक जाते हैं तो फलों की तोड़ाई प्रारम्भ होती है। पकने पर उनका रंग पीला हो जाता है। पीला होने पर ये वृक्ष से तोड़ लिए जाते हैं। किन्तु अमरूद के सभी फलों की तोड़ाई एक साथ नहीं की जाती अपितु फल ज्यों-ज्यों पकते जाते हैं उन्हें तोड़ कर बाजारों में पहुँचा दिया जाता है।

अमरूद के फल यदि मृग बहार में होते हैं तो उनकी तोड़ाई नवम्बर के प्रथम सप्ताह से प्रारंभ कर दी जाती है। इस बहार के फल नवम्बर से प्रारम्भ होकर फरवरी तक तोड़े जाते हैं किन्तु अम्बे बहार के फल बरसात के दिनों में तैयार होते हैं। बरसात में अमरूद के फलों की बहुत कम माँग होती है। अतः इस ऋतु में अधिक फल नहीं पैदा किए जाते।

फलों की तोड़ाई बहुधा हाथ से ही की जाती है किन्तु कभी-कभी ऊँची शाखाओं के फलों को तोड़ने के लिए पतले बाँस के डन्डे में लगी जालियों का प्रयोग भी किया जाता है। शाखाओं के कम ऊँची होने पर फल हाथ से ही तोड़ लिए जाते हैं। कभी-कभी फल डाली को झुका कर भी तोड़े जाते हैं।

उपज—अमरूद की प्रति एकड़ उपज ठीक-ठीक नहीं ज्ञात है। बरकजार्ड (Barakzard) ने अमरूद की औसत उपज प्रति वृक्ष ३० से ४० पौंड अनुमान की थी। इब्राहीम ने मद्रास में अमरूद के उद्यानों का अध्ययन किया और अनुमान लगाया कि मृग बहार में प्रति वृक्ष उपज ३०० से ५०० फल और अम्बे बहार में १०० से ३०० फल है किन्तु यह अनुमान प्रसाद के अनुमान से कुछ भिन्न है। प्रसाद ने इलाहाबाद जिले के उद्यानों में प्रति वृक्ष उपज ४५० फल बतलाई

है। अमरूद की उपज बहुत कुछ उसकी जाति और पालन-पोषण के ढंग पर निर्भर करती है। यदि पौधा अच्छी जाति का है और उसका पालन-पोषण वैज्ञानिक ढंग से किया गया है तो बाजार की स्थिति अनुकूल होने पर उससे विशेष लाभ उठाया जा सकता है। किन्तु इन बातों के पक्ष में न होने पर लाभांश में घटती भी हो सकती है।

फल की बक्साबन्दी—अमरूद के फल पेड़ से तोड़ने के पश्चात् सावधानी से किसी सुरक्षित स्थान पर रखे जाते हैं। यहाँ इनकी थोड़ी बहुत चुनाई की जाती है और बड़े-छोटे, जख्मी-रोगी या सड़े फल पृथक कर दिए जाते हैं ताकि बाजारों में अच्छे फल अच्छा मूल्य दे सकें। यदि उन्हें स्थानीय बाजारों में बेंचना हो तो बक्साबन्दी की कोई आवश्यकता नहीं होती। वे टोकरियों में भर कर बाजार तक पहुँचा दिए जाते हैं। बाजार में चूँकि लोग ताजे फल की ही माँग करते हैं, अतः फलों की तोड़ाई के समय एकाध पत्तियाँ फल में ही लगी रहने दी जाती हैं। पत्तियों के रहने से एक लाभ और यह होता है कि बक्साबन्दी के समय ये फल के एक साधारण बिछौने का काम करती हैं जिससे फल क्षति-ग्रस्त नहीं होने पाते। फलों की बक्साबन्दी बाँस की बनी टोकरियों में की जाती है। ये टोकरियाँ इस आकार की बनाई जाती हैं कि उनमें तीन-चार सौ फल आ जायँ। ढोलका में टोकरी के धरातल पर कुछ पुवाल रख दिए जाते हैं और तब ऊपर फल जमा किए जाते हैं। जब टोकरी फल से भर जाती है तो उसके ऊपर ढक्कन के रूप में कपड़े का परदा लगा देते हैं। कुछ स्थानों पर केले की सूखी पत्तियाँ भी इस कार्य के लिए प्रयुक्त होती हैं। केले की पत्तियों के ऊपर बाँस का ढक्कन लगा कर टोकरी बंद कर देते हैं और उसे मजबूत रस्सियों से बाँध कर लेबुल लगा देते हैं। तत्पश्चात् टोकरी बाहर भेजने के लिए तैयार हो जाती है।

खाद्य अंश—जैसा कि ऊपर बताया गया है अमरूद के फल विटामिन C के प्रधान स्रोत समझे जाते हैं। गालबर्ग और लेवी के अनुसार ३०० से ४५० मिलीग्राम पके फलों में विटामिन C प्राप्त किया जाता है। अधिक पके फलों में यह मात्रा ५० से १०० मिलीग्राम होती है किन्तु उनका कथन है कि हरे फलों में लाल गूदे वाले अमरूद में सफेद गूदे वाले अमरूद की अपेक्षा विटामिन C कम होता है। वेबर (Weber) के अनुसार लाल गूदे वाले अमरूदों में विटामिन C की मात्रा सर्वाधिक होती है। वेबर का कहना है कि अमरूद का गूदा, रंग और अम्लीयता का अंश जो स्वाद से पहचाने जाते है विटामिन C से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अमरूद की किसी भी जाति का शीघ्र पकने वाला फल देर में पकने वाले फल की अपेक्षा विटामिन C की मात्रा कम रखता है। अमरूद के फल

पर भारत तथा अन्य देशों में अनेक प्रयोग हुए और उनसे फल के विभिन्न तत्वों की जाँच की गई। इस जाँच के अनुसार अमरूद में विटामिन C के अतिरिक्त विटामिन A, विटामिन B और विटामिन G भी पाए जाते हैं। विटामिन के साथ-साथ उस फल में ठोस भाग २१·३२%, अनघुल भाग १२·६४%, प्रोटीन ·८८% इन्वर्ट सुगर ४·४६%, सुक्रोज ·४१%, साइट्रिक एसिड ·७७% और राख भाग ·६६% पाया जाता है। इन तत्वों के अतिरिक्त फल में सीलिका, क्लोरीन, मैंगनीशियम, पौटैशियम, कैलशियम और पोटाश भी उपस्थित होता है।

अमरूद के ताजे फलों की जितनी माँग रहती है लगभग उतनी ही उससे बने सूखे पदार्थों की भी होती है। अमरूद के फल से बहुत से ऐसे स्वादिष्ट और आनन्ददायक पदार्थ बनाए जाते हैं जिनसे अमरूद के मौसम के पश्चात् भी वही आनन्द लिया जाता है जो ताजे फल से प्राप्त होता है। इसकी जेली और जैम तैयार किए किए जाते हैं जिनकी बाजारों में अधिक माँग होती है।

फल के रोग और कीड़े—अमरूद के वृक्ष पर तनों, टहनियों, पत्तियों, फूलों और फलों को अनेक प्रकार के रोग और कीड़ों का सामना करना पड़ता है जिनसे उत्पादक को कुछ-न-कुछ अंश में हानि उठानी पड़ती है।

तना छेदक—यह कीड़ा तने पर आक्रमण करता है और टहनियों तथा शाखाओं में छेद कर देता है। छेद हो जाने से टहनियाँ मुरझा जाती हैं और फिर सूख जाती हैं। वृक्ष को इस कीड़े से बचाने के लिए कुछ नियंत्रण किये जाते हैं। इन्हें लम्बे पतले तारों द्वारा छिद्रों से बाहर कर लिया जाता है और मार डाला जाता है। छेद कीचड़ से बंद कर दिए जाते हैं। कभी-कभी छेद में कपड़े या चिथड़े जो क्रासीन आयल, पिट्रोल, कारबन डाई सल्फाइड या क्लोरोफार्म में डुबोए रहते हैं ठूँस दिए जाते हैं। इस कीड़े को मारने का दूसरा उपाय है कुछ सांस न लेने देने वाली वाष्पीय गैस का भी प्रयोग किया जाता है।

स्केल—यह अमरूद के वृक्ष पर आक्रमण करने वाला अधिक भंयकर कीड़ा है। यह बल विनरिया सिडाई के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसका रंग हरा अथवा पीला और आकार बहुत छोटा होता है। यह कीड़ा अकेले नहीं पाया जाता है बल्कि वृक्ष पर इसके झुंड पाए जाते हैं। यह प्रायः गर्मी के दिनों में अधिक जोर पकड़ता है और वृक्षों को अधिक हानि पहुँचाता है। इस कीड़े से वृक्ष की टहनियाँ और पत्तियाँ ही नहीं क्षतिग्रस्त होती अपितु फल भी शिकार हो जाते हैं। ये कीड़े बम्बई प्रदेश में अधिकता से पाये जाते हैं। वहाँ इसे रोकने के लिए मछली के तेल के साथ रोजिन सोप का प्रयोग किया जाता है। इसका एक पौंड ४ गैलन पानी में घोल कर घोल तैयार किया जाता है। कभी-कभी इसके स्थान

पर क्रूड आयल का इमल्सन १२ से १५ पौंड की मात्रा में १०० गैलन पानी में तैयार किया जाता है। इस छिड़काव की दो मात्रा कीड़े की रोक-थाम के लिए अधिक होती है। इस कीड़े का आक्रमण इलाहाबाद में केवल एक बार देखा गया था।

फल की मक्खी—इन कीड़ों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भी कीड़े पाए जाते हैं। इनमें फल की मक्खी अधिक मुख्य है। यह मक्खी कुछ स्थानों पर अधिक हानि पहुँचाती है। यह फलों पर आक्रमण करती है और उन्हीं में अंडे भी देना प्रारंभ कर देती हैं। यह उस समय भी जीवित रहती है जब कि फल बक्सा-बन्दी के पश्चात् अन्यत्र भेज दिए जाते हैं। ये बाहर से बिल्कुल स्वस्थ दिखाई पड़ते हैं किन्तु भीतर मक्खी का विकास होता रहता है। इसे मारने के लिए कोई उत्तम औषधि नहीं निकाली गई है। कहीं-कहीं लेड आर्सीनेट और शीरा या क्लेन-सेल का प्रयोग किया जाता है।

अन्थैक्नोज (Anthracnose)—यह रोग कैलिफोर्निया, मैक्सिको और फ्लोरिडा में अधिकता से पाया जाता है। भारत के कुछ भागों में भी इसका प्रभाव देखा जाता है। इसकी पहचान यह कि फल पर गोले आकार के सड़ाव उत्पन्न हो जाते हैं और फल मुरझा जाता है तथा उसका रंग भूरा हो जाता है। अन्त में यह वृक्ष से गिर कर व्यर्थ हो जाता है। इससे उत्पादक को गहरी हानि उठानी पड़ती है। इसकी रोकथाम के लिए बोर्डो मिश्रण अच्छा सिद्ध हुआ है।

उत्तर प्रदेश में एक अन्य व्याधि प्रचलित है जो १९३५ ई० में इलाहाबाद के बबक्करपूर क्षेत्र में देखी गई। एग्रीकलचरल इनस्टीच्यूट के निकट भी इसका प्रभाव देखा गया। इसका प्रभाव शाखाओं और टहनियों पर पड़ता है। प्रभावित शाखाएँ मुरझाने लगती हैं और एक के बाद दूसरे करके मरना प्रारंभ कर देती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वृक्ष ही सूख जाता है। इसकी रोक-थाम का अभी कोई उपाय नहीं ज्ञात किया गया है। अभी तक इसे रोकने के लिए प्रभावित वृक्ष उखाड़ कर जला दिया जाता है।

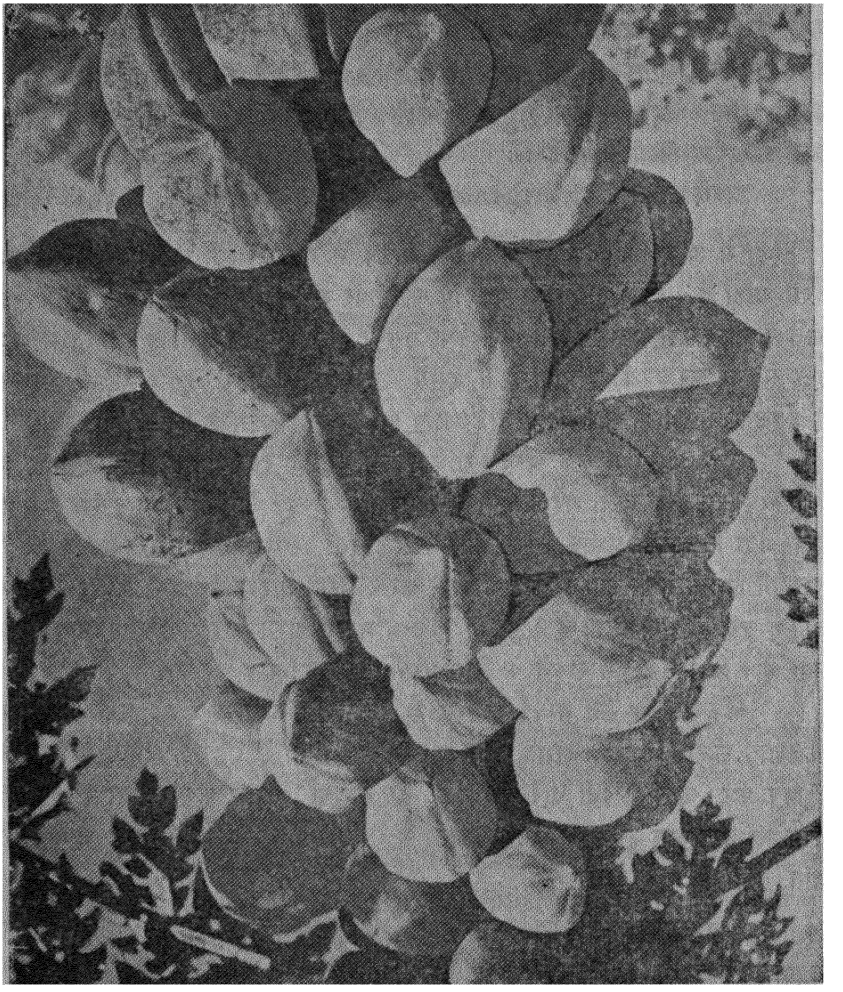
कैंकर—यह रोग बम्बई क्षेत्र में अधिक हानि करता है। यह एक प्रकार के फिजलोस फोरा सिडाई नामक कीड़े द्वारा उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से तने के छिलके फट जाते हैं जो धीरे-धीरे बढ़ कर सम्पूर्ण वृक्ष में फैल जाता है। इससे प्रभावित वृक्ष कुछ ही काल में सूख जाता है। इसे रोकने का अभी कोई उपाय नहीं ज्ञात हुआ है।

बम्बई प्रदेश में स्कैब नामक रोग, जो पेस्टालोसिया सिडार्ड नामक फफूँदी से उत्पन्न होता है, अधिक पाया जाता है। यह कच्चे फलों पर अधिक आक्रमण करता है और उसे बदसूरत बना देता है जिससे उनका मूल्य घट जाता है।

अध्याय १८

पपीता

पपीता एक बहुत शीघ्र बढ़ने वाला शाखा रहित पौधा है जो १—१½ वर्ष



पपीते के फल

में फल देना प्रारम्भ कर देता है। यह एक विदेशी फल है जो बहुत कम दिनों से भारत में उगाया जा रहा है किन्तु इतने दिनों में ही सम्पूर्ण देश में इसका महत्व काफी बढ़ गया है और बढ़ता ही जा रहा है। यह खाने वाले फलों में लगभग सबसे सरल फल है जो सस्ते रूप में अल्प समय में ही तैयार किया जा सकता है। यह उन लोगों के लिए बहुत लाभप्रद है जो अधिक दिनों में फल देने वाले वृक्ष उगाने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि उन्हें ऐसे ही फल-वृक्ष मिलते हैं जिनके रोपण के पश्चात् उनसे फल प्राप्त करने के लिए लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और तब तक बिना किसी लाभांश के उन्हें श्रम और धन व्यय करना पड़ता है। किन्तु पपीते के उद्यान में ऐसी बात नहीं होती। यह रोपण के लगभग १२ या १८ माह पश्चात् पूर्ण प्रौढ़ हो जाता है और इससे फूल-फल निकला प्रारम्भ हो जाते हैं। अतः उत्पादक को न तो अधिक दिनों तक फल के लिए प्रतीक्षा ही करनी पड़ती है और न श्रम तथा धन की अधिक इकाइयाँ ही व्यय करनी पड़ती हैं।

मूल स्थान—पपीते का मूल स्थान अमेरिका का उष्ण कटिबन्धीय भाग है। यह वहीं से विश्व के अन्य स्थानों पर जहाँ भूमि और जलवायु उपयुक्त रही फैला। आजकल यह अमेरिका में कैलिफोर्निया तथा फ्लोरिडा में बहुत अधिक परिमाण में उत्पन्न किया जा रहा है। अमेरिका के अतिरिक्त यह हवाई, आस्ट्रेलिया, मलाया प्रायद्वीप, बर्मा, लंका, चीन और भारत में सफलतापूर्वक उगाया जा रहा है। अमरीका से यह विश्व के अन्य देशों में नई दुनिया की खोज के पश्चात् ही पहुँचा। डब्ल्यू० बी० हेज का कथन है कि यह प्रशान्त महासागर के द्वीपों में बहुत पहले ही पहुँच गया था क्योंकि यह हवाई नामों से प्रदर्शित किए जाते हैं जो साधारणतया उन पौधों के लिए नहीं प्रयोग किए जाते जिन्हें योरपवासियों ने खोज निकाला था। दूसरी ओर यह डान मार्टिन (Don Martin) द्वारा १८३१ ई० में बनाई गई पौधों की सूची में भी सम्मिलित किया गया है जिन्हें उन्होंने स्वयं पता लगाया था। जैसा देखा गया है, यह भारत में बान लिन्चोटेन (Van Linchoten) की समुद्री यात्रा में यहाँ पहुँचने के पूर्व ही लाया जा चुका था।

विवरण—पपीता भारत के अधिकांश भागों में उगाया जाता है जिनमें आसाम, बिहार, उत्तर प्रदेश, बम्बई आदि क्षेत्र मुख्य हैं। आसाम में यह लगभग १०,००० एकड़ भूमि में उत्पन्न किया जाता है जो भारत में सबसे अधिक पपीता उगाने वाला प्रदेश है। बिहार में इसकी खेती ६,७०० एकड़ में होती है जबकि उत्तर प्रदेश में केवल यह १६७२ एकड़ में ही पैदा किया जाता है। बम्बई प्रदेश में गुजरात और दक्षिण के भागों में इसे अधिक परिमाण में उत्पन्न किया जाता है किन्तु अब अहमदाबाद, भड़ोंच और पूर्वी खानदेश में भी कुछ-न-

कुछ मात्रा में इसकी खेती होने लगी है। बम्बई प्रदेश में पपीते की खेती का कुल क्षेत्रफल १९३३-३४ ई० में १८५६ एकड़ था किन्तु १९३७-३८ में यह घटकर ९२७ एकड़ ही रह गया। पपीते के उद्यान प्रायः प्रत्येक बड़े-बड़े शहरों के निकट पाए जाते हैं। किन्तु गाँवों में भी लोग इसे कुछ मात्रा में घर के अगवाड़े-पिछवाड़े उगा लेते हैं जो उनकी फल की आवश्यकता थोड़ी-बहुत पूरी करते हैं।

भूमि—पपीते की खेती दोमट भूमि में सफलतापूर्वक की जा सकती हैं जिसकी गहराई लगभग ६ फीट हो। भूमि का उर्वर होना और उसका टेक्सचर समान होना भी पपीते के उद्यान की सफलता पर अधिक प्रभाव डालता है। पपीते के वृक्ष चूँकि सदैव हरे-भरे रहने वाले और लगभग एक ही बार फल देने वाले होते हैं अतः इसे जल-निकास युक्त और आवश्यक तत्वों से परिपूर्ण भूमि की आवश्यकता होती है। इसकी खेती दुर्बल भूमि में भी की जा सकती है किन्तु इसके साथ खाद की अधिक मात्रा और आवश्यकतानुसार पानी का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। गहरी चिकनी मिट्टी पपीता के लिए उपयुक्त नहीं होती। पश्चिम भारत में नासिक, खानदेश और पूना जिले की भूमि चिकनी है जहाँ पपीते की खेती सफल नहीं हुई है। यही स्थिति चूने वाली भूमि में भी है जो अन्य आवश्यक तत्वों में निर्धन होती है। नीचे स्तर वाली भूमि या वह स्थान जहाँ पानी सदैव जमा रहता है और अत्यधिक नमी बनी रहती है पपीते के वृक्षों की वृद्धि के अनुकूल नहीं हैं। यदि ऐसे स्थान पर ये वृक्ष उगाने हों तो वहाँ जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए क्योंकि पानी जमा रहने से पपीते के वृक्ष रोगी हो जाते है और धीरे-धीरे शुष्क होकर समाप्त हो जाते हैं। निरीक्षण से ज्ञात हुआ है कि पानी जमा हो जाने से वृक्ष की पत्तियाँ पीली होने लगती हैं और नीचे की पत्तियाँ तने से सदा के लिए गिर जाती हैं। पत्तियों की अस्वस्थता तथा उनके अभाव में भोजन बनाने का कार्य शिथिल हो जाता है जिससे वृक्ष दुर्बल हो जाता है और अपना जीवन भी खो देता है। इसके अतिरिक्त भूमि में पानी की अधिकता से कभी-कभी एक रोग भी लग जाया करता है जिससे उत्पादक को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है।

जलवायु—जैसा कि ऊपर बताया गया है, पपीता एक उष्ण कटिबन्धीय वृक्ष है और इस कटिबन्ध को लगभग सभी जलवायु में यह सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। फलों के बढ़ने या पकने के समय इसे ताप की एक निश्चित मात्रा चाहिए। यदि उक्त अवसर पर यह मात्रा इसे उपलब्ध नहीं होती तो फलों की वृद्धि रुक जाती है और वे पकने भी नहीं पाते। इसके विपरीत यदि ऐसे समय वायु-मण्डल का तापमान ऊँचा हो गया तो फलों के ऊपर इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। उनके स्वाद में परिवर्तन आ जायेगा और पहले की अपेक्षा अधिक मीठे और

स्वादिष्ट हो जायँगे। पपीते के वृक्ष पर तापक्रम के घटने अथवा पाले का गहरा प्रभाव पड़ता है। जब तापक्रम लगभग २०°C तक चला जाता है तो उद्यान अत्यधिक क्षतिग्रस्त हो जाता है। तापक्रम के घटने पर जब तेज हवा बहने लगती है तो फल बुरी तरह से बर्बाद होते हैं। वायुमण्डल में अधिक नमी की उपस्थिति भी फलों की समुचित वृद्धि के लिए उपयुक्त नहीं होती। इससे फलों के स्वाद बदल जाते हैं। स्वादहीन फल बाजार में अच्छा मूल्य नहीं देते। पाले अथवा तेज हवाओं से उद्यान की रक्षा के लिए वायु-अवरोधक वृक्ष उपयोगी सिद्ध हुये हैं।

वानस्पतिक विवरण—पपीता कैरिकेसी (Caricaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। कुछ लोग इसे पैसी फ्लोरी (Passi floreae) अथवा कुकुरबिटेसी (Cucurbitaceae) कुल में सम्मिलित करते हैं। किन्तु इसे कैरिकेसी कुल में ही सम्मिलित करना अधिक उपयुक्त है क्योंकि यह कैरिका (Carica) जेनस (Genus) का एक सदस्य है। पपीता भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है किन्तु जो पपीता हमारे यहाँ उगाया जा रहा है, वह कैरिका पपाया (Carica papaya) है। यद्यपि जेनस केरिका में लगभग २५ स्पेसीज (Species) हैं किन्तु हमें अन्य से कोई तात्पर्य नहीं, क्योंकि उद्यानार्थ पपीता का यही पौधा हमारे यहाँ उगाया जाता है।

पपीता एक डायोसियस (Diocious) वृक्ष है जिसके पुरुष और स्त्री अंग वृक्ष पर उपस्थित होते हैं। यद्यपि कुछ ऐसे भी पुष्प पाये जाते हैं जो पूर्ण अर्थात् पुरुष और स्त्री-अंग युक्त होते हैं परन्तु इनकी संख्या अल्प होती है। डायोसियस वृक्ष होने के कारण परसेंचन (Cross Pollination) आवश्यक है जिससे फलों में बहुत परिवर्तन (Variation) पाया जाता है। वृक्ष के लिंग की पहचान करने के लिए उनके फूलों का अध्ययन करना होता है। नर फूल लम्बेरेशीय में उत्पन्न होते हैं और आकार में १″ से छोटे होते हैं किन्तु मादा फूल, नर फूल से लम्बा होता है। उसका आकार १″ के लगभग पाया जाता है। ये फूल पीले रंग के और भारी किस्म के होते हैं। इनमें ५ पंखड़ियाँ भी लगी होती हैं। पूर्ण पुष्प मादा फूल से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। किन्तु आकार मादा और नर-फूल के बीच की कोटि का होता है। फूल मादा फूल की भाँति नर फूल से कुछ बड़े होते हैं। ऐसा देखा गया है कि पूर्ण फूल समुचित रूप से फल-फूल नहीं देते।

जातियाँ—पपीते की मुख्य जातियाँ वाशिंगटन, आस्ट्रेलिया, हरा जावा, न्यूजीलैण्ड, गुजरात, मैडागास्कर, राँची, साउथ अफ्रीकन, राउण्ड, सीलोनीस राउण्ड, लौंग, सिंगापुर, बंगलौर, हनीड्यू, सहारनपुर सेलेक्शन आदि हैं। आई० सी० ए० आर० बुलेटिन 'हार्टिकल्चर' के अनुसार क्षेत्र के आधार पर चार क्षेत्र किये गये

हैं और प्रत्येक क्षेत्र के लिए पपीते की जातियाँ निश्चित की गई हैं जो वहाँ अधिक सफल हैं।

पूर्वी क्षेत्र	—	वाशिंगटन
		हनीड्यू
		राँची
		साउथ अफ्रीकन
		सीलोनीस राउण्ड
उत्तरी क्षेत्र	—	हनीड्यू
		वाशिंगटन
		सहारनपुर सेलेक्शन
पश्चिमी क्षेत्र	—	वाशिंगटन
		गुजराती
		हनीड्यू
दक्षिणी क्षेत्र	—	हनीड्यू
		लौंग
		राउण्ड

उपर्युक्त जातियों में हनीड्यू, वाशिंगटन और गुजराती जातियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं जिनकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

हनीड्यू—यह जाति अपने गुणों के कारण आजकल बहुत प्रचलित है। इसके वृक्ष औसत दर्जे के होते हैं। फल तने पर लगते हैं, फल का आकार लम्बा होता है, बीज कम पाये जाते हैं, स्वाद मीठा और आनन्दप्रद होता है। गूदा बहुत बढ़िया होता है। इसके गुणों के ही कारण इसे कहीं-कहीं मधु विन्दु कहकर पुकारते हैं। इस जाति के वृक्ष बहुत अधिक संख्या में फल देते हैं।

वाशिंगटन—इस जाति के वृक्ष हनीड्यू की अपेक्षा ऊँचाई में छोटे होते हैं। इन्हें बौने (Dwarf) वृक्ष भी कहा जा सकता है क्योंकि ऊँचाई अन्य जातियों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इस जाति की खास पहचान यह होती है कि इसके तने की गाँठों पर अँगूठी आकार की पीली धारियाँ बनी होती हैं। फूलों का रंग गहरा पीला होता है। फलों का आकार बड़ा और अण्डाकार होता है। गूदा मीठा और जायकेदार होता है। फल में बीज की संख्या बहुत कम होती है। इस जाति में फल बहुत जोरदार आते हैं।

गुजरात—यह जाति वाशिंगटन की ही भाँति होती है किन्तु इसकी पत्तियों का डंठल हरा या कुछ पीलापन लिये हुये हरा होता है, फूल धवल और फल वाशिंगटन

की अपेक्षा बड़े और लम्बे होते हैं। इसके फल में बीज अधिक पाये जाते हैं। गूदा कुछ तीखापन लिये होता है। स्वाद कुछ गन्धमय होता है जिससे अन्य जातियों की अपेक्षा इसका प्रचलन कम है। गुजराती जाति के वृक्ष औसत किस्म के ऊँचे होते हैं और फल बहुत अधिक उत्पन्न करते हैं।

वानस्पतिक उत्पादन—पपीता साधारणतौर पर बीज द्वारा उगाया जाता है। यद्यपि वानस्पतिक उत्पादन की अन्य विधियाँ कलम (Grafting) और कटिंग (Cutting) भी इसके उत्पादन में प्रयुक्त की गईं पर आर्थिक दृष्टिकोण से ये सफल न रहीं। इस प्रकार तैयार पौधे फल बहुत कम देते हैं। पोप (Pope) ने एक प्रयोग में यह ज्ञात किया कि वानस्पतिक ढंग से तैयार किये गये पौधे फलों का परिवर्तन (Variation) रोक नहीं सकते। कुछ प्रयोग में उन्होंने ऐसा पाया कि ये पौधे उसी प्रकार परिवर्तित फल उत्पन्न करते हैं जैसे बीजों से उत्पन्न पौधे। इसके अतिरिक्त कलम या कटिंग से तैयार पौधे बहुत धीरे-धीरे बढ़ते हैं और फल भी कुछ घटिया किस्म के पैदा करते हैं। कहीं-कहीं उत्पादन की इन विधियों में सफलता भी मिली है किन्तु इनके ढंग इतने सरल नहीं हैं कि व्यापारिक तौर पर ये उद्यानों में प्रयोग किये जा सकें।

बीज द्वारा पौधा तैयार करने के लिए सर्वप्रथम मादा वृक्ष से तैयार फल ले लेते हैं और उसे किसी सुरक्षित स्थान पर रख देते हैं ताकि वह वहाँ पूर्ण रूप से पक जाय। पकने के पश्चात् फल को काट कर बीज निकाल दिये जाते हैं और उन्हें धोकर धूप या छाये में सुखा लेते हैं। जब बीज भलीभाँति सूख जाते हैं तो उन्हें किसी स्वच्छ बोतल में भर कर हिफाजत से रख देते हैं और उस समय निकालते हैं जबकि बोआई के लिए उनकी आवश्यकता होती है। ऐसा देखा गया है कि इस प्रकार रखे बीज यदि कीड़े-मकोड़ों के आक्रमण से बचे रहें तो कई वर्ष तक स्वस्थ बने रहते हैं परन्तु यह बात पपीते की सभी जातियों और सभी जलवायु में सम्भव नहीं। बीजों की बोआई बीयड़ में की जाती है। कुछ लोग इस पक्ष में भी है कि बीज स्थायी स्थानों पर की जाय। उनके अनुसार एक स्थान पर ४-५ बीज डाल देते हैं और बाद में एक होनहार और स्वस्थ पौधा चुनकर शेष पौधे निकाल लेते हैं। किन्तु यह विधि अधिक प्रचलित नहीं है। यह उन्हीं स्थानों के लिए उपयुक्त है जहाँ पपीते के दो-चार वृक्ष उगाने हों। व्यापारिक ढंग पर तो बीयड़ की ही विधि प्रयोग करनी चाहिए। बीयड़ का स्थान चुनकर गोंड़ दिया जाता है या मिट्टी पलटने वाले हल से उसकी जुताई कर दी जाती है। जुताई करने के पश्चात् उसे कुछ दिनों के लिए उसे यों ही छोड़ दिया जाता है ताकि खेत के घास-पात सूख जायँ। घास-पात सूख जाने पर बीयड़ ६″ × ३″ की क्यारियों में विभक्त कर दिया जाता है। बीयड़-जल-निकास युक्त बनाने के

लिए क्यारियाँ पृथ्वी के धरातल से लगभग ६″ ऊँची कर दी जाती हैं। यदि बीयड़ में जल-निकास का उचित प्रबन्ध होता है तो धरातल ऊँची करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। बीयड़ के लिए वही भूमि चुनी जाती है जो बहुत उर्वर है। यदि भूमि में पौधों के आवश्यक तत्वों का अभाव है तो नदी के किनारे की अलुवियल मिट्टी सड़ी-गली पत्तियों की खाद के साथ मिलाकर क्यारियों में दे दी जाती हैं। तालाब की मिट्टी भी क्यारियों में छोड़ी जा सकती है किन्तु मिट्टी छोड़ते समय बीयड़ के धरातल का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न हो कि बीयड़ कहीं ऊँचा और कहीं नीचा हो। ऐसा होने से सिंचाई में असुविधा होती है। जब बीयड़ तैयार हो जाती है तो पपीते के बीज ½″ की गहराई में कतारों में बो दिये जाते हैं। बीजों की पारस्परिक दूरी १″ और पंक्तियाँ ६″ के अंतर पर बनी होती है। बोआई के लिए सुरक्षित रखे बीज प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु कभी-कभी ताजे बीज का भी प्रयोग किया जाता है।

बीज बोते समय उपयुक्त समय का अधिक ध्यान रखना चाहिए। बीज ऐसे ही समय बोना चाहिए कि जब पौधा रोपाई के योग्य हो तो रोपाई के योग्य ऋतु भी हो। पौधों की रोपाई प्रायः मानसून में की जाती है। अतः बोआई का समय मानसून के कुछ समय पूर्व या प्रारम्भ मानसून में ही होना चाहिए। बोआई करने के पश्चात् यदि स्थिति सन्तोषजनक रही तो पौधा २-२½ माह में रोपाई के योग्य हो जाते हैं। जून में बोये गये पौधे अगस्त के दूसरे या तीसरे सप्ताह में इतना बढ़ जाते हैं कि उन्हें वांछित स्थान पर रोपा जा सके। ये पौधे मानसून के मध्य तक काफी बढ़ जाते हैं और जाड़े की ऋतु तक फल देने योग्य हो जाते हैं। कुछ लोगों ने बोआई का समय मानसून के पूर्व स्वीकार किया है। किन्तु मानसून के पहले की बोआई उन्हीं स्थानों पर सम्भव है जहाँ सिंचाई की सुविधा हो। यदि सिंचाई का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं हुआ तो बहुत कठिनाई उठानी पड़ती है। इसके अतिरिक्त यदि मानसून देर से प्रारम्भ हुई तो पौधों की रोपाई में देरी होने लगती है और पौधे आवश्यकता से अधिक बढ़ जाते हैं। हेड (Head) ने तो बोआई का समय फरवरी स्वीकार किया है ताकि मानसून के प्रारम्भ में ही रोपाई सम्भव हो सके किन्तु ऐसा कुछ कारणों से प्रयोग के योग्य नहीं है। चीमा और दानी के अनुसार बम्बई में बोआई अक्टूबर-नवम्बर में की जानी चाहिए। किन्तु बोआई में भी देर करना पौधों की वृद्धि में बाधक होता है। इससे जाड़े में जब कि तापक्रम बहुत कम हो जाता है पौधे बढ़ नहीं पाते और इसीलिए बसन्तु ऋतु में भी ये बहुत छोटे रह जाते हैं।

बीयड़ की बोआई करने के पश्चात् एक हल्की सिंचाई कर दी जाती है। यदि मौसम ऐसा हुआ कि तेज धूप और कड़ी वर्षा के अवसर हों तो क्यारियाँ घास-फूस की साधारण परत से ढक दी जाती है क्योंकि जब तक बीज-अंकुरण नहीं हो जाता तब तक बीजों की रक्षा करना आवश्यक होता है। जब पौधों की ऊँचाई ६" या १०" की हो जाती है तो वे रोपाई के योग्य हो जाते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, पपीता बीज के अतिरिक्त वानस्पतिक विधियों से भी उत्पादित किया जाता है, किन्तु इसे प्रधानता नहीं दी जाती। बिहार में सबौर फल अनुसन्धान केन्द्र पर १९३४-३५ ई० में पपीते पर क्लेपर ग्रैफ्टिंग का प्रयोग किया गया और इसमें सफलता भी मिली। ऐसा देखा गया कि इस प्रकार तैयार किये गए पौधे बीज वाले पौधों की अपेक्षा फल शीघ्र देते हैं। फिलिपाइन द्वीप समूह में रूट कटिंग (Root cuttings) द्वारा पपीते का पौधा तैयार किया गया, किन्तु इसमें सन्तोषजनक सफलता नहीं मिली।

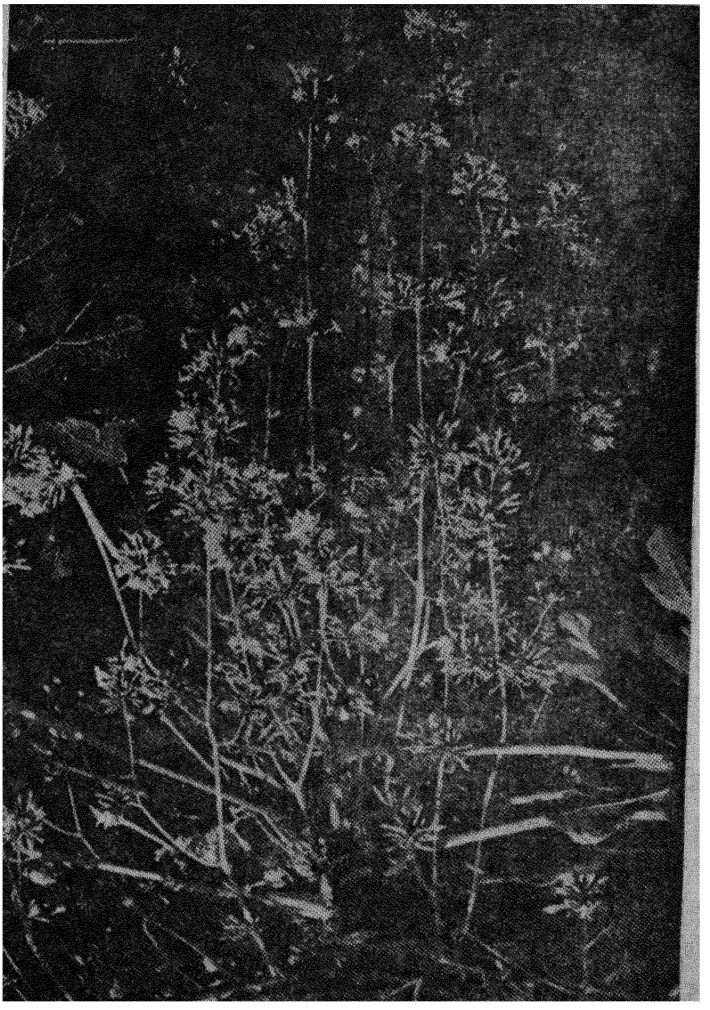
पौधों का स्थानान्तरण—जब पौधे रोपने योग्य हो जाते हैं तो उन्हें बीयड़ से निकाल कर तैयार किये गए उद्यान में रोप दिया जाता है। उद्यान को तैयार करने के लिए गर्मी में जुताई की जाती है। यह जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से अच्छी पड़ती है। मिट्टी पलटने वाले हल को एक जुताई के पश्चात् देशी हल या हैरो की कई जुताइयाँ की जाती हैं ताकि उद्यान की मिट्टी काफी भुरभुरी हो जाय। खेत की भूमि समतल करने के लिए रोलर या पाटा चलाते हैं और तत्पश्चात् रोपाई के लिए निश्चित आकार के गड्ढे तैयार किये जाते हैं। गड्ढों का आकार १½' × १½' × १½' का रखना चाहिए किन्तु गड्ढों का आकार सभी भूमियों में समान नहीं होता। डब्ल्यू० वी० हेज के अनुसार हेड ने ४' व्यास के गड्ढे स्वीकार किये हैं। गड्ढों का आकार रोपे जाने वाले पौधों की ऊँचाई और खेत की भूमि पर निर्भर करता है। यदि पौधों की ऊँचाई अधिक है तो बड़े गड्ढे खोदने चाहिए। इसी प्रकार गहरी चिकनी भूमि में दोमट की अपेक्षा बड़े आकार के गड्ढे बनाये जाते हैं।

गड्ढे बनाते समय ऊपर की मिट्टी एक ओर और नीचे की मिट्टी दूसरी ओर रखनी चाहिए जिससे गड्ढे भरते समय नीचे की मिट्टी ऊपर और ऊपर की मिट्टी नीचे करने में सुविधा हो। जब गड्ढा तैयार हो जाय तो उसे कुछ समय के लिए खुला छोड़ देना चाहिए। भरते समय ऊपर की मिट्टी में खूब सड़ी गोबर की खाद ४०-५० पौण्ड प्रति गड्ढे के हिसाब से मिला लेनी चाहिए। गड्ढे ६" ऊपर तक भरे जाते हैं और उनके केन्द्र में लकड़ी की खूँटी गाड़ देते हैं ताकि रोपाई के

समय पहचानने में सरलता हो। गड्ढे पौधों के स्थानान्तरण के लगभग दो माह पूर्व ही बना लिये जाते हैं। गड्ढों के आपस की दूरी विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है। फ्लोरिडा में पपीते के वृक्ष ६-१० फीट की दूरी पर लगाये जाते हैं। वृक्षों की आपस की यह दूरी पपीते की जाति पर निर्भर करती है। लंका में यह दूरी १०-१२ फीट रखी जाती है। चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार पूना में पपीते के वृक्षों की पारस्परिक दूरी निश्चित करने के लिए एक प्रयोग किया गया। इस प्रयोग में पौधों से पौधों की दूरी २-१० फीट तक रखी गई और ज्ञात किया गया कि पपीते के वृक्ष ८′ की दूरी पर अच्छी फसल देते हैं। वहाँ इस बात का भी अनुभव किया गया कि पौधों की दूरी जितनी ही अधिक रखी जायेगी, उनका तना उतना ही मोटा होगा। पौधों के आपस की दूरी कम रखने से जड़ों तथा तनों की समुचित वृद्धि नहीं हो पाती और न उन्हें सूर्य का प्रकाश ही आवश्यक मात्रा में मिल पाता है। इन बातों के अतिरिक्त उत्पादक को सिंचाई, गुड़ाई आदि क्रियाओं में भी असुविधा होती है। पौधे जितने ही पास होंगे तने पतले और लम्बे होंगे। अतः उनकी दूरी इस प्रकार की रखनी चाहिए कि पौधों का विकास भली भाँति हो और अच्छी फसल भी मिले। वृक्षों की पारस्परिक दूरी हमारे यहाँ ८-१२′ रखनी चाहिए। उत्तरी भारत में १०′ की दूरी पर रोपे गये पपीते के वृक्ष सफल सिद्ध हुये हैं। गुजरात और काठियावाड़ क्षेत्र में भी पपीते इतनी ही दूरी पर रोपे जाते हैं। कुछ स्थानों में यह दूरी घटा कर ८′ कर दी जाती है। जब वृक्षों की दूरी ८′ रखी जाती है तो एक एकड़ में लगभग ७००-८०० गड्ढे बनते हैं और एक गड्ढे में २ या ३ पौधे लगाये जाते हैं तो इस प्रकार एक एकड़ में १४०० पपीते के पौधे लगे। यदि उद्यान में पौधों की पारस्परिक दूरी १०′ रखी जाती है तो गड्ढे कम बनेंगे और पौधों की संख्या भी कम ही लगेगी। इस दशा में गड्ढे ४००-५०० बनेंगे और ८००-१५०० पौधों की आवश्यकता होगी।

बीयड़ में उगाये गये पौधे जब लगभग १′ की ऊँचाई के हो जाते हैं तो उन्हें वहाँ से निकाल कर खोदे गये गड्ढों में रोप दिया जाता है। कभी-कभी ४″ की ऊँचाई तक के पौधे भी रोपे जाते हैं, पर इनमें सफलता की अधिक आशा नहीं रहती। बीयड़ से निकालते समय पौधों की जड़ों के आहत न होने का ध्यान रखना चाहिए। अच्छा तो यह हो कि पौधे कुछ मिट्टी सहित बीयड़ से निकाले जायँ और वैसे ही गड्ढों में डाल दिये जायँ। इससे यह लाभ होता है कि पौधों की जड़ें टूटने नहीं पातीं और पौधों के मुरझाने का भी भय नहीं रहता। यदि पौधा अधिक पत्तीदार या शाखादार हो तो उसकी नीचे वाली पत्तियाँ या शाखाएँ तोड़ कर पृथक कर दी जाती हैं। किन्तु यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि इस

तोड़ाई से पौधे क्षतिग्रस्त न हों। इस क्रिया के पश्चात् पौधे गड्ढों में लगा दिये जाते हैं। पौधों का स्थानान्तरण बदली के दिन होना चाहिए जिससे उनको जड़ पकड़ने में शतः प्रतिशत सफलता मिले। पौधे जब गड्ढों में आ जायँ तो उनकी



पुरुष पाध

जड़ें मिट्टी से ढंक देनी चाहिए। पौधों की जड़ों के साथ तने पर भी मिट्टी चढ़ा देना भयंकर भूल होगी क्योंकि तने मिट्टी से सड़ना प्रारम्भ कर देते हैं और शीघ्र

ही अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। पपीते के वृक्ष चूँकि डायोसियस टाइप के होते हैं। अतः बीज में उनका अनुपात १:१ का रखा जाता है। आई० सी० ए० आर० बुलेटिन 'हार्टिकल्चर' अक्टूबर १९५६ के अनुसार स्थानान्तरण के समय एक स्थान पर जोड़े पौधे लगाने चाहिए और जैसा कि यह प्रकृति का नियम है कि पुरुष वृक्ष अपेक्षाकृत शीघ्र फूल उत्पन्न करते हैं, अतः उनके लिंग की पहचान ज्यों ही हो, उन्हें निकाल देना चाहिए। समुचित सेंचन के लिए १०० स्त्री वृक्षों के लिए १० पुरुष वृक्ष यथेष्ट माने जाते हैं।

यदि वृक्ष अपने स्थायी स्थान पर बोये गये हों तो उनके स्थानान्तरण का कोई प्रश्न ही नहीं। हाँ, स्वस्थ और होनहार पौधे चुनकर शेष अवश्य निकाल दिये जाते हैं। इस स्थिति में भी पुरुष और स्त्री वृक्षों का अनुपात ध्यान में रखना चाहिए जिससे सेंचन में कोई कठिनाई न हो। किन्तु यह विधि प्रथम विधि के समक्ष लाभप्रद नहीं। प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि आर्थिक दृष्टिकोण से यह विधि नहीं प्रयोग करनी चाहिए। फल अनुसंधान केन्द्र गनेशखिन्द, किर्की में एक प्रयोग इसी जाँच के लिए किया गया कि उपर्युक्त दोनों विधियों में कौन विधि उत्तम लाभकर है। प्रयोग में यह परिणाम मिला कि बीयड़ में पौधे तैयार करने कि विधि दूसरी की अपेक्षा अच्छी है।

खाद—जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, पपीते के वृक्ष उर्वर भूमि में अच्छी फसल देते हैं। इन्हें भोजन-तत्वों की अधिक आवश्यकता होती है क्योंकि वृक्ष में फल लगभग वर्ष भर आते हैं। इसके लिए पपीते के उद्यान में खाद कई बार दी जाती है। पौधों के स्थानान्तरण के पूर्व हरी खाद का प्रयोग अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। गड्ढों में मिट्टी के साथ खाद का मिश्रण आवश्यक है। मिट्टी में २०-२५ सेर सड़ी गोबर की खाद और १½ सेर हड्डी का चूरा अच्छा काम देता है। पौधों की रोप लगाते समय २० पौण्ड गोबर की खाद छोड़नी चाहिए। तत्पश्चात् गड्ढों की शीघ्र सिंचाई अच्छी होती है किन्तु इस सिंचाई में पौधों को अधिक पानी देना ठीक नहीं। दक्षिण में पौधों की रोप लगाते समय ४० पौण्ड गोबर की खाद प्रति गड्ढे दी जाती है। खाद की दूसरी खुराक पौधा लगाने के लगभग ४-५ माह पश्चात् जब कि पौधों में फल आना प्रारम्भ हो जाते हैं प्रति पौधा ८०-१०० पौंड के हिसाब से दी जाती है। जब पौधों की आयु लगभग १ वर्ष की हो जाती है तो खाद की यही खुराक एक बार फिर दी जाती है। यह खुराक मानसून के प्रारम्भ में देने से अच्छा प्रभाव दिखलाती है। वृक्षों की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए फर्टि-लाईजर की भी उपयुक्त खुराक का प्रयोग किया जाता है। एक मिश्रण जिसमें सुपर फास्फेट, अमोनियम सल्फेट और पोटैशिक सल्फेट ३: १: १½ (तौल में) के अनुपात में हों पौधों की वृद्धि और उनके फलों के गुणों पर अच्छा प्रभाव डालता

है, यदि मिश्रण प्रति वृक्ष दो पौंड के हिसाब से दिया जाय'। चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार पोप का कथन है कि गोबर की खाद पपीते के उद्यान पर अधिक असर डालती है और इसकी शक्ति उस समय और बढ़ जाती है जब कि इसके साथ निम्नलिखित फर्टिलाइजर एक निश्चित अनुपात में प्रयोग किया जाता है—सुपर फास्फेट ८०० पौंड, पोटसिक सल्फेट ३१५ पौं०, सोडा नाइट्रेट २५० पौं०, अमोनियम सल्फेट १६० पौंड और काली ज्वालामुखीय बालू ४४४ पौंड। गोबर की खाद और फर्टिलाइजर के अतिरिक्त पपीतों के वृक्षों पर मेंगनी की खाद, राख या कम्पोस्ट का भी कम प्रभाव नहीं पड़ता।

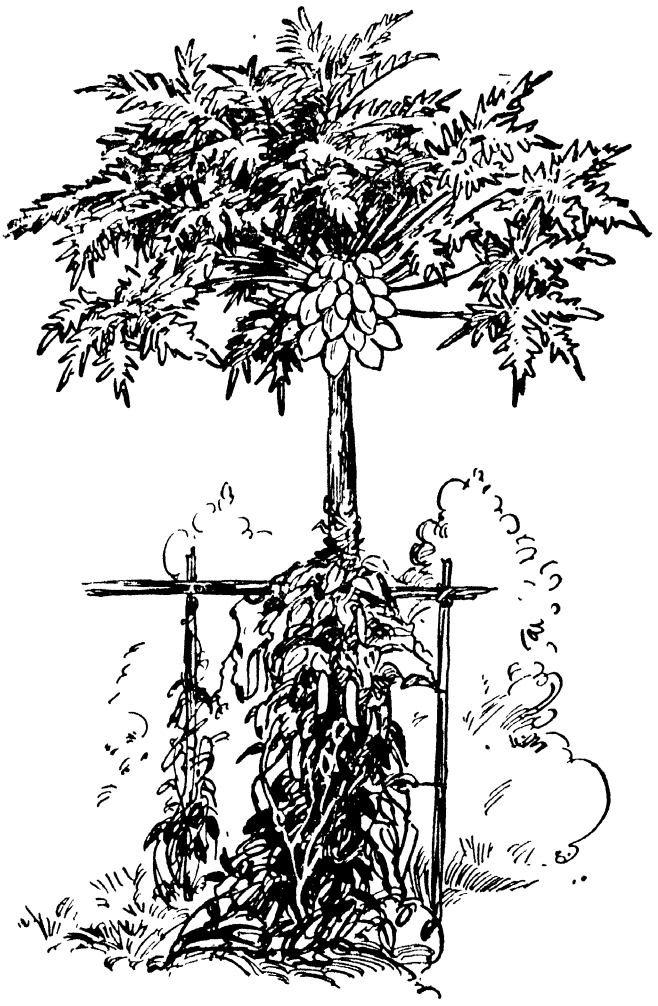
सिंचाई—पपीता यद्यपि केला आदि की भाँति अधिक पानी चाहने वाला फल वृक्ष नहीं है तथापि इसे आवश्यकतानुसार एक अवधि के अन्तर पर बराबर सींचते रहना अधिक और बढ़िया फल पाने की दिशा में उपादेय है। दक्षिण भारत में इसके वृक्ष ग्रीष्म में ६ दिन और सर्द ऋतु में ८-१० दिन के अन्तर पर सींचे जाते हैं और वर्षा ऋतु में शुष्क दिनों में आवश्यकतानुसार इनकी सिंचाई करते रहना चाहिए। उत्तरी भारत में पपीते के उद्यान कुछ हफ्तों के अन्तर पर सींचते जाना चाहिए। उन स्थानों पर, जहाँ वर्षा अधिक होती है और वर्षा का वितरण भी समुचित रूप से होता है सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। पौधों को एक बार की सिंचाई में कितना पानी दिया जाय यह उस स्थान की जलवायु और वहाँ की भूमि की बनावट पर निर्भर रहता है। यदि जलवायु ऐसी है जहाँ पानी बहुत अधिक बरसता है और भूमि काफी नम है तो वैसे स्थान पर पानी की कम मात्रा ही यथेष्ट होती है। किन्तु यदि स्थिति विलोम मिली अर्थात् जलवायु शुष्क है तो निस्सन्देह पानी की अधिक मात्रा आवश्यक होगी। सिंचाई में प्रायः रिंग या अँगूठी विधि या बेसिन विधि का प्रयोग किया जाता है। प्रयोगों से विदित हुआ है कि रिंग विधि का उपयोग दूसरी विधि की अपेक्षा अधिक उपादेय और सस्ता है। चीमा और दानी ने इस बात का समर्थन करते हुये कहा है कि रिंग विधि से सींचे गये पौधे बेसिन विधि से सींचे पौधों की अपेक्षा १ माह पूर्व ही फूल उत्पन्न करते हैं और इनके फल भी आकार में बड़े होते हैं। कभी-कभी नमी की रक्षा के लिए तनों के चारों ओर घास-फूस की एक मोटी तह बिछा देते हैं। पपीते के वृक्ष शहरों के निकट सीमित क्षेत्र में बड़ी सफलतापूर्वक उगाये जा सकते हैं, जहाँ गन्दी नालियों से पानी और बहुमूल्य खाद सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाती है।

सम्बन्धित टिलेज—जैसा कि हमने अन्य फलों में देखा है, सिंचाई अथवा खाद देने के पश्चात् उद्यान की भूमि की जुताई-गुड़ाई करनी आवश्यक होती है। पपीते के उद्यान में भी यह क्रिया होती है किन्तु जुताई-गुड़ाई अधिक गहराई तक नहीं

की जाती क्योंकि पपीते की जड़ें उथली होती हैं और गहरी जुताई से टूट जाती हैं। जुताई-गुड़ाई की क्रिया वृक्षों की पारस्परिक दूरी कम होने पर सुविधापूर्वक नहीं की जा सकती किन्तु यदि वृक्षों के बीच इस कार्य के लिए काफी स्थान मिलता है तब तो प्रत्येक कार्य सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं। वृक्षों के बीच की दूरी जब १०′ होती है, तो उस समय जबकि पौधे छोटे होते हैं, बैलों का भी प्रयोग किया जा सकता है। प्रति वर्ष दो जुताई यथेष्ट होगी किन्तु जुताइयाँ इस प्रकार करनी चाहिए कि यदि एक लम्बाई में हो तो दूसरी चौड़ाई में क्योंकि इससे उद्यान की भूमि बिना जुते नहीं छूटती। उद्यान में हैरो की जुताई भी उपादेय होती है। किसी हैरो से उद्यान की भूमि वर्ष में दो बार जोत देने से भूमि के घास-फूस निकल जाते हैं और भूमि भी खुली तथा भुरभुरी हो जाती है। वृक्ष की जड़ों के निकट घास-फूस कदापि नहीं रहने देना चाहिए क्योंकि जैसा कि हमने पढ़ा है, पपीता उथली जड़ों वाला पौधा है और यह अपनी खुराक भूमि के ऊपरी धरातल से ही लेता है, अतः ये घास-फूस उनके आहार में भाग लेने लगते हैं। जुताई करने के पश्चात् तनों के निकट की भूमि जो बिना-जुती छूट जाती है कुदाली या खुर्पी की सहायता से गोंड़ देना चाहिए। ऐसा ज्ञात किया गया है कि कुछ दिनों के अन्तर पर भूमि की हल्की गोड़ाई पपीते की फसल की मात्रा और गुण दोनों में वृद्धि करती है। इस जुताई-गोड़ाई से एक लाभ यह भी होता है कि उद्यान की सिंचाई की नालियाँ और क्यारियाँ मानसून प्रारम्भ होने के पूर्व ही जोत दी जाती हैं और भूमि समतल कर दी जाती है। भूमि के समतल हो जाने से बरसात में पानी कहीं अधिक और कहीं कम नहीं होने पाता। यदि अधिक वर्षा वाला स्थान है तो उद्यान में कुछ फीट के अन्तर पर नालियाँ बना दी जाती हैं ताकि अत्यधिक पानी सुविधापूर्वक बाहर निकल जाय। अधिकतर मानसून के दिनों में ऐसा देखा जाता है कि नमी के कारण जब मिट्टी पोली हो जाती है और उसी समय तेज हवाएँ बहने लगती हैं तो पपीते के वृक्ष भूमि पर गिर पड़ते हैं और व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसा अधिकतर हल्की भूमि में पाया जाया है। इस क्षति से उद्यान की रक्षा करने के लिए तने के निकट मिट्टी का एक चबूतरा बना दिया जाता है।

सम्बन्धित फसलें—पपीता एक अल्पजीवी वृक्ष है जो अपना जीवनचक्र बहुत थोड़े समय में ही पूर्ण कर लेता है। अतः इसे सम्बन्धित फसल के रूप में दीर्घजीवी वृक्षों जैसे, आम, नीबू, अमरूद आदि के उद्यान में बोते हैं जो देर में फल देना प्रारम्भ करते हैं और जिनकी पारस्परिक दूरी भी इतनी अधिक होती है कि उस दूरी में पपीते की एक से अधिक पंक्तियाँ बन सकें। जब पपीता मुख्य फसल के रूप में उगाया जाता है तो पौधों के स्थानान्तरण के समय से लगभग ६ माह तक सम्बन्धित फसलें उगाना आर्थिक दृष्टिकोण से लाभप्रद है। इन फसलों में पात-

गोभी, गाँठगोभी, टमाटर, मिर्चा, प्याज आदि सम्मिलित की जाती हैं। स्थानान्तरण

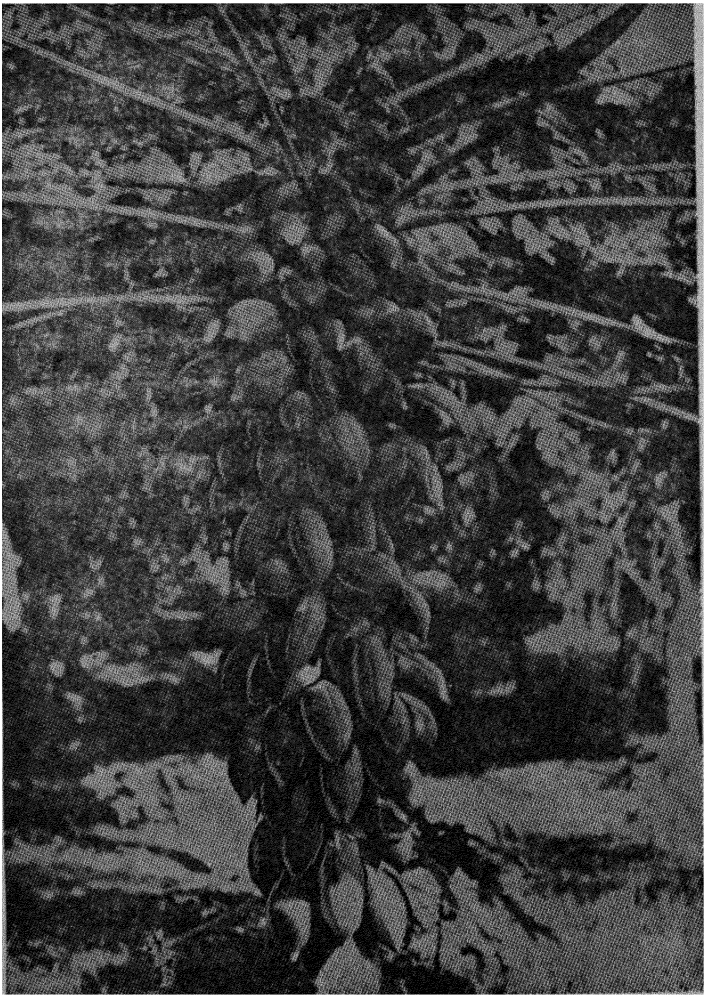


पपीते के पेड़ में सेम का पौधा

के पश्चात् ६ माह में पौधा अधिक बड़ा हो जाता है। पौधों के बड़े हो जाने पर सम्बन्धित फसलें नहीं उगायी जा सकतीं। इस अवस्था में सेम उगाना अधिक सफल सिद्ध हुआ है। सेम के ४-५ बीज एक वर्ष या अधिक आयु वाले वृक्षों के तनों के निकट बो दिये जाते हैं। चूँकि सेम एक रेंगने वाला पौधा है इसलिये वह वृक्ष के तने के सहारे ऊपर चढ़ता जायगा। किन्तु इसे फूल-फल आने के स्थान के नीचे तक ही सीमित रखना चाहिए। उस स्थान पर रोक लगा देनी चाहिए ताकि शाखाएँ

ऊपर जाकर फूल-फल पर हानिकर प्रभाव न डाल सकें। सेम के पौधे पपीते के तने पर कोई बुरा प्रभाव नहीं डाल पाते और दूसरी ओर उत्पादक फलियों से अच्छा लाभ प्राप्त कर लेता है। सेम की सूखी शाखाएँ और पत्तियाँ खाद के काम आती हैं।

पपीते की छँटाई—पपीते के वृक्ष में आम अथवा अमरूद की भाँति छँटाई



अधिक घने फल और उनकी छँटाई

(Pruning) नहीं की जाती किन्तु ऐसा देखा गया है कि लगभग ५ माह की आयु वाले पौधों के सिरे की छँटाई कर देने से जो बगल की शाखाएँ उत्पन्न होती हैं, उनमें अधिक और अच्छे फल आते हैं। चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार "एक यह भी धारणा है कि यदि पुरुष वृक्षों का सिर काट दिया जाय और उनसे बगल की शाखाएँ उत्पन्न होने दी जायँ तो वे अपना लिंग बदल देते हैं और बाद में फल उत्पन्न करने लगते हैं।" किन्तु यह धारणा उन्हीं के शब्दों में ठीक नहीं है क्योंकि कोदूर में यह सिद्ध हो चुका है कि इस प्रकार लिंग नहीं बदला जा सकता। लिंग परिवर्तन सम्भव अवश्य है पर कब, यह कहा नहीं जा सकता।

फल आना—उष्ण कटिबन्ध में पपीता के वृक्ष वर्ष भर फल देते हैं किन्तु उत्तरी भारत में जनवरी से फल पकना प्रारम्भ हो जाते हैं और मार्च-अप्रैल तक पकते रह जाते हैं। फलों के पकने में ६ माह लगते हैं। इस प्रकार स्थानान्तरण के समय से एक वर्ष की अवधि में पपीते की एक फसल ली जा सकती है। पहली फसल के पश्चात् लगातार बिना किसी अन्तर के वृक्ष में फल आते रहते हैं और फलते रहते हैं। फल आने का यह क्रम लगभग ९ से १२ महीने तक चलता है। इस समय वृक्ष बहुत जोरदार फसल देता है और फल भी बड़े तथा बढ़िया किस्म के होते हैं। किन्तु इस अरुचि के पश्चात् फल छोटे और घटिया किस्म के उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें उत्पन्न करना आर्थिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नहीं। लगभग २½ वर्ष की आयु तक में वृक्ष अच्छा फल देते हैं किन्तु इसके बाद के फलों का मूल्य अच्छा नहीं मिलता।

पपीते के फल स्त्री वृक्ष में ही लगते हैं, पुरुष वृक्ष केवल सेंचन क्रिया के लिए उत्पन्न किये जाते हैं। स्त्री वृक्ष में फल वृक्ष के सिरे पर पत्तियों के कोने से छोटे पेडंकिल (Peduncle) पर निकलते हैं। एक पेडंकिल पर ३-४ फूल निकलते हैं जिनमें किसी एक को ही फल बनना चाहिए। किन्तु कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि पेडन्किल के एक से अधिक फूल-फल बन जाते हैं जिससे उन्हें बढ़ने का स्थान नहीं मिलता और ऐसा होने से उनमें से किसी का भी आकार सन्तोषजनक नहीं होता और उत्पादक उनका अच्छा मूल्य भी नहीं पाता। इस कठिनाई से बचने के लिए फलों की छँटाई कर देनी आवश्यक समझी जाती है। छँटाई एक तेज चाकू की सहायता से उस समय करनी चाहिए जब कि फल बहुत छोटे हों। इस क्रिया में वे फल निकाल देने चाहिए जो दूसरे फलों से दब गये हों। या जो रह कर औरों की वृद्धि में व्यवधान प्रस्तुत करते हों। फलों की अधिक छँटाई भी हानिकर होती है क्योंकि उत्पादक अच्छी उपज नहीं प्राप्त कर पाता है।

फलों की तोड़ाई—फल जब पूर्णरूपेण परिपक्व हो जाते हैं तो पकना प्रारम्भ करते हैं। पकने पर इनका रंग पीला होने लगता है किन्तु कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो पकने पर भी हरी ही रह जाती हैं। अधिकांशतः प्रथम किस्म की ही जातियाँ पाई जाती हैं। इन जातियों के फल जब पूर्ण परिपक्व हो जाते हैं तो एक पीला धब्बा फल के वाह्य अँग पर दिखलाई देने लगता है। यही धब्बा इनकी परिपक्वता का चिह्न माना जाता है। जब फल इस स्थिति को पहुँच जाते हैं तो उन्हें तोड़ लिया जाता है और भण्डारघरों में पकने के लिए रख दिया जाता है। जब फल दूर भेजने होते हैं तब तो उन्हें तोड़ाई के शीघ्र पश्चात् बक्सों में बन्द करके बाहर भेज देते हैं; किन्तु स्थानीय बाजारों के लिए इन्हें भण्डारघरों में ही पकाया जाता है। पपीते के फल पेड़ पर भी पकाए जा सकते हैं और यद्यपि वृक्ष पर पक्के फलों की मिठास भण्डार घर में पके फलों की अपेक्षा अधिक होती है तथापि व्यापारिक ढंग पर इन्हें वृक्ष पर पकाने की चलन नहीं है क्योंकि पके फलों पर जब उनके छिल्के और गूदे मुलायम हो जाते हैं अनेक प्रकार के कीड़े और चिड़ियाँ आक्रमण करती हैं और फल को हानि पहुँचाती हैं।

पपीते की उपज पर भूमि, जलवायु, खाद आदि का अधिक प्रभाव पड़ता है। फल अनुसंधान केन्द्र, हस्सारघट्ट, बंगलौर में पपीते की कई जातियों—बंगलौर वाशिंगटन, हनीड्यू आदि पर प्रयोग किये गये और एक एकड़ के प्लाट में ६८४० फल, जिनकी तौल ३०, १४० पौण्ड थी, प्राप्त किये गये। औसत निकालने पर ज्ञात हुआ कि प्रति वृक्ष २२ फल मिले। हवाई फल अनुसंधान केन्द्र में पपीते के वृक्ष से २८-३८ फल प्रति वृक्ष मिले जिनकी कुल तौल १६२६ पौण्ड थी। बम्बई प्रदेश में औसत उपज २७ फल प्रति वर्ष प्राप्त की गई है जिसमें प्रति फल की २-२ पौण्ड है। उल्फ और लींच (Wolfe and Lynch) के अनुसार फ्लोरिडा में पपीते के वृक्ष १२ से १८ माह की आयु में ७५ से १५० पौंड तक की तौल के फल दे देते हैं। कभी-कभी यह तौल ३०० पौंड तक पहुँच जाती है।

फलों का मूल्य बाजार की दशा पर निर्भर करता है। यह सभी स्थानों पर एक-सा नहीं रहता। संकर के अनुसार मद्रास में जहाँ फलों की तोड़ाई स्थानान्तरण के ६-१० माह पश्चात् से प्रारंभ होकर लगभग २ वर्ष तक होती है, फसलों का मूल्य जब कि भाव २ रु० प्रति १०० फल हो, ४८० रु० प्रथम वर्ष, और दूसरे वर्ष ४०० रु० होता है। उद्यान में लागत प्रथम फसल में १५० रु० और दूसरे में ११० रु० है। बड़े आकार और स्वादिष्ट गूदे वाले बीजरहित फल बाजार में अच्छा मूल्य देते हैं।

चुनाई—पपीते के फल और आकार में सभी स्थानों पर समान नहीं होते। इनका रूप कहीं लम्बा कहीं अण्डाकार और कहीं किसी अन्य रूप में देखा जाता है। कुछ फल बड़े, कुछ छोटे और कुछ औसत आकार के मिलते हैं। ऐसी स्थिति में इनकी चुनाई (grading) करने से बाजारों में मूल्य अच्छे लगते हैं। बड़े आकार के फल देखने में सुन्दर लगते हैं और बाजारों में इनकी माँग भी अधिक होती है। छोटे फल अच्छा मूल्य नहीं देते। बाजार में उनका मूल्य सस्ता होता है। बाहर भेजने के लिए औसत आकार के फलों को प्रधानता दी जाती है।

बक्साबन्दी—जैसा की हमने पिछले अध्यायों में अन्य फलों की बक्सा-बन्दी का अध्ययन किया है, पपीते के फलों की भी बक्साबन्दी उसी प्रकार से करते हैं। फल जब दूर की बाजारों में या विदेश भेजे जाते हैं तो लकड़ी के बक्से प्रयोग किये जाते हैं। इन बक्सों में फलों को केवल एक तरह से रखने का प्रबन्ध रहता है ताकि उनके सड़ने का भय कम रहे। फल वे ही चुने जाते हैं जो औसत आकार के होते हैं। एक बक्स में ६ से अधिक फल नहीं रखे जाते क्योंकि इससे बक्सों के उतारने-चढ़ाने में सुविधा रहती है। बक्सों में हिलने-डुलने से बचाने के लिए प्रत्येक फल कागज में लपेट दिये जाते हैं और उनके बीच का स्थान कोमल घास या पुवाल से भर दिया जाता है। निकट की बाजारों में फल लकड़ी के बक्सों में नहीं भेजे जाते अपितु उनके लिए बाँस की टोकरियाँ प्रयोग की जाती हैं।

संचय—फल यदि पकाने के दृष्टिकोण से भण्डारघरों में लाया जाता है तो भण्डारघर का तापक्रम अधिक करना होता है क्योंकि ऊँचे तापक्रम पर फल शीघ्र पकते हैं। फल पकाने की जब बहुत शीघ्रता होती है तो इथलीन गैस का प्रयोग किया जाता है। एक भाग इथलीन गैस ५००० फलों के लिए यथेष्ट है। गैस रात भर में अपना प्रभाव दिखा देती है किन्तु चूँकि गैस का प्रवेश भीतर खोखले भाग तक हो जाता है। अतः २ या ३ दिनों तक उन्हें खुली वायु में रखना चाहिए ताकि उसका प्रभाव जाता रहे। नीचे तापक्रम पर फल अधिक समय तक टिका रहता है। फलों की तोड़ाई के पश्चात् यदि बाजार की स्थिति ठीक नहीं रहती है तो उन्हें नीचे तापक्रम पर कुछ सप्ताह के लिए रखा जा सकता है। यह तापक्रम ४०° फा० से ५०° फा० है जिस पर फल ३-४ सप्ताह तक ज्यों-का-त्यों टिका रहता है। जब फलों को बाहर की बाजारों में भेजना होता है तो विशेषकर उस समय ऐसे शीतागारों की आवश्यकता है। वार्डला, लीनर्ड और बेकर्ट के अनुसार फल जो रंग में पीले हैं पर कठोर हैं, उन्हें ४५° फा० तापक्रम पर सफलतापूर्वक बाहर भेजा जा सकता है। फल इस तापक्रम पर लगभग २० दिनों तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं। चीमा, भट्ट और नायक के शब्दों में इसी सिद्धान्तों पर फल संचित किये जायँ

और उन्हें पूना से यूनाइटेड किंगडम (बृटेन) भेजा गया। फल जब दूर भेजने हों तो शीतागारों का प्रयोग आवश्यक होता है।

खाद्य अंश—पपीते का दूध, जिसे पैपेन (Papain) के नाम से पुकारते हैं, एक बहुमूल्य वस्तु है जो कच्चे पपीते के दूध को सुखा कर तैयार किया जाता है। पैपेन के कारण पपीते का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है क्योंकि इसमें भोजन पचाने का अद्भुत गुण होता है। पपीते में कैल्सियम, बेसिक ऐश और विटामिन C (एस्कोर्निक अम्ल) की मात्रा पाई जाती है। इसमें विटामिन A, B और C तीनों की उपस्थिति प्राप्त की जाती है। डनियल और मन्सेल (Danial और Munsell) के अनुसार करिका पपीते में विटामिन A की ३००० अन्तर्राष्ट्रीय इकाई, विटामिन B की ८ अन्तर्राष्ट्रीय इकाई, विटामिन C की ७० शेरमन (Sherman) इकाई और विटामिन G की ३३ शेरमन इकाई मौजूद होती है। लोगों का ऐसा विचार है कि विटामिन C फल के पकने पर बढ़ता जाता है। औसत रूप में पपीते का १०० ग्राम खाद्य अंश विटामिन A २५०० अन्तर्राष्ट्रीय इकाई, विटामिन B_1, ८ अन्तर्राष्ट्रीय इकाई, ७० मिलीग्राम विटामिन C और विटामिन B_2 शेरमन इकाई विद्यमान रखता है।

पक्का फल चीनी की मात्रा लगभग १०% रखता है। चीनी के अतिरिक्त इसमें प्रोटीन और चर्बी की भी मात्रा उपस्थित रहती है। हवाई कृषि प्रयोग केन्द्र पर पपीते के फल के अवयव ज्ञात किए गये हैं जो इस प्रकार हैं :—

पानी	९०·७५%
प्रोटीन	·८%
चर्बी	·१%
रेशे	१·०९%
नाइट्रोजन रहित एक्ट्रैक्ट	६·३२%
राख	·९४%
	१००.००

मलाया में रोजेडल (Rogedale) ने पपीते के भोज्य अंश का तात्विक विश्लेषण किया और निम्नलिखित पदार्थ प्राप्त किये :—

पानी	८९·०
राख	०·१०
क्लोरिन	·००३६
फासफोरस	·००७
पोटाश	·०३६

	कैल्शियम	·००४
	मैगनीशियम	·००३१२
	सोडियम	·००३०
	सल्फर	·००१६
	लोहा	·००१२६
मिलीग्राम १०० ग्राम में	ताँबा	०·१
	मैंगनीज	०·६
	आयोडीन	

भारत में पपीते का विश्लेषण किया गया और निम्नलिखित पदार्थ प्राप्त किये गये:—

पानी	८६·६%
प्रोटीन	·५%
चर्बी	·१%
नमक (मिनरल मैटर)	·४%
रेशे	—
कार्बोहाइड्रेट	६·५%
कैल्शियम	·०१%
फासफोरस	·०१%
लोहा (मिलिग्राम में)	·४%
कैरोटिन (अन्तर्राष्ट्रीय विटामिन A इकाई) प्रति १०० ग्राम	२०,२०
विटामिन C मिलिग्राम प्रति १०० मिलीग्राम	४६
कैलोरी प्रति औंस	११

पपीते का फल एक प्रकार का बहुमूल्य टानिक है। यह पेट की गड़बड़ियों को दूर करता है। इसे कच्ची-पक्की दोनों स्थिति में प्रयोग करते हैं। कच्ची स्थिति में इसकी तरकारी बनती है। पकने पर इसके जैम, मुरब्बा सन्तरे के साथ मिलाकर बनाये जाते हैं, जो देखने में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होते हैं। इसे और भी अन्य ढंगों से काम में लाते हैं।

पैपेन—पैपेन कच्चे पपीते के फलों के दूध को सुखाकर तैयार किया जाता है। कच्चे फलों की बाह्य पर्त जब काट दी जाती है तो उससे एक प्रकार का दूध सदृश रस बह निकलता है। इस रस में पैपेन नामक इन्जाइम (enzyme) उपस्थित होता है जिसमें प्रोटीन को पचाने की शक्ति रहती है। बाजारों में बिकने वाला पैपेन भूरे रंग का एक चूर्ण है जो रूप, रंग तथा स्वाद में जन्तु पेप्सीन (animal

pepsin) से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। पैपेन का प्रयोग अनेक ढंगों से किया जाता है।

लंका में पैपेन बनाने का कार्य बहुत दिनों से हो रहा है और आज भी उसका दुनिया की बाजार में एकाधिपत्य है। यहाँ से पैपेन बहुत अधिक परिमाण में योरप और अमेरिका भेजा जाता है। पूर्वी अफ्रीका में भी इसका व्यवसाय उन्नति पर है। हमारे देश में पैपेन बनाने का उद्योग बहुत सीमित परिमाण में होता है। यदि पैपेन निकालने का कोई उत्तम ढंग निकाल लिया जाय तो सम्भव है कि यह व्यवसाय भारत में भी अधिक सफल हो और विदेशों में यह लंका को भी पीछे कर दे। चीमा और दानी का कथन है कि गुजरात जाति का पपीता उतना ही उत्पादन देता है जितना कि लंका में प्राप्त किया जाता है। यह जाति प्रति पौधा ४ औंस सूखा पैपेन उत्पन्न करती है। सिंगापुर जाति इस जाति के उत्पादन से दूना पैपेन देती है।

पैपेन निकालने की विधि बहुत सरल है। यह क्रिया गरम मौसम में ही और पूर्ण परिपक्व फलों पर की जाती है। अधातु के यन्त्र (हड्डी का चाकू) से फल को लम्बाई में ४ या ५ स्थान पर चीर देते हैं। रस प्रातःकाल के समय द्रुत गति से निकलता है। जब रस निकलने लगता है तो इसे छिछले बर्तन या गिलास में एकत्रित कर लेते हैं। कभी-कभी रस का बहाव धीमा होता है तो वह फल के धरातल पर जम जाता है जिसे बाद में खुरच कर निकाल लिया जाता है। खुरचने के शीघ्र पश्चात् इसे धूप में सुखा लेते हैं। रस छाये में भी सुखाया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि छाये में सुखाया गया पैपेन धवल रंग का होता है और अधिक आकर्षक होता है। सुखाते समय इसे १००° फा० के लगभग का ताप यथेष्ट होता है। इससे अधिक तापक्रम ठीक नहीं होता। १००° फा० तापक्रम पर इसे २४ घंटे तक छोड़ देते हैं। सूखने के पश्चात् इसे चूर्ण रूप में बना लिया जाता है। इसे सुखाने के लिए छिछली कड़ाहियाँ भी प्रयोग की जाती हैं।

पैपेन का वाणिज्य में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसे अधिक परिमाण में उत्पन्न करने और उत्तम विधि से निर्मित करने पर प्रयोग हो रहे हैं। हस्सारधट्ट फल अनुसंधान केन्द्र में १०० पौण्ड तौल के लम्बे फलों ने १७१ ग्राम पैपेन उत्पन्न किये। लंका में एक एकड़ पपीते के उद्यान से पैपेन १७५ पौण्ड के लगभग प्रथम वर्ष में पैदा किया जाता है और बाद में तह उपज लगभग १०० पौण्ड अनुमान की जाती है। प्रति पौधा पैपेन की उपज ½ पौंड से १ पौन्ड है। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनसे अधिक पैपेन प्राप्त होती है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि लम्बे फल वाली जातियाँ गोले फल वाली जातियों की अपेक्षा अधिक उपज देती हैं। पैपेन निकालने पर फल व्यर्थ नहीं जाते अपितु कोदूर में एक प्रयोग से यह परिणाम निकला है कि

ये फल कैनिंग आदि में सफलतापूर्वक प्रयोग हो सकते हैं। इन्हें खाने के भी काम लाया जा सकता है। बड़ौदा कृषि प्रयोग केन्द्र पर हनीडयू जाति के पपीते के कच्चे फलों से रस निकाला गया और उसका पैपेन बनाया गया। इन परिणामों से यह विदित हुआ कि यह प्रयोग बहुत सफल रहा।

कीड़े और रोग—यद्यपि पपीते के वृक्ष पर अन्य फल वृक्षों की भाँति भयंकर कीड़ों और रोगों का आक्रमण नहीं होता तथापि कुछ अंश में तो इनसे क्षति होती ही है।

लाल मकड़ी (Red Spider or Mite)—पपीते के पौधों का यह एक बड़ा शत्रु है। इनका आक्रमण प्रायः पत्तियों या पके फलों पर होता है। जिन पत्तियों पर ये आक्रमण कर देते हैं उनका रंग पीला हो जाता है और फलों की सतह खुरदरी तथा रंग भूरा हो जाता है। इससे फसल की रक्षा के लिए गन्धक का छिड़काव करते हैं। गन्धक के अतिरिक्त लाइम सल्फर (Lime sulphur) का फुवारा (Spraying) भी प्रयोग किया जाता है।

धड़-सड़न (Stem Rot, Foot Rot or Collar Rot)—यह रोग पपीते की फसल पर कभी-कभी बुरा प्रभाव डालता है। यह रोग जैसा नाम से ही विदित है, तनों पर प्रभाव डालता है। तने का निचला भाग जो भूमि के धरातल के निकट रहता है और कोलार (Collar) कहा जाता है सर्वप्रथम सड़ना प्रारम्भ करता है। कभी-कभी ५″ की ऊँचाई तक भी तना प्रभावित हो जाता है। रोग के लक्षण जल से सूजे तने के भाग पर दृष्टिगत होते हैं। फिर तने की छाल फट जाती है और तन्तु (tissue) शीघ्रता से टूटने लगते हैं और थोड़े समय पश्चात् पौधा गिर जाता है। धड़ सड़न रोग प्रायः मानसून के दिनों में जब कि उद्यान में पानी भरा रहता है अधिक रहता है क्योंकि ऐसी स्थिति में फफूँदी तेजी से बढ़ते हैं किन्तु शुष्क ऋतु में इनका प्रभाव कम होता है। यह रोग पीथियम अफैनिडरमेटम (Pythium ophanidermatum) नामक फफूँदी (fuingus) से उत्पन्न होता है। यह फफूँदी भूमि-उत्पन्न (soil-borne) है जो जल-निकास के उत्तम प्रबन्ध से दूर की जा सकती है। कोदूर में रोगी धड़ के रोगी भाग को खुरच कर कोलतार, बोडो मिक्चर और हल्का कारबोलिक अम्ल का उपयोग किया गया परन्तु सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकाला। उद्यान में वृक्षों की जड़ों के निकट का जल निकाल देना इसके लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

ऐन्थ्रैक्नोज—यह रोग पत्तियों और फलों पर आक्रमण करता है। गैमी और पटवर्धन के अनुसार यह रोग बम्बई प्रदेश में पपीते के फलों पर कभी-कभ पाया जाता है। एक हल्के पीले रंग का दाग फल पर उत्पन्न होता है और फल

का यह भाग मुलायम होकर भूरा हो जाता है। फिर यह दाग बढ़ कर फल का लगभग आधा भाग ढक लेता है। बाद में काले एसवुलाई (Acervuli) निकलते हैं। इस रोग की रोक-थाम के लिए बरगण्डी मिश्रण अच्छा सिद्ध हुआ है। यह मिश्रण १० पौंड कापर सल्फेट और १२ पौंड कास्टिक सोडा के १०० गैलन पानी में मिलाने से तैयार होता है।

इन रोगों के अतिरिक्त पत्तियों का मुड़ना (Leaf curl) भी एक ऐसा रोग है जो पौधे की पत्तियों पर लगता है। किन्तु इस रोग के विषय में अभी कोई ज्ञान नहीं है। डैम्पिंग आफ (Damping off) एक अन्य रोग है जो बीयड़ के पौधों पर आक्रमण करता है। इस रोग से बचने के लिए उद्यान की भूमि शोधित (sterilised) की जाती है।

अध्याय १९

लीची (Litch—iLitchi thinenesis)

लीची का फल चीन में बहुत प्राचीन-काल से उगाया जा रहा है। विश्व के अन्य देशों में जिन-जिन स्थानों पर यह पाया जाता है वहाँ यहीं से पौधे या बीज लाये गये। लीची के क्षेत्र में भारतवर्ष भी चीन का ऋणी है क्योंकि यह फल यहाँ चीन से ही लाया गया। लीची उगाने वाले देशों में भारत का स्थान दूसरा है जबकि प्रथम स्थान चीन का होता है। लीची का फल मोटे छिल्के सहित होता है किन्तु स्वाद और मिठास में यह बहुत बढ़िया फल है।

इतिहास और विवरण—जैसा कि हमने अभी पढ़ा है लीची का जन्म-स्थान चीन देश है। यहाँ के बहुत प्राचीन फलों में इसकी गणना होती है। इसका प्रथम उल्लेख तो १७६६ ई० पू० में ही पाया जाता है किन्तु यह कुछ भ्रममूलक है। दूसरा विवरण १४० से ८६ ई० पू० में प्राप्त होता है जो प्रथम विवरण की अपेक्षा अधिक मान्य है। १०५६ ई० में लीची पर पहला लेख प्रकाशित हुआ। भारतवर्ष में लीची चीन के दक्षिणी भाग से लगभग १७ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पहुँचा। १८ वीं शताब्दी में यह पश्चिमी द्वीप समूह में और १८८६ ई० में फ्लोरिडा पहुँचा। यूरोप में भी लीची के पौधे लगाये गये किन्तु जलवायु उपयुक्त न होने के कारण यहाँ इन्हें सफलतापूर्वक उगाया न जा सका। दक्षिणी अफ्रीका में यह अभी हाल ही में पहुँचा है।

भारतवर्ष में लीची उगाने वाले क्षेत्र बिहार, बंगाल, आसाम के कुछ भाग और उत्तर प्रदेश हैं। उत्तर प्रदेश के तराई भागों में इसकी खेती अधिकता से की जाती है जिसमें सहारनपुर, देहरादून, मुजफ्फरनगर, गोरखपुर आदि सम्मिलित होते हैं। बिहार में मुजफ्फरपुर और दरभंगा की लीची अधिक प्रसिद्ध हैं।

भूमि—लीची के वृक्ष दोमट भूमि में जिसमें चूने की पर्याप्त मात्रा उपस्थित होती है, सफलतापूर्वक उत्पन्न होते हैं। यद्यपि इसे कई प्रकार की भूमियों में उगाया जा सकता है किन्तु गहरी दोमट भूमि इसके लिए अच्छी सिद्ध होती है। बिहार और देहरादून में भूमि में चूने की मात्रा लगभग २५ से ३० प्रतिशत पायी जाती है और ऐसी भूमियों में लीची के वृक्ष बहुत जोरदार उगते हैं। व्यास के अनुसार लीची उगाने वाले क्षेत्रों में ३०% चूने की उपस्थिति आवश्यक है। उनका कथन है कि यदि भूमि

में चूने की मात्रा इससे कम हो तो उसमें चूना डालना अच्छा पड़ता है। किन्तु इसके साथ ही चूने की अधिकता में भी लीची के पौधे अच्छे नहीं उत्पन्न हो पाते। भूमि में अम्लीयता का उपस्थित होना आवश्यक होता है क्योंकि इसकी उपस्थिति में जड़ें और तने बहुत जोरदार रूप से बढ़ते हैं। यदि भूमि नीची है और वहाँ पानी जमा होने के अवसर हों तो भी लीची के पौधे उगाये जा सकते हैं क्योंकि इससे उनकी वृद्धि पर कोई विशेष हानि नहीं होती। चीन में लीची के वृक्ष अधिकांशतर नीची भूमियों में ही उगाये जाते हैं किन्तु उनकी रोपाई के लिए ऊँचे थाले बना लिए जाते हैं।

जलवायु—लीची के लिए गर्म-तर जलवायु की आवश्यकता होती है और ऐसा उन्हीं स्थानों पर सम्भव है जहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। चीन में यह उष्ण कटिबन्ध में ही उगाया जाता है और ऐसा देखा गया है कि उन स्थानों पर इसकी उपज भी अच्छी होती है क्योंकि इसमें न तो अधिक गर्मी सहन करने की क्षमता होती है और न तो अधिक सर्दी। पकने के समय इसे अधिक गर्मी से बचाना पड़ता है क्योंकि उत्तर प्रदेश में लू के बहने से लीची के फल फट जाते हैं। अतः इसकी सफल खेती करने के लिए गर्मी से बचाव आवश्यक है। पाले का प्रभाव भी लीची के फल पर अधिक भयंकर होता है। यद्यपि पाला सहन करने की शक्ति लीची की जाति, पौधे की दशा और आयु पर निर्भर करती है, तथापि इसका प्रभाव प्रत्येक अवस्था में कुछ-न-कुछ अवश्य पड़ता है। ग्रोफ (Groff) ने लीची की एक पहाड़ी जाति का उल्लेख किया है, जो पाला सहन करने की अधिक क्षमता रखती है, किन्तु इस जाति के साथ कठिनाई यह है कि इसके फल घटिया किस्म के होते हैं। जिन स्थानों पर पाले के अधिक अवसर होते हैं वहाँ कम आयु वाले पौधे अधिक प्रभावित होते देखे जाते हैं। अतः उत्पादक को इस दशा में उनकी रक्षा करना आवश्यक होता है। सहारनपुर में २१° फा० पर थोड़ी बहुत हानि पायी गई है किन्तु मैदानी भागों में इससे कुछ ऊँचे तापक्रम पर ही पौधे क्षतग्रस्त हो जाते हैं। वृक्षों को फूलने और फलने के समय ७०° से १००° फा० का तापक्रम उपयुक्त होता है। लीची के लिए ४० इंच से ५० इंच वर्षा वाले स्थान उपयुक्त पड़ते हैं। किन्तु चीन में इसे ६० इंच वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर, जहाँ नमी लगभग ६६ से ८४ रहती है उगाया जाता है।

वानस्पतिक विवरण—लीची सैपिनडेसी (Sapindaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। इस कुल में ऊष्ण और समशीतोष्ण कटिबन्ध के बहुत से पौधे सम्मिलित होते हैं। लीची पहले नेफीलियम (Nephelium) जीनस से सम्बन्ध रखता बतलाया जाता था और अब भी कुछ लोग ऐसा ही कहते हैं किन्तु

आधुनिक विचार इस पक्ष में नहीं है। लोग इसे निफेलियम लीची के स्थान पर लीची चाइनैन्सिस (Litchi chinensis) नाम देते हैं। इसके वृक्ष लम्बे और मजबूत होते हैं।

जातियाँ—लीची की कई जातियाँ पायी जाती हैं जिन्हें शीघ्र पकने वाली और देर में पकने वाली के हिसाब से दो वर्गों में बाँटा जाता है। शीघ्र पकने वाली जातियों में लाल और बेदाना सम्मिलित की जाती हैं। दूसरी दोनों जातियाँ देर में पकना प्रारम्भ करती हैं। अतः लाल देर में पकने वाली और बेदाना देर में पकने वाली दो जातियाँ दूसरे वर्ग में आती हैं। इनके अतिरिक्त कलकतिया लीची एक प्रसिद्ध जाति है।

पौधे तैयार करना—लीची के फल प्रायः दाब और गूटी द्वारा तैयार किये जाते हैं किन्तु इसके अतिरिक्त ये कटिंग और ग्रैफ्टिंग द्वारा भी तैयार किये जाते हैं। दाब की क्रिया जिसमें गूटी का प्रयोग होता है, अधिक विख्यात है। चीन में भी इसका प्रयोग होता है। जैसा कि हम जानते हैं, गूटी मानसून के दिनों में अधिक सफल होती है, अतः इसकी क्रिया अप्रैल, मई में ही प्रारम्भ कर दी जाती है। इस प्रकार तैयार किये गये पौधे इसे ५ वर्षों की आयु में फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। लीची में कलम की क्रिया भी प्रचलित है। चीन में कुछ स्थानों पर इनार्चिंग विधि का प्रयोग किया जाता है। टाप-वर्किंग का प्रयोग केवल तभी किया जाता है जबकि पुराने वृक्ष नये बनाने होते हैं। कटिंग का प्रयोग केवल उसी दशा में किया जाना चाहिए जब कि उत्पादन की अन्य विधियाँ सफल न हों। इसके लिए दो वर्ष की आयु वाली कोमल लकड़ी की कटिंग की जाती है और उन्हें भूमि में गाड़ दिया जाता है ताकि वे जड़ पैदा कर सकें। लीची में चश्में की क्रिया अधिक प्रचलित नहीं है किन्तु फिलीपाइन और हवाई में इस क्रिया में कुछ सफलता प्राप्त की गई है। जब पौधे बीज द्वारा तैयार किये जाते हैं तो उनके बीज सूखने नहीं देना चाहिए क्योंकि चार-पाँच दिनों तक हवा में छोड़ देने से ही ये अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। मन्द गति से वृद्धि करने के कारण ये लगभग ८ से १२ वर्ष में फल उत्पन्न करना प्रारम्भ करते हैं और इसके साथ ही पौधे मातृ-वृक्ष से अधिक अन्तर रखते हैं। अतएव व्यापारिक ढंग पर इन्हें प्रयोग नहीं किया जाता।

स्थानान्तरण—जब पौधे बीयड़ में रोपाई के योग्य हो जाते हैं तो उन्हें मानसून के दिनों में उद्यान में रोप दिया जाता है। रोपाई के पूर्व उद्यान में २५ से ३० फीट की दूरी पर ३'×३'×३' वाले गड्ढे तैयार कर लिए जाते हैं। कुछ स्थानों पर गड्ढों की पारस्परिक दूरी ३० से ४० फीट की रक्खी जाती है। किन्तु शुष्क स्थानों पर इनकी दूरी २५ फीट ही रखनी उत्तम पड़ती है। चीन में पौधों की रोपाई

के लिए गड्ढे नहीं तैयार किये जाते अपितु खेतों में उर्वर मिट्टी से ऊँची क्यारियाँ बना ली जाती हैं और उन्हीं में नालियाँ बना कर पौधों की रोपाई कर दी जाती है। इससे जल-निकास में यथेष्ट सुविधा मिलती है। भारतवर्ष में गड्ढों की प्रथा प्रचलित है। गड्ढों में स्थानान्तरण के पूर्व २५ से ३० सेर गोबर की खाद २½ सेर पिसी हड्डी और १½ टोकरी राख डाल दी जाती है। तत्पश्चात् मानसून के प्रारम्भ होने पर पौधे स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। मानसून के अन्त में अक्टूबर के महीनों में भी पौधों की रोप लगाई जा सकती है। रोपाई करने के पश्चात् तेज धूप और हवाओं द्वारा पौधों को बचाने के लिए पौधे के चारों ओर सरपत या चटाई का प्रबन्ध कर दिया जाता है।

खाद—लीची के उद्यान में खाद का अधिक महत्व है। इसकी पहली खुराक तो गड्ढों की ही दशा में दी जाती है। जून में खाद की दूसरी मात्रा दी जाती है जिसमें गोबर के साथ नीम या अंडी को २-३ सेर खली, २ सेर हड्डी का चूर्ण और ३-४ सेर राख रहती है। यदि मछली की खाद सुलभ होती है तो इसकी ३-४ सेर खाद दे देने से फलों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। चीन में लीची के उद्यानों में विष्ठा की खाद अधिक प्रयोग की जाती है। वहाँ लोग प्रति वर्ष लगभग ६ मन खाद देते हैं। भारतवर्ष में खाद की इतनी मात्रा नहीं दी जाती। उन स्थानों पर जहाँ की भूमि अधिक उर्वर होती है खाद बिल्कुल नहीं दी जाती और उपज अच्छी मिल जाती है।

सिंचाई—जिन स्थानों पर पानी की अधिक सुविधा है और वर्षा कम होती है वहाँ लीची के उद्यान अधिक सींचे जाते हैं किन्तु अधिक वर्षा होने वाले स्थानों पर सिंचाई नहीं की जाती। बिहार में जहाँ वर्षा अधिक होती है और भूमि में नमी अधिक दिनों तक संचित रखने की शक्ति रहती है, दो वर्ष से अधिक आयु वाले पौधे नहीं सींचे जाते। किन्तु जिस वर्ष देर से वर्षा प्रारम्भ होती है उस वर्ष सिंचाई कर देना अच्छा सिद्ध होता है। उत्तर प्रदेश में प्रारम्भ में जबकि पौधे कम आयु के होते हैं, सिंचाई की क्रिया आम की भाँति की जाती है। शुष्क ऋतु में जबकि फल लगने और पकने लगते हैं, पानी की अधिक आवश्यकता होती है। अर्थात् दिसम्बर से मई तक का समय लीची के लिए अधिक पानी देने का समय है।

छँटाई—लीची के उद्यानों में छँटाई की क्रिया अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। पौधों की प्रारम्भिक अवस्था में उन्हें सुडौल बनाने के लिए छँटाई की जाती है किन्तु बाद में यह क्रिया नहीं प्रयोग की जाती क्योंकि लीची के फल टहनियों के साथ ही तोड़े जाते हैं। इससे अप्रत्यक्ष रूप में छँटाई की क्रिया पूरी हो जाती है। किन्तु इसके

साथ ही यदि पेड़ अधिक घना हो और नीचे वाली शाखायें आवश्यक धूप से वंचित रह जाती हों तो छँटाई की क्रिया आवश्यकतानुसार कर दी जाती है।

फलों की तोड़ाई—उत्तर-प्रदेश में लीची के फल—फरवरी के महीने में लग जाते हैं। फूल आने का समय लगभग वही होता है जो आम में पाया जाता है। किन्तु बँगलौर में लीची के फूल मानसून के अन्त में आना प्रारम्भ होते हैं और दिसम्बर तक फल पकने लगते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है लीची के पौधे ५-६ साल में फल देना प्रारम्भ करते हैं। किन्तु यदि पौधों में इसके पूर्व फल आ जायँ तो उन्हें तोड़ कर गिरा देना चाहिये। फरवरी के लगे फल मई-जून में तैयार हो जाते हैं। कच्चे फल हरे और पीले रंग के होते हैं किन्तु पकने पर यह रंग बदलने लगता है और अन्त में फलों का रंग लाल हो जाता है। लीची की उपज आयु के अनुसार बढ़ती-घटती रहती है। ग्रोफ़ का कहना है कि चीन में लीची की उपज २ से ४ मन अथवा ४,००० से ५,००० फल पायी जाती है। उनका कहना है कि यदि वृक्ष अकेले रहे तो उसकी उपज प्रति वर्ष १५,००० फल तक हो सकती है। लीची की, स्टेफेन्स के अनुसार, औसत उपज २०० से ३०० पौण्ड प्रति वृक्ष है। कुछ स्थानों पर इसकी उपज १,००० फल तक पायी जाती है। आयु के अनुसार ५ वर्ष के वृक्ष ५०० फल, १० वर्ष के वृक्ष १००० से १,५०० और २० वर्ष से ३० वर्ष की आयु वाले वृक्ष ४,००० फल उत्पन्न करते हैं। वृक्ष की फल देने की आयु ५-६ वर्ष से प्रारम्भ होकर ५० वर्ष तक पायी जाती है किन्तु आयु ज्यों-ज्यों घटने लगती है उपज कम होती जाती है। किन्तु हेज ने, चाइनीज लिटरेचर के अनुसार, कहा है कि लीची के वृक्ष ८०० वर्षों तक जीवित रह सकते हैं और इस प्रकार लगभग १०० वर्ष तक उनमें फल देने की क्षमता होती है। लीची के फल तोड़ने के पश्चात् शीघ्र ही बाजार भेज दिये जाते हैं।

फलों की बक्साबन्दी और संचय—लीची के फल तोड़ने के पश्चात् सावधानी से रखे जाते हैं। जब इन्हें निकट के बाजारों में बेचना होता है तो ये वृक्ष से पूर्ण पकी अवस्था में तोड़े जाते हैं। किन्तु जब दूर भेजना होता है तो फल उसी समय तोड़ लिये जाते हैं जबकि फल होना प्रारम्भ कर देते हैं। इन्हें गुच्छे और थोड़ी पत्तियों तथा टहनी सहित तोड़ते हैं और १० इञ्च की गहराई वाली टोकरियों में लीची या शीशम की पत्तियों के साथ इस प्रकार रखते हैं कि फल दबने न पावें। जब फलों को अधिक दिनों तक रखना होता है तो इन्हें शीतागारों में रक्खा जाता है। इनमें इन्हें ३० से ४५° फा० पर लगभग ३ महीने तक सुरक्षित रक्खा जा सकता है। चीन में फल भेजने का बहुत अच्छा प्रबन्ध प्राचीन काल से ही है जिससे उनमें सड़ाव शीघ्र नहीं होने पाता।

लीची के फल भारतवर्ष में प्रायः खाने के ही प्रयोग में आते हैं किन्तु चीन में ये सुखा कर भी बाजारों में बेचे जाते हैं।

खाद्य-अंश—लीची का फल चीनी में अधिक धनी होता है। इसकी मात्रा फ्लोरिडा में १२ से १५% तक पायी गई है। पोपेनो ने हवाई में लीची के फल का विश्लेषण निम्नलिखित रूप में प्राप्त किया है—

चीनी	१५·३%
प्रोटीन	१·१५%
राख	४·५%
अम्ल	१·१६%

इन तत्वों के अतिरिक्त लीची में फासफोरस और लोहे की भी मात्रा प्राप्त होती है किन्तु इसमें कैल्शियम की बहुत कम उपस्थिति रहती है।

रोग और कीड़े—लीची पर रोग और कीड़े अधिक नहीं पाये जाते। इस पर रोग पैदा करने वाले कोई फँफूदी नहीं मिलती किन्तु कुछ कीड़े अवश्य फलों पर आक्रमण करते हैं। इन कीड़ों में माइट (mite) जिसे मकड़ी कहते हैं, अधिक प्रसिद्ध है। यह पत्तियों पर आक्रमण करता है और इस प्रकार लीफ कल (leaf curl) उत्पन्न हो जाता है। इसे पत्तियों के निचले धरातल के रोमों में पाया जाता है। इसे दूर करने के लिए प्रभावित पत्तियाँ तोड़ ली जाती हैं और जला दी जाती हैं। प्रभावित पत्तियाँ कुछ भूमि पर गिर भी जाती हैं, क्योंकि कीड़े उनका सैप शोषित कर लेते हैं। ये पत्तियाँ भी जला देनी चाहिये। इन्हें रोकने के लिए क्रूड आयल इमलसन अथवा गन्ध का चूर्ण भी छिड़का जाता है। सल्फर के स्थान पर किरासिन इमलसन भी सफल सिद्ध हुआ है। सल्फर के छिड़काव का प्रयोग उसी समय करना चाहिये जब कि कीड़े क्रियाशील हों। इनकी क्रियाशीलता मार्च से नवम्बर तक रहती है। अतः छिड़काव मई से नवम्बर तक किया जा सकता है। इस कीड़े के अतिरिक्त और भी अनेक कीड़े ऐसे पाये गये हैं जो लीची के वृक्ष पर आक्रमण करके क्षति पहुँचाते हैं। इन कीड़ों में कुछ छाल खाने वाले हैं तो कुछ पत्तियाँ और फल खाने वाले। इन्हें हाथ से पकड़ कर मारा जा सकता है।

अध्याय २०

खजूर (Date)

खजूर की खेती बहुत प्राचीन काल से हो रही है और कुछ लोगों का विचार है कि यह प्राचीनतम फल है जो मनुष्य के इतिहास में सर्व प्रथम उत्पन्न किया गया। डीकान्डोले का कथन है कि खजूर के वन प्राचीन मिश्री राजवंशों से बहुत पहले पाये जाते थे। उनका विचार है कि सैलानी फिर्के के लोग यूकेरेटिस नदी से लेकर कनारीज के मध्य की भूमि में खजूर के वृक्ष कहीं-कहीं लगा दिया करते थे। खजूर लगाने में उनका कोई ध्येय नहीं था। लगभग ५००० वर्षों तक यही स्थिति रही, बाद में इसकी कृषि चीन और कैलीफोर्निया में प्रारम्भ की गई और अब यह संसार के बहुत-से देशों में सफलतापूर्वक उगाया जाता है। इसका जन्म स्थान जहाँ तक लोगों का विचार है फारस की खाड़ी के निकटवर्त्ती प्रदेश हैं। डब्ल्यू० बी० हेज का कहना है कि यह आधुनिक ईराक में ही सर्वप्रथम अधिक प्रसिद्ध हुआ। अरब में भी खजूर की खेती बहुत प्राचीन काल से हो रही है। भारतवर्ष में इसका सूत्रपात कब हुआ, यह कहा नहीं जा सकता यद्यपि यह निश्चित है कि खजूर इस देश में प्राचीनतम काल से उगाया जा रहा है। दक्षिणी अफ्रीका, ईरान और पैलेस्टाइन में भी खजूर बहुत दिनों से उत्पन्न किया जा रहा है।

खजूर की खेती आजकल अमेरिका में भी बहुत जोर-शोर से हो रही है। यहाँ यह सब से पहले मैक्सिको में उगाया गया और तत्पश्चात् कैलीफोर्निया में। यहाँ इस समय लगभग १,५०,००० खजूर के वृक्ष उत्पन्न किये जा रहे हैं। विश्व के अधिक खजूर पैदा करने वाले देश अरब, मिश्र, अलजीरिया, मोरक्को ट्यूनीसिया, लीबिया, सीरेनायका, दक्षिणी अफ्रीका, स्पेन, आस्ट्रेलिया तथा भारतवर्ष हैं। भारतवर्ष में खजूर के वृक्ष उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगलौर, राजपूताना, मैसूर, मद्रास, पंजाब आदि में पाये जाते हैं। वितरण के विचार से पोपेनो ने निम्नलिखित आँकड़े प्रस्तुत किये हैं—

अरब	६,००,०००० खजूर
मिश्र	६,०००,००० ,,
लीबिया	६,०००,००० ,,

अल्जीरिया	७,२००,००० ,,
ट्यूनीसिया	२,१३८,००० ,,
सीरेनायका	१,२००,००० ,,
मोरक्को	१,०००,००० ,,
पश्चिमी अफ्रीका	५००,००० ,,
स्पेन	११५,००० ,,

भूमि—खजूर के लिए रेतीली दोमट भूमि उत्तम पड़ती है क्योंकि यह कम पानी चाहने वाला पौधा है। यद्यपि इसे कई प्रकार की भूमियों में सरलतापूर्वक उगाया जा सकता है किन्तु बलुवार दोमट में यह फसल शीघ्र देना प्रारम्भ कर देता है। ईराक और मिश्र में खजूर चिकनी मिट्टी में उगाये जाते हैं। भूमि का निकास-युक्त होना अधिक महत्वपूर्ण है। यदि भूमि में क्षार हो तो अच्छा पड़ता है क्योंकि खजूर में इसे सहन करने की क्षमता अधिक होती है। स्विन्गिल का कथन है कि खजूर के पौधे ३% से ४% सफेद अलकली भूमि में अच्छी उपज दे सकते हैं।

जलवायु—खजूर को कम पानी वाले और देर तक गर्मी मिलने वाले स्थान उत्तम पड़ते हैं। यह पानी की केवल उतनी ही मात्रा चाहता है कि जड़ें नम रह सकें। इसके साथ ही गर्मी की ऋतु का लम्बा होना इसके लिए अच्छा पड़ता है। नमी की मात्रा यदि ७०% तक हो तो भी फसल पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ने पाता बल्कि ऐसा होता है कि फूल या फल सूखने से बच जाते हैं। खजूर को सूर्य की सीधी किरणें मिलनी चाहिये। इसके लिए लगभग ३३,००० ताप की इकाई आवश्यक होती है। खजूर में पाले सहन करने की शक्ति कुछ सीमा तक पायी जाती है। इसीलिए तापक्रम के ५° फा० तक गिर जाने पर भी यह जीवित रह सकता है। किन्तु अच्छी उपज के लिए निम्नतर तापक्रम बाधक होता है। विशेषकर उस समय जबकि सेंचन क्रिया होती रहती है, तापक्रम का अधिक होना आवश्यक है। फलों के पकने के समय भी अधिक गर्मी का मिलना फलों के लिए हितकर है। इस समय तापक्रम के गिरने से उत्पादक को अधिक हानि उठानी पड़ती है।

वानस्पतिक विवरण—खजूर का पौधा पालमेसी (Palmaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है जिसका एक महत्वपूर्ण सदस्य नारियल भी है। खजूर का पौधा लम्बा ताड़ के जैसा होता है किन्तु इसकी ऊँचाई ताड़ से कम पायी जाती है। यह ऊँचाई ८० से १०० फीट तक मिलती है। किन्तु खजूर की देशी जातियाँ, जो भारतवर्ष में अधिकता से पायी जाती हैं और अधिकतर ताड़ी निकालने के काम में लायी जाती हैं, ४० फीट से ५० फीट की ऊँचाई की होती हैं। खजूर के बीज-कठोर और लम्बाकार होते हैं। खजूर एक डाल वाला पौधा है और अन्य पौधों की

अपेक्षा कई एक अन्तर लिये रहता है। उद्यानों में ये पपीता की भाँति नर और मादा अलग-अलग पाये जाते हैं क्योंकि ये गुण में डायोसियस पौधे हैं। एक पौधा नरफूल पैदा करता है तो वह फल नहीं तैयार कर सकता जबकि मादा पौधे फल पैदा करने के लिए सेंचन क्रिया में नर पौधे से ही सहायता लेते हैं।

कभी-कभी ऐसे भी वृक्ष पाये जाते हैं जिनमें नर और मादा दोनों प्रकार के फूल पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पूर्ण फूल भी मिलते हैं जिनमें नर-मादा दोनों उपस्थित होते हैं। इस प्रकार खजूर में प्राकृतिक सेंचन के अधिक अवसर होते हैं। कभी-कभी वांछित फल लेने के लिए कृत्रिम सेंचन भी कराया जाता है। इसके लिए नरफूल चून लिये जाते हैं और उन्हें मादा फूलों पर छिड़क दिया जाता है।

जातियाँ—खजूर की मुख्यतः दो जातियाँ प्रचलित हैं। एक अरबी और दूसरी देशी। अरबी खजूर के वृक्ष पुत्तियों (Suckers) द्वारा उत्पन्न होते हैं। इनकी लम्बाई और ऊँचाई अधिक होती है। ऊँचाई में लगभग ७० से ८० फीट तक के होते हैं। देशी खजूर बीज से पैदा किये जाते हैं। इन्हें जङ्गली तौर पर जङ्गलों में सरलतापूर्वक पाया जा सकता है। इनके बीज वर्षा के प्रारम्भ में अंकुरित हो जाते हैं और लगभग ४०-५० फीट लम्बे वृक्ष तैयार करते हैं। देशी जातियाँ प्रायः ताड़ी निकालने के काम में लायी जाती हैं।

इराक की उत्तम जातियों में हैलोवी, जहीदी, देरी, खुद्रवी और सेयर का नाम मुख्य है जो पंजाब में उगाई जा रही हैं। उत्तरी अफ्रीका की सर्वोत्तम जाति दिग-लेत नूर है जिसे आजकल अमेरिका में सफलतापूर्वक उगाया जा रहा है। मिश्र की प्रसिद्ध जाति सैदी है जो अन्य देशों में वृहद रूप से उत्पन्न की जाती है। खजूर का विभाजन अन्य विधियों से भी किया जाता है। चीनी की उपस्थिति के अनुसार इसके दो वर्ग होते हैं—प्रथम केन (Cane) और दूसरा इन्वर्ट सुगर खजूर (Ininuert Sugar dates)। टिगलेत नूर जाति दूसरे वर्ग में सम्मिलित की जाती है। फलों की बनावट के अनुसार खजूर को तीन भागों में विभक्त किया जाता है। १. कोमल, २. अर्ध-कोमल और ३. शुष्क अथवा ब्रेड (Bread)। शुष्क अथवा ब्रेड जाति के खजूर अरब देश में भोजन में प्रयुक्त होते हैं।

पौधे तैयार करना—खजूर जैसा कि ऊपर कहा गया है अधिकतर पुत्तियों द्वारा तैयार किये जाते हैं यद्यपि इन्हें बीज द्वारा भी तैयार किया जा सकता है। किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से इस प्रकार तैयार किये गये पौधे अच्छे नहीं होते क्योंकि पौधों में लगभग आधे पुरुष पौधे बन जाते हैं और आधे का पाँचवाँ भाग ही अच्छी उपज दे पाता है। पुत्तियों का प्रयोग अधिक वैज्ञानिक होता है क्योंकि

इनके पौधे अधिक उपज देने वाले होते हैं। पुत्तियाँ खजूर से लगभग ६ पौण्ड की तौलवाली ली जाती हैं जिनमें आँखों की संख्या अधिक होती है। इन्हें बसन्त ऋतु के प्रारम्भ में भूमि में लगा दिया जाता है। यदि पुत्तियाँ बड़ी रहें और उनकी तौल भी अधिक रहे तो उन्हें शिशिर या बसन्त ऋतु दोनों में लगाया जा सकता है। किन्तु बीयड़ में लगाने वाली पुत्तियाँ पौधे से शिशिर में ही निकाली जाती हैं ताकि उनके बढ़ने के लिए पर्याप्त समय मिल सके। मातृ-वृक्ष से इन्हें बड़ी सावधानी के साथ निकालना चाहिये और जिस स्थान पर इन्हें काटा जाय वहाँ तारकोल की लेप लगा देनी चाहिये, तत्पश्चात् पुत्तियाँ कई दिनों तक धूप में सुखाई जाती हैं। बीयड़ में लगाने के पश्चात् इनकी आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहना चाहिये। कुछ स्थानों पर इन्हें प्रति दिन सींचा जाता है। यदि पुत्तियाँ बाहर भेजनी हों तो इन्हें बीयड़ में ही तैयार किया जाता है और जब वे अधिक जड़ें उत्पन्न कर लें तो बीयड़ से निकालकर उन्हें सावधानी के साथ बाहर भेजा जा सकता है।

स्थानान्तरण—बीयड़ में तैयार किये गये पौधे ३'×३'×३' आकार वाले गड्ढों में रोप दिये जाते हैं। गड्ढों की आपस की दूरी खजूर की जातियों के अनुसार रक्खी जाती है। कुछ स्थानों पर इसे १० से १५ फीट की दूरी पर स्थानान्तरित करते हैं। किन्तु यह दूरी बहुत कम पड़ती है और पौधे काफी घने हो जाते हैं। खजूर जातियों के अनुसार २० से ३० फीट की दूरी पर रोपा जा सकता है। रोपाई में इस बात ध्यान रक्खा जाता है कि उद्यान में नर और मादा पौधे उपस्थित होने चाहिये। साधारणतया लोगों का ऐसा विचार है कि १०० मादा फलों पर एक नर फल पर्याप्त होता है। रोपाई के समय गड्ढों में सड़ी गोबर की खाद डाल देने से पौधे जड़ शीघ्र उत्पन्न करने लगते हैं।

खाद—उद्यान के गड्ढों में २०-२५ सेर गोबर की खाद २-३ सेर हड्डी के चूर्ण के साथ प्रति वृक्ष के हिसाब से दी जाती है। हरी खाद का भी प्रयोग किया जा सकता है। उद्यान में जब नाइट्रोजन की आवश्यकता हो तो फर्टिलाइजर भी प्रयोग किये जा सकते हैं।

सिंचाई—उद्यान में गर्मी के दिनों सिंचाई की अधिक आवश्यकता पड़ती है क्योंकि खजूर के पौधे जड़ों के निकट बराबर नमी चाहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में प्रति दूसरे सप्ताह सिंचाई करनी चाहिये किन्तु अत्यधिक सिंचाई से भी हानि हो सकती है। सहारा में खजूर की सिंचाई अधःभूमि के ढंग से की जाती है किन्तु हमारे देश में ऐसी कोई विधि नहीं है। खजूर के उद्यान में यदि पानी जमा हो जाता है तो पौधे क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। अतः उत्पादक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। यही बात पौधों में सेंचन क्रिया होने तथा फलों के पकने के समय सिंचाई कर देने

से उपस्थित होती है। अतः भूल कर भी इस समय सिंचाई नहीं करनी चाहिए। जाड़े के दिनों में १-२ सिंचाई काफी होती है क्योंकि इस समय पौधे नमी की आवश्यकता नहीं रखते। मानसून में इनकी सिंचाई नहीं की जाती किन्तु गर्मी के दिनों में कभी-कभी तनों के ऊपर जल का छिड़काव किया जाता है।

छँटाई—खजूर के लिए छँटाई की क्रिया अधिक महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु वे पत्तियाँ जो सूख जाती हैं अथवा काँटे, जो अन्य क्रियाओं में बाधा उपस्थित करते हैं, छाँट देने चाहिए। वृक्ष को वे पुत्तियाँ भी निकाल देनी चाहिये जो अनावश्यक प्रतीत हों। ४-५ वर्ष की अवस्था तक पौधों की अधिक छँटाई नहीं की जाती फिर भी ऐसा सोचा जाता है कि इस दशा में कुछ पुत्तियाँ निकाल देना अच्छा होता है क्योंकि ये पानी की अधिक मात्रा उड़ा देती हैं। कुछ स्थानों पर जड़ों की भी छँटाई की जाती है किन्तु यह छँटाई भूमि की जुताई-गोड़ाई द्वारा सम्पादित होती है। ईराक में यह प्रथा है कि उद्यान का लगभग चौथाई भाग प्रति वर्ष ४ फीट की गहराई तक खोदा जाय। इससे वृक्ष की अधिक जड़ें कट कर निकल जाती हैं।

फल आना—जैसा कि ऊपर बताया गया है कि उद्यान में खजूर के फल प्राप्त करने के लिए मादा पौधों के साथ नर पौधों का भी उपस्थित होना आवश्यक है। यदि उद्यान में प्राकृतिक सेंचन क्रिया होती है तो नर और मादा की बराबर संख्या लेनी चाहिये। किन्तु यह आर्थिक दृष्टिकोण से अच्छा नहीं पड़ता क्योंकि एक नर पौधा ३० मादा पौधों के लिए पर्याप्त होता है। पौधे ७-८ वर्ष की अवस्था में फल देना प्रारम्भ करते हैं और ७०-८० वर्ष की आयु तक फल देते रहते हैं। १५ व १६ वर्ष की आयु में ये अधिक उपज देते हैं।

फलों की तोड़ाई—यद्यपि बाजारों में खर के पके ज़ूफल ही देखने को मिलते हैं किन्तु पकने के बहुत पहले ही ये वृक्षों से तोड़ लिए जाते हैं। पंजाब में पूर्ण परिपक्वता तक पहुँचने के पूर्व ही फलों की तोड़ाई कर ली जाती है और तत्पश्चात् उन्हें शीतागारों में रख दिया जाता है। इन्हें इस समय इसलिए तोड़ा जाता है कि फलों पर नम मौसम का कोई प्रभाव न पड़ने पावे। किन्तु जब सूखे फल तैयार करने होते हैं। तो उन्हें पकने पर वृक्ष से तोड़ा जाता है। खजूर के फल की पूर्ण पकी अवस्था रुताब अथवा डाँग के नाम से सम्बोधित की जाती है। पके फल गुच्छों से चुन लिए जाते हैं अथवा पूरे गुच्छे ही तोड़ लिए जाते हैं। पके फल सूखने के लिए धूप में फैला दिए जाते हैं। पंजाब में ये चटाइयों पर सूखाये जाते हैं। इन्हें खुले मौसम में ३ से ७ दिनों तक सुखाया जाता है जब कि इनकी लगभग $\frac{1}{3}$ तौल कम हो जाय। सुखाते समय घटिया किस्म के फल वाले जो सड़ना शुरू कर दें बाहर निकाल दिये जाने चाहिये। घटिया किस्म के फल तेल या घी

मिले हुये पानी में खौला लिये जाते हैं और तत्पश्चात् उन्हें सुखा लिया जाता है। खजूर की उपज प्रति वृक्ष पंजाब में १० से ५०० पौण्ड मिलती है।

फलों की बक्सावन्दी—सुखाये गये फल ढेर-के-ढेर बाजारों में भेजे जाते हैं किन्तु ऐसा केवल उन्हीं फलों में किया जाता है जो घटिया किस्म के होते हैं। बढ़िया फल हल्की लकड़ी के बक्सों में, जिनका आकार ½ पौन्ड से ३ पौण्ड तक होता है, भर कर भेजे जाते हैं। कुछ स्थानों पर ये गुच्छों सहित ही बेचे जाते हैं।

खाद्य-अंश—खजूर के फल भोजन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें चीनी की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है। सूखे फलों में कारबोहाइड्रेट, प्रोटीन, चर्बी और विटामिन उपस्थित होते हैं जिनकी मात्रा नीचे दी जा रही है।

कार्बोहाइड्रेट (जिसमें चीनी की अधिक मात्रा रहती है)	—७०%
प्रोटीन	—२%
चर्बी	—२·५%

खजूर में विटामिन A और B_1 पाये जाते हैं। इसके फल बंगाल में गुड़ बनाने के काम में आते हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश में इनसे ताड़ी निकाली जाती है और मद्रास में इनसे मिश्री बनाते हैं। इसकी पत्तियाँ चटाई, झाड़ू, डलिया, टोकरी बनाने के काम आती हैं। रेशों से रस्सी बनती है। इसके अतिरिक्त खजूर की लकड़ी बहुत मजबूत होती है। इसके फल स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से बहुत लाभकर होते हैं। इन्हें कई रूपों में खाने के काम में लाया जाता है। खजूर का जैम बहुत स्वादिष्ट बनता है।

रोग और कीड़े—खजूर पर अधिक भयंकर रोग अथवा कीड़े नहीं पाये जाते, किन्तु कभी-कभी उद्यानों में कुछ बीमारियाँ अवश्य पायी जाती हैं, जिनसे काफी क्षति उठानी पड़ती है। पंजाब में पाम लीफ पस्चूल (Palm leaf pustule) नामक रोग पाया जाता है, जो फंगस ग्रैफियोला फोयेनीसिस (Graphiola-phoenicis) से उत्पन्न होता है। इससे पत्तियों की दोनों धरातल छोटे और कठोर काले धब्बे निकल आते हैं। इससे रोक-थाम करने के लिए बोर्जमिश्रण अथवा पोटाशियम परमैगनेट का घोल प्रयोग किया जा सकता है। प्रभावित पत्तियों की छटाई से भी रोग पर कुछ सीमा तक नियन्त्रण रक्खा जा सकता है। यह रोग मिश्र में अधिक महत्वपूर्ण है। इस रोग के अतिरिक्त कुछ और भी रोग हैं जो खजूर के उद्यान में पाये जाते हैं। इनमें फ्रूट-राट (Fruit rot) डिक्लाइन (Decline) आदि सम्मिलित होते है।

उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त खजूर के उद्यान कीड़ों द्वारा भी अधिक क्षति-ग्रस्त होते हैं। पंजाब में लाल घुन (Rhynchophorus ferrugineus)

पाये जाते हैं जो पौधों के तने के ऊपरी सिरे पर आक्रमण करते हैं। इन्हें दूर करने के लिए प्रभावित पौधों के सिरे काट कर पृथक कर देना चाहिए और घुन यदि पकड़ में आ सकें तो उन्हें मार डालना चाहिए। इनसे बचाव के लिए कटे हुए स्थान को तारकोल से लेप देना चाहिए। इस कीड़े के अतिरिक्त स्केल कीड़ा (Scale insect)एक अन्य कीड़ा है, जो खजूर की पत्तियों पर धावा बोलता है। यह पंजाब में अधिकतर पाया जाता है। इसे दूर करने के लिए प्रभावित पत्तियों की छँटाई की जाती है और तत्पश्चात् रोजिन यौगिक का छिड़काव कर दिया जाता है। काला पाम बीटिल एक अन्य कीड़ा है, जो भारतवर्ष में अधिकतर पाया जाता है। इसे दूर करने के लिए बोर्डो मिश्रण का प्रयोग किया जाता है। संचित खजूर पर कुछ कीड़े आक्रमण करते हैं, जिन्हें सरलतापूर्वक दूर किया जा सकता है। फलों की बक्साबन्दी के पूर्व उन्हें स्टरलाइज (Sterilise) कर लेना प्रभावकारी सिद्ध होता है।

अध्याय २१

अनार (Pomegranate–Punica granatum)

अनार का फल एक प्रसिद्ध फल है। इसे खाने में प्रयोग किया जाता है। औषधियों में इसे अधिक प्रयोग किया जाता है। इसके औषधि सम्बन्धी गुण इतने महत्व के हैं कि प्रायः प्रत्येक रोग में इसे प्रयोग कर सकते हैं और इसी कारण इसकी खपत अधिक बढ़ जाती है। इसे काश्मीर से लेकर मद्रास तक प्रत्येक स्थान पर थोड़ा-बहुत उगाते हैं किन्तु कहीं भी इसे व्यापारिक ढंग से नहीं उत्पन्न किया जाता। अनार को विभिन्न स्थानों पर पृथक-पृथक नामों से सम्बोधित किया जाता है। गुजराती में इसे दादम, मराठी में दालिम्ब, कनाड़ी में दालिम्बदा हलू और हिन्दी में अनार कहा जाता है। इसका वानस्पतिक नाम (Botanical name) प्यूनिका ग्रेनेटम (Punica granatum) है। यह प्यूनिकेसी कुल से सम्बन्ध रखता है। कुछ लोग इसे लीथरेसी (Lythraceae) कुल का सदस्य बताते हैं किन्तु इसके विशेष गुणों के कारण अधिकांश विद्वान इसे प्यूनिकेसी कुल में ही रखते हैं जो अब लगभग सर्वमान्य है। इसका जीनस प्यूनिका (Punica) है।

अनार का पौधा बहुत सख्त होता है और कम उर्वर भूमि में भी सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जा सकता है। इसकी खेती इतनी सरल है कि दक्षिणी भारत के कुछ स्थानों पर इसकी गणना रुपया देने वाली प्रसिद्ध फसलों में की जाती है। कारण यह है कि इसके उद्यान में फसल लेने के लिए न तो अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है और न अधिक धन की। यद्यपि फसल से जो कुछ रुपया मिलता है वह बहुत कम होता है किन्तु ठोस होता है। फसल में व्यय के श्रोतों के कम होने से जो भी आय होती है वह बच जाती है। परन्तु इतना होते हुये भी अनार की खेती भारत में किसी भी स्थान पर विस्तृत रूप से नहीं होती। इसके कई कारण हैं। पहले तो उत्पादकों को अनार की खेती का वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है जिससे वे न तो फसल की समय पर सिंचाई करते हैं और न अन्य क्रियाएँ ही समयानुकूल हो पाती हैं, इससे फलों पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे फट जाते हैं। फटने से उनका बाजारू-मूल्य घट जाता है। दूसरे साधारण किस्म की भूमि और जलवायु में साधारण किस्म के ही फल उत्पन्न होते हैं, बढ़िया फल नहीं मिल पाते। इन बातों के अतिरिक्त फलों अथवा उनके रस को प्रिजर्व रखने का आधुनिकतम

ढंग अभी तक कोई नहीं निकल पाया है जिनसे अधिक लाभ उठाया जा सके। अतः अनार की खेती को विस्तृत करने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी उन्नत किस्में निकाली जायँ, खेती की वैज्ञानिक विधि प्रचलित की जाय और प्रिजर्व रखने के लिए अनुसन्धान किया जाय।

मूल स्थान—अनार का मूल स्थान कहाँ है यह अब तक निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सका है किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसका उद्भव दक्षिण पश्चिम एशिया के पर्वतीय भू-भागों में जो काश्मीर से अरब तक फैला है कहीं है। अधिकांश लोग इस मत के समर्थक हैं कि यह ईरान का देशी फल है किन्तु इसके साथ-ही-साथ कुछ लोगों का यह भी कथन है कि भूमध्यसागरीय प्रदेशों में इसकी खेती बहुत प्राचीन काल से होती चली आ रही है। रोमवासियों ने डब्ल्यू० बी० हेज के अनुसार इसे कार्थेज (Carthage) से प्राप्त किया और तभी से इसके जीनस का नाम प्यूनिका पड़ा।

वितरण—अनार उष्णकटिबन्धीय और शीतोष्णकटिबन्धीय भागों में सफलतापूर्वक उगाया जाता है। एशिया में यह बर्मा, जापान, चीन, भारत, पाकिस्तान अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, फारस, पेलेस्टाइन, अरब और अफ्रीका में मिश्र तथा उत्तरी अफ्रीका के अन्य देशों में उत्पन्न किया जाता है। योरप में स्पेन और अन्य भूमध्य सागरीय प्रदेश तथा दक्षिणी अमेरिका, फ्लोरिडा, मैक्सिको और कैलिफोर्निया अनार उगाने वाले अन्य देश हैं। रूस में अनार के पौधे केवल शोभा के लिए उगाये जाते हैं। यहाँ इनसे फल नहीं लिये जाते बल्कि इसकी ऐसी ही जातियाँ उगाई जाती हैं जो ऊँचाई में साधारण पौधों से कम बढ़ती है और फूल अधिक उत्पन्न करती हैं। भूमध्य सागरीय प्रदेशों में अनार अधिक क्षेत्रफल में उगाया जाता है। यहाँ केवल स्पेन में ही लगभग ५,००० एकड़ में अनार की खेती की जाती है। कैलिफोर्निया में इसका क्षेत्रफल कुछ ही सौ एकड़ है। काबुल, बिलोचिस्तान और पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर प्रदेश अनार की कृषि के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। इन स्थानों पर अनार की अच्छी जातियाँ उगाई जाती हैं जिनकी बाजारों में अधिक माँग होती है। भारत में भी अब ये जातियाँ उत्पन्न होने लगी हैं किन्तु इनका क्षेत्र अभी बहुत कम है। दक्षिण भारत में उत्तरी भारत की अपेक्षा इसे अधिक समय से उगाया जा रहा है, इसलिए उत्तर भारत में इसका प्रचार अभी कम है। दक्षिण भारत में मद्रास और बम्बई प्रदेश अनार की खेती के लिए प्रसिद्ध हैं। मद्रास में इसे विलोदू उत्खुली, मिचिल पट्टी और पेनुकोन्दा में अधिक परिमाण में उत्पन्न किया जाता है। बम्बई प्रदेश में गैमी और पटवर्धन के अनुसार अनार का क्षेत्रफल १४५१ एकड़ है (१९२९ ई०)। इस प्रदेश में यह

मुख्यतः दो भागों में उगाया जाता है—प्रथम उत्तरी गुजरात में ढोलका के निकट और दूसरे पूना, सतारा और शोलापुर जिले में। इस प्रदेश के अन्य जिलों में यद्यपि अनार के उद्यान बहुत कम मिलते हैं तथापि इसका क्षेत्रफल चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार इस समय २००० एकड़ है (१९३७-३८)। उत्तर प्रदेश में अनार के उद्यान ब त कम दृष्टिगत होते हैं, इसलिए भारत के मैदानी क्षेत्रों में इसकी कृषि में प्रगति करने के अधिक अवसर हैं। दयालचन्द का कथन है कि उत्तर प्रदेश में इसकी खेती २५० एकड़ में की जती है (१९४३)।

भूमि—अनार की खेती अत्यन्त साधारण भूमि में की जा सकती है। बम्बई प्रदेश में जहाँ किसी प्रकार की फसल नहीं उग पाती वहाँ अनार के वृक्ष लगा दिये जाते हैं। वहाँ साधारणतः अनार के उद्यान पहाड़ियों के ढाल या ऊँचे स्थानों पर पाये जाते हैं जहाँ पानी बिल्कुल नहीं टिक पाता अथवा टिकता भी है तो बहुत कम। किन्तु अनुभवों से ज्ञात किया गया है कि इसकी अच्छी उपज प्राप्त करने के लिए उद्यान की भूमि का उर्वर होना आवश्यक है। अच्छे गुण वाले अनार के लिए हल्की गहरी दोमट भूमि अच्छी पड़ती है। भारी दोमट में भी इसकी अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। अनार के पौधों पर चूने वाली भूमि का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। इसके पौधे हल्की क्षारीय भूमि में भी उगाये जा सकते हैं। कुछ लोगों को तो यह कथन है कि अनार के पौधे अनेक फल-वृक्षों की अपेक्षा क्षारीय प्रभाव अधिक सहन कर सकते हैं।

जलवायु—जलवायु के आधार पर अनार बहुत अधिक क्षेत्रफल में उगाया जा सकता है। समुद्र के धरातल से लेकर लगभग ४००० फीट की ऊँचाई तक इसकी खेती होती है। किन्तु इसकी अच्छी फसल लेने के लिए अर्ध-शुष्क जलवायु जहाँ जाड़े की ऋतु सर्द और ग्रीष्म ऋतु गर्म और शुष्क हो, विशेष उपयुक्त समझी जाती है। अनार में पाला सहन करने की अधिक शक्ति होती है किन्तु जब तापक्रम १२° फा० से नीचे गिरने लगता है तो ऐसी स्थिति में क्षतिग्रस्त होने से उन्हें बचाया नहीं जा सकता। उन स्थानों पर जहाँ जाड़े की रात अधिक सर्द होती है, अनार के वृक्ष डेसीडुवस होते हैं किन्तु भारत के मैदानी भागों में ये सदैव हरे-भरे पाये जाते है या अर्ध डेसीडुवस गुण वाले होते हैं। सख्त होने के कारण इसके पौधे अधिक शुष्क जलवायु सहन कर सकते हैं किन्तु अच्छी फसल लेने के लिए सूखे मौसम में इसकी आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहना चाहिए। नम जलवायु में इसकी खेती अवश्य की जा सकती है किन्तु फल घटिया किस्म के उत्पन्न होते हैं क्योंकि पश्चिमी घाट पर इस बात का अनुभव किया गया है कि ऐसी जलवायु अच्छे गुण वाले फल के उत्पादन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती है।

जातियाँ—भारतीय अनार गूदे के रङ्ग के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किये जाते हैं—१. सफेद गूदे वाले और—२. गुलाबी रङ्ग के गूदे वाले। किन्तु इन दोनों वर्गों के फल आकार और गुण में अपने वर्ग के फलों से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर भिन्न पाये जा सकते हैं। इन दो वर्गों में अनार की अनेक देशी जातियाँ सम्मिलित होती हैं किन्तु उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण अभी तक नहीं हो पाया है। बम्बई प्रदेश में इन दोनों वर्गों के अनार दो क्षेत्रों ढोलका और दक्षिण में उगाये जाते हैं। ढोलका के निकट सफेद गूदे और कोमल बीज वाले तथा दक्षिण में गुलाबी रङ्ग के गूदे और सख्त बीज वाले अनार, जिन्हें वदकी या ऊलन्दी कहते है, उगाये जाते हैं। ढोलका किस्म के अनार आकार में बड़े सफेद-हरे छिल्के वाले, सफेद गुलाबी या सफेद गूदे वाले होते हैं। ऊलन्दी या वेदकी किस्म के अनार औसत आकार के और गहरे गुलाबी या रक्त के रङ्ग के गूदे वाले होते हैं। गणेश खिन्द फल प्रयोग केन्द्र, किर्की में दक्षिण की स्थानीय आलन्दी और वेदकी जातियों को मिलाकर अनार की उन्नत जाति निकाली गई जिसे गणेशखिन्द नं० १ कहा जाता है। इस उन्नति जाति पर अब भी प्रयोग किये जा रहे हैं।

चीमा, भट्ट और नायक ने लिखा है कि कुछ समय पूर्व दक्षिण में एक बार अनार की काबुल जाति को उगाने का असफल प्रयत्न किया गया। पौधों का बढ़ाव बहुत कम हुआ और उनसे जो फल निकले वे बहुत घटिया किस्म के रहे। अतः यह प्रयास समाप्त कर दिया गया।

भारत में देशी अनार की अपेक्षा विदेशी अनार अधिक प्रसिद्ध हैं और बाजारों में उनकी माँग भी अधिक है। ऐसे विदेशी अनारों में मुस्कती, कन्धारी और खट्टे अनार अधिक प्रसिद्ध हैं। **मुस्कती** फल का आकार औसत, छिल्के का रंग लाल-भूरा रंग लिए हुये हरा और गूदा गुलाबी होता है। इसका रस अधिक मीठा और स्वादिष्ट होता है। **कन्धारी** जाति का फल मुस्कती फल की अपेक्षा आकार में बड़ा होता है। छिल्के का रंग गहरा लाल और गूदा भी लगभग इसी रंग का होता है। खट्टा अनार ताजे रूप में नहीं खाया जाता। बाजारों में यह सूखी दशा में ही उपलब्ध होता है। यह हिमालय पर्वत के वनों में जङ्गली रूप में उगता है।

उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी विदेशी जातियाँ हैं जिनका विदेशी बाजारों में अधिक महत्व है। इनमें कुछ जातियाँ स्पेन, कुछ बगदाद और पैलेस्टाइन, कुछ साइप्रस और कुछ कैलिफोर्निया की हैं। स्पेन की जातियों में ग्रैनाद ब्लांक और डल्का कोलोरेडो मुख्य हैं। बगदाद में अनार की दो अधिक प्रसिद्ध जातियाँ उगाई जाती हैं जिनका नाम सेलिगी और रोमन चोकाब है। पैलेस्टाइन की बेल्लिस्सी जाति अपने गुणों के आधार पर सर्वोत्कृष्ट समझी जाती

है। यह जाति बहुत पहले फल देना प्रारम्भ कर देती है। इस जाति के अतिरिक्त रासेल वाधी और सुफामी जातियाँ भी पैलेस्टाइन में उत्पन्न की जाती हैं।

वानस्पतिक उत्पादन—अनार के वृक्ष बीज और कटिंग द्वारा तैयार किये जाते हैं। जब इसे बीज द्वारा तैयार करना होता है तो स्वस्थ और मोटे बीज उन्नत और अनुकूल गुण वाले पूर्ण पके फल से निकालकर बीयड़ में बो दिये जाते हैं और पौधे जब एक निश्चित ऊँचाई तक आ जाते हैं तो उन्हें निकालकर उद्यान में स्थायी स्थान पर रोप देते हैं। बम्बई प्रदेश में अनार के वृक्ष इसी प्रकार तैयार किये जाते हैं। किन्तु इस प्रकार तैयार किये गये पौधे गुणों में एक दूसरों से भिन्न होते हैं और सन्तोषप्रद परिणाम नहीं देते। कटिंग द्वारा तैयार किये गये पौधे बीजों से अपेक्षाकृत अच्छे होते हैं और यही कारण है कि कटिंग का प्रयोग अधिक स्थानों पर किया जाता है। कटिंग परिपक्व लकड़ी की ली जाती है। प्रायः प्रधान तने के आधार से निकलने वाले सकर (Suckers) की कटिंग अच्छी पड़ती है। कटिंग १०″ से १२″ इंच लम्बी और $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$″ व्यास की मोटी होनी चाहिए और जब ये काट कर पृथक कर ली जायँ तो इन्हें ८ से १०″ की दूरी पर रोप देना चाहिए। रोपते समय कटिंग को $\frac{1}{3}$ भाग से अधिक नहीं खोलना चाहिए। कुछ स्थानों पर सम्पूर्ण कटिंग ही हल्के रूप में ढक दी जाती है। कटिंग को रोपते समय ऊपरी सिरे को सूखने से बचाने के लिए गोबर से ढक देना चाहिए। बरकजाई ने भी इस कथन का समर्थन किया है। कटिंग द्वारा पौधे तैयार करने की विधि पैलेस्टाइन, अफगानिस्तान, पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में अधिक प्रचलित है और वहाँ इसे व्यापारिक ढङ्ग पर पौधे तैयार करने में भी प्रयोग किया जाता है। कटिंग के अतिरिक्त अनार के वृक्ष दाव (Layering) द्वारा भी तैयार किये जाते हैं किन्तु यह विधि अधिक मँहगी पड़ती है।

स्थानान्तरण—कटिंग द्वारा तैयार किये गए पौधे एक या दो वर्ष पश्चात् उद्यान में रोप लगाने योग्य हो जाते हैं। बीज द्वारा उत्पन्न पौधे १२ से १५″ की ऊँचाई के हो जाने पर उद्यान में स्थानान्तरित किये जाते हैं। स्थानान्तरण से पूर्व उद्यान में २'×२'×२' आकार के गड्ढे निश्चित दूरी पर तैयार कर लिये जाते हैं और आवश्यकतानुसार उन्हें बारीक मिट्टी तथा गोबर की खाद से भर देते हैं। यदि भूमि अधिक उर्वर होती है तो गड्ढों के भरने में खाद का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु अनुर्वर भूमि में गोबर की खाद प्रति गड्ढे ४० सेर के हिसाब से बारीक मिट्टी के साथ मिलाकर डाली जाती है। स्थानान्तरण की क्रिया उत्तरी भारत में बसन्त ऋतु के प्रारम्भ में की जाती है किन्तु दक्षिणी भारत में इसके लिए मानसून की ऋतु अच्छी जाती है।

पौधों की पारस्परिक दूरी स्थान-स्थान पर भिन्न पाई जाती है। दक्षिण में पथरीली और छिछली भूमि में अनार के पौधों की दूरी १२ से १५′ रखी जाती है किन्तु गहरी और हल्की भूमि में यह दूरी बढ़ाकर १८′ तक रखी जाती है। उत्तर भारत में इनके आपस की दूरी १५ से २०′ रखी जाती है किन्तु साधारणतया कम दूरी रखना ही अधिक प्रचलित है। साइप्रस में तो अनार के व्यापारिक उद्यान में वृक्षों के आपस की दूरी दोनों ओर से ८ से १०′ रखी जाती है। बरकजाई ने कहा है कि इसके वृक्ष १२′ की दूरी पर स्थानान्तरित किये जाते हैं। गादगिल और गादगिल (Gadgil and Gadgil) ने यह दूरी और भी कम बतायी है। उनका कथन है कि पूना के निकट इन्हें प्रति एकड़ ४०० पौधे के हिसाब से स्थानान्तरित किया जाता है जिससे वृक्षों की आपस की दूरी १०½′ निकलती है। कुछ स्थानों पर अनार को नारंगी के नये उद्यानों में फिलर (Filler) के रूप में लगाते हैं। ऐसी दशा में आपस की दूरी और कम रखी जाती है। कभी-कभी इसे उद्यान के चारों ओर अवरोधक (Hedge) के रूप में लगाया जाता है जिसमें पौधों को अधिक समीप लगाने की प्रवृत्ति रहती है।

सिंचाई—जैसा कि हमने पहले पढ़ा है, अनार के वृक्ष सूखा अधिक दिनों तक सहन कर सकते हैं किन्तु पौधों के उपयुक्त बढ़ाव और अच्छी उपज लेने के लिए आवश्यकतानुसार उनकी सिंचाई करना अत्यावश्यक है। अनुभव से ऐसा ज्ञात किया गया है कि जब वृक्ष को पानी की अधिक मात्रा उपलब्ध होती है तो उसमें फल बहुत अधिक परिमाण में निकलते हैं। सिंचाई की मात्रा कम करने के लिए ऐसी व्यवस्था की जाती है कि वृक्ष मानसून ऋतु में ही फसल दे सकें। मानसून ऋतु में फसल लेने से इन्हें इसी ऋतु में पानी की आवश्यकता होती है जो वर्षा द्वारा पूरी हो जाती है और वर्ष के अन्य महीने शुष्क बीतते हैं। किन्तु जिस वर्ष वर्षा की ऋतु भी शुष्क हो जाती है, उस वर्ष कृत्रिम ढङ्ग से पौधों को पानी देना बहुत आवश्यक होता है क्योंकि फल देने के समय वृक्षों की अनुकूल और लगातार सिंचाई बहुत जरूरी है। यदि इस समय सिंचाई के क्रम में किसी प्रकार का व्यवधान प्रस्तुत होता है तो उसका सीधा प्रभाव फलों पर होता है और वे फटने लगते हैं। मानसून ऋतु में फसल लेते समय केवल मई-जून में पानी देना पड़ता है।

उद्यान में सिंचाई की प्रचलित विधि बेसिन अथवा क्यारियों की विधि है। बेसिन-विधि में प्रत्येक वृक्ष के आधार के चारों ओर गोलाई में थाले तैयार करते हैं और सिंचाई की नालियों द्वारा उन्हें पानी पहुँचाते हैं। यह विधि उसी समय प्रयुक्त होती है जबकि पौधों की आपस की दूरी अधिक होती है। पौधों के अधिक निकट होने से क्यारियों में सिंचाई करने की विधि लाभप्रद होती है। सिंचाई की विधि

भूमि की किस्म पर भी आधारित होती है। हल्की भूमि में सिंचाई की कूँड विधि (Furrow Method) अधिक सफल मानी जाती है। अनार के वृक्ष जब फिलर अथवा अवरोधक के रूप में लगाये जाते हैं तो उनके लिए सिंचाई की पृथक् व्यवस्था नहीं की जाती वरन् मुख्य फसल के साथ ही उसकी भी सिंचाई हो जाती है।

खाद—अनार के पौधों को खाद देने से उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। कुछ स्थानों पर खाद पौधों के स्थानान्तरण के समय ही डाली जाती है। इस समय अच्छी सड़ी गोबर की खाद बारीक मिट्टी अथवा घर के राख के साथ मिलाकर प्रति गड्ढे ४० सेर के हिसाब से दी जाती है। स्थानान्तरण के पश्चात् प्रत्येक वृक्ष को प्रतिवर्ष ३ से ६ टोकरी गोबर की खाद दी जाती है। यह खाद यदि वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर प्रयोग की जाय तो अच्छा हो अथवा वृक्षों में फसल आने के कुछ समय पूर्व भी इसे दिया जा सकता है। कुछ स्थानों पर स्थानान्तरण के समय पौधों को खाद बिल्कुल नहीं दी जाती किन्तु इसके ६ माह पश्चात् खाद देना आवश्यक होता है।

पौधों की छँटाई—अनार के पौधों में प्रायः छँटाई की क्रिया नहीं की जाती किन्तु जब आधार से उत्पन्न सकर की संख्या अधिक हो जाती है, तो उन्हें वृक्ष से पृथक् करना जरूरी होता है। ये सकर उसी समय अधिक संख्या में निकलते हैं जबकि भूमि में नमी अधिक रहती है। जब इनकी संख्या अधिक हो जाती है तो वृक्ष का आकार झाड़ीनुमा हो जाता है और इससे उसके फलों के निकलने और उनके आकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कारण यह होता है कि सकर मुख्य तने के आहार को लेकर बढ़ते हैं और इस प्रकार उसे दुर्बल बनाकर उसकी वृद्धि रोक देते हैं। सकर की संख्या के बढ़ जाने से अनेक प्रकार के कीड़े-मकोड़ों को प्रश्रय मिल जाता है और वहाँ अण्डे-बच्चे देना प्रारम्भ कर देते हैं। इन बातों के अतिरिक्त उद्यान में कृषि-कार्यों में भी असुविधा होती है। अतः वृक्ष में उत्पन्न सकर का निराकरण बहुत आवश्यक होता है। सकर वृक्ष में ज्यों ही निकलें उन्हें छाँट देना चाहिए और इस प्रकार इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि वृक्ष में एक ही प्रधान तना उपस्थित रहे। ऐसी छँटाई से वृक्ष झाड़ीदार नहीं बन पाता और उसका आकार भी सन्तुलित बन जाता है। सकर के अतिरिक्त वृक्ष की घनी शाखाएँ भी छाँटी जा सकती हैं। वे शाखाएँ जो पतली और बहुत लम्बी होती हैं, उन्हें छोटा कर देना अच्छा होता है। वृक्ष की निचली शाखाएँ भी निकाल देने से कोई हानि नहीं होती क्योंकि ऐसा देखा गया है कि फल ऊपरी शाखाओं की कलियों में लगते हैं। फल लगभग दो वर्ष की पुरानी छोटी शिरस्थ कलियों में लगते हैं। पोपेनो का कथन है

कि अनार के वृक्ष की लकड़ी कई वर्ष तक लगातार फल देती रहती है किन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, इस लकड़ी की फल-उत्पादन-शक्ति कम होती जाती है और इसका कार्य नई कलियाँ ले लेती हैं। ऐसा देखा गया है कि अनार में गहरी छँटाई लाभकर नहीं होती। गहरी छँटाई से वृक्षों की फल-उत्पादन-शक्ति घट जाती है और यह क्रिया लगभग २-३ वर्षों तक बनी रहती है। हाग्सन (Hogson) ने कैलिफोर्निया में प्रचलित अनार की छँटाई की एक सरल विधि का उल्लेख किया है। इस विधि के अनुसार अनार के पौधे स्थानान्तरण के समय पृथ्वी से २′ से २½′ की ऊँचाई पर छाँट दिये जाते हैं। छाँटने पर जब कलियाँ निकलती हैं तो उनकी भी छँटाई कर दी जाती है और इनकी संख्या ३ से ५ तक रखी जाती है। कलियों से उत्पन्न शाखाएँ भी कुछ समय उपरान्त काट कर छोटी कर दी जाती हैं ताकि वे सुदृढ़ और मोटी बन सकें। छँटाई की दूसरी ऋतु में ये शाखाएँ और भी छोटी कर दी जाती हैं और इन पर निकलने वाली नई कलियों की संख्या भी २-३ से बढ़ने नहीं दी जाती। वृक्ष से उत्पन्न सकर भी समय-समय पर निकाले जाते रहते हैं जिससे वृक्ष का अनुकूल आकार बनाया जा सके। अनार के वृक्ष जब अवरोधक के रूप में उगाये जाते उनमें छँटाई की क्रिया नहीं की जाती।

वृक्षों में फूल आना—जैसा कि हमने अन्य कई फलों में देखा है, अनार में भी वर्ष में तीन बार फूल आते हैं—

१—अम्बे बहार — मार्च-अप्रैल
२—मृग बहार — अक्टूबर-नवम्बर
३—हाट्टी बहार — अगस्त-सितम्बर

अनार के वृक्ष चौथे या पाँचवे वर्ष से फल देना प्रारम्भ कर देते हैं और जब से फल देने लगते हैं लगातार देते हैं। फूल आने के लगभग ६-७ माह पश्चात् फल तैयार हो जाते हैं। फूल आने के लिए उपर्युक्त तीन बहारों में से किसी एक बहार को ही चुना जाता है और उससे फल प्राप्त किया जाता है। इससे उपज अच्छी मिल पाती है और वृक्ष आराम भी कर लेता है। जिस बहार से फल प्राप्त करना हो उसके लिए कुछ आवश्यक ऐसे कार्य किये जाते हैं जिससे वृक्ष की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है और उपज अधिक मिलने के साथ-साथ फलों के आकार और उनके गुणों में भी वृद्धि हो जाती है। यदि उद्यान से अम्बे बहार की फसल लेनी हो तो वर्षा के समाप्त होते ही भूमि की गुड़ाई कर देनी चाहिए। पौधों के थाले के निकट लगभग ६″ की गहरी गुड़ाई करके उनकी जड़ें खोल दी जाती हैं और उन्हें लगभग १०-१५ दिनों तक उसी प्रकार छोड़ दिया जाता है। इस समय रेशेदार जड़ें छाँट कर पृथक् कर दी जाती हैं और मोटी जड़ें जो कट जाती हैं उन पर तारकोल का लेप लगा देते हैं

ताकि उनमें सड़ाव न हो सके। जड़ से निकाली हुई मिट्टी में गोबर की सड़ी खाद मिलाकर पुनः जड़ों पर छोड़ देते हैं और इसी समय सिंचाई के लिए थालें और नालियाँ भी बना लेते हैं। वृक्षों में फरवरी के मध्य में पहली सिंचाई की जाती है किन्तु इस सिंचाई में वृक्षों को पानी का पूरा आहार नहीं दिया जाता। इस सिंचाई के कुछ समय पश्चात् दूसरी सिंचाई की जाती है किन्तु इसमें पौधों को पूरा पानी नहीं दिया जाता। तीसरी सिंचाई पूर्ण आहार में की जाती है। पौधों को पानी का पूर्ण आहार पहली सिंचाई में इसलिए नहीं दिया जाता क्योंकि उनमें अधिक पानी पाने से वानस्पतिक वृद्धि होने लगेगी और फूल आना कुछ कम हो जायेगा। पौधों में फूल का आना प्रथम सिचाई के लगभग १ माह पश्चात् प्रारम्भ हो जाता है। मृग बहार और हाट्टी बहार लेते समय भी वृक्ष के साथ ऐसी क्रियाएँ की जाती हैं। किन्तु हाट्टी बहार की फसल बहुत कम ली जाती है साधारणतया अनार के उद्यान में मृग-बहार की फसल ही ली जाती है। इसके लिए क्रियाएँ अप्रैल माह से प्रारम्भ की जाती हैं और प्रथम सिंचाई मई के शुरू के दिनों में की जाती है।

फलों की तोड़ाई—यदि उद्यान से मृग बहार की फसल ली गई है तो अनार के फल अक्टूबर से पकना प्रारम्भ कर देते हैं और नवम्बर-दिसम्बर तक पकते पाये जाते हैं। अम्बे बहार की फसल लेने पर फलों का पकाव गर्मी के दिनों में होता है किन्तु बाजारों में अधिकतर जाड़े की ही फसल की अधिक माँग होती है। फलों की तोड़ाई उस समय की जाती है जबकि फल के छिल्के का रंग बदल जाता है। दक्कन के अनार पकने पर पीले, भूरे रङ्ग के होते हैं अतः इनकी तोड़ाई ऐसे ही समय की जाती है, किन्तु तोड़ाई का यह लक्षण अनार की सभी किस्मों में नहीं पाया जाता। फलों को पेड़ पर पकाने से एक भयंकर अवगुण यह पाया जाता है कि वे फट जाते हैं। दक्कन की जातियों में यह फटाव (Cracking) कभी-कभी ५०% तक पहुँच जाता है। फलों के फट जाने से उनका बाजार-मूल्य घट जाता है और कीड़े या पतङ्गों के प्रविष्ट होने के भी अवसर बढ़ जाते हैं। अतः उत्पादक इस कठिनाई से बचने के लिए फलों की तोड़ाई अपरिपक्व दशा में ही कर लेते हैं। कुछ अनुभवी उत्पादक फलों की तोड़ाई उस समय करते हैं जबकि उन्हें यह विदित हो जाता है कि फल में दाने का बढ़ाव पूर्णरूपेण हो चुका है किन्तु सभी लोग फलों की इस दशा की पहचान नहीं कर पाते। फलों की तोड़ाई डाल से खींच कर करना अच्छा नहीं होता क्योंकि वे डाल से मजबूत डण्ठलों से जुड़े होते है। अतः उन्हें इस सावधानी से तोड़ना चाहिए कि डाल पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। फलों की तोड़ाई एक ही बार नहीं की जाती वरन् कुछ दिनों के अन्तर पर उन्हें तोड़ना अच्छा पड़ता है।

अनार के लगभग १० वर्षीय वृक्ष प्रति वर्ष १०० से २०० फल उत्पन्न करते हैं।

संचय और बक्साबन्दी—अनार का फल वृक्ष से तोड़ने के पश्चात् अधिक समय तक स्थिर रखा जा सकता है। हाग्सन के अनुसार अनार के फल शीतागार में उत्तम ढङ्ग से रखने पर पकाव और गुण में बढ़ जाते हैं और ऐसी स्थिति में वे लगभग ६ माह तक स्थिर रखे जा सकते हैं। वास्तव में ऐसा देखा गया है कि फल संचय करने पर अच्छे स्वाद और गुण वाले हो जाते हैं, केवल उनके छिल्के सिकुड़ जाते हैं और सिकुड़ कर पतले तथा सख्त हो जाते हैं।

भारत में अनार के फल बाँस की टोकरियों में बन्द कर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाते हैं। ये टोकरियाँ साधारण किस्म की सस्ते मूल्य वाली होती हैं। इनका आकार ऐसा होता है कि इनमें ५०-७५ फल रखे जा सकते है। टोकरियों में रखते समय फलों की चुनाई आदि करने की प्रथा यहाँ प्रचलित नहीं है। किन्तु विदेशों में बिना इसके फल बक्सों में रखे ही नहीं जाते। उपयुक्त ढंग से फलों की चुनाई जब समाप्त हो जाती है तो उन्हें निश्चित आकार के बने लकड़ी के तख्तों में टिशू पेपर में लपेट कर बन्द करते हैं और तत्पश्चात् उन्हें कहीं भेजा जाता है। कैलिफोर्निया में अनार के फलों की बक्साबन्दी अत्यन्त वैज्ञानिक ढङ्ग से की जाती है जिससे वे रंचमात्र भी क्षतिग्रस्त न हो सकें और यही कारण है कि वहाँ के उत्पादक विदेशी बाजारों में अपने फलों का अधिक मूल्य भी प्राप्त करते हैं। बक्साबन्दी के पश्चात् फल बैलगाड़ियों पर लाद कर निकट की बाजारों में भेज दिये जाते हैं।

खाद्य-मूल्य—अनार का फल अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। इसका छिल्का रंग बनाने के काम आता है। साइप्रस में इससे रंग बनाने का उद्योग अधिक उन्नति पर है, वहाँ कपड़े की रंगाई के उद्योग के ही मार्केटिक ऑफ साइप्रस पोमग्रेनेट के के अनुसार लगभग ३०,००० ओक (१ ओक = २·७५ पौंड) छिल्का प्रयोग होता है। देश के भीतर प्रयोग होने के अतिरिक्त यह विदेश भी भेजा जाता है। अनार के तने, जड़ें आदि भी भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रयुक्त होती हैं। तने और जड़ों की छालें कीचड़ बनाने के काम में लाई जाती हैं। अनार का रस अधिक प्रसिद्ध पदार्थ है। यह पीने में बहुत स्वादिष्ट लगता है। इसमें साइट्रिक अम्ल उपस्थित होता है। अम्ल की मात्रा सभी फलों में समान नहीं होती सिद्दापा ने एक बार अनार की अच्छी किस्म के फल का रस निकाला। उसे पूर्ण फल का ४०. १% से १८.५% ठोस और साइट्रिक अम्ल की मात्रा .८१ से १.२३% प्राप्त हुई। रस फल से निचोड़ कर निकाला जाता है किन्तु फल के छिल्कों आदि में टैनिन की उपस्थिति के कारण रस में भी इसकी मात्रा आ जाती है जो आवश्यकता से अधिक हो जाने पर स्वाद

खराब कर देती है। टैनिन का प्रभाव कम करने के लिए जिलेटीन (Gelatin) का प्रयोग अच्छा पड़ता है। अनार का रस चीनी के साथ मिलाकर बोतलों में भी बन्द किया जाता है जिससे इसका स्वाद बहुत दिनों तक स्थिर रह पाता है। सिद्दाप्पा ने इसके रस को १७५ से १८०° फा० तक गर्म करके शीघ्र ठंडा कर और रात भर वैसे ही रख कर छान कर बोतलों में रखने योग्य बनाया था।

अनार का फल भारत-जैसे गर्म देशों में अधिकतर ताजे रूप में ही खाया जाता है। इसमें चीनी की मात्रा आड़ू अपरिकाट की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। इसके रस से शराब भी तैयार की जाती है। जो अंगूर की शराब से बढ़िया पड़ती है। अनार का औषधि में अधिक महत्व है। इसके छिलके व छाल को डिसेन्ट्री, डायरिया, टिनिया आदि रोगों में प्रयोग किया जाता है। पेट के फूल आने और हृदय के दर्द में इसका रस अधिक लाभ पहुँचाता है। अंगूर की भाँति स्वाद रखने के कारण लोग इसे अधिक चाव से खाते हैं।

रोग और कीड़े—अनार पर अनेक प्रकार के रोग और कीड़े आक्रमण करते हैं। रोगों में अधिक महत्वपूर्ण फल-सड़ाव (fruit rot), लीफ स्पाट और फ्रूट-स्पाट हैं। फल-सड़ाव से फल सड़ने लगता है और सड़ कर बेकार हो जाता है। इससे बचाव के लिए बोर्डा मिश्रण (५:५:५०) का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु यह औषधि रोग की रोक-थाम के लिए की जानी चाहिए। रोग हो जाने पर रोगी फलों को सावधानी से तोड़कर जला देना चाहिए। यह रोग बम्बई प्रदेश में अधिकतर पाया जाता है। लीफ और फ्रूट स्पाट रोग भी इस प्रदेश में पाये जाते हैं जो सरकोस्पोरम और ग्लियोस्पोरम (Cercosporum & Gleosporium) द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन्हें रोकने के लिए बोर्डा मिश्रण का छिड़काव अच्छा सिद्ध होता है। अनार के फलों में फल का फटाव साधारणतया देखा जाता है जो भूमि के बिल्कुल सूख जाने पर सिंचाई करने से होता है। अतः फलों के पकने के समय ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए। पकने के पूर्व फलों को तोड़ने से भी फटाव रोका जा सकता है।

अनार पर आक्रमण करने वाले कीड़ों में अधिक भयकंर फल-छेदक विरोकोला आइसोक्रेटस (Virochola isocrates) तितली है जिसे सुरसा नाम से भी पुकारा जाता है। यह अपने अण्डे फूलों अथवा छोटे फलों पर देती है। सेने के पश्चात अण्डों से कैटरपिलर निकलते हैं जो पत्तियों अथवा फलों में प्रवेश कर जाते हैं और जब तक प्रौढ़ नहीं हो जाते, फलों के बीजों पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। प्रभावित फल बाह्य रूप में तो बहुत स्वस्थ और सुडौल लगते हैं किन्तु भीतर से वे बुरी तरह खराब हो गये रहते हैं। इस कीड़े से रक्षा पाने के

लिए सर्वप्रथम प्रभावित फल वृक्ष से तोड़कर गाड़ या जला देना चाहिए। जब इस बात की जाँच कर ली जाय कि फल पर तितली के अंडे-बच्चे उपस्थित नहीं हैं तो उन्हें कपड़े के झोलों से झोलाबन्दी कर देना चाहिए। झोलाबन्दी करने से ऐसा ज्ञात किया गया है कि ६०% फल बहुत अच्छी उपज दिये। खुला छोड़ देने पर केवल ४७% फल ही तितलियों के आक्रमण से बच रहे। इस प्रकार झोलेबन्दी का प्रयोग बहुत लाभकर होता है किन्तु इसमें श्रम अधिक करना पड़ता है और झोले से ढके होने के कारण फलों के छिल्कों में रंग भी नहीं आने पाता। मद्रास में इस कीड़े से बचने के लिए कैल्शियम आर्सिनेट का छिड़काव किया जाता है।

पुराने और लापरवाही से रखे गये उद्यानों के मुख्य तनों पर तना-छेदक नामक एक कीड़ा (Arbellasp) पाया जाता है जो तनों की लकड़ी खाता है और खाकर छेद बना देता है जिससे उसके अंडे-बच्चे देने के लिए स्थान मिल जाता है। इन्हें दूर करने के लिये एक पतला टेढ़ा तार काम में लाया जाता है। उससे कीड़ों को पकड़ कर मार डाला जाता है। इन्हें मारने के लिए पैट्रोल, मिट्टी के तेल, क्लोरोफार्म आदि में डुबोई रुई भी अधिक प्रभावशाली होती है क्योंकि इसे छेदों में रख देने से कीड़े साँस नहीं ले पाते और मर जाते हैं। छोटे सफेद कीड़े (Aleurodes sp) से चिक्ता पैदा होता है जो पत्तियों के निचले धरातल पर पाया जा सकता है। इसे दूर करने के लिए रोजिन यौगिक अच्छा सिद्ध होता है। इन कीड़ों के अतिरिक्त गिलहरी भी फल की अधिक हानि करती है।

———

अध्याय २२

अंगूर (Vitis vinifera)

अंगूर एक समशीतोष्ण कटिबन्धीय फल है जो इस कटिबन्ध में उगाये जाने वाले सभी फलों में अधिक क्षेत्रफल में उत्पन्न किया जाता है। यह एक बहुत स्वादिष्ट, जायकेदार और आनन्दप्रद फल है जिसकी विश्व भर में प्रशंसा की जाती है। अंगूर मुख्यतः तीन रूपों में पाया जाता है। कुछ तो ताजे फल के रूप में प्रयोग किये जाते हैं जिन्हें टेबुल फल (Table fruit) कहते हैं। कुछ जातियाँ सुखा कर खाई जाती हैं जिन्हें रेजिन्स (Raisins) कहते हैं। अन्य अंगूर शराबी अंगूर (Wine grape) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं क्योंकि इनसे शराब बहुत अधिक मात्रा में तैयार की जाती है। अंगूर का लगभग ८२% भाग शराब बनाने के काम आता है और शेष में आधा भाग टेबुल फल की भाँति प्रयोग होता है और आधा रेजिन्स की भाँति। अंगूर का रस भोजन में प्रयोग होता है। इसमें प्यास बुझाने की शक्ति होती है। यह एक पाचक भी है। पके अंगूर शीघ्र ही पच जाते हैं।

इतिहास—अंगूर का जन्म स्थान कहाँ है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि यह एशिया में काकेशस भाग में सर्वप्रथम उगाया गया। कुछ लोगों का मत है कि इसकी जन्म भूमि अरमेनिया का भू-भाग है जो सोवियट संघ में काला सागर के निकट एक जिला है। भारत में यह मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा लगभग १३०० ई० में ईरान और अफगानिस्तान से लाया गया। अल्फोन्से डी कन्डोले के अनुसार मिश्र में अंगूर की खेती ३००० से ४००० ई० पू० में होती थी। यूनान में इसका प्रचार होमर के काल में था। योरप में यह हजारों वर्षों से उगाया जा रहा है। संस्कृत साहित्य में अंगूर का उल्लेख अवश्य है पर यह पता नहीं है कि उनका तात्पर्य इसी जाति से था या किसी और स्पेशीज से क्योंकि भारत और बर्मा के हिमालय की घाटी वाले भागों में अंगूर की लगभग २५ स्पेशीज उगाई जाती हैं।

वितरण—अंगूर आजकल विश्व के बहुत से देशों में उगाया जा रहा है। जलवायु पक्ष में होने के कारण यह योरप के लगभग सभी देशों में उत्पन्न किया जाता है। योरप के अतिरिक्त इसकी खेती संयुक्त राज्य अमरीका, अफ्रीका के कुछ भागों, पैलेस्टाइन, दक्षिणी वेल्स, क्वीन्सलैण्ड, ब्राजील, दक्षिणी चीन, फारस, अफगा-

निस्तान, बिलोचिस्तान, उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में होती है। भारत में यह प्रधानतः काश्मीर, पंजाब, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद और मैसूर में उगाया जाता है। दक्षिण में इसकी खेती लगभग १००० एकड़ में होती है। इस भाग में अधिक अंगूर पैदा करने वाले भाग नासिक, पूना और अहमदनगर हैं। इनके अतिरिक्त बम्बई प्रदेश में अंगूर उगाने वाले भाग शोलापुर और बीजापुर हैं। गुजरात में भी अंगूर की खेती प्रारम्भ की गई और उसमें सफलता भी मिली है। दक्षिण में मदुरा और सलेम जिले में तथा बंगलौर के आसपास अंगूर की घटिया किस्म की जातियाँ उगाई जाती हैं। अभी हाल में ही बीजरहित किशमिश जाति का प्रारम्भ दक्षिण भारत में किया गया और इसमें उत्पादकों को यथेष्ट सफलता भी मिली है। पंजाब में अंगूर की खेती बड़े पैमाने पर नहीं की जाती। प्रारम्भ में वहाँ तास, तोर आदि घटिया जातियाँ उगाई जाती थीं। कुछ ही समय हुए वहाँ शीघ्र फल देने वाली कुछ जातियाँ उगाई गईं। इन जातियों के उगाने में वहाँ सफलता भी मिली। मुस्कत और सुल्ताना दो बीज-रहित जातियाँ आस्ट्रेलिया से पंजाब लाई गईं और उन्हें वहाँ उगाया गया पर कोई विशेष लाभ नहीं रहा। चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार भारत में अंगूर का क्षेत्रफल इस प्रकार है :

बम्बई	६६४ एकड़
मद्रास	३५० ,,
हैदराबाद	१०० ,,
मैसूर	५० ,,
कुल	१४६४ एकड़

शिमला की पहाड़ियों में लगभग ३५ एकड़ क्षेत्रफल में अंगूर की खेती होती है जो शराब बनाने के काम आता है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में अंगूर की जो भी मात्रा उत्पन्न होती है वह टेबुल-फल की भाँति प्रयोग की जाती है और फिर भी हमें बिलोचिस्तान से मँगाना पड़ता है। रेजिन अंगूर भी अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा-प्रदेश से हमारे देश में आता है।

भूमि—अंगूर की खेती लगभग सभी प्रकार की भूमि में धनी या निर्धन (उर्वर या अनुर्वर) जिसमें अन्न उगाये जा सकते हों, सफलतापूर्वक की जा सकती है किन्तु भूमि में जल निकास का उत्तम प्रबन्ध आवश्यक है। इसके लिए आदर्श भूमि

दोमट है जिसमें वायु का गमनागमन उपयुक्त रूप से होता है, कण बारीक हों और जल-निकास का प्रबन्ध हो। मुस्तफा और शानी के अनुसार बिलोचिस्तान में स्थिन किसमिस जाति के लिए कठोर काली भूमि, कठोर लाल भूमि हेता के लिए और बलुवार या कंकड़ीली भूमि अन्य जातियों के लिए अच्छी पड़ती है। नासिक और पूना में अंगूर काली, औंसत काली और छिछली हल्की भूमि में उगाया जाता है। भूमि की गहराई १½ से ३′ होता है और अधः धरातल (Sub surface) में सड़ी हुई चट्टानें हैं जिन्हें मारुम कहा जाता है। अंगूर की खेती के लिए भूमि की गहराई पर ध्यान नहीं दिया जाता क्योंकि इसकी जड़ें अधिक गहराई तक नहीं जातीं। किन्तु बिलोचिस्तान की भाँति हमारे यहाँ कठोर पर्त वाली चिकनी मिट्टी अंगूर के लिए बिलकुल उपयुक्त नहीं होती। टेबुल अंगूर के लिए चूने में धनी भूमि अधिक उपयोगी होती है। नासिक क्षेत्र की भूमि जिसमें अंगूर की खेती होती है इसे ५% चूना रखती है। अंगूर के लिए पोटाश अधिक आवश्यक तत्व माना जाता है। ग्रेनाइट भूमि पोटाश और फेल्सपार में धनी होती है, अतः इसमें अंगूर की फसल बहुत बढ़िया आती है। गन्धक का भी प्रयोग अंगूर की भूमि पर अच्छा पड़ता है। पंजाब में प्रत्येक प्रकार की भूमि अंगूर की खेती के लिए प्रयोग की जा सकती है यदि उसमें हानिकारक नमक की मात्रा उपस्थित हो। अंगूर घुले नमकों वाली भूमि में स्थिर रखने की भी क्षमता रखते हैं। अनुर्वर भूमि जिसके कण मोटे हों और टेक्सचर ठीक न हो, अधिक खाद तथा आवश्यकतानुसार पानी देकर अंगूर की खेती के योग्य बनाई जा सकती है। गंगा-सिन्ध के मैदान की भूमि गहरी बलुवार या दोमट भूमि भी अंगूर की खेती के लिए उपयुक्त हो सकती है।

जलवायु—अंगूर के लिए जलवायु का उपयुक्त होना बहुत आवश्यक है। फल लगने और परिपक्व होते समय शुष्क मौसम बहुत लाभप्रद होता है क्योंकि उस समय पानी बरसने से फल फट जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं। पकने के समय भी पानी का बरसना बहुत हानिकारक होता है। अंगूर उन स्थानों पर नहीं उगाया जा सकता है जहाँ ग्रीष्म ऋतु नम हो क्योंकि ऐसा होने से पौधों की पत्तियाँ और फल हानिकारक रोगों के शिकार हो जाते हैं। चूँकि ग्रीष्म ऋतु में ही पौधों में फल आता है। अतः इस समय उन्हें हानियों से सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। टेबुल-अंगूर के लिए अर्ध-नम, समशीतोष्ण जलवायु चाहिये जहाँ ग्रीष्म गरम, शुष्क और वर्षा रहित होती है तथा सर्द ऋतु शीतल और वर्षा सहित। ऐसी जलवायु में अंगूर के पौधे सर्द ऋतु में अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं और आराम करते हैं। बसन्त आते ही कोपलें उत्पन्न करते हैं और फिर फल पैदा होते हैं। गर्मियों के दिनों में

जब कि वर्षा नहीं होती, फल पकना प्रारम्भ करते हैं। चमन (बिलोचिस्तान) और क्वेटा की जलवायु अंगर के उत्पादन के लिए बहुत उपयुक्त होती है। जहाँ वर्षा जनवरी-फरवरी के दिनों में होती है जबकि पौधे आराम की दशा में होते हैं और वर्षा भी केवल १०″ होती है। जहाँ तक हमारे देश की जलवायु का सम्बन्ध है, यह अंगूर की खेती के लिए बिलकुल ठीक नहीं पड़ती क्योंकि यहाँ पानी गर्मियों में बरसता है जो अंगूर के लिए लाभप्रद नहीं। विशेषकर उस समय जब कि अंगूर में फल आते हों पानी का बरसना हानिकारक सिद्ध होता है। इसी कारण उत्तरी भारत में इसकी खेती सफल नहीं हो सकती। उन स्थानों में भी जहाँ वार्षिक वर्षा ४०″ के लगभग होती है, इसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। दक्षिण भारत और बम्बई के कुछ भागों में विशेष ढंगों द्वारा अंगूर की कुछ जातियाँ उगाई जाती हैं। इन भागों में अंगूर जैसा कि चमन' या क्वेटा में होता है, आराम नहीं लेते अपितु वर्ष भर वृद्धि करते हैं और दो फसलें उत्पन्न करते हैं। एक फसल मानसून के दिनों में आती है जिससे इसमें चीनी की मात्रा बहुत कम होती है और दूसरी फरवरी-मार्च में आती है जिसमें तेज धूप और वर्षा न होने से चीनी की मात्रा बहुत अधिक परिमाण में तैयार होती है और इससे बाजारों में अधिक मूल्य भी मिलते हैं। फलों के पकते समय तापक्रम ऊँचा होना चाहिए। आराम के समय पौधों पर पाले का कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु वृद्धि के समय जब कोपलें निकलना प्रारम्भ हो जाती हैं, तापक्रम का गिरना अच्छा नहीं। बिलोचिस्तान में सर्द ऋतु में तापक्रम १२° फा० तक चला जाता है और पौधे क्षतिग्रस्त नहीं होते। किन्तु बसन्त ऋतु में पौधों पर पाले का प्रभाव अधिक पड़ता है। दक्षिण भारत में अंगूर पर पाले का प्रभाव नहीं पाया जाता किन्तु यहाँ कम आराम का समय और अधिक बढ़ाव का समय देकर पाले के लिए उचित अवसर दे दिया जाता है।

बम्बई और दक्कन के पठार पर जहाँ अंगूर उगाया जाता है १५ से ३०″ तक वार्षिक वर्षा होती है। यहाँ वर्षा जून से सितम्बर तक होती है और इसके अतिरिक्त वर्ष भर वायु शुष्क रहती है। इन स्थानों का अधिकतम तापक्रम १०५° फा० और न्यूनतम ४०° फा० है। हैदराबाद की जलवायु बम्बई और दक्कन के पठार से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। किन्तु मद्रास, बंगलोर आदि उष्ण कटिबन्धीय जलवायु वाले स्थान हैं जहाँ वर्षा अधिक होती है और वायु भी अधिक नम रहती है। दक्षिण भारत में वर्षा कम होती है जिससे अंगूर की फसल लेने के अवसर होते हैं। यह समय नवम्बर से जून तक का होता है जो बिल्कुल शुष्क व्यतीत होता है क्योंकि यहाँ वर्षा जुलाई से अक्टूबर तक रहती है। वार्षिक वर्षा लगभग २०″ होती है।

तापक्रम का जमने के बिन्दु (Freezing point) से नीचे गिरना बहुत हानिकारक होता है क्योंकि इससे पौधे का उस वर्ष का वानस्पतिक बढ़ाव विनष्ट हो जाता है और फसल मारी जाती है। यद्यपि मद्रास, मैसूर, बम्बई, दक्कन आदि में इसके अवसर बहुत कम आते हैं पर कभी-कभी जब पश्चिमोत्तर से ठण्डी हवाएँ चल पड़ती हैं तो बम्बई और दक्कन में अंगूर की फसल पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी हवा जनवरी १६२६ में चली थी जिससे नासिक के अंगूर-उत्पादकों को लाखों रुपये का घाटा उठाना पड़ा था। १६३५ ई० में भी ऐसी एक घटना हुई थी। पाले का प्रभाव प्रायः उसी समय होता है जब कि पौधा वानस्पतिक बढ़ाव करता रहता है किन्तु आराम के समय पाला उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। भाग्यवश उत्तरी तथा मध्य भारत में अंगूर पाले के दिनों में ही आराम की स्थिति में होते हैं। अतः उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ पानी के दिनों में पौधे वानस्पतिक बढ़ाव या फल देते रहते हैं, पाले के काफी अवसर होते हैं।

वानस्पतिक विवरण—अंगूर विटेसी (Vitaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। इस कुल का महत्वपूर्ण सदस्य विटिस विनिफेरा (Vitis vinifera) है जो सम्पूर्ण विश्व में उगाये जाने वाले अंगूर में ६०% है। इसे योरोपीय अंगूर के नाम से भी पुकारते हैं। इस सदस्य के अतिरिक्त इस कुल के और भी बहुत सदस्य हैं जिन्हें स्थान-स्थान पर उगाया जाता है किन्तु ये सभी मिलकर १०% ही हैं :

जातियाँ—अंगूर की जतियाँ अपने प्रयोग के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित की जाती हैं।

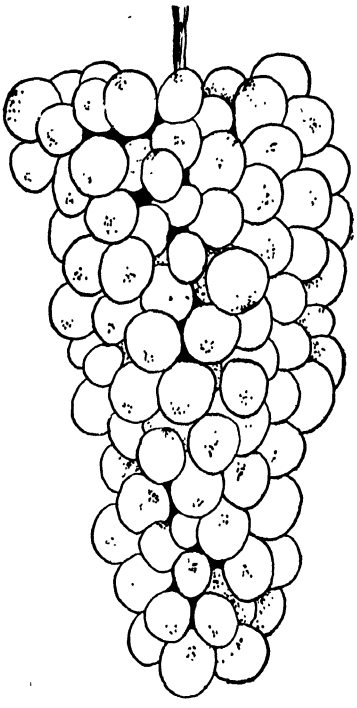
१—टेबुल अंगूर जैसे भोकरी, फोकदी, पान्धी, साहेबी।

२—रेजिन अंगूर जैसे सुल्ताना और थाम्पसन बीज रहित।

३—रस वाले अंगूर ये अंगूर केवल रस निकालने या शराब बनाने के काम आते हैं, जैसे मुस्कन, ब्लैक प्रिंस।

टेबुल-अंगूर की सभी जातियाँ ताजे फल के रूप में प्रयोग की जाती हैं। उन्हें न तो सुखाया जाता है और न शराब ही बनाई जाती है। ऐसे फल हमारे देश में बहुत कम मात्रा में उगते हैं। अतः इन्हें ताजा ही खाया जाता है। इस वर्ग के फल आकार में बड़े या औसत दर्जे के होते हैं, बाह्य छिलका पतला या मोटा होता है और रङ्ग में काला, हरा सफेद या लाल होता है। फल में बीज बहुत कम पाये जाते हैं। आगे इस वर्ग की कुछ प्रसिद्ध जातियों का उल्लेख किया गया है।

भोकरी—बम्बई दक्कन और हैदराबाद में इस जाति का अधिक प्रचार है। अंगूर की खेती वाले क्षेत्र में लगभग ९९% इसी जाति का प्रयोग किया जाता है। इसके फल आकार में गोले होते हैं। छिल्के का रंग हरा होता है। वाह्य छिल्का

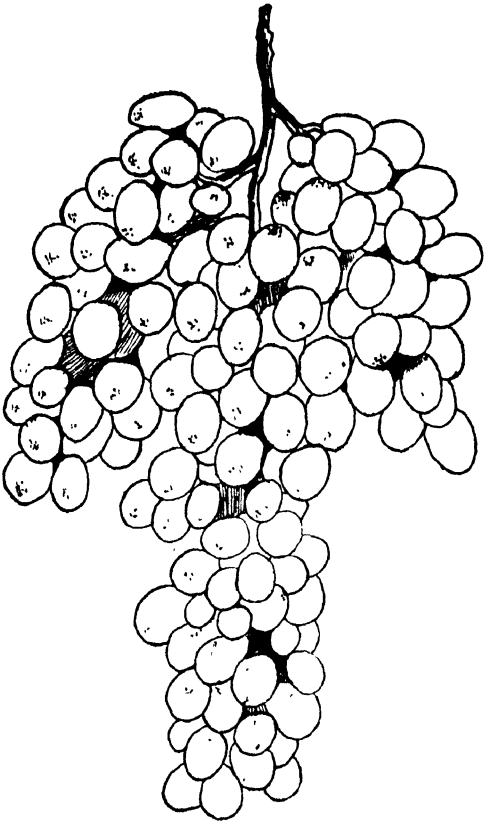


भोकरी

मोटा पाया जाता है। फल में बीज उपस्थित रहते हैं जो आकार में बड़े होते हैं। फल का गूदा मजेदार और मीठा होता है। गूदे में मिठास के साथ-साथ कुछ-कुछ खट्टापन होता है। फल के गुच्छे बड़े, ठोस, लम्बे और गाजर की भाँति नीचे की ओर कम होते जाते हैं। भोकरी जाति के अंगूर बहुत जोरदार फसल देते हैं। ये बम्बई में नासिक क्षेत्र में अधिकता से उत्पन्न होते हैं। अतः इन्हें नासिक हरा अंगूर भी कहते हैं। पके फल अधिक दिनों तक सुरक्षित नहीं रखे जा सकते क्योंकि गूदा मुलायम और जलमय होता है।

फान्दी—पश्चिमी भारत तथा हैदराबाद और दक्कन के अंगूर उगाने वाले भागों में फाक्दी जाति बहुत प्रसिद्ध जाति है यद्यपि इसका

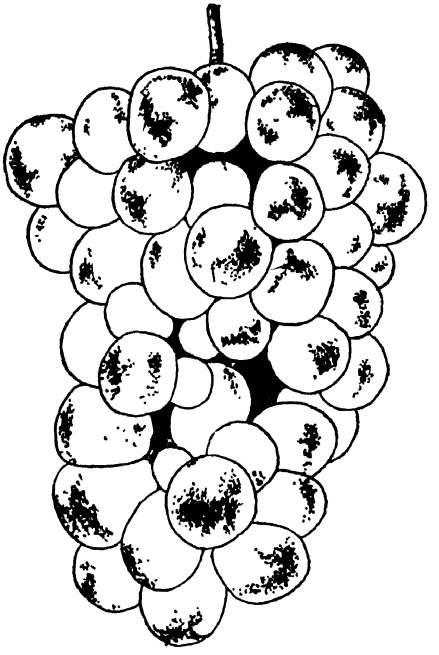
उत्पादन भोकरी जाति की अपेक्षा कुछ कम होता है किन्तु उपयुक्त ऋतु में यह उससे अधिक उपज दे सकती है। इस जाति के अंगूर गुण में भोकरी अंगूर से गुण में श्रेष्ठ होते हैं। फलों का आकार अण्डानुमा होता है। बाह्य छिलका रंग में धवल हरा और बहुत पतला होता है। गूदा मुलायम और मीठा होता है जिससे दूर की बाजारों में भेजा जा सकता क्योंकि पकने के कुछ समय पश्चात् ही इसमें सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है। इस जाति के गुच्छे बहुत बड़े, ढीले, क्रम रहित, बगल की ओर फैले हुए और बीच



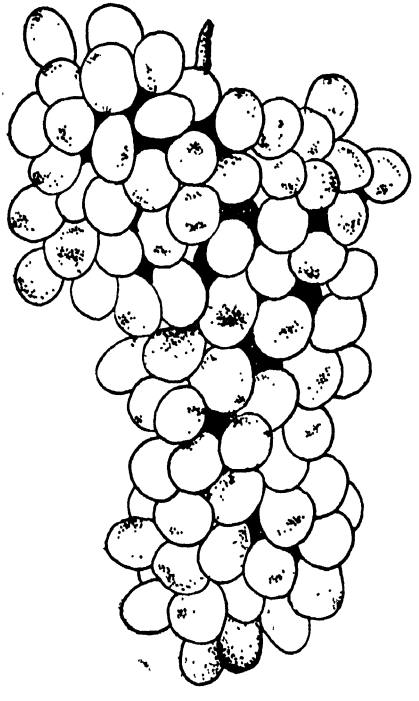
फान्दी

में उभड़े हुए होते हैं। प्रायः इनकी चौड़ाई लम्बाई से अधिक होती है। ये आकार में भोकरी से छोटे पड़ते हैं किन्तु फलों के बहुत स्वादिष्ट होने से बाजारों में इनका मूल्य अपेक्षाकृत भोकरी के अधिक मिलता है।

पान्ध्री साहेबी—यह जाति उच्च श्रेणी का अंगूर उत्पन्न करती है और प्रायः भोकरी जाति के साथ ही उगाई जाती है। इसके फल बड़े और सफेद रङ्ग के होते हैं। यह अंगूर की टेबुल-श्रेणी में सम्मिलित होता है और खाने में बहुत स्वादिष्ट और मीठा होता है। इसको बहुत दिनों तक संचित रखा जा सकता है। इसके गुच्छे बड़े और ढीले होते हैं। पान्ध्री साहेबी जाति का अंगूर भोकरी की अपेक्षा उत्पादन कम करता है। इसकी वृद्धि भी मन्द गति से होती है।



पान्ध्री साहेबी



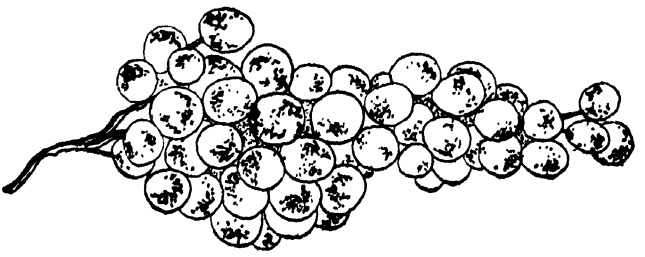
कन्धारी

कन्धारी—अंगूर की कन्धारी जाति बम्बई प्रदेश में उगाई जाती है किन्तु वहाँ इसका बढ़ाव बहुत मन्द पाया जाता है। इसके गुच्छे औसत दर्जे के बड़े ठोस और आयताकार होते हैं। फल का आकार औसत किस्म का होता है। बाह्य छिल्का मोटा होता है। फल का रङ्ग पकने पर गहरा पीला बन जाता है। गूदा मीठा और स्वादिष्ट होता है। फल का आकार अण्डे जैसा होता है। यह पकने के पश्चात् भी पान्ध्री साहेबी की भाँति अधिक दिनों तक रखा जा सकता है। पर इसमें फसल कम मात्रा में आती है।

काली साहेबी—इस जाति के भी फल उच्चकोटि के फलों में गिने जाते हैं। इसके फल रूप में लम्बे और ऊपर की ओर कुछ मोटे होते हैं। छिल्का पतला और गूदा मीठा होता है। इसके बीज कोमल होते हैं। यह जाति देर में पकने वाली जाति है। इसके फल भोकरी जाति की अपेक्षा लगभग १५ दिनों बाद पकने लगते हैं किन्तु इसके फल सभी एक ही साथ नहीं पकते। फलों का रङ्ग कच्ची दशा में हरा होता है पर पकने की स्थिति में पीला होने लगता है। गुच्छा लम्बा और ढीला होता है। इसमें संचित रहने का गुण पाया जाता है जिसके अनुसार यह पान्ध्री साहेबी के बाद दूसरे नम्बर पर आती है। काली साहेबी जाति के अंगूर वानस्पतिक बढ़ाव तो बहुत तेजी से करते हैं किन्तु फल-उत्पादन की शक्ति इनमें कम होती है।

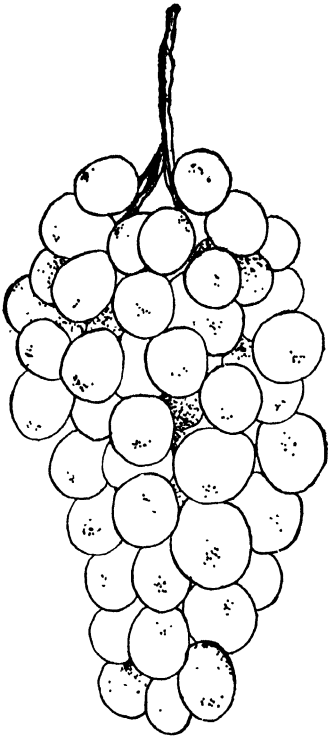
ब्लैक प्रिंस (Black Prince)—यह जाति पश्चिम भारत में उत्पन्न की जाती है। यह वानस्पतिक बढ़ाव बहुत शीघ्र करती है और फल भी शीघ्र तैयार करती है जबकि अन्य जातियाँ देर में पकती हैं। इसकी फसल-उत्पादन शक्ति बहुत अधिक है। इसके फल औसत आकार के मोटे छिल्के वाले और मीठे स्वाद के होते हैं। पूर्ण रूप से पके फल का रङ्ग गहरा पीला होता है। इसके गुच्छे औसत आकार के और बीच में उभड़े होते हैं। फलों का पकाव एक ही साथ नहीं होता बल्कि धीरे-धीरे होता है।

गुलाबी—यह एक शीघ्र तैयार होने वाली और जोरदार फसल उत्पन्न करने वाली जाति है। इसके गुच्छे औसत आकार के ढीले और बीच में उभड़े होते हैं। इस जाति के फल गोलाकार पीले मोटे चमड़े वाले और कोमल तथा मीठे गूदे वाले होते हैं। गुलाबी अंगूर आस्ट्रेलिया की मुस्कत हम्बर्ग जाति से बहुत कुछ समानता रखते हैं।



गुलाबी

अम्बेशाही—यह जाति इस समय दक्कन और हैदराबाद में उगाई जा रही है। इसके गुच्छे मध्यम आकार वाले और अर्ध-ठोस होते हैं। फल



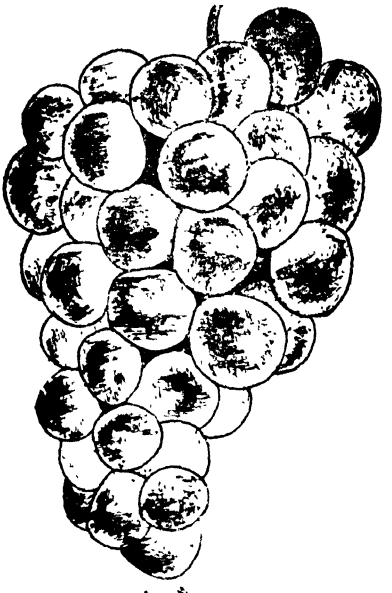
अम्बेशाही

अण्डाकार धवल रङ्ग के पतले चमड़े वाले होते हैं। खाने में इनका स्वाद बहुत आनन्ददायक होता है।

दाख—टेबुल जाति के अंगूरों में इसकी गणना निम्नकोटि में की जाती है क्योंकि इसका स्वाद खट्टापन लिए हुए होता है। इसके फल गोलाकार और पीले रङ्ग के होते हैं। छिल्का मोटा होता है। गुच्छे ठोस और मध्यम आकार के होते हैं। यह जाति पंजाब में उगाई जाती है।

नीलम—यह एक घटिया किस्म की जाति है। इसका बढ़ाव बहुत धीरे-धीरे होता है। इसके गुच्छे छोटे, ठोस और गिलास के आकार के (Cylindrical) होते हैं। फल गोले, छोटे और मोटे छिल्के वाले होते हैं। फलों का रङ्ग गहरा-पीला है और स्वाद दाख की भाँति खट्टा होता है। इसके फल बहुत शीघ्र पकते हैं।

उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त कुछ विदेशी जातियाँ भी दक्षिण भारत, पश्चिमी भारत और उत्तर भारत में उगाई जा रही हैं, जिनमें किसमिश, ग्रास कोलमैन, मुस्कत हम्बर्ग और ब्लैक हम्बर्ग मुख्य हैं। किशमिश जाति बिलोचिस्तान से यहाँ लाई गई। यह खाने और रेजिन दोनों के लिये प्रयोग की जाती है। मदुरा में यह सफलता से उगाई जा रही है किन्तु दक्कन तथा बम्बई में इस जाति की खेती सफल नहीं है। ग्रास कोलमैन जाति का अंगूर रस निकालने और शराब बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। पूना में यह अच्छी उपज के साथ उगाया जा रहा है। इसके फल बड़े, गोले और रङ्ग में काले होते हैं। बंगलौर ब्लू भी अंगूर की प्रसिद्ध जाति है जिसमें फल बड़े और गुच्छे ठोस तथा मध्यम आकार के होते हैं।



बंगलौर ब्लू

वानस्पतिक उत्पादन—अंगूर का वानस्पतिक उत्पादन बीज अथवा कटिंग (Cutting) से किया जाता है किन्तु बीज बहुत कम प्रयोग होता है। भारतवर्ष में कटिंग द्वारा अंगूर का उत्पादन होता है। व्यापारिक ढङ्ग पर यह ढङ्ग सस्ता और वैज्ञानिक भी है क्योंकि जैसा कि हम जानते हैं, बीज द्वारा उत्पन्न पौधे माता-पिता के गुणों से भिन्न होते है। अतः उनसे वांछित गुण की आशा नहीं की जा सकती।

कटिंग लगभग आठ-दस इंच की लम्बाई में वृक्ष की उस डाली से ली जाती है जिसकी लकड़ी पूर्णरूपेण परिपक्व होती है। कभी-कभी तो कटिंग की लम्बाई १८ इञ्च तक रक्खी जाती है किन्तु लगभग १ फुट लम्बी कटिंग को प्राथमिकता दी जाती है। पौधे से काटते समय यह ध्यान रक्खा जाता है कि कटिंग में दो-तीन कलियाँ अवश्य हों। नीचे की कटाई गाँठ के निकट से करनी चाहिये जिससे कटिंग अधिक कलियों के साथ कम स्थान ढक सके। बम्बई प्रदेश में अंगूर की कटिंग अक्टूबर के महीने में तैयार की जाती है जबकि उन्हें फसल लेने के लिए छाँटा जाता है। इस समय मध्यम कोटि के छोटे पोर वाली कटिंग चुन ली जाती हैं और उन्हें ही उत्पादन में प्रयोग किया जाता है। कटिंग जिस शाखा से ली जाती हैं उसकी आयु कम-से-कम एक वर्ष की होनी चाहिये। बायलेटी (Bioletti) के अनुसार एक अच्छे

कटिंग की आयु एक वर्ष की होनी चाहिये और यह वैसे पौधे से लेनी चाहिये जो जोरदार फल देता हो।

कटिंग बम्बई प्रदेश में अक्टूबर के महीने में क्यारियों में लगा दी जाती हैं। लगाते समय इन्हें भूमि में कुछ झुके हुये रूप में खड़ा रखा जाता है। भूमि में इन्हें कितना गाड़ा जाय यह लगभग कटिंग की आधी लम्बाई तक माना जाता है किन्तु उसमें भी भूमि में लगभग दो कलियाँ अवश्य गड़ी होनी चाहिये। कटिंग के आपस की दूरी लगभग एक फुट रक्खी जाती है। जिन क्यारियों में कटिंग की रोप लगाई जाती है वे चौड़ी और समतल होनी चाहिये। इन्हीं क्यारियों में कटिंग लगभग ३-४ महीने पड़ी रहती हैं जब तक कि इन्हें स्थानान्तरित नहीं किया जाता। तीन-चार महीनों की इस अवधि में कटिंग से जड़ें बहुत अधिक मात्रा में निकल आती हैं जिससे स्थानान्तरण में सफलता की अधिक आशा रहती है। दक्षिण और पश्चिम भारत में अंगूर प्रायः कटिंग द्वारा ही उगाये जाते हैं। वहाँ वांछित जाति के पौधों से, जो सुविधापूर्वक मिल जाते हैं ५० से १०० कटिंग चुन ली जाती हैं और उन्हें बीयड़ में गाड़ दिया जाता जाता है। यदि रोपाई २-३ दिन पश्चात् करनी होती है तो कटिंग को सूखने से बचाने के लिए शीतल और छायेदार स्थान में रख दिया जाता है। आवश्यकतानुसार कटिंग के बन्डल पर पानी का छिड़काव भी कर देते हैं। कटिंग यदि सुरक्षित स्थान पर रक्खे जायँ, जहाँ गर्मी से रक्षा हो सके अथवा जलसिद्ध कागज से लपेट देने पर इन्हें १५ से ३० दिन तक रोप लगाने योग्य रक्खा जा सकता है। इस प्रकार इन्हें विदेश सरलतापूर्वक भेजा जा सकता है।

उत्तर-भारत में चूँकि अंगूर की छँटाई फरवरी के महीने में की जाती है, अतः कटिंग भी इसी समय चुनी जाती है। स्वस्थ और अच्छी कटिंग चुनकर बीयड़ में लगा देते हैं और लगभग एक वर्ष तक इन्हें वहीं छोड़ देते हैं। ऐसा करने से कटिंग में जड़ पूरी मात्रा में निकल आती हैं। जब यह कटिंग एक वर्ष की हो जाती है अर्थात् अगले वर्ष की फरवरी में इन्हें स्थानान्तरित कर दिया जाता है। स्थानान्तरण करने के लिए जाड़े की ऋतु अच्छी समझी जाती है क्योंकि दक्षिण और पश्चिम भारत में यह ज्ञात किया गया है कि इस समय स्थानान्तरित किये गये पौधे और समय की अपेक्षा शीघ्र बढ़ते हैं।

कटिंग के अतिरिक्त अंगूर कलम (Grafting) द्वारा भी तैयार किया जाता है। वुडकिन के अनुसार न्यूजीलैंड में कुछ उत्पादकों ने अंगूर की कलम सफलतापूर्वक तैयार की है। वहाँ रूट-स्टाक के लिए कटिंग का प्रयोग किया जाता है। कटिंग स्थायी स्थान पर लगा दी जाती हैं और सायन इनकी दो पत्तियों के मध्य उत्पन्न किये जाते हैं। कलम उस समय की जाती है जबकि रूट स्टाक की कटिंग बढ़ना प्रारम्भ

करती है। अमेरिकन जातियों की टापवर्किंग कुछ देशों में की जाती है किन्तु यह विधि वहीं प्रयोग की जाती है जहाँ घटिया किस्म की जातियों को उत्तम बनाना होता है। अंगूर में कलम के अतिरिक्त और भी कई-एक ढंग प्रयोग किये जाते हैं। एक ढंग जिसे बड ग्रैफ्ट (चश्मा-पैबन्द) अथवा एमा ग्रैफ्ट कहते हैं। केलीफोर्निया, इटली और स्पेन में अधिकतर प्रयोग होता है। यह साइड ग्रैफ्ट की जाति का होता है जिसमें सायन एक अकेली कली होती है जो लकड़ी का कुछ अंश लिए रहती है और रूट-स्टाक के उस स्थान पर बाँध दी जाती है जहाँ से कि कली और लकड़ी के बराबर कटाव किया रहता है। यह विधि अभी भारत में प्रचलित नहीं है।

स्थानान्तरण—जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, कटिंग का स्थानान्तरण उस समय किया जाता है जबकि उसमें जड़ की अधिक मात्रा निकल आती है। कलम या चश्मा कलम की स्थिति में स्थानान्तरण जब कि जोड़ पूर्णरूपेण परिपक्व हो जाता है, की जाती है। स्थानान्तरण के पूर्व उस स्थान का चुनाव कर लेते हैं जिसमें अंगूर का उद्यान बनाना होता है और तत्पश्चात् वहाँ की भूमि जोत कर भुरभुरी बना दी जाती है। आवश्यकतानुसार भूमि में खाद की मात्रा भी मिला दी जाती है जिससे भूमि काफी उर्वर हो जाय। यदि सिंचाई की सुविधा होती है अथवा वर्षा समय से हो जाती है तो हरी खाद के लिए सनई उगा लेना अधिक लाभकर प्रतीत होता है। किन्तु सनई का बोना और खेत में सड़कर खाद हो जाना स्थानान्तरण के पूर्व हो जाना चाहिए। जब उद्यान की भूमि भली-भाँति तैयार हो जाय तो उसमें निश्चित आकार के गड्ढे तैयार कर लिये जाते हैं। इन गड्ढों की लम्बाई, चौड़ाई और गहराई क्रमशः १½ फीट × १½ फीट × १½ फीट होती है। गड्ढों की खुदाई का कार्य उस समय प्रारम्भ करना चाहिये जबकि पौधों की पारस्परिक दूरी निश्चित कर ली जाय। यह दूरी भूमि, जलवायु, अंगूर की जाति और पौधों की छँटाई के ढंग पर निर्भर करती है। किन्तु प्रायः ८ फीट से १० फीट की दूरी अधिक उपयुक्त होती है। पंजाब में अंगूर के पौधे १० फीट की दूरी पर लगाये जाते हैं। दक्कन और बम्बई में यह दूरी ८ फीट रक्खी जाती है। किन्तु मैसूर में बंगलोर परपिल जाति के पौधे १५ फीट की दूरी पर लगाये जाते हैं जबकि पंक्ति-से-पंक्ति की दूरी २० फीट रक्खी जाती है। मद्रास-प्रदेश में यह दूरी और भी बढ़ जाती है। वहाँ अंगूर के पौधे २५ से ३० फीट की दूरी पर उत्पन्न किये जाते हैं। उत्तर-भारत में ८ से १० फीट की ही दूरी अच्छी पड़ती है। पौधों के आपस की दूरी निश्चित कर लेने पर गड्ढों की खुदाई प्रारम्भ कर जाती है। यह गड्ढे जब भरे जाने लगते हैं तो इनकी मौलिक मिट्टी में सड़ी गोबर की खाद मिला दी जाती है। खाद की मात्रा मिट्टी के बराबर ही होनी चाहिये

कभी-कभी मिट्टी में खलियाँ भी मिला दी जाती हैं। खलियों की मात्रा प्रति गड्ढा २-३ पौण्ड रक्खी जाती है। दक्षिण भारत में गड्ढे तालाब की मिट्टी और हरी पत्तियों की सतह से भरे जाते हैं और अन्त में ऊपर गड्ढे की मिट्टी बिछा दी जाती है। इस क्रिया के पश्चात् पत्तियों के सड़ाव के लिये यहाँ समय-समय पर पानी भी दिया जाता है। कुछ स्थानों पर पत्तियों के साथ हड्डी की खाद भी मिला दी जाती है। जब पत्तियाँ पूर्ण रूप से सड़ जाती हैं तो उनमें बीयड़ के पौधे लगा दिये जाते हैं। इन स्थानों पर जहाँ की भूमि यथेष्ट उर्वर होती है, वहाँ स्थानान्तरित पौधों की लगभग एक वर्ष की आयु तक किसी प्रकार की खाद नहीं दी जाती।

पौधों का स्थानान्तरण—पश्चिम भारत में जनवरी के महीने में किया जाता है। जबकि कटिंग की आयु केवल ३-४ माह की होती है। उत्तर-भारत तथा पंजाब में एक वर्ष की आयु वाली कटिंग स्थानान्तरित की जाती है। स्थानान्तरण करने के लिए कटिंग बीयड़ से निकाल ली जाती हैं। बीयड़ से निकालते समय यदि उनमें थोड़ी-सी नम मिट्टी लगी रहे तो अच्छा होता है। इससे जड़ों के लगने में सरलता होती है। दक्षिण भारत में कटिंग मिट्टी के एक गोले के साथ बीयड़ से निकाली जाती हैं और गड्ढे में उसी प्रकार डाल दी जाती है। गड्ढों में डालकर जड़ों के निकट की मिट्टी दबा दी जाती है और तत्पश्चात् सिंचाई कर दी जाती है। स्थानान्तरण के समय कटिंग में यदि वानस्पतिक बढ़ाव अधिक हो तो उनकी आवश्यक छँटाई कर देनी चाहिये। स्थानान्तरण के पश्चात् बाँस या लकड़ी का एक अस्थाई सहारा दे देना चाहिये। स्थानान्तरण के समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जड़ें तनिक भी आहत न हों, क्योंकि ऐसा होने से उत्पादक को सफलता नहीं मिल पाती।

अंगूर के पौधे बजाय बीयड़ में उगाने और स्थानान्तरित करने के स्थान-स्थान पर भी उगाये जा सकते हैं। इस प्रकार उगाये हुये अंगूर के पौधे बहुत जोरदार फसल देते हैं और अन्य पौधों की अपेक्षा एक वर्ष पूर्व ही फल भी देना प्रारम्भ कर देते हैं। दक्कन और बम्बई में कुछ स्थानों पर लोगों ने इस विधि से पौधे तैयार किये हैं और खाद की अधिक मात्रा देकर पौधे लगाने के दूसरे वर्ष ही बहुत जोरदार फसल भी प्राप्त किये हैं। इस विधि में कटिंग उसी प्रकार की ली जाती है जैसे बीयड़ के लिए किन्तु इन्हें बीयड़ में न रोप कर उद्यान में ही रोपते हैं। रोपने के लिए गड्ढे तैयार कर लिये जाते हैं और इनमें ३-४ कटिंग एक ही साथ प्रति गड्ढे के हिसाब से लगा दी जाती हैं। बाद में स्वस्थ और होनहार कटिंग चुनकर शेष को गड्ढे से बाहर निकाल देते है। यह विधि बहुत सरल और सस्ती है तथापि उत्पादक इसका प्रयोग नहीं करते। इसके प्रचलित न होने के

दो मुख्य कारण है। एक तो यह कि इसमें कटिंग बहुत अधिक लगती है और दूसरे इन पर रोग और कीड़ों का आक्रमण बहुत अधिक होता है।

अंगूर की ट्रेनिंग—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में देखा है, पौधों की रोपाई के पश्चात् एक अवलम्ब लगा दिया जाता है। यह अवलम्ब लकड़ी या बाँस का अस्थायी डंडा होता है जो जड़ के निकट गाड़ दिया जाता है। इससे यह लाभ होता है कि अंगूर के पौधे सरलतापूर्वक निश्चित ऊँचाई तक उनके सहारे चढ़ जाते हैं। दक्षिण में तथा कुछ और स्थानों पर पंगारा (Erythrina indica) भी इस कार्य के लिए प्रयोग किये जाते हैं। पंगारा जीवित पौधा है जो उद्यान में लगाने पर शीघ्र ही जड़ें उत्पन्न कर देता है। जड़ पैदा करने के पश्चात् यह पत्तियाँ और शाखायें भी उत्पन्न करता है जिससे अंगूर की लताओं के लिए एक अवलम्ब बन जाता है और ऐसी स्थिति में डंडे या लकड़ी की आवश्यकता नहीं रह जाती है। सामने उन स्थानों पर जहाँ पंगारा प्राप्य नहीं है वहाँ बाँस के डंडे ही प्रयुक्त होते हैं। ऐसा पाया गया है कि यदि अंगूर की लताएँ इस प्रकार के अवलम्बों पर चढ़ाई जाँय और उन्हें फल उत्पन्न करने का उचित अवसर प्रदान किया जाय तो निस्सन्देह उनसे अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। अवलम्ब देने की यह विधि ट्रेनिंग कही जाती है। डब्ल्यू. बी. हेज ने ट्रेनिंग और अंगूर की छँटाई का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह क्रियायें बहुत महत्वपूर्ण हैं और पौधे लगाने से फल लेने तक की जाने वाली सभी क्रियाओं पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता है।

अंगूर की ट्रेनिंग अनेक विधियों से की जाती है। कुछ स्थानों पर सिंगिल स्टेक विधि प्रयोग होती है। इसके अतिरिक्त छाता विधि, बावर विधि, जूनार विधि आदि भी प्रचलित हैं।

पंगरा के पौधे उत्पन्न करने के लिए बड़े तने या लगभग ६' लम्बी कटिंग ले ली जाती है और उन्हें मानसून के प्रारम्भ होने पर अंगूर की लताओं के निकट लगा देते हैं। कटिंग को भूमि में गाड़ते समय उसके ऊपर का सिरा कोलतार से लेप देना चाहिए। क्योंकि इससे उन पर कीड़े आदि का आक्रमण नहीं होने पाता। कटिंग की रोप लगाने के पश्चात् आवश्यकतानुसार उसकी सिंचाई करते रहना चाहिए। उपयुक्त साधन मिलने पर कटिंग से जड़ें निकल पड़ती हैं और उससे धीरे-धीरे पतियाँ और टहनियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। यदि पंगरा को स्थानान्तरित करना होता है तो मई का महीना उपयुक्त पड़ता है किन्तु प्रायः ऐसे स्थान पर लगाया जाता है कि स्थानान्तरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जब पंगरा स्थिर हो जाता है तो बहुत तेजी से बढ़ता है और शीघ्र ही बहुत ऊँचा हो जाता है। अतः इस समय इसकी बराबर छँटाई करते रहते हैं ताकि वह बढ़कर अंगूर के पौधों को हानि पहुँचाते हैं।

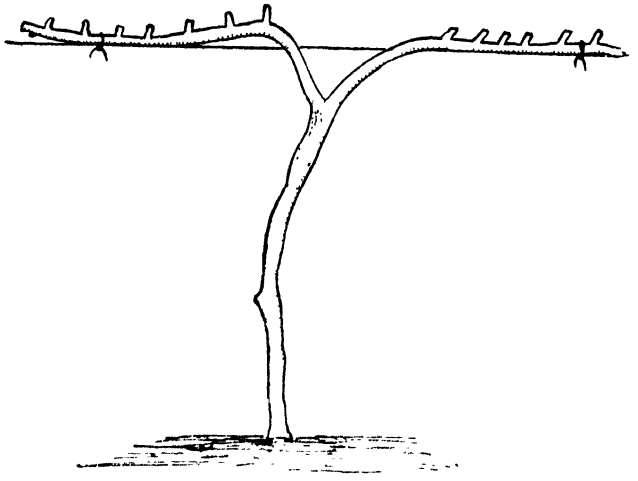
छँटाई करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनकी इतनी छँटाई न कर दी जाय कि वे भर जायँ। अतः सिरे पर पत्तियों के गुच्छे छोड़ दिये जाते हैं जो कुछ समय तक पूरे तने का निर्वाह कर सकें। पंगरा में जड़े बहुत कम पाई जाती हैं, अतः उनसे अंगूर की जड़ों पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ने पाता। अंगूर की लताएँ इसके अवलम्ब पर चढ़ा दी जाती हैं और उन्हें इन्हीं पर फैलने दिया जाता है। पंगरा की यदि उपयुक्त छँटाई नहीं की जाती है तो वे बढ़कर उद्यान में प्रकाश तथा वायु का आगमन बन्द कर देते हैं। अतः अंगूर के साथ ही वर्ष में दो चार अवश्य छाँटना चाहिए। यदि उद्यान में पंगरा के पौधे मरे या सूखे हुये मिलते हैं तो उन्हें निकाल कर नये पौधे रोप दिये जाते हैं। ये पौधे प्रायः सिंगिल स्टेक (Single stake) विधि में ही प्रयोग किये जाते हैं जिसका विवरण आगेकी पंक्तियों में मिलेगा।

सिंगल स्टेक विधि—यह विधि पंगरा विधि के नाम से भी विख्यात है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। यह विधि दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित है। इसमें पंगरा के तने पर अंगूर के पौधे लगा दिये जाते हैं। सर्वप्रथम अंगूर के पौधे ८ या १० फीट की दूरी पर उत्पन्न किये जाते हैं और जब ये ६ या ७ फीट की ऊँचाई के हो जाते हैं तो उनको पाँच फीट पर छँटाई कर दी जाती है। इस छँटाई से पौधे समान ऊँचाई के हो जाते हैं। छँटाई करते समय ५ फीट के नीचे ३ या ४ पार्श्व स्पर रक्खे जाते हैं और इनके नीचे के सभी स्पर निकाल दिये जाते हैं। ये स्पर, जिन्हें बढ़ने का अवसर दिया जाता है, फल पैदा करते हैं।

जूनार विधि—अंगूर की ट्रेनिंग की यह दूसरी विधि है। इस विधि में एक गड्ढे में चार अंगूर के पौधे उत्पन्न किये जाते हैं। गड्ढों की दूरी उतनी ही रक्खी जाती है जितनी की पहली विधि में रक्खी गई थी। प्रत्येक पौधे के निकट एक-एक अवलम्ब लगा दिये जाते हैं। ताकि पौधे उन पर अपनी वृद्धि कर सकें। तत्पश्चात् पौधों की कटाई, छँटाई और स्पर की वृद्धि की जाती है। किन्तु यह विधि पहली विधि की अपेक्षा मँहगी पड़ती है क्योंकि इसमें पौधों की संख्या अधिक हो जाती है जिससे जुताई, गुड़ाई आदि में बाधा पड़ती है। अवलम्ब के लिए डंडों की आवश्यकता अधिक होती है जिससे व्यय बढ़ जाता है। यह विधि इन्हीं त्रुटियों के कारण अधिक प्रचलित नहीं है।

छाता विधि—इस विधि में जैसा कि नाम से ही विदित है छाता के आकार के ढाँचे पर की जाती है। इसमें पहले लकड़ी के डंडों द्वारा छाते का आकार बना लिया जाता है और उस पर अंगूर के पौधे चढ़ा दिये जाते हैं।

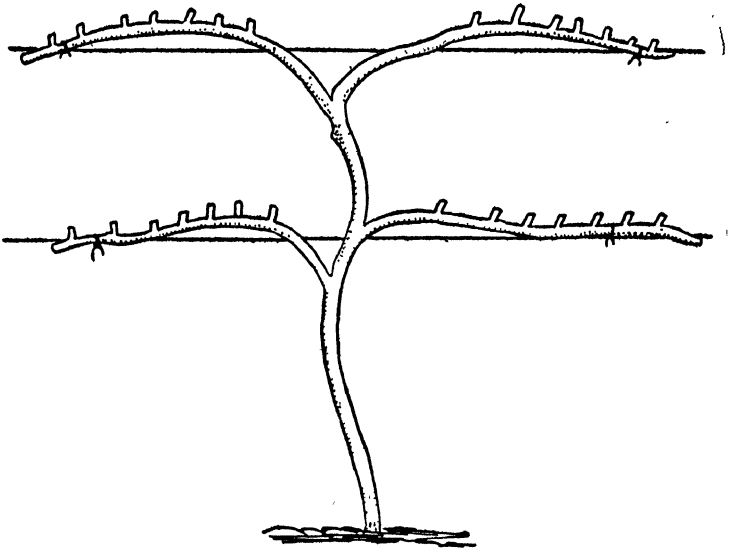
बावर विधि (Bower system)—बावर विधि में पौधे ८ फीट की दूरी पर उगाये जाते हैं और उन्हें लकड़ी के खम्भों पर उसी प्रकार चढ़ाया जाता है जैसे छाता विधि में। किन्तु अंतर यह है कि इसमें उर्ध्वाकार खम्भों को डंडों की सहायता से आर-पार से सम्बन्धित किया जाता है। सम्बन्धित करने की ऊँचाई ५ से ६ फीट तक रक्खी जाती है। पौधे जब इस ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं तो उन्हें छाँट दिया जाता है और पार्श्व शाखाओं को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। ये शाखाएँ बढ़कर पूरे ढाँचे को ढँक लेती हैं। इस प्रकार एक छायादार ढाँचा बन जाता है। समय-समय पर इसकी आवश्यक छँटाई भी करते रहते हैं ताकि एक शाखा के ऊपर दूसरी चढ़कर हानि न पहुँचाने पाये। इस विधि में शाखाओं को बढ़ने का अच्छा अवसर रहता है और नीचे का स्थान रिक्त रहने से जुताई-गुड़ाई व सिंचाई आदि क्रियाओं में कठिनाई भी नहीं होती। यद्यपि यह विधि व्यापारिक दृष्टिकोण से महँगी विधि है तथापि बहुत-से लोग इसे प्रधानता देते हैं और घरों की चहारदीवारी में, उद्यान में या बँगलों में थोड़े क्षेत्र में ही उगा लेते हैं। धूप के दिनों में सुखप्रद और शीतल छाया लेने के लिए घर के लोग अंगूर के ढाँचों के नीचे बैठकर आराम भी करते हैं। यह विधि सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। कहीं-कहीं पर इस ढाँचे को सुदृढ़ बनाने के लिए ईंट के खम्भे बना लिए जाते हैं और ऊपर मजबूत लकड़ी लगाई जाती है जिससे कि ढाँचा अधिक दिनों तक चल सके।



दो भुजाओं की नीफिन विधि

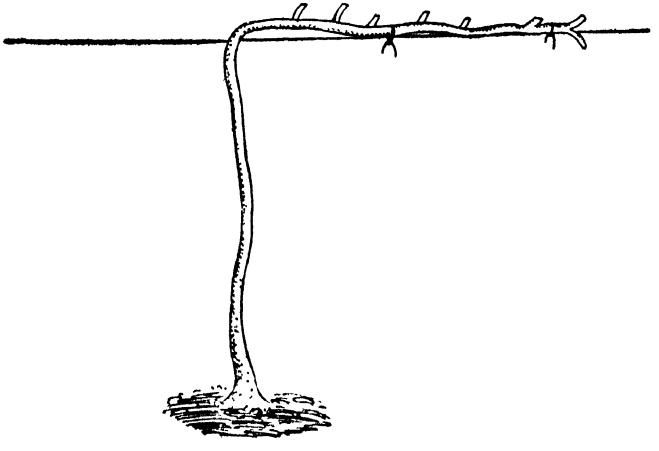
नीफिन और ट्रेलिस विधि (Kniffin and trallis)—इस विधि में दो फीट की ऊँचाई पर पृथ्वी के समानान्तर तार लगाए जाते हैं और इन पर अंगूर

चढ़ा दिए जाते हैं। तार कतारों में लगे खम्भों पर अवलम्बित रहते हैं जो १० से १५ फीट की दूरी पर लगाये गये होते हैं। तार २ फीट की ऊँचाई पर लगा लेने के पश्चात् ४ फीट और ६ फीट की ऊँचाई पर भी लगाये जाते हैं। इससे पौधों के



चार भुजाओं की नीफिन विधि

बढ़ने और फैलने में काफी सुविधा हो जाती है। आवश्यकतानुसार समय-समय पर पौधे की छँटाई भी की जाती है। यह विधि विश्व के अनेक भागों में अधिक प्रचलित

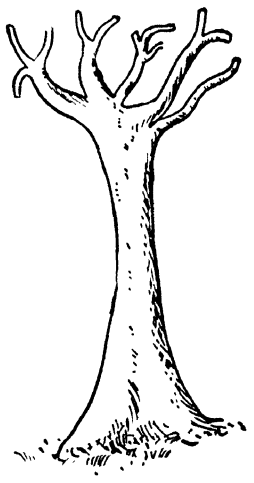


कोडान विधि

है। किन्तु अधिक मँहगी होने के कारण भारत में इसका प्रचार नहीं है।

कोडान विधि—यह विधि नोफिन विधि से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इसका प्रचलन पञ्जाब के देश में कुछ जातियों के लिये अधिक है। इसमें अंगूर का मुख्य तना तार पर चढ़ाया जाता है और तत्पश्चात् एक लता केवल एक दिशा में ही फैलती है।

हेड विधि (Head system)—पञ्जाब प्रदेश के कुछ भागों में यह विधि प्रयोग की जाती है। इसमें अंगूर के पौधे भूमि से २ या ३ फीट की ऊँचाई पर छाँट दिए जाते हैं और कुछ पार्श्व शाखायें बढ़ने दी जाती हैं। कुछ समय पश्चात् मुख्य तना मोटा और मजबूत हो जाता है और बिना किसी अवलम्ब के खड़ा रह जाता है। इस विधि में अवलम्ब लगाने का व्यय बच जाता है किन्तु शृगाल आदि जन्तु के लिए, जो कि २-३ फीट की ऊँचाई पर आक्रमण कर सकते हैं, अंगूर एक शिकार बन जाता है। उन स्थानों पर जहाँ कीड़े अधिक लगते हैं वहाँ एक प्रकार का भय बना रहता है। इसके अतिरिक्त फसल पर पाले पड़ने के भी अवसर रहते हैं।



हेड विधि

बिलोचिस्तान में अंगूर की लतायें २-३ फीट गहरी और २२ फीट चौड़ी नालियों में उत्पन्न की जाती हैं। नालियों की मिट्टी किनारों पर इस प्रकार रख दी जाती है कि उससे नाली में एक ढाल सा बन जाता है। दक्षिण भारत में अंगूर की लताएँ इस योग्य बनाई जाती हैं कि ४ या ५ फीट की ऊँचाई पर फल बढ़ सकें। वहाँ एक दूसरे जीवित डंडे का प्रयोग किया जाता है जो लताओं के लिए पंगारा की भाँति अवलम्ब का कार्य करता है। यह डंडा कमीफोरीबेरी (Commiphori beryii) पौधे से लिया जाता है। इसकी ऊँचाई उतनी ही रक्खी जाती है जितनी कि अंगूर की। अंगूर की लताओं के फैलने की सुविधा के लिए बाँस या लकड़ी की सहायता से ढाँचा तैयार किया जाता है। गनेशखिन्द फल प्रयोग केन्द्र, किरकी में जुनार और सिंगिल-स्टेक विधियों की तुलना की गई। इस प्रयोग में सिंगिल-स्टेक विधि में प्रत्येक पौधे ने ४ पौंड १३ औंस की उपज दी, जबकि जुनार विधि में उपज ७ पौंड ५ औंस। यह प्रयोग भोकरी जाति के अंगूर

पर किया गया था। उपज के विचार से जुनार विधि उत्तम पड़ती है किन्तु सिंगिल-स्टेक विधि में बैलों से जुताई करने तथा सिंचाई में अधिक सुविधा मिलती है। इससे यह सरल और सस्ती पड़ती है। इसमें छिड़काव (Spraying) की भी सुविधा होती है। बावर विधि में अधिक व्यय होता है जिससे इसका प्रयोग हमारे देश में ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें छँटाई की क्रिया में कठिनाई होती है। ट्रेलिस विधि भी बावर विधि की भाँति अधिक व्ययशील है। इसमें तार और खम्भे खरीदने में अधिक धन लगाना पड़ता है।

अमेरिका में अंगूर के पौधों की ट्रेनिंग और छँटाई में अधिक प्रगति हुई है। वहाँ छँटाई और ट्रेनिंग की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं जो उत्पादक के लिए अधिक उपज प्राप्त करने में सहायक होती हैं। वहाँ कोडान और ट्रेलीस विधियाँ प्रचलित हैं।

खाद—अंगूर की खेती में खाद का अधिक महत्व है किन्तु बिलोचिस्तान में इस पर अधिक महत्व नहीं दिया जाता। वहाँ अंगूर को प्रति गड्ढे के हिसाब से ३-४ वर्ष की अवधि में लगभग ४ पौण्ड गोबर की खाद दी जाती है। किन्तु गाँधी का कथन है कि वहाँ प्रत्येक बसन्त ऋतु में गोबर की खाद ३ टोकरी प्रति पौधे के हिसाब से दी जाती है। डब्ल्यू० बी० हेज के अनुसार उत्तर प्रदेश के कृषि विभाग ने दस वर्ष की अवस्था तक प्रति पौधा एक टोकरी गोबर की खाद या बिष्ठा देना स्वीकार किया है। यह खाद जिस समय दी जाती है उस समय पौधों की जड़ें खुली होनी चाहिये। खाद का प्रयोग पौधों की छँटाई के पश्चात् करना चाहिये जो दिसम्बर के महीने में होती है। बम्बई और दक्कन में पौधों की खाद वर्ष में एक बार दी जाती है जब कि खाद की मात्रा प्रति पौधा ७१ पौन्ड गोबर की खाद और ३ पौन्ड रेंडी की खली होती है। अक्टूबर की छँटाई के पश्चात् कोई खाद नहीं दी जाती क्योंकि अप्रैल की ही खाद पौधों पर वर्ष भर अपना प्रभाव डालती है। जब पौधे अधिक घने होते हैं तो उस दशा में खाद प्रत्येक पौधों को नहीं दी जाती अपितु समान रूप से खेत में छिड़क दी जाती है। खाद का दर ६० गाड़ी गोबर की खाद, डेढ़ टन रेंड़ी की खली और आधा टन सुपरफासफेट प्रति एकड़ है। चीमा, भट्ट, और नायक ने खाद की मात्रा ६० से १०० पौन्ड अथवा ३ से ४ टोकरी गोबर की खाद छँटाई के पश्चात् अप्रैल के महीने में देना स्वीकार किया है। खाद की इस खुराक के साथ मेंगनी की खाद, खलियाँ आदि भी प्रयोग की जा सकती हैं। अमोनियम सल्फेट भी अल्प मात्रा में प्रयोग की जा सकती है किन्तु अक्टूबर की छँटाई के पश्चात् दक्कन में खाद न प्रयोग करने पर उन्होंने भी जोर दिया है क्योंकि इस समय खाद देने से वानस्पतिक बढ़ाव होने लगता है और फलन-शक्ति

दब जाती है। स्टेन ने एक प्रयोग में यह ज्ञात किया कि अंगूर पर पोटाश का प्रयोग अच्छा पड़ता है। प्रायः उन स्थानों पर जहाँ फल गिर जाते हैं। पोटाश और फासफोरस तथा नाइट्रोजन में निर्धन फर्टिलाइजर का प्रयोग किया जाना चाहिए। न्यूयार्क में एक प्रयोग में नाइट्रोजन के फर्टिलाइजर की पत्तियों, लकड़ी, फल और फसल के बढ़ाव पर अच्छा प्रभाव मालूम किया गया। किन्तु चूने का अंगूर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। निम्नलिखित फर्टिलाइजर अंगूर के पौधों के लिए स्वीकार किया गया है, जो प्रति पौधे ६ पौन्ड के हिसाब से वर्ष में दो बार दिया जाता है।

अमोनियमसल्फेट	—१५० पौन्ड
सुपर फासफेट (४५%)	—२५२ ,,
म्यूरियेट ऑफ पोटाश	—७२ ,,
बालू	—२६ ,,

बम्बई प्रदेश में खाद अप्रैल में देने के पश्चात् जाड़े की ऋतु में भी दी जा सकती है किन्तु जाड़े के दिनों में इसका प्रयोग उस समय किया जाता है जबकि पौधों में गुच्छे निकलना प्रारम्भ हो जाते हैं। खाद देने की विधि ६ से ८ इंच गहरी नालियों में है जो अंगूर के पौधों की पंक्तियों के दोनों ओर दो फीट की दूरी पर बनी होती हैं। चीमा, भट्ट और नायक का कथन है कि बम्बई प्रदेश में प्रति एकड़ निम्नलिखित खाद सफलतापूर्वक प्रयोग की जा सकती है—

बोन मील	१ किलोवाट
पोटाशियम सल्फेट	१ ,,
अमोनियम सल्फेट	१ ,,
या	
बोन मील	१ किलोवाट
खून की खाद	२ ,,

अंगूर में खाद देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि खाद भूमि के साथ मिलकर पौधों की प्रत्येक आवश्यकतायें पूरी कर दे। किसी भी तत्व के अभाव में या आधिक्य में पौधे पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पौधे में नाइट्रोजन की अधिकता से पत्तियों और शाखाओं का बढ़ाव इतना हो जाता है कि उन पर हानिकर फँफूदी आक्रमण कर देती है। इसी प्रकार किसी तत्व की कमी से भी पौधे के क्षतिग्रस्त होने का भय रहता है। अतः भूमि में नाइट्रोजन, फासफोरस तथा पोटाश का उपयुक्त अनुपात उपस्थित होना चाहिये। इन तत्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी हैं जिनका पौधे या फल के बढ़ाव पर प्रभाव पड़ता है, जैसे चूना, मैगनीशिया, बोरान आदि।

सिंचाई—अंगूर के पौधे पानी की आवश्यकता उसी प्रकार रखते हैं जैसा हमने अन्य फलों में देखा है। पौधों के बढ़ाव के समय शुष्क और गरम मौसम की आवश्यकता होती है। अतः उस समय सिंचाई करनी पड़ती है। दक्कन में अंगूर के पौधे मानसून के दिनों अप्रैल और अक्टूबर में कुछ सप्ताह के अतिरिक्त सदैव सींचे जाते हैं। पौधों की छँटाई के पश्चात् पानी देना ठीक नहीं होता क्योंकि उस समय पौधे आराम करते रहते हैं। मानसून के समय में सूखा मौसम हो जाने पर आवश्यकता समझ कर सिंचाई कर दी जाती है। गर्मी के दिनों में बराबर सिंचाई की जाती है। अक्टूबर से मार्च तक, जब कि पौधों में फल-फूल देने का समय होता है, लगातार सिंचाई होती है। इस समय लगभग ६ या ८ दिन के अन्तर पर पानी दिया जाता है। अक्टूबर की छँटाई के पश्चात् पहली सिंचाई बहुत हल्की की जाती है। यह सिंचाई इस अंदाज से की जाती है कि पौधे के निकट की भूमि गीली हो सके। अधिक पानी देने से पौधों पर उल्टा प्रभाव पड़ जाता है। किन्तु इसके पश्चात् की सिंचाइयों में पानी की मात्रा क्रमशः बढ़ाते जाते हैं। गाँधी का कथन है कि नासिक में दस से अधिक सिंचाइयाँ नहीं करनी चाहिये। बम्बई और दक्कन में आई० सी० ए० आर० बुलेटीन 'ग्रेप कल्चर इन इंडिया' के अनुसार अंगूर जो दो फीट गहरे औसत काली मिट्टी में उगाये गये हों, अप्रैल की छँटाई के पश्चात् और मध्य जून के पूर्व, जब कि दक्षिण-पश्चिम मानसून प्रारम्भ न हो जायँ, ३ जोरदार सिंचाई से अधिक की आवश्यकता नहीं रखते। जून से सितम्बर तक अर्थात् मानसून के समाप्त होने तक सिंचाई का कोई प्रश्न नहीं रहता। अक्टूबर के महीने में पौधों की पुनः छँटाई की जाती है और तत्पश्चात् उनकी सिंचाई पर भी ध्यान दिया जाता है। बुलेटीन का आगे कथन है कि यदि उद्यान की भूमि अक्टूबर की छँटाई के समय भारी वर्षा के कारण अधिक नम रहे तो जाड़े की पहली सिंचाई नवम्बर के मध्य या अन्त से शुरू होती है। नवम्बर से जनवरी तक १२-१५ दिन के अन्तर पर उद्यान की सिंचाई की जाती है। किन्तु फरवरी-मार्च में जब कि ग्रीष्म ऋतु का आगमन हो जाता है तो दो सिंचाइयों में १० दिनों का अन्तर रक्खा जाता है। इस प्रकार मार्च के मध्य तक १० सिंचाइयाँ यथेष्ट होती हैं।

उत्तर भारत में फरवरी-मार्च में पौधों की छँटाई होती है और छँटाई के पश्चात् उपयुक्त अन्तर पर पानी दिया जाता है। दक्षिण भारत में सिंचाई लगभग उसी क्रम से की जाती है जैसा दक्कन और बम्बई में होता है। किन्तु मानसून का ध्यान रखकर सिंचाई करने में सुविधा होती है। बिलोचिस्तान में सिंचाई पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जनवरी में जबकि पौधे सुषुप्तावस्था में होते हैं, दो-तीन सिंचाइयाँ कर देने से पाले का प्रभाव कम हो जाता है। किन्तु फूल और फल

आते समय अधिक सिंचाई हानिकर होती है क्योंकि प्रथम तो फलों का लगाव ठीक नहीं होता और दूसरे फल जलमय और खट्टे हो जाते हैं।

सिंचाई करने की विधियाँ स्थान-स्थान पर भिन्न होती हैं। बम्बई और दक्कन में गोली बेसिन विधि का प्रयोग किया जाता है। किन्तु यह उन्हीं उद्यानों में संभव है, जहाँ पौधों की पारस्परिक दूरी अधिक है। घने पौधों वाले उद्यान में यह विधि सफल नहीं होती। ऐसी स्थिति में फ्लडिंग (Flooding) विधि प्रयोग की जाती है।

सम्बन्धित टिलेज—अंगूर के उद्यान में अधिक जुताई-गुड़ाई की आवश्यकता नहीं होती किन्तु यदि सुविधा हो तो इसका समय-समय पर हो जाना फसल की उपज पर अच्छा प्रभाव डालता है। प्रत्येक सिंचाई के पश्चात् अंगूर के पौधे के निकट की भूमि गोड़ देने से उसकी नमी अधिक दिनों तक स्थिर रह सकती है। सिंगिल स्टेक विधि में जुताई-गुड़ाई की सुविधा होती है, अतः देशी हल की आर-पार दो जुताइयाँ कर देनी चाहिए। किन्तु ट्रेलस विधि में एक ही ओर की जुताई सम्भव हो सकती है।

छँटाई—जैसा कि पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया गया था, अंगूर की उपज पर उसकी ट्रेनिंग और पौधों की छँटाई का गहरा प्रभाव पड़ता है। अंगूर की भिन्न-भिन्न जातियों में छँटाई की विभिन्न विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। ये विधियाँ अंगूर की उत्पादन शक्ति तथा उसके बढ़ाव पर निर्भर करती हैं। छँटाई की क्रिया ट्रेनिंग की भाँति पौधे के विषय में उसके गुण, शाखा उत्पन्न करने और ढाँचा तैयार करने पर प्रभाव नहीं डालती अपितु यह केवल पौधे की उपज देने की शक्ति को ही प्रभावित करती है। अंगूर की छँटाई का ज्ञान सर्वप्रथम लोगों को उस समय मिला जबकि उन्होंने यह मालूम किया कि पौधे निश्चित् फल उत्पन्न करने के उत्तरदायी है। अतः उन्होंने पौधे के वे भाग छाँटने प्रारम्भ किये जो फल नहीं उत्पन्न कर सकते। ऐसा करने से पौधे के आवश्यक तत्व पौधे के शेष भागों में संचित हो जाते थे और फल बहुत जोरदार रूप में उत्पन्न होते थे। इस प्रकार छँटाई की कला से तीने बातें ज्ञात हुई—प्रथम, सैप का प्रवाह पौधे के उन्हीं भागों में होने लगता है जो फल उत्पन्न करते हैं, दूसरे, पौधे निश्चित् आकार में होते हैं और तीसरे, उपज अच्छी मिलती है और फल अच्छे गुण वाले पैदा होते हैं।

भारत में अंगूर की छँटाई प्रायः स्पर की छँटाई होती है जिसमें एक, दो या तीन कलियों वाले स्पर पिछली ऋतु के परिपक्व लकड़ी के ऊपर छोड़ दिये जाते हैं जो फल उत्पन्न करते हैं। पौधे में तत्काल ऋतु की निकली टहनियों के आधार से कुछ गुच्छे पैदा होते हैं जो फल उत्पन्न करते हैं किन्तु टहनियाँ पिछले

ऋतु की लकड़ी से निकली होती हैं। दक्षिण भारत में पौधों की छँटाई वर्ष में दो बार की जाती है। पहली छँटाई पौधों के स्थानान्तरण के लगभग ४ माह पश्चात् अप्रैल के महीने में होती है। इस छँटाई में अंगूर की ऊँचाई निश्चित् की जाती है और एक निश्चित ऊँचाई के नीचे कुछ स्पर छोड़ कर शेष निकाल दिये जाते हैं। प्रायः छँटाई के समय पौधे पर लगभग ४ पार्श्व स्पर रखे जाते हैं। दूसरी छँटाई अक्टूबर के महीने में की जाती है। इस छँटाई में अप्रैल माह में छोड़े गये स्पर छाँट दिये जाते हैं और सिरे पर ३-४ कलियाँ उपस्थित रहने दी जाती हैं। इन्हीं कलियों में से १ या २ फल उत्पन्न करती हैं। ऐसा ज्ञात हुआ है कि २० मार्च से २० अप्रैल तथा १ अक्टूबर से २० अक्टूबर का समय नासिक में अंगूर की छँटाई के लिए उत्तम होता है।

अप्रैल माह की छँटाई फलों के उतरने (Harvesting) के पश्चात् की जाती है। इस छँटाई में पिछले वर्ष की परिपक्व टहनियाँ जिन्हें केन (Cane) कहा जाता है, जड़ से इस प्रकार काट दी जाती हैं कि उनमें ३-४ कलियों के स्थान पर केवल एक कली उपस्थित रहे। यदि कोई टहनी या केन दुर्बल है तो उसे पूर्णरूपेण काट देना चाहिये। इस माह की छँटाई उन्हीं स्पर पर की जाती है जो अक्टूबर में छाँटे गये थे और इस प्रकार रहा-सहा स्पर कुछ नई कलियों या टहनियों सहित पौधे से काट कर गिरा दिया जाता है। नीचे वाली कलियाँ जो अक्टूबर की छँटाई के पश्चात् सुषुप्तावस्था में थी, अब क्रियाशील हो उठती हैं और नई टहनियाँ उत्पन्न करती हैं। ये नई टहनियाँ अगले अक्टूबर में छाँट दी जाती हैं और फिर ये ही फल पैदा करने वाले स्पर उत्पन्न करते हैं।

पौधों की छँटाई करने के पश्चात् कटी हुई टहनियाँ, शाखाएँ, पत्तियाँ आदि एकत्रित करके जला दी जाती हैं या कम्पोस्ट के गड्ढे में डाल दी जाती हैं। इन्हें उद्यान में पौधों के निकट कदापि रहने देना चाहिए क्योंकि इससे अंगूर के पौधों पर आक्रमण करने वाले कीड़ों तथा मिलड्यू (Mildew) को आश्रय प्राप्त हो जाता है। छँटाई के पश्चात् लगभग २-३ सप्ताह तक सिंचाई नहीं की जाती ताकि टहनियों का बढ़ाव कुछ समय के लिए रुक जाय।

रेजिन अंगूर में चीमा, भट्ट और नायक के अनुसार छँटाई की तीन विधियाँ प्रयुक्त होती हैं—स्पर छँटाई, टहनियों या केन की छँटाई तथा टहनियों पर उत्पन्न स्पर की छँटाई। किन्तु कुछ स्थानों पर इस अंगूर के वर्ग में छँटाई की क्रिया की ही नहीं जाती। काश्मीर तथा भारत के कई भागों में बिना छँटे अंगूर के पौधे अच्छी उपज देते हुये पाये जाते हैं। विंकलर (Winkler) ने एक प्रयोग में ज्ञात किया कि बिना छँटे अंगूर के पौधे अच्छे और अधिक फल उत्पन्न करते हैं तथा उनमें चीनी

की मात्रा भी अधिक पाई जाती है किन्तु छँटे पौधों में पराग की अंकुरण शक्ति कम हो जाती है।

छँटाई की क्रिया उपयुक्त समय पर करनी चाहिए क्योंकि इसका फसल के उत्पादन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। पश्चिम भारत, (बम्बई, दक्कन और हैदराबाद के कुछ भाग) में जैसा अन्यत्र कहा गया है, दो बार छँटाई की क्रिया की जाती है जिसमें प्रथम २० मार्च से २० अप्रैल तक और दूसरी १ अक्टूबर से २० अक्टूबर तक अवश्य पूरी हो जानी चाहिए। यदि अक्टूबर की छँटाई सितम्बर के प्रारम्भ में कर दी गई और कई कोपलों पर देर में होने वाली वर्षा का प्रभाव पड़ गया तो पौधों पर डाउनी मिल्ड्यू (Downy mildew) और ऐन्थ्रैक्नोज रोग का प्रभाव पड़ जाता है जिससे कभी-कभी पूर्ण फसल ही विनष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अक्टूबर माह के अन्त या नवम्बर के प्रारम्भ की छँटाई पौधों पर अच्छा प्रभाव नहीं डालती क्योंकि स्पर बहुत देर में विकसित होते हैं या कुछ स्पर सुषुप्त ही रह जाते हैं जिससे फसल अच्छी नहीं मिल पाती। समय पर की गई अक्टूबर की छँटाई से फसल मार्च में तैयार हो जाती है और अंगूर अप्रैल में फिर छाँटे जा सकते हैं। अप्रैल के माह के प्रारम्भ की छँटाई से पौधे में कोपलें वर्षा के पूर्व ही निकल आती हैं और उन पर मानसून के प्रभाव डालने वाले रोगों का आक्रमण नहीं होने पाता। ये कोपलें या टहनियाँ सितम्बर के महीने तक पूर्ण रूप से बढ़ जाती हैं।

उत्तरी भारत में चूँकि अंगूर की एक ही फसल आती है। अतः इन्हें वर्ष में एक ही बार छाँटा जाता है। फसल आने का समय फरवरी-मार्च से जून-जुलाई है, इसलिए पौधों की छँटाई बसन्त ऋतु के प्रारम्भ में करनी अच्छी पड़ती है जिससे कोपलों को निकलने और बढ़ने के लिए लम्बी ग्रीष्म ऋतु मिल सके। बिलोचिस्तान, पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में पौधों की छँटाई का यही समय उपयुक्त पड़ता है।

अप्रैल की छँटाई के पश्चात् कभी-कभी अधिक फसल प्राप्त करने के लिए अंगूर की जड़ें नंगी कर दी जाती हैं तथा उनकी छोटी-छोटी जड़ें काट दी जाती हैं। इसके लिए अंगूर की दो पंक्तियों के मध्य की भूमि हल से जोत दी जाती है और पौधों के जड़ के निकट की भूमि २-३ फीट अर्धव्यास का वृत बनाते हुये १ फुट की गहराई तक खोद कर बाहर निकाल दी जाती हैं। इस क्रिया में छोटी जड़ें कट जाती हैं और नंगी हो जाती हैं। १० दिनों पश्चात् गड्ढे की भूमि में खाद की उपयुक्त मात्रा मिलाकर जड़ें ढक दी जाती हैं। कुछ समय पश्चात् पौधे से नई कोपलें निकलनी प्रारम्भ होती हैं। जब कोपलें निकलने लगती हैं तो पौधे की सिंचाई कर दी जाती है।

अधिक फसल लेने के लिए रिंगिंग या गर्डिलिंग की क्रिया भी करते हैं। इस क्रिया में जैसाकि हमने अन्यत्र कहीं पढ़ा था, पौधे के तने या शाखाओं की छाल पर दो समानान्तर कटाव अँगूठी-आकार में बना लिए जाते हैं और फिर उनके बीच की छाल बाहर निकाल दी जाती है। कटाव की चौड़ाई कितनी हो, इस पर सभी लोग एक मत नहीं हैं। बायोलेटी के अनुसार यह कटाव $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{4}$" होना चाहिए। जैकोब (Jacob) का कथन है कि कटाव यदि $\frac{3}{16}$ से $\frac{3}{32}$" हो तो अधिक अच्छा है। कटाव करते समय लकड़ी का कटना उचित नहीं होता। यह क्रिया खाद की अधिक मात्रा और समुचित क्रियाओं के साथ कई वर्षों तक सफलतापूर्वक प्रयोग की जा सकती है।

अच्छी फसल और उत्तम कोटि के फल प्राप्त करने के लिए कभी-कभी फलों की छँटाई भी की जाती है। गुच्छों में जब फल अधिक घने हो जाते हैं तो फल छोटे होते हैं और इससे बाजारों में उनका मूल्य कम मिलता है। इसके लिए आवश्यकता समझ कर अत्यधिक फल गुच्छे से निकाल दिये जाते हैं। फलों की छँटाई के अतिरिक्त कभी-कभी फूलों की भी छँटाई करते हैं ताकि अच्छे और उत्तम फल उत्पन्न हों।

फलों की तोड़ाई—फलों की तोड़ाई उस समय की जाती है जब कि वे पूर्णरूपेण पक जाते हैं क्योंकि तोड़ने के पश्चात् उनमें किसी प्रकार की परिपक्वता नहीं आती। पकने पर गुच्छे का रंग कुछ परिवर्तित हो जाता है किन्तु यह रंग-परिवर्तन सभी जातियों में समान नहीं होता। भोकरी जाति के फल पूरा पक जाने पर लाल रंग के हो जाते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो पकने पर भी हरी ही रह जाती हैं किन्तु यह बात सभी फलों में देखी जाती है कि पके फल कोमल और मुलायम हो जाते हैं। उनका रंग भी कुछ-न-कुछ मात्रा में अवश्य बदल जाता है। दक्षिण में फलों की तोड़ाई हाथ से की जाती है। हाथ से गुच्छे को अंगूठे और पहली अंगुली के बीच पकड़ लेते हैं और दूसरे हाथ से थोड़ा हिलाकर फल को गुच्छे से अलग कर लेते हैं। तोड़ते समय यह ध्यान रक्खा जाता है कि फल क्षतिग्रस्त न होने पावें क्योंकि ऐसे फल बाजार में कम मूल्य देते हैं। जब अंगूर के फल दूर के बाजारों में भेजे जाते हैं तो उन्हें फलों के पूर्ण रूप से पकने के कुछ दिन पहले ही तोड़ लेते हैं। तोड़ने के पश्चात् गुच्छे हरी पत्तियों के बिछौने पर छिछली टोकरियों में रख दिये जाते हैं। अमेरिका में तोड़े हुये गुच्छे बक्स में या बक्साबन्दी के घर में उस समय तक रख दिये जाते हैं जब तक उनके डंठल सूख न जायँ। सूखने के पश्चात् इनकी बक्साबन्दी प्रारम्भ की जाती है। कीड़ों से बचाने

के लिए बोरे के टुकड़े प्रयोग किये जाते हैं। ये बोरे पेंदे की ओर २-३ छेद वाले होते हैं जिससे इनके अन्दर का पानी सरलतापूर्वक बाहर निकल जाय।

बक्स-बन्दी के पूर्व वे सभी फल निकाल कर बाहर कर दिये जाते हैं जो सूखे अथवा आहत रहते हैं। रोगी फल या जन्तुओं के आक्रमण वाले फल तथा बहुत पके फल यदि अन्य फलों के साथ रहने दिये जायँ तो इससे स्वस्थ फल भी प्रभावित हो जाते हैं। अतः उन्हें बाहर निकाल देना अच्छा होता है। स्वस्थ और अच्छे फलों की चुनाई भी की जाती है। चुनाई गुच्छे के आकार और फलों के गुण के अनुसार की जाती है। यद्यपि अंगूर की चुनाई का ज्ञान हमारे देश में बहुत पिछड़ा है, तथापि मोटे तौर पर भिन्न आकार वाले गुच्छे छाँट लिये जाते हैं और तत्पश्चात् बक्स-बन्दी की जाती है।

बक्स-बन्दी—अंगूर की बक्स-बन्दी हमारे यहाँ बाँस की टोकरियों में की जाती है। ये टोकरियाँ १० पौंड के आकार की होती हैं। अंगूर भरते समय इनमें अंगूर की पत्तियाँ, सूखी घास आदि प्रयोग की जाती हैं, जिससे गुच्छे हिलने-डुलने नहीं पाते और शीघ्र सड़ाव भी नहीं होता। किन्तु ऐसा देखा गया है कि वे पाँच से आठ घन्टे की अल्प मात्रा के लिए ही उपयुक्त होती हैं क्योंकि इसके पश्चात् वे ताप उत्पन्न करने लगती हैं जिससे सड़ाव प्रारम्भ हो जाता है। नासिक में अंगूर की बक्स-बन्दी इन्हीं टोकरियों में की जाती है। पेंदे में सूखी घास या अंगूर की हरी पत्तियाँ रख कर अंगूर के गुच्छे रखे जाते हैं। गुच्छों की परत एक ही होती है क्योंकि एक से अधिक परतों से फलों के सड़ाव का भय रहता है। अंगूर की इस परत के पश्चात् पत्तियों और घासों की दूसरी परत रक्खी जाती है और इस प्रकार एक परत के बाद दूसरी रख कर पूरी टोकरी भर दी जाती है। परत में गुच्छे समान रूप से रक्खे जाते हैं और उनके ऊपर की परत इतनी मोटी रक्खी जाती है कि गुच्छों का डन्ठल और उसके फूल दिखाई न पड़ें। अन्त में टोकरी की ऊपरी तह समान बना दी जाती है, किन्तु यह टोकरी की ऊँचाई से कुछ ऊपर रहती है। अन्त में अंगूर की हरी पत्तियाँ ढालवें रूप में रख दी जाती हैं और ऊपर से ढक्कन लगा दिया जाता है।

उपर्युक्त विधि केवल उसी दशा में प्रयुक्त होती है जब कि फल निकट के बाजार में ही भेजने होते हैं। दूर के बाजारों या विदेशों के लिए नासिक में एक अन्य विधि प्रयोग की जाती है। इस विधि में लकड़ी के आयताकार बक्से, जिनके बगल की दीवारों में वायु के आवागमन के लिए छोटे-छोटे छिद्र बनाये गये होते हैं, प्रयोग किये जाते हैं। इसमें बक्से के पेंदे अथवा बगल में केले की पत्तियाँ लगा दी जाती हैं और तत्पश्चात् अंगूर के गुच्छे सफेद टीसू पेपर में लपेट कर बाँस

की टोकरी की ही भाँति सजा दिये जाते हैं। अहमदनगर और बंगलौर, मदुराई, कृष्णगिरि आदि में एक प्रकार की मिट्टी का बर्तन बक्स-बन्दी के लिए प्रयोग किया जाता है। इसका आकार २० या २५ पौण्ड का होता है। अंगूर भरते समय इनमें



अंगूर भेजने का मिट्टी का बर्तन

लकड़ी के बुरादे अथवा केले या अंगूर की हरी पत्तियाँ रख दी जाती हैं। इन्हें उतारने और चढ़ाने में बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए क्योंकि थोड़ी-सी भी असावधानी से बर्तन के टूटने का डर रहता है। अब तक हमने जितनी बक्स-बन्दी का उल्लेख किया है .उनमें से कोई भी उत्तम नहीं कही जा सकती क्योंकि रेल में उतारने-चढ़ाने में बड़ी लापरवाही बर्ती जाती है और फलों की अधिक मात्रा व्यर्थ हो जाती है। अतः अंगूर की बक्स-बन्दी में प्रगति करना आवश्यक है।

बिलोचिस्तान से चमन अंगूर बम्बई के बाजार में शीतागारों में लाये जाते हैं और नीलाम द्वारा बाजार से बेच दिये जाते हैं। बम्बई में स्पेन और इटली से भी अंगूर आते हैं जो लकड़ी के बैरेल में बन्द होते हैं। इनका मूल्य अधिक होता है। इन स्थानों के अतिरिक्त अमेरिका, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफरीका से भी अंगूर हमारे देश में मँगाये जाते हैं इन अंगूरों की बक्स-बन्दी बड़े उत्तम ढंग से की गई होती है जिससे यहाँ ये मँहगे मूल्य पर बेचे जाते हैं।

संचय—अंगूर के ताजे फल, जैसा कि हम जानते हैं, उसी दशा में छोड़ देने पर बहुत शीघ्र सड़ना प्रारम्भ कर देते हैं। जिस वर्ष फसल बहुत जोरदार होती

है और बाजार में अंगूर अधिक रहता है तो उत्पादक मूल्य कम प्राप्त कर पाता है। कठिनाई यह होती है कि वह ताजे अंगूर-घरों में रख नहीं सकता। किन्तु यदि शीतागार का प्रबन्ध हो तो फल सरलतापूर्वक कुछ समय के लिए स्वस्थ रखे जा सकते हैं और इस प्रकार अंगूरों का अच्छा मूल्य प्राप्त किया जा सकता है। इन शीतागारों का प्रबन्ध लगभग प्रत्येक बड़े शहरों में हैं। वहाँ तापक्रम ३५ से ४०° फा० रक्खा जाता है। फल इस तापक्रम पर लगभग दो माह तक सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं। संचय-गृहों (Store) का औसत तापक्रम अनेक जातियों के लिए २८ से ३२° फा० बताया जाता है। उन्हें वातावरण और अंगूर की जाति के अनुसार ६ महीने तक रक्खा जा सकता है।

उपज—अंगूर की उपज जाति, पौधे की आयु, छँटाई और अन्य क्रियाओं पर निर्भर करती है। भोकरी जाति की उपज १० हजार से १५ हजार पौण्ड है, जब कि पौधों की आपस की दूरी ८ फीट हो और उनकी ट्रेनिंग सिंगिल स्ट्रेक विधि द्वारा की गई हो। जब पौधों की पारस्परिक दूरी ८×३ फीट होती है तो उद्यान में प्रति एकड़ अधिक पौधे लगते हैं और ट्रेनिंग की विधि ४ भुजाओं वाली नीफिन के प्रयोग पर उपज २० हजार से ३० हजार पौण्ड प्रति एकड़ पायी जाती है। मैसूर की बेंगलौर परपिल जाति लगभग १२०० पौण्ड प्रति एकड़ उपज देती है। अंगूर की लताएँ, उपयुक्त सावधानी के साथ, जब कि उन्हें रोग और कीड़ों से सुरक्षित रक्खा जाय और जुताई, गुड़ाई, सिंचाई आदि क्रियायें समय पर की जायँ तो, १०० वर्ष या इससे अधिक जीवित रह सकती हैं। किन्तु पश्चिम तथा दक्षिण भारत में अंगूर के पौधे ३० वर्ष से अधिक आयु वाले नहीं पाये जाते क्योंकि उन्हें अनेक प्रकार के हानिकारक कीड़ों, रोगों, जलवायु की प्रतिकूलता आदि का सामना करना पड़ता है।

खाद्य-अंश—अंगूर के फल कैलशियम, फासफोरस और लोहे में धनी होते हैं। अंगूर की कुछ जातियाँ जैसे सुल्तानिना और मलागा में विटामिन की कुछ मात्रा उपस्थित होती है। इनमें विटामिन B की अच्छी मात्रा और विटामिन C की थोड़ी मात्रा उपस्थित होती है। विटामिन G इस जाति में थोड़ी मात्रा में पाया जाता है किन्तु कभी-कभी नहीं भी पाया जाता है। अंगूर की कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें विटामिन बिल्कुल नहीं पाये जाते या यदि पाये जाते हैं तो बहुत कम मात्रा में। अंगूर का रस जो व्यापारिक तौर पर बेचा जाता है कोई विटामिन नहीं रखता। हमारे देश में अंगूर के विश्लेषण से निम्नलिखित पदार्थ पाये गये हैं :—

नमी या पानी	८५.५%
प्रोटीन	.८%
चर्बी	.१%
नमक या मिनरल मैटर	.४%
लोहा (मिली ग्राम में)	.४%
कैल्शियम	.०३%
फासफोरस	.०२%
रेशे	३.०%
विटामिन A (अंतर्राष्ट्रीय इकाई प्रति १०० ग्राम)	१५
विटामिन C ,,	३
केलोरी प्रति औंस	१३

रोग और कीड़े—अंगूर के पौधे अनेक प्रकार के रोग और कीड़ों के शिकार होते हैं जिनसे उत्पादकों को अधिक मात्रा में हानि उठानी पड़ती है। इसका प्रसिद्ध रोग डाउनीमिल्ड्यू, पाउडरी मिल्ड्यू और ऐन्थ्रैक्नोज हैं।



डाउनी मिल्ड्यू

डाउनी मिल्ड्यू—अंगूर के ऊपर आक्रमण करने वाले रोगों में यह अधिक खतरनाक रोग है। इसके आक्रमण से पूरी फसल थोड़े समय में ही विनष्ट हो जाती है। इसका प्रभाव प्रायः फल देने वाले समय में नम ऋतु में होता है।

इसके लक्षण सर्व प्रथम पत्तियों के ऊपरी धरातल पर दृष्टिगत होते हैं। इस धरातल पर हरे और पीले अनेक धब्बे, जो बाद में भूरे हो जाते हैं, पाये जाते हैं। इनके प्रभाव से पत्तियाँ सूख जाती हैं। यदि पत्तियों को प्रारम्भिक रुग्ण अवस्था में प्रकाश में रक्खा जाय तो रोग से प्रभावित स्थान पत्ती के साधारण तन्तुओं की अपेक्षा अधिक पारदर्शक दीखते हैं। उपयुक्त वातावरण में रोग का प्रभाव पत्ती के निचले धरातल पर भी हो जाता है। बुरी तरह से प्रभावित पत्तियाँ शीघ्र ही गिर जाती हैं। कोमल टहनियों, शाखाओं, डठंल और गुच्छों पर भी इस रोग का आक्रमण होता है। इसके अतिरिक्त आधे आकार तक बढ़े फल पर भी इसका प्रभाव पड़ता है जिससे फल सख्त हो जाते हैं और सूख जाते हैं। रोग का बढ़ाव ७७° से ८२° फा० पर भली-भाँति होता हैं। किन्तु इससे अधिक तापक्रम रहने पर रोग का प्रभाव नहीं पड़ता। इस रोग का आक्रमण प्लाजमोपारा विटीकोला (Plasmopara viticola) फँफूदी द्वारा पड़ता है।

वर्षा के दिनों में जबकि वातावरण गरम रहता है। इस रोग का आक्रमण तेजी से होता है। किन्तु शुष्क और अधिक ताप वाली ऋतु में इसके आक्रमण का कोई भय नहीं रहता। इसके रोकथाम के उपाय आगे दिये गये हैं।

पाउडरी मिल्ड्यू—यह रोग अन्सीनुलानेकाटोर (Uncinulanacator) द्वारा उत्पन्न होता है। यह सर्व प्रथम १८८५ ई० में इंगलैण्ड में पाया गया। किन्तु भारत में यह कैसे आया यह नहीं कहा जा सकता। इस रोग का प्रभाव सर्वप्रथम सफेद धब्बे के रूप में पत्तियों के दोनों धरातलों पर पड़ता है। ये धब्बे बाद में कुछ सफेदी लिये भूरे रंग में परिवर्त्तित हो जाते हैं। धब्बे धीरे-धीरे बढ़ते हैं और अन्त में कई धब्बे मिलकर बहुत बड़ा स्थान घेर लेते हैं। इस रोग का प्रभाव लगभग सभी हरे भागों तथा कलियों और फलों पर पड़ता है। प्रभावित शाखायें बाद में काली पड़ जाती हैं। इसका प्रभाव जब फूलों पर पड़ता है तो वे गिर जाते हैं और फल-लगाव नहीं होने पाता। रोगी फल शीघ्र ही गिर जाते हैं। इस रोग का आक्रमण डाउनीमिल्ड्यू की भाँति गरम और बदली के मौसम में, जबकि तापक्रम ७५° से ६५° फा० होता है, पाया जाता है। भीषण वर्षा या अत्यधिक गरम मौसम, जबकि तापक्रम १००° फा० से ऊपर होता है; रोग के फैलने में अच्छा नहीं सिद्ध होता। ५०° से कम तापक्रम पर फँफूदी अपनी वृद्धि रोक देती है।

रोग की रोकथाम के लिए बोर्डो मिक्सचर तथा गन्धक (सल्फर) का चूर्ण

प्रयोग किया जाता है। ये डाउनीमिल्ड्यू तथा पाउडरी मिल्ड्यू दोनों रोगों के लिए उत्तम पड़ते हैं। बोर्डा मिक्सचर ३: ३: ५० या ५: ५: ५० अनुपात की मात्रा में रहता है। इसका प्रयोग २ या ३ बार किया जाता है। गंधक का चूर्ण प्रति एकड़ १० से १२ पौण्ड के हिसाब से प्रयोग किया जाता है। यह पौधों में फूल आने के समय दिया जाता है। किन्तु बोर्डा मिक्सचर भूलकर भी फूल आने के समय नहीं देना चाहिये। बल्कि इसका प्रयोग फूल आने के कुछ समय पहले अच्छा पड़ता है। गन्धक का चूर्ण १ माह पश्चात् दुबारा प्रयोग किया जाता है। इस समय इसकी मात्रा १० पौण्ड प्रति एकड़ रक्खी जाती है। रोग की रोकथाम प्रभावित भागों की छँटाई द्वारा भी की जा सकती है। अक्टूबर और अप्रैल की उपयुक्त और विधिवत छँटाई से भी रोग को दूर करने में यथेष्ट सहायता मिलती है।

ऐन्थ्रैक्नोज (Anthracnose)—यह रोग ग्लोस्पोरियम ऐम्पिलो फैगम (Gloeosporium ampelo Phagam) नामक फँफूदी (Fungus) द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग का प्रभाव अंगूर के पौधे के प्रत्येक हरे अंग तथा फूल पर भी होता है किन्तु फल पर केवल उसी दशा में आक्रमण होता है जबकि रोग की स्थिति बहुत भयंकर होती है। साधारण स्थिति में केवल पत्तियाँ या शाखाएँ और टहनियाँ प्रभावित होती हैं। इस रोग के लक्षण ये हैं कि पत्तियों या टहनियों पर धब्बे (Scars) या कैन्कर (Canker) पैदा होते हैं जो रंग में भूरे होते हैं। प्रभावित फूल गिर पड़ते हैं और वे फल उत्पन्न करने में असफल हो जाते हैं। फलों पर चिड़ियों के आँख—जैसे धब्बे (birds eye spots) निकलते हैं जो केन्द्र में कुछ दबे हुये भूरे रंग के होते है और परिधि की ओर इनका रंग लाल-पीला रहता है। तापक्रम और नमी का उपयुक्त होना ही रोग की वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। मानसून के समय की वर्षा या ओस की बूँदें फँफूदी के स्पोर पैदा करने के लिए और उनकी वृद्धि के लिए नमी और नम तापक्रम का होना आवश्यक है। यदि ये दशाएँ अनुकूल रहीं तो रोग का आक्रमण शीघ्र होगा। नीचे की भूमि वाले अंगूर के उद्यान इस रोग से अधिक प्रभावित देखे जाते हैं। यद्यपि यह रोग मन्द गति से बढ़ता है किन्तु वातावरण के उपयुक्त होने पर यह कभी-कभी बहुत हानिकारक प्रभाव डालता है। बम्बई प्रदेश के कुछ भागों में इस रोग का अधिक प्रकोप पाया जाता है।

ऐन्थ्रैक्नोज का निवारण बोर्डा मिश्रण की सहायता से किया जा सकता है।

बोर्डा मिश्रण ५ : ५ : ५० का अनुपात इसके लिए अच्छा पड़ता है। रोग की भयंकर स्थिति में बोर्डा मिश्रण न प्रयोग कर बोर्डा पेस्ट (Paste) काम में लाया जाता है। बोर्डा मिश्रण का प्रयोग अंगूर की छँटाई के पश्चात् अच्छा सिद्ध होता है।

कीड़े—भारत में अंगूर के पौधों पर लगने वाला अधिक भयंकर कीड़ा एक घुन है जिसे उदया (Udadya) के नाम से पुकारा जाता है। इसका वैज्ञानिक नाम स्केलोडेन्टा स्ट्रिगिकोल्स (Scelodanta strigicolles) है। यह पश्चिम भारत दक्कन में अधिकतर पाया जाता है। यह एक बहुत छोटा कीड़ा है जो दिन के समय तो अंगूर के ढीले छिल्के अथवा धड़ के निकट की भूमि में छिपा रहता है परन्तु रात होते ही बाहर घूमने लगता है। इसका रंग गहरा भूरा और कांस (Bronze) के रंग-सा होता है और इसके प्रथम जोड़े के प्रत्येक पंख पर तीन गहरे धब्बे पाये जाते हैं जिससे इसे सरलतापूर्वक पहचाना जा सकता है। इसका निर्वाह अंगूर की पत्तियों और दोमट टहनियों पर होता है जिन्हें खाकर यह पूरे पौधे को ही विनष्ट कर देता है। इसका आक्रमण उगने वाले नये स्पर भी होता है जिससे वे पूर्ण रूप से सूख जाते हैं। यह कीड़ा अक्टूबर की छँटाई के शीघ्र पश्चात् पौधों पर धावा बोल देता है। यह इस समय बहुत क्रियाशील रहता है। किन्तु जाड़े में तापक्रम के नीचे गिर जाने से इसके कार्य में शिथिलता आ जाती है। किन्तु अप्रैल के माह में पुनः यह जागरूक हो जाता है।

कीड़े को मारने के लिए कई उपाय प्रयोग किये जाते हैं। केले की सूखी पत्तियाँ बंडल बनाकर अंगूर के धड़ में या छँटे हुए स्थान पर, जहाँ स्पर निकल रही हो, बांध दी जाती है। धूप से अपनी रक्षा करने के लिए कीड़े इन्हीं पत्तियों में शरण लेते हैं। अतः पत्तियाँ दिन में तीन बार कपड़े के झोले में झाड़ लेते हैं और कीड़ों को पकड़ कर मार डालते हैं या जला देते हैं। मिट्टी के तेल मिले हुए पानी में शीघ्र मरते हैं। चिमटे या हाथ से प्रौढ़ कीड़े पकड़ कर भी मारे जा सकते हैं। जिन स्थानों पर इनके अण्डे-बच्चे अधिक हों वहाँ की छाल हटाकर उन्हें मार डालना चाहिए। कहीं-कहीं पर छाते भी इन्हें मारने के कार्य में प्रयोग किये जाते हैं। छाते खोल कर उल्टा कर दिये जाते हैं और उन्हें पौधे के निकट ले जाकर उन्हें जोरों से हिला देते हैं जिससे कीड़े नीचे गिर जाते हैं और उन्हें छातों में एकत्रित कर लिया जाता है। छातों से उन्हें निकाल कर जला दिया जाता है। कीड़े को मारने के लिए मद्रास में बोर्डा मिश्रण और कैल्शियम आर्सि-

नेट स्वीकार किया गया है। बोर्डा मिश्रण डी. डी. टी के साथ मिला देने पर और प्रभावकारी हो जाता है। डी. डी. टी ३ : ३ : ५० के अनुपात वाले बोर्डा मिश्रण के १०० गैलन में लगभग आधा भाग होना चाहिए। छँटाई के शीघ्र पश्चात् १० दिनों के अन्तर पर तीन छिड़काव कर देने से कीड़े का भय जाता रहता है।

उदग्रा के अतिरिक्त काक चेफर (Adoretus oralis) और कुछ अन्य कीड़े भी नासिक में अंगूर के उद्यानों में पाये जाते हैं। इन्हें दूर करने के लिए धड़ के पुराने और प्रभावित छाते निकाल कर अण्डे-बच्चे मार देने चाहिए! इन्हें हाथ से भी मारा जाता है। ग्रेपथाइप (Rhipiphorothrips cruentatus) एक अन्य कीड़ा है जो अंगूर की पत्तियों पर आक्रमण करता है और उनके रस लेकर उन्हें नीचे गिरा देता है। इसे नीकोटीन सल्फेट अथवा टुबैको डिकोक्शन के छिड़काव से रोका जा सकता है।

अध्याय २३

अंजीर (Fig-Ficus Carica)

अंजीर एक समशीतोष्ण कटिबन्धीय और शीत कटिबन्धीय फल है किन्तु बहुत-से लोग इसे समशीतोष्ण कटिबन्धीय ही कहते हैं। भारत में जङ्गली अंजीर सहस्रों वर्षों से उगाया जा रहा है किन्तु साधारण अंजीर अन्य देशों के सामने यहाँ कम उत्पन्न किया जाता है। यद्यपि यहाँ की जलवायु तथा भूमि इस योग्य है कि अंजीर की खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है किन्तु लोगों का ध्यान इस ओर कम गया है।

इतिहास का विवरण—अंजीर की जन्मभूमि रूमसागरीय प्रदेश बतलाये जाते हैं, क्योंकि बायबिल में इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। प्राचीन यूनानी लेखकों ने भी इस फल-वृक्ष का उल्लेख किया है। लोगों का ऐसा विचार है कि अंगूर का जन्मस्थान दक्षिणी अरब हो सकता है जहाँ से यह पश्चिम की ओर फैलाया गया। अंजीर की खेती इटली, यूनान, अलजीरिया, टर्की, स्पेन, पुर्तगाल, संयुक्तराज्य अमेरिका आदि में वृहद् रूप से होती है। संयुक्तराज्य अमेरिका में फ्लोरिडा और कैलिफोर्निया अंजीर उगाने के लिए प्रसिद्ध हैं। इन स्थानों के अतिरिक्त एशियामाइनर, और अफगानिस्तान में भी अंगूर का उत्पादन होता है। मिश्र में भी अंगूर की खेती होती है किन्तु वहाँ इसका क्षेत्र सीमित है। भारत में पूना, पुरन्धर, अहमदनगर, सतारा, बंगलौर, और सहारनपुर में अंजीर का उत्पादन होता है। पूना अन्जीर उगाने में प्रसिद्ध है क्योंकि वहाँ उत्पादक इससे अधिक लाभ कमाते हैं। पूना के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में यह फल बहुत कम स्थान में उगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में सहारनपुर के निकट कुछ भूमि में इसकी खेती होती है। उत्तर भारत में पश्चिम तथा दक्षिण भारत के अपेक्षाकृत अन्जीर की खेती बहुत कम होती है क्योंकि यहाँ धड़-छेदक (Stem borer) कीड़े का आक्रमण बुरी तरह से होता है जिससे उत्पादक अधिक लाभ नहीं पाता।

भूमि—अन्जीर के वृक्ष अनेक प्रकार की भूमि में उत्पन्न हो सकते हैं। भारी चिकनी भूमि, काली भूमि, दोमट, हल्की बलुई भूमि आदि में यह सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। अलूवियल भूमि इसके लिए उत्तम पड़ती है क्योंकि इसमें जल-निकास का अच्छा प्रबन्ध होता है और इसमें पानी शोषित करने की

शक्ति भी अधिक होती है। बलुई भूमि अंजीर के लिए अच्छी नहीं पड़ती किन्तु यदि इसमें अधिक जीवांश खादें दे दी जायँ तो ये अंजीर के आवश्यक तत्वों से धनी हो जाती हैं और तब अंजीर सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। बलुई भूमि में चूने की मात्रा और आवश्यकतानुसार सिंचाई भी जरूरी होती है। कुछ स्थानों की भूमि में नीमेटोड (Nematode) का प्रभाव देखा जाता है जिससे अंजीर की उपज पर बुरा प्रभाव पड़ता है किन्तु भाग्यवश भारत में ऐसा अभी तक नहीं पाया गया है। हल्की दोमट भूमि अंजीर की कुछ जातियों के लिए बहुत उपयुक्त होती है। बड़ौदा गवर्नमेंट फार्म पर हल्की दोमट भूमि में कोयमबटूर और पूना दो अंजीर की जातियाँ बोई गईं और यह ज्ञात किया गया कि कोयमबटूर जाति पूना की अपेक्षा इस भूमि में बड़े और अच्छे फल उत्पन्न करती है और उपज भी अच्छी देती है। पूना जिले में जहाँ अंजीर की खेती होती है, भूमि औसत काली है जिसमें चूने के कण पाये जाते हैं। यहाँ अंजीर के उद्यान नालों के किनारे या पहाड़ियों पर बनाये जाते हैं ताकि भूमि का जल-निकास भली भाँति हो और वृक्ष खुली हवा भी प्राप्त कर सकें। अंजीर की खेती के लिए अच्छी भूमि का होना उतना महत्व-पूर्ण नहीं जितना कि जलवायु का उपयुक्त होना क्योंकि फल आने के समय इसे अधिक नमी की आवश्यकता होती है और यदि उचित नमी मिल जाती है तो उपज अच्छी आती है। अंजीर के उद्यान की भूमि में चूने की मात्रा की उपस्थिति आव-श्यक होती है। दक्षिण भारत में लाल दोमट भूमि जिसकी गहराई लगभग ३ फीट हो और जिसके नीचे चूने की एक परत हो, अंजीर उगाने के लिए प्रसिद्ध है। अतः ऐसा कहा जाता है कि अंजीर के लिए चूने की अत्यधिक मात्रा आवश्यक होती है।

जलवायु—जैसा कि ऊपर कहा गया है, अंजीर एक समशीतोष्ण कटि-बन्धीय वृक्ष है। यह जाड़े में १८ फा० अथवा १५ फा० का तापक्रम सहन कर सकता है और गर्मी में लगभग ११५° फा० तक का तापक्रम इसे हानि नहीं पहुँचा पाता। निम्न तापक्रम इसे कोई हानि नहीं पहुँचा पाता किन्तु गर्मी के दिनों में नर्म और गर्म जलवायु इसके लिए हानिकर सिद्ध होती है क्योंकि ऐसी जलवायु में अंजीर के फल विनष्ट हो जाते हैं। अंगूर की भाँति अंजीर में जाड़े के दिनों में फूल आते हैं और फल लगने लगते हैं। मार्च-अप्रैल में फल पकना प्रारम्भ कर देते हैं, अतः मार्च-अप्रैल की मामूली वर्षा भी पकते हुये फलों को अधिक हानि पहुँचा सकती है। अधपके फलों पर भी इस समय की नमी का अलाभकर प्रभाव पड़ता है। फलों के बढ़ते समय जाड़े की अत्यधिक शीतल रात उन्हें कठोर बना सकती है किन्तु इससे फल में चीनी की मात्रा कम हो जाती है। जब सर्दी अधिक बढ़

जाती है तो वृक्षों की छाल फट जाती हैं। अत्यधिक ओस या वर्षा के कारण फल सख्त नहीं होने पाते। जिन स्थानों पर पानी अधिक मात्रा में बरसता है वहाँ अंजीर के फल अच्छे नहीं आते किन्तु कम वर्षा वाले स्थानों पर इसकी सफल खेती की जाती है। पूना जिले में ससवाद ताल्लुके में, जहाँ वार्षिक वर्षा १४ से २०″ होती है, अंजीर की उपज प्राप्त होती है। फल के पकते समय शुष्क और गरम जलवायु की आवश्यकता होती है। इंगलैंड में जलवायु पर नियंत्रण रखने के लिए अंजीर शीशे में उगाये जाते हैं और अच्छी उपज प्राप्त की जाती है। किन्तु तापक्रम के नीचे होने पर वर्षा का प्रभाव अंजीर पर हानिकर नहीं होने पाता। दक्कन में अंजीर के वृक्ष मानसून के दिनों में आराम करते हैं जब कि वर्षा भी इन्हीं दिनों होती है। दिसम्बर से मार्च का समय शुष्क रहता है जिससे पौधे फल उत्पन्न कर सकें और उन्हें पका सकें। फलों के लगते समय तापक्रम के अधिक होने पर लगाव अच्छा नहीं होता और फल सूख कर गिर जाते हैं। पाले का भी प्रभाव इस समय अधिक हानि पहुँचाता है। पाले से सुषुप्त फल-कलियाँ दुर्बल हो जाती हैं, फल नहीं लगने पाते अथवा फलों का बढ़ाव रुक जाता है।

वानस्पतिक विवरण—अंजीर (Fiscus carica) मौरैसी (Moraceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। इसका जेनस फिस्कस है जिसमें लगभग ६०० से ८०० स्पेसीज सम्मिलत होती हैं। स्पेसीज में कुछ तो खाने के अभिप्राय से उगाई जाती हैं और कुछ उद्यानों की सुन्दरता के लिए। उगाये जाने वाले सदस्यों में पीपल, पाकड़ आदि मुख्य हैं।

जातियाँ—मुख्यतः दो प्रकार के अंजीर पाये जाते हैं—१. खाने योग्य (edible) और २. कैपरी अंजीर (Capri fig)। कैपरी अंजीर पुरुष-वृक्ष हैं जो खाने योग्य अंजीर के सेंचन के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस अंजीर में जो फल लगते हैं उनका प्रत्यक्ष रूप में कोई महत्व नहीं है किन्तु ये एक प्रकार के बर्रे (Blastophaga grossorum) को रहने का आश्रय देते हैं जो इस वृक्ष से पराग लेकर खाने योग्य वाली जाति के स्त्री-पुष्पों तक पहुँचाते हैं और इस प्रकार सेचंन क्रिया सम्पन्न कराते हैं। खाने योग्य अंजीर में दो वर्ग हो जाते हैं। एक स्मीरना (Smyrna) और दूसरे ऐड्रियाटिक (Adriatic)। स्मीरना अंजीर में सेंचन क्रिया के लिए बर्रे की आवश्यकता होती है किन्तु ऐड्रियाटिक में ऐसी बात नहीं पाई जाती। वे सेंचन के लिए बर्रे की आवश्यकता नहीं रखते। हमारे देश में इसी किस्म के अंजीर अधिक मात्रा में उगाये जाते हैं। इसकी प्रमुख जाति कोयमबटूर है जो बड़ौदा तथा पश्चिम भारत के अन्य स्थानों पर अधिक प्रचलित है। यह जाति खाने में बहुत स्वादिष्ट होती है। अतः इसी अर्थ में अधिक प्रयोग किया जाता

है। कोयमबटूर के अतिरिक्त हस्सारघट्ट फल अनुसंधान केन्द्र बंगलौर में पूना, बंगलौर, गंजाम, मीकराम बेजवादा आदि अंजीर की जातियाँ उगाई गईं। इस प्रयोग में बेजवादा जाति के अंजीर अधिक उपज देने वाले पाये गये। कोयमबटूर जाति के अंजीर पूना जाति से अच्छे पड़ते हैं।

स्मिथ के अनुसार सहारनपुर में ब्लैक स्चिया (Black Ischia) बंगलौर, काबुल, बाउन टर्की तथा लखनऊ जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं। इनमें से केवल एक ब्लैक स्चिया लखनऊ के लिए स्वीकृत की गई है। इनके अतिरिक्त अञ्जीर की एक अन्य जाति लोब (Lob) अधिक विख्यात है जो स्मीरना में उगाये जाने वाले अंजीरों में महत्वपूर्ण मानी जाती है।

पौधे तैयार करना—अंजीर के पौधे प्रायः कटिंग द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। ये कटिंग वृक्ष की १ वर्ष की आयु वाली शिरस्थ शाखाओं से ली जाती हैं। क्योंकि इनके पोर छोटे-छोटे होते हैं और बीयड़ में लगा देने पर ये जड़ बहुत शीघ्र उत्पन्न करते हैं। बीयड़ में इन्हें वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में लगाते हैं और एक वर्ष तक वहीं छोड़ देते हैं। दूसरे वर्ष के प्रारम्भ होते-होते ये स्थानान्तरण के योग्य हो जाते हैं। कटिंग की लम्बाई भूमि की प्रकृति पर निर्भर करती है। बलुवार भूमि में इसकी लम्बाई ३० से ४० सेन्टीमीटर रखी जाती है किन्तु भारी भूमि में इतनी लम्बी कटिंग नहीं प्रयोग होती। मद्रास प्रदेश में उत्पादक कटिंग की अपेक्षा दाब कलम (Layring) को अधिक प्रधानता देते हैं। वहाँ ऐसा विश्वास है कि कटिंग पर दीमक का आक्रमण अपेक्षाकृत अधिक होता है। कान्डिट (Condit) का कथन है कि कैलिफोर्निया में कटिंग के बंडल बना लिये जाते हैं और उन्हें जनवरी-फरवरी में बालू में गाड़ दिया जाता है। मार्च के मध्य में इनकी रोपाई कर दी जाती है। स्मिथ का कहना है कि उत्तर प्रदेश में दिसम्बर की कटिंग मानसून के दिनों में रोप लगाने योग्य हो जाती है।

कटिंग के अतिरिक्त अंजीर का उत्पादन गूदी द्वारा भी किया जा सकता है। स्मिथ ने यह ढंग स्वीकार करते हुए कहा है कि तत्काल की निकली टहनी की छाल में जुताई-अगस्त में २″ चौड़ी अंगूठी का कटाव बना देते हैं और इस कटाव पर उर्वर मिट्टी गीली करके बाँध देते हैं। थोड़े दिनों पश्चात् जब टहनी से जड़ें निकल आती हैं तो उसे वृक्ष से काट कर उद्यान में रोप देते हैं या कुछ दिनों के लिए गमले या बीयड़ में रोप कर तब स्थायी स्थान में लगाते हैं। अंगूर के पौधे कलम (Grafting) और चश्मे (Budding) द्वारा भी तैयार किये जाते हैं। कलम का प्रयोग उस समय किया जाता है जब कि किसी घटिया जाति को उन्नत बनाना होता है किन्तु इसका प्रयोग अधिक सफल नहीं है। कुछ स्थानों पर

टाप वर्किंग (Top working) का प्रयोग होता है। क्लेफ्ट ग्रैफ्टिंग का प्रयोग बसन्त ऋतु के प्रारम्भ में सफल हो सकता है। चश्मे द्वारा पौधे तैयार करने में छोटे रूट स्टाक के लिए रिंग विधि का उपयोग किया जाता है। कोदूर में एक प्रयोग से यह परिणाम निकला कि पूना जाति का अम्बर (Fiscus glomerata) जाति पर चश्मा लगाया जा सकता है। जब रूटस्टाक लम्बाई में बड़े होते हैं तो शील्ड या पैच विधि का प्रयोग अच्छा पड़ता है। अंजीर के पौधे बीजों द्वारा भी तैयार किये जा सकते हैं। इसके लिए वे ही बीज चुने जाते हैं जो पानी में छोड़ने पर डूब जायँ। ये बीज बीयड़ में बो दिये जाते हैं और निश्चित ऊँचाई तक बढ़ जाने पर उद्यान में स्थानान्तरित कर दिए जाते हैं। किन्तु जैसा कि हम जानते हैं, बीज द्वारा तैयार पौधे अपने माता-पिता के गुणों से पृथक होते हैं। अतः व्यापारिक तौर पर इनका प्रयोग नहीं होता।

स्थानान्तरण—कटिंग या अन्य विधियों द्वारा तैयार पौधे जब बड़े हो जाते हैं तो उन्हें स्थायी स्थान पर स्थानान्तरित कर दिया जाता है। जिस भूमि में स्थानान्तरण करना होता है। उसमें जुताई कर दी जाती है। जुताई करने के पश्चात् भूमि में गड्ढे तैयार किये जाते हैं। गड्ढों की पारस्परिक दूरी ८ से १० फीट होनी चाहिए। यद्यपि यह दूरी अंजीर की जाति भूमि और वृक्ष के आकार आदि पर निर्भर करती है तथापि यह इस लिहाज से रखनी अच्छी होती है कि प्रथम तो वृक्षों के बढ़ाव में कोई व्यवधान न प्रस्तुत हो और दूसरे उद्यान में सिंचाई, गुड़ाई आदि क्रियाओं में कोई कठिनाई न उठानी पड़े। बम्बई प्रदेश में दो वृक्षों के मध्य १५ फीट का अन्तर रक्खा जाता है। वहाँ पौधे झाड़ियों के रूप में ही रह जाते हैं, लम्बे नहीं होने पाते। यदि यह दूरी १७ से २० फीट कर दी जाय तो सम्बन्धित टिलेज में सरलता हो जाय। कैलीफोर्निया में कभी-कभी अंजीर के पौधे जिनका आकार बहुत बड़ा होता है और जो अधिक स्थान घेरते हैं। ४० फीट की दूरी तक लगाये जाते हैं। किन्तु वहीं एक दूसरी जाति के अंजीर ६५८ फीट की दूरी पर लगाये जाते हैं जिन्हें प्रतिवर्ष भली-भाँति छाँट दिया जाता है। टर्की में, चीमा के अनुसार, पौधों की आपस की दूरी ५० फीट तक पाई जाती है। अंजीर के उद्यान में दूरी कितनी ही हो यदि पौधे घने लगे तो छँटाई द्वारा यह कठिनाई दूर की जा सकती है। जब पौधों की पारस्परिक दूरी निश्चित कर ली जाय तो गड्ढे खोदने का कार्य प्रारम्भ किया जाता है। इनका आकार १½ × २ × २ फीट होता है। गड्ढों की खुदाई गर्मी के दिनों में कर दी जाती है और उनकी मिट्टी बाहर निकाल दी जाती है ताकि खुली हवा और धूप से मिट्टी में उपस्थित कीड़े आदि समाप्त हो जायँ। वर्षा प्रारम्भ होने के शीघ्र पूर्व गड्ढे भर देने चाहिए। इन्हें किनारे पर

रक्खी हुई पुरानी मिट्टी से ही भरा जाता है जैसा कि हमने अन्य फलों के उद्यान में देखा था। भूमि को उर्वर बनाने के लिए ८० पौण्ड गोबर की सड़ी खाद प्रति गड्ढे के हिसाब से मिला दी जाती है किन्तु उर्वर भूमि में किसी प्रकार की खाद नहीं दी जाती। दीमक वाली भूमि में भी पौधों के स्थानान्तरण के समय गड्ढों की भूमि में भूलकर भी खाद का प्रयोग नहीं करना चाहिये। वर्षा प्रारम्भ होने पर जब गड्ढे की भूमि गीली हो जाय तब स्थानान्तरण की क्रिया प्रारम्भ की जाती है। प्रत्येक गड्ढे में १ या २ रूट कटिंग गाड़ दी जाती है। यदि उद्यान में किसी अन्य प्रकार से तैयार पौधे प्रयोग किये जायँ तो उन्हें उचित ढंग से रोपा जाता है। रोपाई के पश्चात् जड़ के निकट की भूमि भली-भाँति दबा दी जाती है। स्थानान्तरण के पश्चात् शीघ्र सिंचाई कर देना अच्छा होता है। प्रथम सिंचाई के पश्चात् जब तक पौधे बढ़ाव न करने लगें तब तक प्रति सप्ताह के हिसाब से सिंचाई करते रहना चाहिये किन्तु वर्षा होने पर इस क्रम में परिवर्तन लाना चाहिए।

खाद—यद्यपि भारत में अंजीर के पौधों को खाद देने की मात्रा का ज्ञान अभी बहुत कम प्राप्त किया गया है तथापि कुछ स्थानों पर अनुभवों से कुछ बातें मालूम हुई हैं। इन्हीं अनुभवों के अनुसार प्रथम वर्ष, प्रति पौधे के हिसाब से गोबर की सड़ी खाद एक टोकरी देनी चाहिए। गोबर की खाद की अनुपस्थिति में मेंमनी की खाद भी प्रयोग की जा सकती है। खाद की मात्रा पौधों की आयु के साथ बढ़ाते जाना चाहिये। ८ वर्ष के पौधे को इस क्रम के अनुसार ७-८ टोकरी खाद देनी चाहिए। खाद का प्रयोग मानसून के दिनों में करना अच्छा होता है। किन्तु ऐसा उन्ही पौधों में किया जाता है जिनका स्थानान्तरण १ या २ वर्ष है। वे पौधे जो फल देना प्रारम्भ कर देते हैं उनमें मानसून के प्रारम्भ में खाद देना अधिक उपयोगी नहीं होती। इसका प्रयोग उस समय अच्छा पड़ता है जब कि सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में वृक्ष में फल आने प्रारम्भ हो जाते हैं। अंजीर के उद्यान में गोबर की खाद के अतिरिक्त विष्ठा की खाद, खलियाँ, नालियों का पानी तथा फर्टिलाइजर भी प्रयोग किये जा सकते हैं। फर्टिलाइजर बसन्त ऋतु के अन्तिम दिनों या ग्रीष्म ऋतु में प्रयोग करने से अच्छा प्रभाव दिखाते हैं।

सिंचाई—जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, अंजीर के पौधों में प्रथम सिंचाई स्थानान्तरण के शीघ्र पश्चात् की जाती है। मानसून के दिनों में इन्हें पानी देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। चूंकि मानसून के दिनों में ये आराम करते रहते हैं और अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं इसलिए इन्हें नमी की अत्यधिक आवश्यकता नहीं रहती किन्तु ज्योंही वर्षा ऋतु समाप्त होती है और ये सक्रिय होने लगते हैं, उन्हें खाद और पानी की अधिक आवश्यकता होती है। अतः अक्टूबर से मई तक का

समय पौधों के जीवन में ऐसा समय है जब कि उन्हें पानी की अधिक आवश्यकता होती है। इस अवधि में पहली तीन सिंचाइयाँ इस प्रकार की जाती हैं कि पानी की मात्रा एक के बाद दूसरी में अधिक रहे और इस प्रकार तीसरी सिंचाई में पानी पूर्ण मात्रा में दिया जाना चाहिए। १५ दिनों के अन्तर पर सिंचाई करने से फलों का आकार बड़ा और स्वाद मीठा होता है। यू रोप और टर्की में अंजीर के वृक्ष बहुधा बिना सींचे ही उगाये जाते हैं, किन्तु ऐसा ज्ञात किया गया है कि ऐसे वृक्षों का बढ़ाव बहुत मन्द गति से होता है और उनकी उपज भी सन्तोषजनक नहीं होती। वहाँ अंजीर के वृक्ष उसी समय सींचे जाते जब कि भूमि शुष्क होती है। पानी की अधिक मात्रा से फलों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। पूना में अंजीर के वृक्ष पकते समय पानी की अधिक आवश्यकता रखते हैं।

सम्बन्धित फसलें—अंजीर के वृक्ष जब आयु में बहुत कम होते हैं तो उद्यान में कुछ सम्बन्धित फसलें उगा लेना आर्थिक दृष्टि से उपादेय होता है। इन फसलों में प्रायः तरकारियाँ ही उत्तम पड़ती हैं। इनके उगाने में न तो अधिक व्यय होता है और न अधिक सावधानी की ही आवश्यकता होती है। उनसे अंजीर के पौधे भी क्षतिग्रस्त नहीं होने पाते किन्तु तरकारियों में भी टमाटर, बैंगन, मिर्चा आदि का उगाना लाभप्रद नहीं होता। अधिक उपयोगी तरकारी सेम और मटर हैं।

ट्रेनिंग और छँटाई—पौधों को एक निश्चित आकार देने के लिये उनकी ट्रेनिंग आवश्यक समझी जाती है क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि अंजीर के वृक्ष से लगभग समस्त कलियाँ शाखायें उत्पन्न करती हैं। ये शाखायें जड़ के उपरी या निचले भाग से निकलती हैं और बड़ी होकर वृक्ष को झाड़ीदार बना देती हैं। कुछ स्थानों पर उत्पादक इस विचार से इन शाखाओं की छँटाई नहीं करते कि उन्हें अधिक उपज प्राप्त होगी। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं होती, उल्टे इनसे उत्पादक को हानि ही उठानी पड़ती है। अतः ये शाखायें प्रारम्भ में ही छाँट देनी चाहिये और केवल एक होनहार तना बढ़ाना चाहिये। इस तने से जो लगभग तीन फीट की ऊँचाई पर शाखायें आदि देता है, उद्यान में काम करने में कोई कठिनाई नहीं होती। वृक्षों को अच्छा आकार देने के लिये स्थानान्तरण के समय ही कभी-कभी छँटाई कर दी जाती है। यह छँटाई १½ फीट से २ फीट की ऊँचाई पर की जाती है। छँटाई करते समय ३-४ होनहार शाखायें रहने दी जाती हैं। ज्यों-ज्यों वृक्ष की आयु बढ़ती है उसकी ऊँचाई भी बढ़ती जाती है। अतः वृक्ष की देख-भाल बराबर रखनी चाहिये जिससे कि अनैच्छिक बढ़ाव न हो सके।

अंजीर की छँटाई उसकी जातियों के बढ़ाव और फलन-शक्ति पर निर्भर करती है। कुछ स्थानों पर छँटाई केवल इस उद्देश्य से की जाती है कि वृक्ष के प्रत्येक

भाग प्रकाश की उपयुक्त मात्रा प्राप्त कर सके। छँटाई करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वृक्ष आवश्यकता से अधिक न छाँट दिये जायँ। बम्बई प्रदेश में अंजीर की फसल बसन्त ऋतु के अन्तिम दिनों में तैयार होती है और अगस्त-सितम्बर में इनके वृक्ष सुषुप्तावस्था में होते हैं। अतः इनमें छँटाई की क्रिया फलों की तोड़ाई के पश्चात् जुताई के प्रारंभिक दिनों में की जानी चाहिये। यह छँटाई साधारण तौर पर की जाती है। दक्कन में अंजीर झाड़ियों के रूप में उगाये जाते हैं, अतः वहाँ छँटाई का प्रयोग अधिक नहीं किया जाता या यदि किया भी जाता है तो बहुत हल्के रूप में। वृक्षों के प्रारम्भिक समय में जब झाड़ियाँ बहुत घनी हो जाती हैं तो अनावश्यक भाग छाँट दिये जाते हैं। बरौदा गवर्नमेन्ट फार्म पर छँटाई द्वारा फल उत्पन्न करने वाले, स्पर उत्पन्न किये गये हैं। उत्तर-भारत में अंजीर के वृक्ष जाड़े के दिनों में आराम करते हैं और उनमें फल अप्रैल से जून तक आते हैं। अतः यहाँ छँटाई की क्रिया दिसम्बर के महीने में उपयोगी सिद्ध होती है।

अनेक देशों में छँटाई की क्रिया भिन्न समय में और भिन्न ढंग से की जाती है किन्तु आमतौर से ऋतु के अनुसार दो ही छँटाई होती हैं—प्रथम जाड़े की और दूसरे ग्रीष्म की छँटाई। बंगलौर में अंजीर के वृक्ष लगभग ३ फीट तक बढ़ने दिये जाते हैं और तत्पश्चात् इन्हें छाँट दिया जाता है। ऐसा करने से छँटे हुए स्थान से शाखायें निकलती हैं जो लगभग ७ फीट तक बढ़ती हैं। ये शाखायें पुनः छाँटी जाती हैं और इस प्रकार वृक्ष बिलकुल वाँछित आकार का तैयार हो जाता है। ऐसे वृक्षों से उपज भी अच्छी मिलती है।

कभी-कभी अच्छी उपज प्राप्त करने के लिए नोचिंग (Notching) की क्रिया भी की जाती है। यह क्रिया वृक्ष में अधिक फल उत्पादन के उद्देश्य से की जाती है। जैसा कि हम जानते हैं, इस क्रिया में तने या शाखाओं पर अंग्रेजी के अक्षर के रूप में कटाव बना लिया जाता है। कटाव में $\frac{1}{2}$″ से $\frac{1}{4}$″ चौड़ी छाल निकाली जाती है। इससे वृक्ष के ऊपर फल उत्पादन का प्रभाव पड़ता है।

फूल आना—अंजीर के वृक्ष बहुत शीघ्र बढ़ते हैं और कम आयु से ही फूल-फल देना आरम्भ कर देते हैं। स्थानान्तरण के २-३ वर्षों पश्चात् इसमें फल आने प्रारम्भ हो जाते हैं। कभी-कभी तो ये एक वर्ष की ही आयु में फल देने लगते हैं। किन्तु प्रथम दो वर्षों तक इनमें फल लगने नहीं दिया जाता। इस अवधि में जो भी फूल या फल आते हैं उन्हें तोड़ कर गिरा दिया जाता है क्योंकि इस आयु में फल देना प्रारम्भ कर देने से पौधों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। चतुर्थ वर्ष में यह अच्छी उपज देना प्रारम्भ कर देते हैं।

फलों की तोड़ाई—अंजीर के फल मार्च से पकना प्रारम्भ कर देते हैं और मई के अन्तिम दिनों तक वृक्ष पर पकते रहते हैं। दक्षिण भारत में इनकी फसल दो बार आती है, प्रथम फरवरी से मई और दूसरी जुलाई से सितम्बर। ऐसा देखा गया है कि गर्मी में पके फल और ऋतुओं की अपेक्षा स्वाद में मीठे और बढ़िया होते हैं। जब अंजीर निकटस्थ बाजारों में ले जाया जाता है तो फलों की तोड़ाई पकने की दशा में की जाती है। किन्तु जब उन्हें दूर के बाजारों में ले जाना होता है तो उनकी तोड़ाई पकने से बहुत समय पूर्व ही करते हैं। किन्तु मद्रास प्रदेश में इस स्थिति में फल कुछ कम परिपक्व अवस्था में ही तोड़ लिए जाते हैं क्योंकि ऐसी दशा में उनके सड़ाव का भय नहीं रहता। अंजीर की उपज स्थान-स्थान पर एक-सी नहीं होती। ससवाद तालुके में प्रति स्वस्थ वृक्ष की उपज प्रति वर्ष लगभग ४० से ५० पौंड हैं।

बक्स-बन्दी—फलों की तोड़ाई के पश्चात् बाजारों में भेजने के लिए बक्स-बन्दी की क्रिया की जाती है। जब उन्हें निकट के बाजारों में भेजना होता है तो बाँस की टोकरियाँ प्रयोग की जाती हैं। ये टोकरियाँ लगभग ५० पौण्ड फल के आकार की होती हैं। टोकरियों का आकार नीचे चौड़ा और ऊपर पतला होता है। इनमें फल भरते समय अंजीर की पत्तियाँ उसी प्रकार रक्खी जाती हैं जैसा कि हमने अंगूर में देखा था। कैलीफोर्निया में अंजीर के फल छोटे-छोटे बक्सों में बन्द किए जाते हैं। स्मीरना में भी बक्स-बन्दी में लकड़ी के बक्से प्रयोग किये जाते हैं। बक्सों का आकार १२″ × १६″ होता। बक्स में फल रखने के पूर्व सफेद कागज रख दिए जाते हैं। तत्पश्चात् फल एक तह में रक्खे जाते हैं। प्रत्येक फल एक दूसरे से अलग रक्खे जाते हैं ताकि उनमें पारस्परिक सम्पर्क द्वारा सड़ाव न हो सके।

अंजीर के फल प्रायः निकट के बाजारों में ही बेचे जाते हैं। बक्स-बन्दी के पूर्व फलों की चुनाई कर ली जाती है। इससे उत्पादक अच्छा मूल्य प्राप्त कर सकता है। यदि आवश्यकता होती है तो अंजीर के फल शीतागारों में भी रक्खे जा सकते हैं।

खाद्य-अंश—अंजीर के फल में कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन की अधिक मात्रा होती है। इसमें चीनी की भी अच्छी मात्रा पायी जाती है। गाँधी के अनुसार अंजीर की पूना जाति में १३.२% चीनी पायी जाती है। फल में कैल्शियम और विटामिन A, B तथा G उपस्थित होते हैं। फल में अम्लीय पदार्थ बहुत कम होता है। इसकी राख में क्षारीयता होने से यह पाचक का कार्य करता है। अंजीर के फल में निम्न पदार्थ उपस्थित होते हैं—

नमी	८९.८%
प्रोटीन	१.३%
कार्बोहाइड्रेट	१७.१%
चर्बी	.२%
मिनरल मैटर	.६%
कैल्शियम	.०६%
लोहा (मिली ग्राम में)	१.२%
फासफोरस	.०३%
कैलोरी (प्रति औंस)	२१

सूखे फलों में चीनी की मात्रा ४५% से ६५% तक पायी जाती है।

रोग और कीड़े—भारतवर्ष में अञ्जीर अनेक प्रकार के रोगों और कीड़ों द्वारा प्रभावित होते हैं। इसका सबसे भयंकर रोग रस्ट (Rust) है जो एक प्रकार की फँफूदी यूरेडोफिसी (Uredo-fici) द्वारा उत्पन्न होता है। यह रोग पत्तियों के निचले धरातल पर भूरे धब्बे के रूप में प्रगट होता है। जिस वृक्ष पर इसका आक्रमण हो जाता है उसके फल कच्ची अवस्था में ही गिरने लगते हैं। रस्ट शरद ऋतु में ठंडी हवाओं के साथ जोरों की वर्षा होने से अधिक बढ़ाव पर होता है। इस रोग की रोक थाम के लिए बोर्डा मिश्रण (५: ५: ५०) का प्रयोग किया जाता है। यह मिश्रण २-३ ऋतुओं तक रोग का निवारण करता है, अतः इसका प्रयोग वैज्ञानिक है।

अञ्जीर पर पाया जाने वाला दूसरा रोग टहनियों का सूखना है जिसे डाई-बैक (Dieback) के नाम से पुकारा जाता है। यह रोग अमेरिका में पाया गया है। इसके अतिरिक्त वायरस (Virus) रोग भी पाये जाते हैं। यह रोग फल और पत्तियों दोनों पर पाया जाता है जिससे ये गिरना प्रारम्भ कर देते हैं। यह रोग कलम और चश्में द्वारा नियंत्रित किया जाता है। कहीं-कहीं ब्लैक मोल्ड (Black mould) रोग भी पाया जाता है।

रोगों के अतिरिक्त कीड़े भी अञ्जीर के वृक्ष पर अधिक हानिकर प्रभाव छोड़ते हैं। इन कीड़ों में तना-छेदक (Stem borer) अधिक प्रसिद्ध है। यह वृक्ष की पत्तियों, छालों, फलों आदि पर जीवन निर्वाह करता है। यह कीड़ा अधिक हानि नहीं पहुँचाता। इसकी रक्षा के लिए तने को तारकोल से लेप देते हैं।

अध्याय २४

शरीफा या सीताफल (Custard Apples)

शरीफा अन्नोनेसी (Annonaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है । इस कुल में बहुत से जेनरा सम्बन्धित होते हैं किन्तु शरीफा जेनस अनोना (Annona) का सदस्य है । इस जेनस में लगभग ५० सदस्य सम्मिलित किये जाते हैं जिनमें से बहुतों की जन्मभूमि अमेरिका बतलाई जाती है क्योंकि अमेरिका की खोज के पूर्व ही ये वहाँ प्रचुर मात्रा में उगाये जाते थे । कुछ विद्वान पहले ये सोचते थे कि शरीफा भारतवर्ष का फल है क्योंकि संस्कृत ग्रंथों तथा अजन्ता से इसके प्रमाण मिलते थे किन्तु डीकन्डोले ने इस विचार का खण्डन किया और उन्होंने इसकी जन्मभूमि अमेरिका बतलाई । जो भी हो, इतना तो कहा जा सकता है कि सीताफल भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से उगाया जा रहा है । 'आइने अकबरी' में इस फल का उल्लेख किया गया है जिससे विद्वान यह अनुमान करते हैं कि यह अमेरिका से ही यहाँ लाया गया क्योंकि 'आइने अकबरी' का प्रणयन अमेरिका की खोज के लगभग एक शताब्दी पश्चात् हुआ था । आजकल यह विश्व के अनेक देशों अमेरिका—कैलिफोर्निया, एशिया के उष्ण कटिबन्धीय देशों तथा गर्म समशीतोष्ण कटिबन्ध, पूर्वी द्वीप समूह तथा भारत में उत्पन्न किया जा रहा है । भारत में अधिक शरीफा उगाने वाले स्थान बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, और दक्षिणी भारत में हैदराबाद हैं । हैदराबाद का शरीफा अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि यह वहाँ जंगली रूप में अधिक पाया जाता है । व्यापारिक तौर पर इसे बहुत कम क्षेत्र में उगाया जाता है । फरसन के अनुसार उत्तर प्रदेश में यह केवल ३१२ एकड़ क्षेत्र में पैदा किया जाता है ।

भूमि और जलवायु—शरीफा लगभग सभी प्रकार की भूमि में उत्पन्न किया जा सकता है किन्तु पथरीली या चट्टानी भूमि इसके लिए सफल सिद्ध हुई है । चट्टानी भूमि में भूमि की गहराई तो नहीं होती किन्तु जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध होता है । शरीफा की जड़ें बहुत छोटी होती हैं, अतः इन्हें गहरी भूमि की आवश्यकता भी नहीं होती । बलुवार-दोमट भूमि भी इसके लिए अच्छी पड़ती है किन्तु बलुवार भूमि में यह भलीभाँति उगता है । सम्भवतः बलुवार भूमि-ही इसके लिए उत्तम है क्योंकि इसमें जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध होता है ।

जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, शरीफा उष्ण कटिबन्ध और गर्म समशीतोष्ण कटिबन्ध में उगाया जाता है, अतः इसके लिए जलवायु अधिक गर्म और शुष्क होनी चाहिए। फूल निकलते समय विशेषकर शुष्क ऋतु का होना आवश्यक है क्योंकि सेंचन क्रिया नमी की उपस्थिति में उपयुक्त नहीं हो पाती। किन्तु फल लगाव के लिए जलवायु नम होना चाहिए क्योंकि उत्तर भारत में मानसून के दिनों में ही फल लगते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इसे शुष्क स्थानों में जहाँ बहुधा अनावृष्टि होती है, सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जा सकता है। शरीफा में पाला या सर्द वायु सहन करने की शक्ति नहीं होती अतः इसे अधिक ऊँचे स्थानों पर नहीं उगाया जा सकता।

पौधे तैयार करना—शरीफा के फल अधिकतर बीज द्वारा तैयार किये जाते हैं और प्रयोगों से ये पौधे सफल भी हुये हैं। जब पौधे बीज द्वारा तैयार करने होते हैं तो स्वस्थ बीज चुन कर बीयड़ में या गमलों में १″ की दूरी और ½″ की गहराई पर गाड़ दिये जाते हैं। लगभग १ माह में बीज उग आते हैं और जब ये ४″ ऊँचे हो जाते हैं तो इन्हें गमलों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। सम्पूर्ण भारत में जहाँ कहीं भी शरीफा उत्पन्न किया जाता है, पौधे तैयार करने की भी यही विधि प्रयुक्त की जाती है किन्तु कुछ स्थानों पर कलम और चश्में लगाने की प्रथा है। अमेरिका तथा लंका में चश्में की शील्ड विधि प्रयुक्त होती है। कलियाँ प्रायः उसी स्पेसीज के पौधे से ली जाती हैं पर ये अन्य स्पेसीज से भी ली जा सकती हैं। प्रायः ये एक वर्ष की आयु वाली टहनियों से प्राप्त की जाती हैं।

स्थानान्तरण—बीयड़ में तैयार किये गये पौधे जब एक निश्चित आकार के हो जाते हैं तो उद्यान में उनकी रोपाई कर दी जाती है। शरीफा चूँकि व्यापारिक ढंग पर बहुत कम उगाया जाता है, अतः इसका वैज्ञानिक अध्ययन भी अधिक नहीं हो पाया है। पौधों की रोपाई ३″ × ३″ × ३′ आकार वाले गड्ढों में २०′ की दूरी पर की जाती है। किन्तु पौधों की पारस्परिक दूरी कम रखने से उद्यान के स्वास्थ्य पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी दूरी १२-१५′ तक भी रखी जाती है। स्थानान्तरण के समय गड्ढों में गोबर की खाद का प्रयोग करना अच्छा सिद्ध होता है। खाद प्रति गड्ढे में ३ टोकरी देनी चाहिए। पौधों की रोपाई बरसात में की जाती है।

खाद और सिंचाई—उद्यान में आवश्यकतानुसार खाद और सिंचाई का प्रयोग उपज की वृद्धि में सहायक सिद्ध होता है। शरीफे की कृषि यदि उर्वर भूमि में की गई है तब तो खाद का प्रयोग कोई आवश्यक नहीं है परन्तु निर्धन और अनुर्वर भूमि वाले उद्यान में खाद के अभाव में उपज संतोषजनक नहीं प्राप्त हो पाती।

शरीफे के उद्यान में चूने की उपस्थिति आवश्यक होती है अतः जाड़े में खाद तथा गोबर का मिश्रण दे देना अच्छा होता है। जीवांश खादों के अतिरिक्त फर्टिलाइजर भी फसल पर अच्छा प्रभाव डालते हैं। नाइट्रोजन फासफोरस और पोटाश तीनों का उपयुक्त अनुपात भूमि में उपस्थित होना चाहिए। नाइट्रोजन ३% फासफोरस १०% और पोटाश १०% उपज के लिए लाभकर है।

शरीफे के उद्यान में सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं होती क्योंकि कुछ स्थानों पर बिना सिंचाई के ही इनसे अच्छी उपज प्राप्त की जाती है। किन्तु सिंचाई कर देने से फल की मात्रा और गुण में वृद्धि हो जाती है। गर्मी के दिनों में जब पौधों में फूल आने प्रारम्भ हो जायँ, २ सिंचाई कर देनी चाहिए। यह सिंचाई मई से प्रारम्भ होकर बरसात से पहले ही समाप्त हो जाती है। बरसात में फल लगते हैं, इसलिए सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती दिसम्बर के महीने में जब फल पकना प्रारम्भ कर देते हैं, एक सिंचाई कर देनी चाहिए क्योंकि इससे फलों का आकार बढ़ जाता है।

पौधों की छँटाई—शरीफा के वृक्षों की साधारण छँटाई कर देने से उनका आकार सुगठित बना रहता है और वे झाड़ीदार नहीं बनने पाते। झाड़ीदार हो जाने पर पौधे अधिक स्थान घेरते हैं और उद्यान की सिंचाई, गुड़ाई आदि क्रियाओं में व्यवधान प्रस्तुत करते हैं। हमारे देश में प्रायः शरीफे में छँटाई की ही नहीं जाती या यदि की जाती है तो मामूली रूप से। समय-समय पर सूखी या टूटी टहनियाँ या शाखाएँ वृक्ष से पृथक कर दी जाती हैं। किन्तु यदि इनकी छँटाई वैज्ञानिक ढंग पर की जाय तो सम्भव है कि ये अधिक उपज दे सकें। इसके लिए पौधे की प्रारम्भिक ट्रेनिंग आवश्यक है।

फलों की तोड़ाई—शरीफे के वृक्ष में फूल नई कोपलों के साथ मार्च के महीने में ही आने लगते हैं परन्तु उनमें फल-लगाव तब तक नहीं होता जब तक कि वर्षा न आरम्भ हो जाय। जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा था फूलों के निकलने के पश्चात् फल लगने में काफी समय लगता है। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि अनेक फूल सेंचन के पूर्व ही गिर जाते हैं। 'अहमद' के अनुसार मिश्र में भी शरीफे के उद्यान में ऐसी ही कठिनाई उपस्थित होती है। अतः वहाँ सेंचन कृत्रिम ढंग से हाथों द्वारा किया जाता है और उतने ही फूल सेंचित किये जाते हैं जितने वृक्षों पर आवश्यक होते हैं। इलाहाबाद में एक बार शरीफे के फल में हाथ द्वारा सेंचन कराया गया था जिससे ८५ प्रतिशत फल-लगाव प्राप्त हुआ। शरीफे के फल लगभग दो-से-चार वर्षों में फल देना प्रारम्भ कर देते है किन्तु कभी-कभी यह समय ६-७ वर्षों तक भी चला जाता है। इनके फल पकने पर कलियों के जोड़

बाहर से सफेद होने लगते हैं। उस समय उन्हें वृक्ष से तोड़ लिया जाता है। शरीफे के फल पूर्ण परिपक्व स्थिति में पकने के पूर्व ही वृक्षों से पृथक कर लिये जाते हैं क्योंकि वृक्ष पर छोड़ देने से ये फट जाते हैं और सड़ना प्रारम्भ कर देते हैं। पक जाने पर ये फल बड़ी सावधानी से उठाने चाहिये और बाजारों तक शीघ्र ही पहुँचा देना चाहिये। इन्हें बाजारों में भेजने के लिए टोकरियाँ प्रयोग की जाती हैं जिनमें सूखी घास रखकर फल सजा दिये जाते हैं।

खाद्य-अंश—शरीफे के फल मीठे, शीतल, बलवर्द्धक और हृदय के लिए हितकारी होते हैं। इनका गूदा बहुत स्वादिष्ट होता है और दूध के साथ मिलाकर पीने में भी प्रयोग होता है। इसके स्वाद में थोड़ा-सा खट्टापन रहता है जिससे यह और भी स्वादिष्ट लगता है। इसमें चीनी की मात्रा १५·६६ से १८·१५ प्रतिशत होती है। स्टाल (Stall) ने शरीफे की पाँच जातियों का विश्लेषण करने से निम्नलिखित परिणाम ज्ञात किये।

खाने योग्य पदार्थ	—	२८·६ से २८·६%
चीनी	—	१२·४ ,, १६·६%
अम्ल	—	·२६ ,, ·६५%

रोग और कीड़े—शरीफे के उद्यान बहुधा रोगों और कीड़ों के प्रभाव से वंचित हैं किन्तु कुछ स्थानों पर कुछ कीड़े तथा रोग ज्ञात किये गये हैं। अहमद का कथन है कि मिश्र में कुछ कीड़े और रोग पाये गये हैं। लंका में जल-निकास रहित भूमि में रोगी पौधे पाये जाते हैं। क्वींसलैण्ड में मीली बग (Mealy bug) नामक कीड़ा अधिक पाया जाता है।

अध्याय २५

अनानास (Pine apple)

इस फल का प्रारम्भ दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील देश से बतलाया जाता है। तत्पश्चात् यह अमेरिका के अन्य ऊष्ण कटिबन्धीय भागों में फैला है। यूरोप में इसका प्रचार नई दुनिया की खोज से प्रारम्भ हुआ। लगभग १६वीं शताब्दी में पुर्त्तगालियों द्वारा यह भारतवर्ष पहुँचा। लोगों का विचार है कि यह फल भारतवर्ष और मलाया में साथ पहुँचा। इन स्थानों के अतिरिक्त अनानास दक्षिणी अफ्रीका, क्वींसलैण्ड, हवाई द्वीप, पश्चिमी द्वीप समूह आदि स्थानों पर उत्पन्न किया जाता है। भारतवर्ष में यह आसाम, बंगाल, और मालावार तट पर उगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में यह तराई के जिलों, मद्रास तथा मध्य भारत में भी कुछ-न-कुछ मात्रा में उगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में पीलीभीत तथा गोरखपुर के जिले अनानास की खेती के लिए प्रसिद्ध हैं।

भूमि—अनानास अत्यधिक निर्धन भूमि से लेकर चिकनी दोमट या चिकनी भूमि में उगाया जाता है। किन्तु इसकी सफल खेती खुली दोमट या बलुआर भूमि में, जिसका जल-निकास उत्तम हो, अधिक सफलता से की जाती है। क्वींसलैण्ड में बलुआर दोमट भूमि उत्तम समझी जाती है। दक्षिणी अफ्रीका में यह दोमट या भारी दोमट में अच्छी उपज देता है। सिंगापुर में, जहाँ की अनानास अधिक प्रसिद्ध है, यह पथरीली और अधिक जीवांश वाली भूमि में उगाया जाता है। यहाँ इससे भारी और हल्की दोनों भूमियों में अच्छी उपज प्राप्त की जाती है। हवाई में चिकनी मिट्टी में अनानास उत्पन्न होता है किन्तु लैटराइट भूमि उत्तम पड़ती है। मलाया में भारी भूमि में अनानास के फल आकार में बड़े उत्पन्न होते हैं। किन्तु स्वादिष्ट कम होते हैं। सिंगापुर की हल्की भूमि में इसके फल बहुत अच्छे और स्वादिष्ट होते हैं, जिनकी बाजारों में अधिक माँग है।

जलवायु—अनानास के वृक्ष छायेदार स्थानों पर अच्छी उपज देते हैं, किन्तु इसे ऊष्ण कटिबन्ध में ही उगाया जाता है। इसके लिए समुद्र के तट अथवा

ऊष्ण कटिबन्ध की जलवायु उपयुक्त मानी जाती है, जहाँ तापक्रम ६०° से ९०° फा० तक रहे। अनानास में अधिक सर्दी सहन करने की शक्ति नहीं रहती क्योंकि द्रवणांक (Freezing point) से तापक्रम नीचे होने पर पौधा अधिक प्रभावित हो जाता है। किन्तु ठंडा मौसम अधिक हानिकर नहीं होता अपितु कुछ दशाओं में तो इससे उपज की वृद्धि में सहायता मिलती है। अनानास के वृक्ष अधिक नम और तर जलवायु पसन्द करते हैं। इन्हें अधिक वर्षा होने वाले स्थान उपयुक्त जान पड़ते हैं। किन्तु तेज हवाओं का बहना अच्छा नहीं होता। सूर्य की तीक्ष्ण किरणें वृक्ष पर गहरा प्रभाव डालती हैं। अतः भारत में इसे आम आदि बड़े वृक्षों के नीचे उगाया जाता है।

वानस्पतिक विवरण—अनानास ब्रोमेलिएसी (Bromeliaceae) कुल में सम्मिलित किया जाता है। इसका जीनस अनानास (Ananas) और स्पेसीज सटाइवा (Sativa) है।

जातियाँ—अनानास की कई जातियाँ प्रचलित हैं जिनमें से हमारे देश में भी कई एक उत्पन्न की जाती हैं। सुविधा के लिए इसे तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। (१) क्वीन (Queen)—यह एक अधिक प्रसिद्ध जाति है, जो मलाया और दक्षिणी अफ्रीका में उगाई जाती है। इसके फल पीले और अन्डाकार होते हैं। इसके अतिरिक्त इस वर्ग में रिप्ले क्वीन, लाल और हरा रिप्ले, जैंट क्वीन आदि जातियाँ सम्मिलित की जाती हैं, जो भारतवर्ष में उत्पन्न होती हैं। दूसरा वर्ग सायनी (Cayenne) कहलाता है जिसमें स्मूथ सायनी हवाई क्वींसलैंड, मलाया, लंका और भारतवर्ष में प्रसिद्ध हैं। यह जाति क्यू और जैंट क्यू के नाम से भी विख्यात है। अन्तिम वर्ग स्पैनिश (Spanish) कहलाता है जिसमें मरुतियस जाति (लाल और पीले) सम्मिलित होती है। इन जातियों के अतिरिक्त कुछ देशी जातियाँ भी प्रचलित हैं जो हमारे देश में बहुधा उगाई जाती हैं। किन्तु इनकी उपज अपेक्षाकृत कम मिलती है और फल भी घटिया किस्म के होते हैं। अतः जहाँ तक सम्भव हो उन्नतिशील जातियाँ ही उत्पन्न करनी चाहिये। देशी जातियों में देशी सिंगापुरी, सिलहट, ढाका, सीलोन आदि मुख्य हैं, जिनमें सिंगापुरी जाति अधिक प्रसिद्ध है। इसके फल छोटे छोटे होते हैं किन्तु इनमें मिठास अधिक होता है। इस जाति की पत्तियाँ गुलाबी रंग की होती हैं। देशी जाति के फल बड़े होते हैं। किन्तु छाये में उगने के कारण कम स्वादिष्ट होते हैं।

पौधे तैयार करना—अनानास के पौधे प्रायः वानस्पतिक विधियों द्वारा तैयार किये जाते हैं। इन विधियों में क्राउन, सकर, गिल्स, बल्बिल आदि प्रयोग

होते हैं। सकर या पुत्तियों की विधि अधिक प्रसिद्ध है। इसके लिए हवाई में १५ से १८ महीने की पुत्तियाँ चुनी जाती हैं और उन्हें उद्यानों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। कुछ स्थानों पर पुत्तियों के स्थान पर स्लिप (Slip) प्रयोग किये जाते हैं। ये स्लिप फल के डंठलों पर पुत्तियों के रूप में निकलते हैं। बीस-बाइस महीने की आयु में ये स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। क्राउन विधि में, जैसा कि नाम से ही विदित है, पत्तेदार चोटियाँ प्रयोग की जाती हैं. जो अनानास के फल के सिरे पर उगती हैं। इनका प्रयोग दक्षिणी अफ्रीका में स्मूथ (चिकनी) सायनी जाति में अधिकतर किया जाता है। इस विधि द्वारा तैयार किये गये पौधे दो या २½ वर्ष में फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। कुछ स्थानों पर पुराने तनों के आधे इंच मोटे गोल टुकड़े काट लिए जाते हैं और उन्हें बरसात में भूमि में गाड़ दिया जाता है। जो नये पौधे तैयार कर देते हैं। इनके अतिरिक्त पुराने तनों की पुत्तियाँ तथा जड़ें भी पौधे तैयार करने में काम आती हैं। इन्हें गन्ने को भाँति भूमि में गाड़ देते हैं। प्रायः इनकी रोपाई जुलाई-अगस्त में की जाती है।

स्थानान्तरण—वानस्पतिक ढंग से तैयार किये गये पौधे जब एक निश्चित् ऊँचाई के हो जाते हैं तो उन्हें दोहरी कतारों में रोप दिया जाता है किन्तु प्रायः इन्हें ऐसे ही स्थान पर लगाते हैं जहाँ बीयड़ की कोई आवश्यकता नहीं होती। भारतवर्ष में ये आम अथवा कटहल के वृक्षों के नीचे दोहरी कतारों में लगाये जाते हैं। कतारों में पौधे १२-१४ इंच की दूरी पर लगाए जाते हैं और क्यारियाँ ५ से ६ फीट की दूरी पर बनाई जाती हैं। मलाया प्रायद्वीप तथा लंका में अनानास के वृक्ष रबर तथा नारियल के वृक्षों के नीचे लगाये जाते हैं। हवाई तथा दक्षिणी अमेरिका में इन्हें लगभग ५-६ वर्ष तक एक ही खेत में छोड़ दिया जाता है और तत्पश्चात् दूसरे खेत में स्थानान्तरित किया जाता है। हवाई में पौधे १४ से १६ इंच की दूरी पर १५ या १६ इंच के अन्तर वाली कतारों में रोपे जाते हैं। किन्तु यह चार कतार वाली विधि है। अधिकतर दो कतार वाली विधि ही प्रयोग की जाती है। प्रति एकड़ रोपे जाने वाले पौधों की संख्या रोपाई की विधि पर निर्भर करती है।

खाद—अनानास के उद्यान में प्रायः अधिक खाद की आवश्यकता होती है। इसके लिये प्रति एकड़ ३०-४० गाड़ी गोबर की खाद प्रयोग की जाती है। इस खाद के साथ मछली की खाद अथवा खली का प्रयोग भी अच्छा पड़ता है। अनानास फर्टिलाइजर के प्रयोग से अधिक उपज देता है। सिंगापुर में इसके खेत में अमोनियम सल्फेट १०० पौण्ड, पोटाशियम सल्फेट २०० पौण्ड और सुपर

फास्फेट ३०० पौण्ड प्रति एकड़ दिया जाता है और अच्छी उपज प्राप्त की जाती है। उत्तर प्रदेश में अल्मोनियम सल्फेट ८० पौण्ड, पोटाशियम सल्फेट १६० पौण्ड और सुपर फास्फेट २४० पौण्ड प्रति एकड़ दिया जाना चाहिए।

सिंचाई—अनानास के वृक्ष ऊष्ण कटिबन्ध में उगाये जाने के कारण शुष्क ऋतु में सिंचाई की आवश्यकता रखते हैं। इन क्षेत्रों में फरवरी के अन्त से प्रारम्भ कर वर्षा आरम्भ होने तक सिंचाई करनी चाहिए। फूल और फल देते समय इन्हें अधिक नमी की आवश्यकता होती है। अतः इस समय सिंचाई अधिक करनी अच्छी होती है। उन स्थानों पर जहाँ कम वर्षा होती है और वर्षा की ऋतु भी सूखी है, वहाँ बरसात में भी सिंचाई की जाती है।

फूल आना—फूलों का आना फरवरी मार्च से प्रारम्भ हो जाता है। हमारे देश में प्रतिवर्ष केवल एक ही फसल प्राप्त होती है। किन्तु हवाई में वर्ष में दो फसलें तैयार होती हैं। पहली सितम्बर-अक्टूबर और दूसरी फरवरी-मार्च में। फरवरी-मार्च के फूल जुलाई-अगस्त में फल तैयार करते हैं। अनानास के पौधे १५-२० महीने की आयु में फल पैदा करने लगते हैं। शीघ्र फूल-फल लेने के लिए पौधे के चारों तरफ रथिलीन फैलाना अच्छा होता है। किन्तु हमारे देश में यह विधि मँहगी पड़ती है।

फलों की तोड़ाई—अनानास के फल पूर्ण परिपक्व होने पर अपना गहरा हरा रंग बदलने लगते हैं और हल्का हरा से पीला अथवा गहरे नारंगी रंग के हो जाते हैं। फल इस अवस्था पर पहुँच जाने पर वृक्ष से तोड़ लिए जाते हैं। ऐसा देखा गया है कि यदि अनानास के फल पकने के कुछ समय पूर्व तोड़ लिए जाते हैं तो उनमें चीनी की मात्रा बहुत कम मिलती है। किन्तु दूर की बाजारों में भेजने के लिए इन्हें पकने के कुछ समय पूर्व ही तोड़ना अच्छा होता है। फलों की उपज जाति, भूमि, जलवायु आदि अनेक बातों पर निर्भर करती है। मद्रास में अनानास की प्रति एकड़ उपज ५.२७ टन मिलती है। दूसरे देशों में इससे भी अधिक उपज प्राप्त की जाती है। चूँकि अनानास के पौधे गन्ने की भाँति पेड़ी (Ratton) रख कर तैयार किये जाते हैं अतः उपज इसकी अवस्था पर भी निर्भर करती है। पहली पेड़ी में अपेक्षाकृत अधिक उपज मिलती है। किन्तु ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, उपज घटती जाती है।

खाद्य-अंश—कच्चे फलों में चीनी की मात्रा बहुत कम पायी जाती है किन्तु पके फल ८ से १५% तक चीनी रखते हैं। औसत रूप में यह मात्रा १२% पायी

जाती है। अनानास में अम्ल ३ से ८५ प्रतिशत प्राप्त होता है। इस फल में विटामिन A, B और C भी पाये जाते हैं।

रोग और कीड़े—कुछ लोग भारतवर्ष में कोई भयंकर रोग और कीड़ा नहीं बताने के पक्ष में हैं किन्तु अनानास के वृक्ष इनसे वंचित नहीं हैं। रोगों में धड़ का उखड़ना, पुत्तियों का सड़ना, फलों का सड़ना आदि हैं, जो फँफूदियों द्वारा उत्पन्न होते हैं। वायरस (Virus) द्वारा उत्पन्न ऐलो स्पाट (Yellow spot) रोग अधिक मुख्य है। कीड़ों में पाइन एपिल स्केल (Pine apple scale), मिली बग और नेमेटोड अधिक मुख्य हैं। नेमेटोड की रोक-थाम रोपाई के पूर्व भूमि में क्लोरोफार्म गैस के प्रयोग से की जा सकती है।

अध्याय २६

बेर (Jujub)

बेर भारतवर्ष का एक मुख्य जंगली फल है। यह यहाँ बेर, बोर, बारी, बोरी आदि अनेक देशी नामों से विख्यात है। यद्यपि यहाँ यह बहुत कम क्षेत्र में उगाया जाता है किन्तु आजकल इसके महत्व पर लोगों का अधिक ध्यान आकर्षित हुआ है क्योंकि इसके उत्पादन में बहुत कम श्रम और देख भाल की आवश्यकता होती है। यह अनेक प्रकार की भूमि तथा जलवायु सहन करने की क्षमता रखता है। उद्यानों के किनारे-किनारे इसे वायु अवरोधक रूप में उत्पन्न किया जाता है किन्तु कुछ स्थानों पर यह मुख्य फसल के रूप में भी उगाया जाता है। अमेरिका में बेर जूजुब के नाम से विख्यात है। इसे चीनी खजूर (Chinese date) भी कहते हैं

इतिहास और वितरण—बेर भारतवर्ष का प्रसिद्ध देशी फल है। अब भी जंगली रूप में यह अनेक भागों में उत्पन्न पाया जाता है। बाबू राधा कान्त-देव ने १६२६ में 'एग्री-हार्टिकल्चरल आफ बंगाल' के रिकार्ड में कहा है कि बेर प्राचीनकाल में काश्मीर में अलकनन्दा नदी के तट पर उगाया जाता था और तत्कालीन ऋषि, तपस्वी उसी फल पर जीवन निर्वाह करते थे। जंगली फलों के अतिरिक्त यह कृषि के रूप में भी अनेक स्थानों पर फैला हुआ है। चीन में जूजुब की एक जाति आज से ४००० वर्ष पूर्व उगायी जाती थी। इससे यह पता लगता है कि इस देश में भी बेर के वृक्ष बहुत प्रचीनकाल से उगाये जाते हैं। जूजुब रोम में ६३ ई० पूर्व से १४ ई० में अगस्त के काल में सीरिया से पहुँचा। अमेरिका में इसकी कई जातियाँ उगायी जाती हैं।

जैसा की ऊपर कहा गया है, भारत में बेर की जङ्गली और खेतों में उगाई जानेवाली दोनों जातियाँ उपलब्ध हैं। किन्तु यहाँ हमारा तात्पर्य केवल उद्यानों में उगायी जानेवाली जातियों से ही है। उत्तर भारत में, पंजाब के पूर्वी जिलों में बेर अधिकांश मात्रा में उगाया जाता है जिनमें गुड़गाँव और हौसी जिले अधिक प्रसिद्ध हैं। दयाल और चंद के अनुसार उत्तर प्रदेश में इसकी खेती ५७६ एकड़ में होती है जिससे चीमा, भट्ट और नायक भी सहमत हैं। बिहार में यह ६००० एकड़ और मद्रास में ५०० एकड़ में उगाया जाता है। इसके अतिरिक्त बम्बई में, खान देश जल गाँव, अहमद नगर, सतारा, शोलापुर, कुँकन, गुजरात तथा शीरपुर बेर उगाने

वाले क्षेत्र हैं। बड़ौदा राज्य में यह २ हजार २ सौ २० एकड़ में पैदा होता है। विन्ध्य प्रदेश में भी इसकी खेती होती है। विदेशों में यह शीत कटिबन्ध के कुछ भागों तथा उष्ण कटिबन्ध में उगाया जाता है किन्तु वास्तव में यह समशीतोष्ण कटिबन्धीय फल है। यह आस्ट्रेलिया, चीन, बर्मा, सीरिया, अफगानिस्तान, फारस, मलाका, अरमेनियाँ, मिश्र, रूस आदि में उगाया जाता है। जूजुब बेर के लिए चीन देश बहुत विख्यात है। यहाँ इसे चीनी अंजीर या चीनी खजूर के नाम से सम्बोधित किया जाता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, चीन में इसकी खेती बहुत प्राचीनकाल से हो रही है, अतः वहाँ इसकी खेती अधिक उन्नत अवस्था में है। उत्तरी चीन में तो इसकी गणना मुख्य फलों में की जाती है। चीन में जूजुब की अनेक किस्में उगायी जाती हैं। अच्छी जाति के फल बड़े और अच्छे गुणवाले होते हैं।

भूमि—बेर के वृक्ष अनेक भूमियों में सफलतापूर्वक उत्पन्न किये जाते हैं। बलुआर दोमट, जो गुण में उदासीन होती है अथवा थोड़ी बहुत क्षारीय गुण रखती है, बेर के लिये सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। कैलीफोर्निया में जूजुब पर प्रयोग हुआ है जिसके अनुसार यह पता चला है कि इसे बलुआर दोमट भूमि जिसमें क्षारीयता की मात्रा अल्प मात्रा में उपस्थित हो अच्छी पड़ती है। बेर के वृक्ष निर्धन भूमि में भी उत्पन्न हो सकते है। जलनिकास रहित भूमि में भी इसके वृक्ष उगाये जाते हैं जो फल भी पैदा कर सकते हैं।

जलवायु—जैसा कि कहा गया है बेर समशीतोष्ण कटिबन्धीय फल है। अतः इसे समान गर्मी, सर्दी और मानसून वाले स्थानों पर उगाया जाता है। किन्तु यह उन स्थानों पर अधिक सफलतापूर्वक उगता है जहाँ जलवायु शुष्क और गरम होती है क्योंकि अधिक नमी रहने पर फल उत्पादन कम हो जाता है। बेर के वृक्ष शुष्क भूमि में भी जीवित रह सकते हैं और फल उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु पानी की उपयुक्त मात्रा प्राप्त होने पर पत्तियों और फूलों में अधिक बढ़ाव होता है और अन्त में उपज भी अपेक्षाकृत अधिक मिलती है।

वानस्पतिक विवरण—बेर जीजिफस (Zizyphus) जीनस से सम्बन्ध रखता है। इस जीनस में अनेक सदस्य सम्मिलित किये जाते हैं। किन्तु हमारे देश में जीजिफस जुजुबा (J. Zujuba) बेर उत्पन्न किया जाता है, जो रहमेनेसी (Rhamnaceae) कुल का एक सदस्य है। बेर के वृक्ष हमारे देश में अनेक आकार के पाये जाते हैं। मध्य भारत में कुछ वृक्ष ८० फीट ऊँचाई के मिलते हैं। इन वृक्षों की जड़ के पास मोटाई २५ फीट व्यास तक पायी जाती है। मद्रास और पञ्जाब में इन वृक्षों से भी ऊँचे और मोटे वृक्ष पाये जाते हैं। इतनी ऊँचाई

वाले वे ही वृक्ष होते हैं जो बीजों द्वारा उत्पन्न होते हैं। कलम द्वारा या वानस्पतिक उत्पादन की अन्य विधियों द्वारा उत्पन्न वृक्ष इस ऊँचाई के आधे या इससे भी कम ऊँचाई के पाये जाते हैं। वृक्षों की पत्तियाँ गहरी, हरी और नीचे के धरातल में हल्की होती हैं। इनमें फूल शिशिर में उत्पन्न होते हैं और फल बसन्त ऋतु के प्रारम्भ में पकना प्रारम्भ कर देते हैं। फ्लोरिडा में हमारे देश के बेर के वृक्षों की अपेक्षा कम ऊँचाई वाले वृक्ष पाये जाते हैं। यहाँ इनकी ऊँचाई २५ से ३० फीट तक बहुधा देखी जाती है।

जातियाँ—हमारे देश में बेर के फल चीन की भाँति अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझे जाते। यही कारण है कि यहाँ इसके व्यवसाय में अधिक उन्नति नहीं हो पायी है। साधारणतौर पर इसकी तीन जातियाँ हो सकती हैं। प्रथम जंगली स्थानीय जाति जिसके फल छोटे, गोले और बड़ी गुठली वाले होते हैं। दूसरी जाति खेती की जाने वाली जाति है जिसके फल अण्डाकार और छोटे होते हैं। तीसरी जाति का अन्वेषण अभी हाल में ही हुआ है। इसे बीजरहित या गुठली रहित फल कहते हैं। जैसा कि नाम से ही विदित है, इसमें गुठली नहीं पायी जाती। इसके फल छोटे और गोले आकार के होते हैं। इन जातियों के अतिरिक्त कुछ जातियाँ शंकर विधि (phibridization) द्वारा उत्पन्न की गई हैं। इनमें कोठो जाति प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त मेहरूम जाति का प्रचार जलगाँव और पूर्वी खान देश में है। १६३५ में बेर की एक ऐसी जाति बिहार और मध्य प्रदेश में लायी गई जो रूप में मिरचे के फल से मिलती-जुलती है। इसका स्वाद कच्ची अवस्था में भी आनन्ददायक होता है। पंजाब में गुडगाँव और हाँसी जिले में बेर की अनेक जातियाँ प्रचलित हैं। किन्तु यह अधिक उन्नतिशील नहीं है।

वानस्पतिक उत्पादन—बेर के वृक्ष जगली दङ्ग पर बीजों द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न वृक्ष संख्या में अधिक फल पैदा करते हैं। किन्तु फलों का आकार बहुत छोटा पाया जाता है। लोगों की ऐसी धारणा है कि बेर के वृक्ष में उत्पादन की उन्नतिशील विधियाँ जैसे कटिंग कलम या चश्मा आदि प्रयोग नहीं की जा सकती क्योंकि यह क्रिया बहुत कठिन पड़ती है। किन्तु चीन तथा रूस में किए गए प्रयोगों से इस विचार का खण्डन हो गया। रूस में बीज, जड़ों की कटिंग और कलम तीनों विधियों द्वारा बेर के वृक्ष उत्पन्न किये गये। रूट कटिंग लगभग ४ से ६ इंच लम्बी और ३ इंच व्यास वाली सफल हुई हैं। किन्तु चश्में की बिधि कठिन कही जाती है। इसका प्रयोग चीनी जाति पर ही किया जा सकता है। भारतवर्ष में बेर चश्में की रीति द्वारा तैयार किये जाते हैं। चश्में में रिंग तथा फ्लेट विधि अधिक सफल हुई है। रिंग बडिंग का प्रयोग बहुत समय से हो रहा है। इसके

अतिरिक्त शील्ड बडिंग में भी सफलता प्राप्त की गई है। जूजुब के उत्पादन की अधिक सफल विधि ह्वीप कलम है। इसकी विधि उसी प्रकार है जैसा कि हमने प्रारम्भिक अध्याय में पढ़ा था। कलम करने के पश्चात् कलमी पौधे की देख भाल अधिक सावधानी से की जाती है। जब कलम तैयार हो जाती है तो उन्हें उद्यानों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है अथवा बाजारों में बेचने के लिये भेज दिया जाता है। चश्मे की दशा में रूट स्टाक जंगली बेर से लिया जाता है और उसे वांछित जाति के बेर के सायन से सम्बन्धित कर दिया जाता है। जब पौधे बीजों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं तो उनका अंकुरण मन्द गति से होता है क्योंकि प्रांकुर तभी निकल पाते हैं जबकि वाह्य छिलका फट जाय। किन्तु यदि इस छिलके के फटते समय भ्रूण (Embryo) भी फट जाते हैं तो बीज का अंकुरण असफल हो जाता है। अतः एक स्थान पर एक से अधिक बीज बोये जाते हैं। इनकी आयु जब लगभग १८ माह की हो जाती है तो इनकी शील्ड बडिंग की जाती है।

चश्मे (Budding) लगाने के लिए फरवरी-मार्च के महीने में पौधों के सिरे इस प्रकार काट दिये जाते हैं कि धरातल से तने की उचाँई केवल १' की रह जाय। ऐसे तनों से कुछ समय के पश्चात् कलियाँ निकलती हैं और शाखाएँ तैयार होती हैं। इन शाखाओं में केवल एक ही ऐसी चुनी जाती है जो अधिक होनहार और स्वस्थ हो। जब इस शाखा की मोटाई लगभग $\frac{1}{2}''$ की हो जाती है तो यह चश्मे के लिए तैयार मानी जाती है। इसके लिए किसी वांछित जाति के पौधे से स्वस्थ कली चुनी जाती है। कलियाँ ऐसी ही चुनी जाती हैं जो किसी एक ऋतु वाली शाखा की हों। ये कलियाँ तत्पश्चात तने के एक निश्चित स्थान पर अन्तर्निवेशित कर दी जाती हैं। चश्मे लगाने के लगभग १० दिनों पश्चात् कली की स्थिति के अनुसार उसके ऊपर के तने का भाग काट दिया जाता है। लगभग २० दिनों में कलियाँ प्राँकुर उत्पन्न कर देती हैं। एक वर्ष की अवधि में ये पौधे एक छोटे वृक्ष बन जाते हैं।

स्थानान्तरण—जब बेर बीयड़ में उत्पन्न होते हैं तो उनके स्थानान्तरण के पूर्व उद्यान की भूमि भली भाँति तैयार कर ली जाती है। भूमि के तैयार हो जाने पर पौधों की रोप लगाने के लिए गड्ढे तैयार कर लिये जाते हैं। वृक्षों की पारस्परिक दूरी बेर की जातियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। साधारणतया इनकी दूरी ३० से ४० फीट रक्खी जाती है। पौधों की रोपाई उतनी ही दूरी पर की जाती है ताकि वृक्षों का बढ़ाव उपयुक्त हो सके। यानी रोपाई में छँटाई अधिक करनी पड़ती है जिससे व्यय बढ़ जाता है। साथ ही दूर की रोपाई में अधिक स्थान रिक्त रह जाता

है जो आर्थिक दृष्टिकोण से उचित नहीं है। गुजरात में पौधों की आपस की दूरी २०' रखी जाती है।

खाद और सिंचाई—जैसा कि हमने देखा था, बेर के वृक्ष निर्धन और जल-निकास रहित भूमियों में भी पैदा किये जा सकते हैं। इन्हें कुछ नमक दे देने से उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। नमक का प्रयोग मानसून के पूर्व दो पौण्ड प्रति वृक्ष के हिसाब से करना चाहिये। वृक्ष में जब कलियाँ प्रांकुरित होने लगें तो गोबर की अच्छी सड़ी खाद ४० से ६० पौण्ड या ३ टोकरी के हिसाब से दे देनी चाहिये। खाद का प्रयोग कलियों के प्रांकुरण के पश्चात् भी किया जा सकता है। बरक जाई का कहना है कि बेर के वृक्षों में खाद और सिंचाई उस समय अधिक महत्व रखती है जब कि फल परिपक्व होने की स्थिति में हों। इसके अतिरिक्त उद्यान में सिंचाई आवश्यकतानुसार की जाती है। मानसून के दिनों में जबकि भूमि काफी नम होती है सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती है। गोखले तो इस पक्ष में हैं कि बेर में सिंचाई की ही न जाय। किन्तु ऐसा उचित नहीं जान पड़ता। उद्यान में समय-समय पर जुताई-गुड़ाई कर देना लाभकर प्रतीत होता है। पँक्तियों के मध्य देशी हल की जुताई सितम्बर के महीने में कर देनी चाहिये। किन्तु चीन में इसके उद्यान में जुताई-गुड़ाई नहीं की जाती। स्थानान्तरण के प्रारम्भिक दिनों में जब कि वृक्ष कम सिंचाई के होते हैं कुछ सम्बन्धित फसलें उगा लेना अच्छा पड़ता है। रेड़ी की फसल इस कार्य के लिए सफल सिद्ध हुई है। मानसून के दिनों में वृक्षों की जड़ों के निकट गोलाई में थोड़ी मिट्टी ऊँची कर दी जाती है जिससे वृक्ष तेज हवाएँ सहन कर सकें।

पौधों की छँटाई—वृक्ष का बढ़ाव जोरदार करने और अच्छी उपज प्राप्त करने के लिए छँटाई की क्रिया प्रयोग की जाती है। जिन स्थानों पर लगातार वृक्ष नहीं उगाए जाते, वहाँ बीज से उगे हुये पौधे ही मई के महीने में बुरी तरह से छाँट दिये जाते हैं। मानसून के दिनों में इनसे नई कोपलें निकल पड़ती हैं जो फल पैदा करने के समय फल देती हैं। छँटाई की क्रिया वृक्ष की केवल शाखाओं पर ही की जा सकती है। अत्यधिक छोटी टहनियाँ जड़ के निकट से छाँट दी जाती हैं जिससे नए फल उत्पन्न करने वाले स्पर उत्पन्न होते हैं। जब वृक्ष का ढाँचा अधिक मजबूत बनाना होता है तो भी छँटाई की क्रिया प्रारम्भ से ही की जाती है।

फल आना—बेर के पौधे तीसरे या चौथे वर्ष फल उत्पन्न करने लगते हैं। मध्य प्रदेश में इनके फल जाड़े के दिनों में पकने लगते हैं और मार्च तक प्राप्त होते हैं। दक्षिण भारत में ये दिसम्बर से अप्रैल तक बाजारों में प्राप्त होते हैं। उत्तर प्रदेश में ये जाड़े के दिनों में पाये जाते हैं।

फलों की तोड़ाई और संचय—बेर के फल जब पक जाते हैं तो उन्हें पेड़ों से तोड़ लिया जाता है। पकने पर उनका रंग हल्का, पीला अथवा छिलके पर कुछ भूरापन लिए हुए रहता है। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो हरी अवस्था में भी खाई जाती हैं। इसके फल तोड़ने के पश्चात् बाजारों में शीघ्र पहुँचा दिए जाते हैं। इस कारण इन्हें वृक्षों से तभी तोड़ा जाता है जब कि ये भली भाँति पक जाते हैं। बेर के फलों को संचित करने के लिए ३२° फा० तापक्रम अच्छा पड़ता है। इन्हें खुले कड़ाहों में लगभग ४५ दिनों तक इस तापक्रम पर रक्खा जा सकता है। किन्तु बन्द कड़ाहों में फल फट जाते हैं और सूखने लगते हैं। उपज २ से ३ मन या अधिक पायी जाती है।

खाद्य अंश—बेर के फलों के गूदे में राख की मात्रा अधिक होती है, इस राख में क्षार अधिक पाया जाता है। भारतवर्ष में बेर के फलों का निम्नलिखित विश्लेषण ज्ञात किया गया है जो इस प्रकार है :—

जल या नमी	८५.६%
कार्बोहाइड्रेट	१२.८%
प्रोटीन	.८%
चर्बी	.८%
मिनेरल मैटर	.४%
कैल्शियम	.०३%
फासफोरस	.०३%
लोह्य (मिलीग्राम में)	.८%
कैलोरी (प्रति औंस)	१६

रोग और कीड़े—बेर के वृक्ष पर कई प्रकार की बीमारियाँ और कीड़े लगते हैं जो उत्पादक के लिए हानिकारक हैं। रोगों में कुछ फँफूदी द्वारा उत्पन्न रोग हैं जो भारत में कुछ कम पाये जाते हैं। बेर के वृक्षों पर भयंकर आक्रमण करने वाला एक कीड़ा है जिसे फल-छेदक (फल की मक्खी) कहते हैं। यह मक्खी विज्ञान में कार्पोमाइया वेसूवियाना (carpomyia vesuviana) नाम से जानी जाती है। यह भारतवर्ष के लगभग प्रत्येक भागों में पायी जाती हैं। यह अपने अण्डे अपरिपक्व फलों के धरातल के नीचे देती हैं। जो दो चार दिनों में से (hatch) दिये जाते हैं। सेने के पश्चात् ६ से १२ दिनों तक माता द्वारा खिलाये जाते हैं, तत्पश्चात् ये भूमि पर गिर जाते हैं। इन्हें खिलाने के लिए माँ फलों में छेद करती है और वहीं से इन्हें भोजन देती है। इन छिद्रों में इन्हें सांस लेने के लिए वायु भी मिल जाती है। सेने के ६ से १२ दिनों बाद में ये भूमि पर गिर जाते हैं जहाँ ये

१२ दिन के भीतर २-३ इंच की लम्बाई में बढ़ जाते हैं। ये लगभग ३०० दिनों तक जीवित रह सकते हैं और फल की दूसरी ऋतु में आक्रमण कर सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि एक मक्खी बहुत से फलों में अण्डे दे सकती है और इस प्रकार अनेक बच्चे तैयार कर सकती है। इन्हें दूर करने के लिए उद्यान की भूमि फल की तोड़ाई के पश्चात् सूखी घासों और पत्तियों के साथ जला दी जाती है जिससे भूमि में उपस्थित शिशु कीड़े मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त लेड आर्सिनेट का चूर्ण ४-५ औंस, शीरा या चीनी ४ पौण्ड तथा पानी ३ गैलन मक्खी को मारने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इसका प्रयोग फलों के पकने के लगभग ३ सप्ताह पूर्व से प्रारम्भ करना चाहिये और प्रत्येक १२ दिन पर वर्षा होने तक जारी रखना चाहिए। वर्षा के पश्चात् भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। छाल खाने वाले कीड़े भी बेर के वृक्षों पर पाये जाते हैं। इनकी रोक-थाम हाथ से पकड़ कर की जा सकती है।

अध्याय २७

सपोता या चीकू

सपोता आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण फल नहीं है तथापि यह हमारे देश के अधिक भागों में उगाया जाता है। यह जङ्गली और उगाई जाने वाली दोनों दशाओं में पाया जाता है। इसे भिन्न-भिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है किन्तु इसका अधिक प्रसिद्ध नाम चीकू या सपोता है। इसके अतिरिक्त यह सपोदिल्ला (Sapodilla), सपोटे बुली ट्री (Bully tree), शियाई इलुप्पाई, नेजबेरी (Naseberry) या नीजबेरी (Neesebery)आदि नामों से भी जाना जाता है। कभी-कभी लोग सपोता और सपोते या जपोते में अन्तर न समझकर दोनों को एक ही बना देते हैं या उन्हें समझने में त्रुटि कर जाया करते हैं। यहाँ यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि सपोता और सपोते जातियाँ दोनों एक-दूसरी से भिन्न हैं और इन्हें एक बताना भूल है। सपोता भारत में उगाया जाने वाला एक ही महत्वपूर्ण फल है। सपोता यहाँ प्रायः नहीं उगाया जाता। सपोता का वैज्ञानिक नाम अकरास सपोता (Achras Sapota) है किन्तु इसे अकरास जपोता, सपोता अकरास (Sapota Achras) तथा सपोता जपोटिला (S. Zapotilla) आदि नाम भी दिये जाते हैं किन्तु सपोते के लिए अकरास जपोता (Achras Sapota) ही प्रयोग किया जाता है। यद्यपि दोनों एक ही कुल सपोतेसी (Sapotaceae) से ही सम्बन्ध रखते हैं तथापि भिन्न-भिन्न स्पेसीज होने के कारण दोनों में अधिक अन्तर पाया जाता है। सपोता मैमोनरी सपोते (Mamonary sapote) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसके फल एक बीज वाले होते हैं जो रंग में भूरे, चिकने, कड़े और चमकदार होते हैं। किन्तु सपोता के फल में कई बीज होते हैं और इसके बीज रंग में भूरे न होकर काले तथा चिकने होते हैं जिसमें इन्हें सपोते के बीजों से सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है। सपोते के फल चिपटे अण्डाकार होते हैं जबकि सपोता के फल या सेब या आड़ू के आकार से बहुत मिलते-जुलते हैं और आकार में गोले अण्डे के आकार के होते हैं। फल के आकार के अतिरिक्त इन्हें छिल्के के रंग या गूदे आदि से भी पहचाना जा सकता है। प्रथम किस्म के फल के छिल्के मोटे और नारियल के रंग-जैसे भूरे होते हैं। सपोता के फल के छिल्के मोटे तो अवश्य होते हैं किन्तु छिल्के

लकड़ी की भाँति होते हैं। सपोते का गूदा पीले-भूरे रंग का और कोमल दानेदार होता है जबकि सपोता के फल के गूदे का रंग लाल होता है। उद्यानों में इन्हें वृक्षों और पत्तियों के स्वभाव से भी पृथक किया जा सकता है। सपोते के वृक्ष लम्बे तथा पत्तियाँ बड़ी, ऊपर हल्की हरी चमकने वाली तथा नीचे हल्के भूरे रंग वाली होती हैं। परन्तु सपोते की पत्तियाँ छोटी; मोटी और गहरी हरे या चमकने वाले हरे रंग की होती हैं।

इतिहास और वितरण— सपोता की जन्मभूमि दक्षिणी अमेरिका का उष्ण कटिबन्धीय भाग बतलाया जाता है, जहाँ यह जङ्गलों तथा उद्यानों दोनों में पाया जाता है। मैक्सिको सपोता उगाने वाला प्रसिद्ध देश है, जहाँ इसकी खेती विस्तृत रूप में की जाती है। इसके अतिरिक्त यह मध्य अमेरिका, दक्षिणी फ्लोरिडा, फिलीपाइन, जमायका, लंका आदि में भी उगाया जाता है। लंका और जावा में समुद्री तट पर यह अधिक सफलतापूर्वक उत्पन्न होता है। भारत में इसे बम्बई, मद्रास, बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में उत्पन्न किया जाता है। बम्बई प्रदेश में यह अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक क्षेत्रफल में उगाया जाता है क्योंकि यहाँ पश्चिमी-घाट में इसके लिए उपयुक्त भूमि और जलवायु उपलब्ध हो जाती है।

भूमि—सपोता अनेक प्रकार की भूमियों में उगाया जाता है किन्तु इसके लिए निकास सहित गहरी बलुवार-दोमट भूमि जो उर्वर हो अथवा आवश्यक खाद की मात्रा-युक्त हो अधिक उपयुक्त होती है। गंगा-सिन्ध के मैदान की अलूवियल भूमि, यदि जलवायु संतोषपूर्ण हो तो, अधिक अच्छी पड़ती है क्योंकि इसमें अधिक सर्दी सहन करने की शक्ति नहीं होती है। चीकू के लिए न तो अधिक ढीली और न अधिक कठोर भूमि ही अच्छी पड़ती है क्योंकि ढीली भूमि में मानसून के दिनों में अधिक नमी के कारण इतना ढीलापन आ जाता है कि वृक्ष थोड़ी-सी भी तेज वायु के चलने से जड़ से हिल जाते हैं, और जड़ें टूट जाया करती हैं या कभी-कभी पूरा वृक्ष ही धराशायी हो जाता है जिससे उत्पादक को गहरी क्षति उठानी पड़ती है। यही स्थिति उस समय भी उत्पन्न होती है जबकि भूमि कठोर होती है। कठोर भूमि में ऐसा देखा जाता है कि पानी बरसने के पश्चात् ऊपरी धरातल पर सख्त पर्त बन जाती है जिसके कारण भूमि में वायु का गमनागमन नहीं हो पाता और वृक्ष की शाखाएँ मुरझाने लगती हैं। कभी-कभी शाखाओं के मुरझाने से पूरे वृक्ष पर बुरा प्रभाव पड़ता है और अन्ततोगत्वा यह अपना जीवन ही समाप्त कर देता है। दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट के पर्वतीय क्षेत्र में जहाँ की भूमि कंकड़ीली लेटेराइट (Laterite) है, सपोता सफलतापूर्वक उगाया जाता है। उन भूमियों में, जिनका ऊपरी धरातल उर्वर है परन्तु निचला धरातल कठोर पर्तवाला या चट्टानी है,

सपोता के वृक्षों की वृद्धि अच्छी नहीं होती। प्रारम्भिक वर्षों में तो ये भलीभाँति उगते और वृद्धि करते हैं किन्तु जड़ का बढ़ाव जब कठोर पर्त तक हो जाता है तो उन्हें आगे बढ़ने में व्यवधान प्रस्तुत होता है और फलतः उनकी वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है। अतः पौधों के स्थानान्तरण के पूर्व भूमि की देखभाल भलीभाँति कर लेना अच्छा होता है। चीकू के वृक्ष औसत काली भूमि में भी अच्छी उपज देते हैं। किन्तु उर्वर बलुवार-दोमट इसके लिए सर्वोत्तम पड़ती है। लंका में यह ऐसी ही भूमि में उगाया जाता है और वहाँ उत्पादक इससे अच्छी उपज भी प्राप्त करते हैं। बलुवार-दोमट भूमि यदि अनुर्वर होती है अथवा उसमें कुछ विशेष तत्वों का अभाव रहता है तो उन्हें खाद के रूप में भूमि में मिला दिया जाता है।

जलवायु—सपोता जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, अमेरिका के उष्ण-कटिबन्धीय भागों में उगाया जाता है। किन्तु इसके लिए उष्ण कटिबन्ध की जलवायु सीमित नहीं है। अपितु इसे ६२° फा० से ५२° फा० के मध्य के तापक्रम पर कहीं भी सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। कुछ स्थानों पर तो यह २८°-फा० तक के निम्नतम तापक्रम में भी जीवित पाया जाता है किन्तु इस तापक्रम पर पाले का प्रभाव नहीं होना चाहिए। उत्तर भारत के वे स्थान, जहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है, इसके लिए अच्छी पड़ती है। बम्बई, मद्रास और बंगाल में समुद्रीय तट पर इसके लिए बहुत उत्तम जलवायु प्राप्त हो जाती है। जावा और लंका में भी नम स्थानों पर इसकी अच्छी खेती होती है, अतः कहा जा सकता है कि इसे समशीतोष्ण वाले स्थानों पर भी सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। सपोता के लिए नमी की अधिक आवश्यकता होती है। इसके लिए लगभग ६० इंच की वार्षिक वर्षा अच्छी पड़ती है किन्तु उन स्थानों पर जहाँ नमक से भरी हुई समुद्री हवायें चलती हैं, वहाँ इन्हें रोकने के लिए उद्यानों में अच्छा प्रबन्ध किया जाना चाहिए। पारसन (Parsons) का कहना है कि लंका में सपोता नीचे और नम स्थानों में जहाँ नमी अधिक होती है अच्छी उपज देता है किन्तु इसे कम नमी वाले स्थानों पर भी उगाया जा सकता है। सपोता के लिए पाले का अधिक भय रहता है क्योंकि इसके प्रभाव से पूर्ण वृक्ष ही अपना जीवन समाप्त कर सकता है। इसी भय के कारण उत्तर भारत में जहाँ सर्दी काफी पड़ती है और पाले का भय होता है इसे नहीं उगाया जा सकता। उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग तथा बिहार के हिमालय की तराई वाले भाग अधिक ठंडे हैं, किन्तु दक्षिणी भाग अपेक्षाकृत गरम हैं। अतः इन भागों में पाले के अधिक अवसर नहीं रहते। यहाँ इन्हें छायादार स्थानों में उगाया जाता है। चीकू के वृक्ष जिन स्थानों पर केवल सौन्दर्य के लिए उगाये जाते हैं वहाँ इन्हें जलवायु का बिना ध्यान दिये ही उगाया जा सकता है।

जातियाँ—यद्यपि चीकू के फलों का विशेष अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है और अभी भी इसके विषय में ऐसी अनेक बातें हैं जो अज्ञात हैं तथापि कुछ स्थानों पर इसका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया गया है और कुछ उन्नत जातियाँ निकाली गई हैं। मद्रास प्रदेश में सपोता की निम्नलिखित जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं; खिट्टू बार्ती, गौरंगा, आयंगर, बम्बई, बंगलौर, द्वारपुदी, पाट सपोता, क्रिकेट बाल सपोता, फोन्ना बनोसा नं० १ और नं० २, उगराम पुदी। इन जातियों में खिट्टूबार्ती अंडाकार छोटा फल है। इसका छिल्का मध्यम किस्म का मोटा होता है। गूदा मीठा होता है, किन्तु फल के छोटे होने के कारण यह अधिक प्रसिद्ध नहीं है। गौरंगा भी इसी प्रकार अंडाकार और छोटा फल है। गूदा मीठा और स्वादिष्ट होता है। आयंगर जाति का चीकू गोले आकार का बड़ा फल देने वाला वृक्ष है। इसका स्वाद आनन्द-दायक होता है। बम्बई जाति बम्बई, बंगाल, और बिहार में उगाई जाने वाली जातियों से अधिक सम्बन्ध स्थापित करती है। इसके फल गोले और अंडाकार होते हैं। बंगलौर जाति के चीकू अधिक बड़े फल पैदा करते हैं। किन्तु इनका स्वाद औसत दर्जे की मिठास वाला होता है। द्वारपुदी जाति के फल बाजारों में अधिक प्रचलित हैं। इनके फल आकार में बड़े और गोले होते हैं। ये फल अधिक स्वादिष्ट होते हैं। पाट सपोता (Pot sapota) जाति के चीकू, जैसा कि नाम से ही विदित है, उसी समय से फल देना प्रारम्भ कर देते हैं जब कि वे गमले में होते हैं। फलों का आकार छोटा और अंडाकार होता है। गूदा आनन्ददायक होता है।

सूरत और नवसारी जिले में चीकू की काली, बड़ा कलकत्ता और ढोला दीवाने जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं। काली जाति के चीकू गुण में अच्छे माने जाते हैं किन्तु ढोला दीवाने इससे भी स्वादिष्ट होता है। बड़ा कलकत्ता जाति भी अच्छी जाति है। इन जातियों के अतिरिक्त यहाँ बंजेट, भूरि, फिंगर और बड़ी जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं, किन्तु व्यापारिक क्षेत्र से इनका उतना महत्व नहीं जितना कि पूर्वकथित तीन जातियों का है।

पौधे तैयार करना—चीकू के वृक्ष अधिकांशतः बीज द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। किन्तु कुछ स्थानों पर इसे गूटी और इनारचिंग द्वारा उत्पन्न किया जाता है फल के गुल और उपज के आधार पर कुछ स्थानों पर बीजों द्वारा उत्पन्न पौधे ही अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। जब इन्हें बीजों द्वारा उगाया जाता है तो बीज अच्छी जातियों से स्वस्थ और रोग रहित चुन लिये जाते हैं। चुनने के पश्चात् इन्हें हल्की बलुआर भूमि की क्यारियों में बो दिया जाता है। दो या ढाई महीने की आयु में नवांकुर स्थानान्तरण के योग्य हो जाते हैं। किन्तु उद्यानों में इन्हें १२ या १५ महीने के पश्चात् ही लगाया जाता है। बीज द्वारा उत्पन्न वृक्ष जो फल उत्पन्न

करते हैं वे गुण में समान नहीं पाये जाते। अतः इसका निवारण करने के लिए वानस्पतिक उत्पादन का प्रयोग किया जाना चाहिए। चीकू दाब (Layering) द्वारा, चश्मे द्वारा कलम या पैबन्द द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। अधिक महत्वपूर्ण विधि गूटी समझी जाती है जिसका प्रयोग बहुत सरल और सुविधा-जनक है। चीकू के वृक्ष में गूटी की क्रिया मई के अंतिम या जून के प्रारम्भिक दिनों में की जाती है। जिससे कि बरसात के दिनों में गूटी के पूर्ण रूप से सफल हो जाने की आशा रहे। बरसात समाप्त होने पर लगभग जनवरी तक सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि कटे हुये स्थान से जड़ उत्पन्न करने के लिए ऊपर रक्खी गई मिट्टी को नम बनाये रखना आवश्यक होता है। जब गूटी में जड़ दिखाई देने लगती हैं तो उसे मातृ-वृक्ष से अलग कर लिया जाता है। यह गूटी गमलों में लगा दी जाती है और कुछ समय के लिए छाये में रख दी जाती है। इस प्रकार ये उद्यान में लगाने अथवा बाजारों में बेचने के योग्य हो जाते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया में लग-भग आठ महीने लगते हैं। यद्यपि इस प्रकार गूटी तैयार करने में शत-प्रतिशत सफ-लता नहीं मिलती तथापि जब तक कोई नई विधि निकल नहीं आती तब तक इसी का प्रयोग करना चाहिए। लंका में चीकू के पौधे इसी प्रकार उत्पन्न किये जाते हैं। भारतवर्ष में मद्रास प्रदेश में उन स्थानों पर जहाँ लगभग १०० इंच वार्षिक वर्षा होती है यह विधि प्रयोग की जाती है। गूटी के अतिरिक्त दाब की कुछ अन्य विधियाँ भी प्रयोग की जाती हैं। पौधों की शाखायें भूमि में दबा दी जाती हैं। किन्तु अधिक समय में जड़ पैदा करने के कारण इसका प्रचार अधिक नहीं है। देहरादून में दाब की एक विशेष विधि लीची और कभी-कभी चीकू में प्रयोग की जाती है। गमलों में अँग्रेजी के अक्षर U अथवा Y के आकार के एक दूसरे के विरुद्ध दो कटाव बना लिए जाते हैं और उन्हें उन वृक्षों के अंगों के निकट बाँध दिया जाता है जिनका दाब लगाना हो। कुछ दिनों पश्चात् टहनियाँ जिनके नीचे या निकट गमले का बँधाव किया गया रहता है, झुका दी जाती हैं और फिर ये इन कटावों से होकर बाहर निकल आती हैं। तत्पश्चात् गमलों में मिट्टी डाल दी जाती है ताकि शाखाएँ जड़ पैदा कर सकें। इस प्रकार ये एक पृथक पौधा तैयार कर देती हैं। चीकू के वृक्षों में भारतवर्ष में कलम की क्रिया ही अधिक प्रचलित है। कलम विधि में इनार्चिंग अधिक की जाती है। इसके लिए सर्व प्रथम रूट-स्टाक चुने जाते हैं। रेयान (Rayan) और महोदा (mahoda) जाति के रूट-स्टाक अधिक सफल हुए हैं। सहारनपुर में सपोता के वृक्ष मुसोप काउकी (M. Kauki) पर लगाए गए हैं और सफलता भी मिली है। खिरनी पर सपोता के पौधे की कलम की जा सकती है। परन्तु यहाँ ये सफल नहीं है। खिरनी जाति के रूट-स्टाक दक्कन

हैदराबाद में भी प्रयोग किये जाते हैं। खिरनी और महोदा जातियाँ बीज द्वारा उत्पन्न वृक्षों से ली जाती हैं जो प्रायः जंगल में पाये जाते हैं। इन्हें जंगल से लाकर गमलों में रक्खा जाता है और जब इनसे जड़ें निकल आती हैं तो इनकी कलम कर दी जाती है। मद्रास प्रदेश में महोदा या मोहवा जाति के चीकू रूट-स्टाक की भाँति प्रयोग किये जाते हैं किन्तु ये उत्तर प्रदेश में सफल रूट-स्टाक नहीं माने जाते क्योंकि प्रयोगों से यहाँ खिरनी के रूट-स्टाक ही अपेक्षाकृत अच्छे सिद्ध हुये हैं। कुछ स्थानों पर चीकू में चश्मे की विधि प्रयोग की जाती है। इस विधि में लगभग वे ही ढंग अपनाये जाते हैं जो आम के अध्याय में बतलाये गये गए थे। इसमें शील्ड विधि अधिक प्रचलित विधि है।

स्थानान्तरण—जब चीकू के पौधे स्थानान्तरित करने योग्य हो जाते हैं तो उन्हें उद्यान में रोप देते हैं। किन्तु इनकी रोपाई के पूर्व उद्यान की भूमि भली-भाँति समतल करली जाती है और उनमें एक निश्चित आकार के गड्ढे खोद लिये जाते हैं। गड्ढों की खोदाई ग्रीष्म ऋतु में ही कर दी जाती है ताकि इनकी मिट्टी तेज धूप में काफी जल जाय। गड्ढों का आकार ३ फीट × ३ फीट × ३ फीट रक्खा जाता है और इनकी पारस्परिक दूरी २० फीट से ४० फीट तक रक्खी जाती है। किन्तु सुलतान के अनुसार यह दूरी २५ से ३० फीट होनी चाहिये। जावा में चीकू के वृक्ष १२ से १४ मीटर की ही दूरी पर अच्छी फसल देते हैं। भारत में भी कुछ स्थानों पर १५ फीट के अन्तर पर चीकू के वृक्ष उगाये जाते हैं। गड्ढे तैयार कर लेने के पश्चात् उनमें मानसून के प्रारम्भ होने पर लगभग ८० पौण्ड गोबर की खाद डाली जाती है और इसे पुरानी मिट्टी में मिलाकर गड्ढे भर दिये जाते हैं। तत्पश्चात् बीयड़ के पौधे स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। स्थानान्तरण का समय मानसून के पूर्व अथवा उसके पश्चात् अच्छा पड़ता है क्योंकि जोरों की वर्षा से पौधों की जड़ों के बढ़ाव में बाधा नहीं उत्पन्न होने पाती। अतः इन्हें मई अथवा नवम्बर-दिसम्बर में स्थानान्तरित करना चाहिये। स्थानान्तरण के शीघ्र पश्चात् सिंचाई कर देनी चाहिये। इस समय पौधों को तेज धूप और तेज हवाओं से बचाना भी आवश्यक होता है। उत्तर भारत में स्थानान्तरण की क्रिया अगस्त-सितम्बर अथवा फरवरी-मार्च में की जाती है। किन्तु दक्षिण भारत में जुलाई से जनवरी तक का समय पौधों के स्थानान्तरण के लिए उपयुक्त समझा गया है।

खाद—पौधों को खाद की पहली खुराक गड्ढे बनाने में ही दे दी जाती है किन्तु उस समय खाद का प्रयोग उन्हीं स्थानों पर किया जाता है जहाँ की भूमि अनुर्वर होती है। गंगा के मैदानों में जहाँ की भूमि अलूवियल है वहाँ गड्ढों में

खाद नहीं दी जाती। चीकू के उद्यान में वर्ष में दो बार खादों का प्रयोग करना चाहिये। इन खादों में गोबर की खाद, खली, बोनमील, मछली की खाद अधिक उपयुक्त हैं। गोबर की खाद की अनुपस्थिति में मेंगनी की खाद दी जा सकती है। १० से १५ पौण्ड खली और पाँच पौण्ड गोबर की खाद प्रति वृक्ष वर्ष में दो बार देना चाहिये। विष्ठा की खाद भी चीकू के वृक्षों पर अच्छा प्रभाव डालती है। इसके उद्यान में सनई की हरी खाद प्रयोग करना अच्छा सिद्ध होता है। कुछ स्थानों पर प्रति वृक्ष १० पौण्ड साधारण नमक दिया जाता है और ऐसा सोचा जाता है कि इससे फल अच्छे मिलते हैं। कुछ स्थानों पर इसके उद्यान में केले के तने गाड़ दिये जाते हैं। पूना एग्रीकल्चर कालेज में यह ज्ञात किया गया है कि केले के तने जब पूर्णतया सड़ जाते हैं तो इनमें नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ जाती है और इस प्रकार ये चीकू के उद्यान में अच्छा प्रभाव दिखलाते हैं क्योंकि कुछ स्थानों पर केले के तने छिछली नालियों में गाड़ दिये जाते हैं ताकि वे खाद का काम दे सकें। किन्तु केले के तने उसी स्थिति में उपलब्ध हो सकते हैं जब कि ये उद्यान के समीप अथवा उसी उद्यान में सम्बन्धित फसल के रूप में उगाये जायँ।

सिंचाई—मानसून के दिनों में जब इसका वितरण उपयुक्त ढंग से होता है, सिंचाई नहीं करनी पड़ती। किन्तु अन्य ऋतुओं में लगातार सिंचाई करनी पड़ती है। चीकू के वृक्ष अधिक पानी की आवश्यकता रखते हैं और ऐसा देखा जाता है कि वे उन स्थानों पर भी स्वस्थ बने रहते हैं, जहाँ पानी कुछ समय तक जमा रह जाता है। पश्चिम भारत में इसकी सिंचाई ८-१० दिनों के अन्तर पर की जाती है। लोगों की ऐसी धारणा है कि यदि सिंचाई की अधिक सुविधा हो और गर्मी के दिनों में पौधे ४ से ६ दिनों के अन्तर पर सींचे जायँ तो उनकी उपज पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता। पौधों की सिंचाई विशेषकर उस समय अधिक आवश्यक होती है जब कि उनकी आयु कम होती है। फल देना प्रारम्भ कर देने पर कुछ स्थानों में इनकी सिंचाई बहुत कम की जाती है। दक्षिण भारत के कुछ भागों में बड़े वृक्षों में सिंचाई कभी नहीं की जाती। उत्तरप्रदेश और बिहार में जब पौधे फल देना प्रारम्भ कर देते हैं तो उनकी सिंचाई यदा-कदा ही की जाती है। किन्तु निर्धन भूमि में गर्मी के दिनों में सिंचाई करना आवश्यक होता है क्योंकि नमी के अभाव में पौधे मुरझाना आरम्भ कर देते हैं। निर्धन और छिद्रयुक्त भूमि में लगातार सिंचाई करनी पड़ती है। सिंचाई के लिये कुँए का जल अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

सम्बन्धित फसलें—चीकू के उद्यान में जब पौधे कम आयु के होते हैं तो उस समय उनके मध्य कुछ फसलें उगा लेना उत्पादक के हित में अच्छा पड़ता है।

कुछ स्थानों पर केला सम्बन्धित फसल में उगाया जाता है क्योंकि यह शीघ्र फल दे देता है और फल देने के पश्चात् इसके तने और पत्तियाँ भूमि में सड़कर खाद बन जाती हैं। इसके लिए केले की बसराई और सोनेरी जातियाँ अधिक सफल सिद्ध हुई हैं क्योंकि उत्पादक इनसे अच्छी आय प्राप्त कर सकते हैं। केले के अतिरिक्त अमरूद और पपीते को भी सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। टमाटर, बैंगन, मिरचा, गोभी आदि तरकारियाँ भी कुछ स्थानों पर चीकू के उद्यान में सम्बन्धित फसल के रूप में उत्पन्न की जाती है।

उद्यान की भूमि सिंचाई के पश्चात् समय-समय पर जोत-गोड़ देनी चाहिये। यद्यपि इससे सिंचाई की नालियाँ तथा क्यारियाँ समाप्त हो जाती हैं। तथापि इस क्रिया से उद्यान में नमी अधिक दिनों तक बनी रहती है और उपज अच्छी मिलती है। गुँड़ाई करने के लिए ऐसे ही यन्त्र प्रयोग करने चाहिये जिनसे भूमि अधिक गहराई तक गुंड़ जाय और गुंड़ी भूमि पलट भी जाय। गुंड़ाई करते समय वृक्षों की जड़ो के निकट की मिट्टी कुछ ऊँची कर दी जाती है और तत्पश्चात् क्यारियाँ और मेंड़े बना ली जाती हैं। जड़ों के निकट की मिट्टी को ऊँची करने से यह लाभ होता है कि सिंचाई का जल वृक्ष के धड़ तक नहीं पहुँच पाता। जब पौधों की वृद्धि मन्द गति से होती है तो थोड़ी मात्रा में उनकी आवश्यक छँटाई कर देनी चाहिये।

वृक्ष म फूल आना—चीकू के वृक्ष स्थानान्तरण के लगभग ३ वर्ष पश्चात् फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। गूटी द्वारा तैयार किये गये पौधे तो स्थानान्तरण के वर्ष ही फल देने लगते हैं किन्तु उनसे इस आयु में फल लेना अच्छा नहीं पड़ता। वृक्षों में जोरदार फसल ४-५ वर्ष की आयु में आना प्रारम्भ होती है। वृक्ष में फूल लगभग वर्ष भर आते रहते हैं किन्तु केवल दो या तीन ही ऐसी ऋतुयें हैं जब कि और समय की अपेक्षा पकने वाले फलों की मात्रा अधिक होती है। भारतवर्ष में फल की ऋतु मार्च और अप्रैल से अगस्त-सितम्बर तक रहती है। चीकू के फल कुछ स्थानों पर दिसम्बर से मार्च तक अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इसके पश्चात् इनकी मात्रा कम हो जाती है किन्तु ये वृक्ष पर सितम्बर-अक्टूबर तक उपस्थित रहते हैं। चीकू के वृक्ष में मानसून के दिनों में जबकि वातावरण नम रहता है, अधिक फूल आते हैं। शुष्क दिनों में फूल आने कम हो जाते हैं। लंका में चीकू में फल अगस्त और सितम्बर के महीने में लगते हैं। यहाँ एक दूसरी ऋतु फरवरी और मार्च में भी फूल लगते पाये जाते हैं।

फल की तोड़ाई और बिक्री—चीकू के फल जब पक जाते हैं तो उन्हें पेड़ों पर से चुन लिया जाता है। पकने पर इनका रंग हल्का पीला हो जाता है। किन्तु पारसन का कहना है कि पूर्ण रूप से पके फल ही वृक्ष से तोड़ने

चाहिये और तोड़ने के पश्चात् उन्हें छाये में अथवा सूखे कमरे में कई दिनों तक के लिए रख देना चाहिए जब तक कि वे मुलायम न हो जायँ। फलों की हाथ से तोड़ाई अच्छी पड़ती है। किन्तु इसमें श्रम और समय अधिक लगता है। फलों को तोड़ते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उन्हें किसी प्रकार की चोट न लगने पाये क्योंकि ऐसा होने से वे सड़ने लगते हैं और बाजार में उनका मूल्य घट जाता है। डंठल सहित फलों की तोड़ाई अधिक अच्छी समझी जाती है। चीकू के फलों की उपज सभी स्थानों पर समान नहीं पायी जाती। कुछ स्थानों पर इनके कच्चे फलों से दूध के सदृश द्रव पदार्थ निकाला जाता है जो छालों में भी उपस्थित पाया जाता है। यह द्रव चिकिन बनाने के काम आता है। किन्तु यह पदार्थ हमारे देश में नहीं बनता। यहाँ इन्हें केवल ताजे फलों के लिये ही उगाया जाता है। दस वर्ष की आयु वाले औसत वृक्ष २००० फल प्रति वर्ष उत्पन्न करते हैं।

चुनाई और बक्स-बन्दी— फलों की तोड़ाई के पश्चात् उन्हें कुछ घंटे के लिये छाये में फैला दिया जाता है ताकि उनके डंठलों से निकलने वाला द्रव पदार्थ सूख जाय तत्पश्चात् २ या ३ श्रेणियों में उसकी चुनाई कर ली जाती है। यह चुनाई फलों के बड़े, मध्यम और छोटे आकार के अनुसार की जाती है। अत्यन्त सूखे छोटे अथवा क्षतिग्रस्त फल निकालकर बाहर कर लिये जाते हैं। चुनाई के पश्चात् चीकू के फल बक्सों में भरे जाते हैं। बक्स-बन्दी के लिए बाँस की टोकरियाँ, जिनमें केले की पत्तियाँ रख दी जाती हैं, उपयुक्त सिद्ध होती हैं। फल तह के अनुसार टोकरियों में भर दिये जाते हैं। फलों के रखने के पश्चात केले की पत्तियों के साथ टोकरी के ढक्कन से उन्हें बन्द कर देते हैं। फलों की बक्स-बन्दी में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि एक श्रेणी के फल दूसरी श्रेणी के फलों से मिलने न पायें। जब फलों की बक्स-बंदी समाप्त हो जाती है तो उन्हें बाजारों में बेचने के लिए भेज दिया जाता है। चीकू प्रायः बम्बई, पूना, अहमदाबाद, बड़ौदा आदि में अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है।

संचय—चीकू के फलों को बाजार के अनुसार शीतागारों में संचित रक्खा जा सकता है। ये फल प्रायः ५२° से ५६° फा० पर पकने लगते हैं और इस तापक्रम पर लगभग ५ सप्ताह तक स्वस्थ बने रहते हैं। यदि पके फल संचित किये जायँ तो उन्हें ३०° से ३५° फा० तापक्रम अच्छा पड़ता है क्योंकि इस तापक्रम पर ये लगभग ६ सप्ताह तक सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं। स्मिथ के अनुसार कच्चे फल ४५° फा० के तापक्रम पर १६ दिनों तक स्थिर रक्खे जा सकते हैं।

खाद्य-अंश—चीकू के फल अपने ताजे फलों के लिए तो प्रसिद्ध हैं। अमेरिका में इनके दूध से तैयार किया गया चूसने योग्य गम (Gum) भी

कम महत्वपूर्ण नहीं है। किन्तु हमारे देश में अभी गम का महत्व अधिक नहीं बढ़ पाया है। इसके फल में चीनी की मात्रा पर्याप्त होती है। स्टाल (Stall) के अनुसार इसमें ८% चीनी उपस्थित होती है। किन्तु कुछ लोगों ने यह मात्रा ११·२ से १२. ७ प्रतिशत तक दी है। चीनी के अतिरिक्त इस फल में प्रोटीन भी पाया जाता है। अड्रायनों ने प्रोटीन की मात्रा ·६% और चर्बी ·१४% तथा राख ·४३% बताई है।

रोग और कीड़े—चीकू के उद्यान में फँफूदी द्वारा उत्पन्न कोई रोग नहीं पाये जाते। केवल कुछ कीड़े ऐसे पाये जाते हैं जो फलों पर आक्रमण करके थोड़ी-बहुत हानि पहुँचाते हैं। इन कीड़ों में फल-छेदक, तना-छेदक, मीली बग (Mealy Bug) आदि उल्लेखनीय हैं। फल-छेदक गुच्छे के दो फलों के परस्पर रगड़ाव करने वाले स्थान पर प्रवेश करते हैं। अकेले पाये जाने वाले फलों पर भी इनका आक्रमण होता देखा गया है। तना-छेदक एक साधारण कीड़ा है जिसका नाम अरबेला टेट्रानिस (Arbela tetraonis) है। यह अधिक महत्व का कीड़ा नहीं है क्योंकि इससे बहुत कम क्षति होती पाई जाती है। मीली बग का आक्रमण कोमल टहनियों और प्रांकुरों पर होता है जिससे फल-लगाव कम हो पाता है। दक्षिण भारत में यह कीड़ा अधिक भयंकर सिद्ध हुआ है। स्केल कीड़ा (Scale-insect) एक अन्य कीड़ा है जिसे वृक्ष की पत्तियों और कोमल पत्तियों पर देखा जा सकता है। इसे पलविनेरिया सिडी (Pulvinaria psidii) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन कीड़ों की रोकथाम के लिए कुछ उपाय भी हैं जिनके द्वारा इन पर नियंत्रण पाया जा सकता है। तना-छेदक कार्बनडाइ सल्फाइड-द्वारा मारा जा सकता है अथवा इसके स्थान पर ऐसी भी दवाएँ प्रयोग की जा सकती हैं जो गैस के रूप में हों, और दम घोटने का गुण रखती हों। मीली बग किरासीन तेल के इम्लशन (Emulshion) अथवा मछली के तेल के साबुन से रोका जा सकता है। स्केल कीड़ा सूटी मोल्ड (Sooty mould) रोग उत्पन्न करता हुआ बतलाया जाता है, अतः ऐसी स्थिति में बोर्डा मिश्रण का प्रयोग करना चाहिए। बोर्डा मिश्रण स्टार्क की लेई के साथ अधिक प्रभावशाली हो जाता है, अतः उसे इस लेई के साथ मिला लेना चाहिए। इन कीड़ों के अतिरिक्त मद्रास, बंगाल, बिहार और मद्रास में एक ऐसा कीड़ा पाया जाता है जो वृक्ष की पत्तियों, कलियों और फलों को अपना शिकार बनाता है। यह नीफोटरिक्स यूग्राफेला (Nephotaryx eugraphella) के नाम से विख्यात है। इसे रोकने के लिए कैल्शियम आरसिनेट का छिड़काव करना चाहिए।

अध्याय २८

लोकाट (Loquat—Eriobotria Japonica)

लोकाट चीन और जापान का पौधा है किन्तु जापान में यह चीन में उगाये जाने के पूर्व से ही उगाया जा रहा है। यह एक समशीतोष्ण कटिबन्धीय पौधा है जो विश्व में रूम सागरी प्रदेश, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अलजीरिया तथा इंगलैंड में उत्पन्न किया जा रहा है। भारतवर्ष में यह पंजाब और उत्तर प्रदेश में सफलतापूर्वक उगाया जाता है। लोकाट उत्तर प्रदेश के सहारनपुर, लखनऊ और आगरा जिलों का प्रसिद्ध फल है।

भूमि और जलवायु—इसे लगभग सभी प्रकार की भूमियों में उत्पन्न किया जा सकता है किन्तु उपयुक्त जल-निकासयुक्त हल्की दोमट या बलुवार दोमट भूमि इसके लिए अच्छी पड़ती है। क्योंकि ऐसी भूमि में उपज अधिक मिलती है। भूमि में चूने की अल्प मात्रा के उपस्थित होने से लोकाट तेजी से वृद्धि करता है और फल भी अच्छा देता है। इसके लिए समशीतोष्ण जलवायु जितनी अच्छी होती है उतनी शीत या उष्ण नहीं, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि सर्दी जब १५° फा० तक पहुँच जाती है तो वृक्ष की कुछ शाखाएँ अपना जीवन समाप्त करने लगती हैं किन्तु कठोर लकड़ी वाली शाखाएँ ०° फा० पर भी जीवित पाई जाती हैं। इसी प्रकार इन्हें अधिक गर्मी पड़ने वाले स्थानों पर भी नहीं उगाया जा सकता। यद्यपि वृक्षों का बढ़ाव ऐसे स्थानों पर बहुत तेजी से होता है किन्तु पाला पड़ने पर अधिक क्षति उठानी पड़ती है क्योंकि १०° पाला भी वृक्षों के लिए अधिक हानिकर होता है।

जातियाँ—लोकाट की अनेक जातियाँ प्रचलित हैं जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर उगाई जाती हैं। चीन और जापान में इनकी कई जातियाँ उगाई जाती हैं। भारत में उगाई जाने वाली जातियाँ पीले से भूरे रंग की होती हैं और इनमें बीज की मात्रा एक से पाँच अथवा इससे भी अधिक उपस्थित होती है। इन जातियों में निम्नलिखित उत्तर प्रदेश में उगाई जा सकती हैं।

नाम	पकने का समय
इम्प्रूव्ड गोल्डेन यलो (Improved golden yellow)	मार्च के मध्य से
गोल्डेन यलो (Golden yellow)	,,

थाम्स प्राइड (Thames pride)	मार्च के मध्य से
पेल यलो (Pale yellow)	,,
बड़ी पेल यलो (Large pale yellow)	,,
लार्ज आगरा (Large Agra)	,,
टनका (Tanaka)	अप्रैल के मध्य से
कैलिफोर्निया ऐडवान्स (California advance)	,,

पकने के समय के अनुसार ये जातियाँ जल्द पकने वाले, मध्यम समय में पकने वाले तथा देर में पकने वाले वर्गों में बाँटी जाती हैं। प्रथम वर्ग में इम्प्रूव्ड गोल्डेन यलो, गोल्डेन यलो, और थाम्स प्राइड; द्वितीय में पेल यलो और बड़ी पेल यलो तथा लार्ज आगरा और तृतीय वर्ग में टनका तथा कैलिफोर्निया जातियाँ सम्मिलित की जाती हैं।

लोकाट के वृक्ष सदैव हरे भरे-रहने वाले होते हैं। इनकी ऊँचाई लगभग ३० फीट पाई जाती है, ये देखने में बड़े सुन्दर लगते हैं। फल गुच्छों में पाये जाते हैं जिनका रंग हल्का पीला या गहरा पीला होता है। फल गोलापन लिए हुए लम्बाकार और सिरे पर नुकीला होता है। इसका स्वाद खट्टा-मीठा तथा सुगन्धित होता है।

पौधे तैयार करना तथा उनका स्थानान्तरण—लोकाट के पौधे बीज, कलम तथा चश्में तीनों विधियों द्वारा तैयार किये जाते हैं। बीज द्वारा पौधे उत्पन्न करने के लिए उन्हें बीयड़ में उगा लिया जाता है और एक निश्चित ऊँचाई का हो जाने पर स्थानान्तरित कर दिया जाता है। किन्तु बीजों के चयन में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे सूखे हुये न हों क्योंकि ऐसे बीज अपना जीवन समाप्त कर बैठे रहते हैं। यद्यपि बीजू पौधे बहुत शीघ्र जमते हैं और तेजी से बढ़ते हैं किन्तु भिन्न-भिन्न गुण वाले फल उत्पन्न करने के कारण उन्हें व्यापारिक ढंग पर नहीं उगाया जाता। इस ढंग के लिए चश्में तथा कलम द्वारा तैयार पौधे ही महत्व-पूर्ण समझे जाते हैं। चश्मे की क्रिया कैलिफोर्निया तथा जापान में अधिक सफल है। इस विधि में शील्ड तथा रिंग विधियाँ प्रयोग की जाती हैं। शील्ड विधि जन-वरी-फरवरी में ३ माह की आयु की कलियों के साथ की जाती है। कलम भारतवर्ष में अधिक सफल नहीं है पर विदेशों में इसे चश्मे की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया जाता है। रूट-स्टाक के लिए लोकाट के बीजू पौधे अच्छे सिद्ध हुए हैं।

पौधों का स्थानान्तरण वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में अथवा अक्टूबर के माह में कर देना चाहिए। इसके लिए उद्यान में भूमि की तैयारी कर लेने के पश्चात् ३′ × ३′ × ३′ आकार के गड्ढे लगभग २५′ की दूरी पर बना लेने चाहिए। पौधों

के आपस की दूरी उत्तर प्रदेश में २५' रखनी चाहिए किन्तु ग्रोट और विलियम के अनुसार यह दूरी २०' स्वीकार की जाती है। पारसन तो यह दूरी १८' रखने के पक्ष में हैं। कुछ स्थानों पर जहाँ काफी लम्बे और बड़े वृक्ष उगते हैं, यह दूरी ३०' तक भी रखी जाती हैं, । गड्ढे तैयार कर लेने के पश्चात् उसकी मिट्टी में आधी गोबर की खाद दो सेर हड्डी का चूर्ण और थोड़ी-बहुत राख मिला कर उसे फिर भर दिया जाता है। गड्ढे भर देने पर पौधे उनमें लगा दिये जाते हैं।

खाद और सिंचाई—लोकाट के उद्यान में हरी खाद का प्रयोग अच्छा पड़ता है। इसमें गोबर की खाद प्रायः प्रयोग की जाती है और श्री आर०एस०सिंह ने एक पूर्ण वृक्ष के लिए २०० पौण्ड गोबर की खाद स्वीकार की है। जुलाई के महीने में वृक्षों की जड़ें नङ्गी कर देने से वृक्ष की उपज पर अच्छा प्रभाव ज्ञात किया है। जड़ें खोलने के समय प्रति वृक्ष १० सेर खाद का प्रयोग करना चाहिए। लोकाट के वृक्षों पर विष्ठे की खाद से भी अच्छी उपज की जा सकती है। उद्यान में यदि हरी खाद प्रयोग की जाय तो उसे ऐसे समय बोना चाहिये कि वह मानसून के प्रारम्भ में पलट दी जाय और भूमि में सड़ने के लिए छोड़ दी जाय। नम जलवायु में खाद का सड़न शीघ्र होता है।

लोकाट में सिंचाई करनी आवश्यक होती है क्योंकि इसमें फूल-फल गर्मी के दिनों में आते हैं जबकि ऋतु बिलकुल सूखी रहती है। सिंचाई की क्रिया फल लगने से प्रारम्भ होकर उस समय तक की जाती है जब तक कि वृक्ष से फल उतर नहीं जाते। मानसून के दिनों में सिंचाई नहीं करनी पड़ती।

पौधों की छँटाई—लोकाट में छँटाई की क्रिया प्रायः नहीं की जाती किन्तु जापान में कुछ शाखाएँ अवश्य छाँट दी जाती हैं। वहाँ तत्कालीन ऋतु की लगभग आधी शाखायें और टहनियाँ छाँट दी जाती हैं। छाँटने की यह क्रिया शिशिर में की जाती है। जापान में वृक्ष के चपटे और नीचे बनाने के लिए उपयुक्त ट्रेनिंग की जाती है जिससे फलों की तोड़ाई आदि क्रियाओं में सफलता होती है। यदि वृक्ष अधिक घने हों और निचले अंग धूप की आवश्यक मात्रा उपलब्ध न कर पाते हों तो उनकी आवश्यक छँटाई कर देनी चाहिए।

फलों की तोड़ाई—वृक्ष में लगभग ५ वर्ष पश्चात् फल आना प्रारम्भ हो जाता है। फूल का आना भारतवर्ष में दो बार होता है। प्रथम अगस्त तथा दूसरे अक्टूबर तथा नवम्बर में। प्रथम फूल से प्रायः फल नहीं बनते और वे गिर जाते हैं। अक्टूबर-नवम्बर की फसल मुख्य फसल है और ये ही फूल फल उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं जो मार्च-अप्रैल में तैयार हो जाते हैं। पकने पर फलों का रंग गहरा पीला हो जाता है और तब उनकी तोड़ाई करना प्रारम्भ कर दी जाती है।

फलों को वृक्ष पर ही पकाना अच्छा पड़ता है क्योंकि वे फल गुण में बहुत बढ़िया होते हैं। तोड़ते समय गुच्छे सहित फल तोड़ लिए जाते हैं और बड़ी सावधानी के साथ भूमि पर रखे जाते हैं क्योंकि फल की त्वचा इतनी पतली और कोमल होती है कि जरा-से धक्के से भी ये आहत हो जाते हैं और सड़ाव प्रारम्भ कर देते हैं। तोड़ाई के पश्चात् इन्हें भिन्न-भिन्न श्रेणियों अथवा बक्सों में भर कर बाजारों में भेज दिया जाता है। उपज लगभग ४-५ मन मिलती है।

खाद्य-अंश—लोकाट के फलों की खपत ताजे रूप में ही अधिक है किन्तु कुछ फल चटनी तथा जेली बनाने के भी काम आते हैं। जेली बनाने के लिए पूर्ण परिपक्वता के पूर्व वाले फल चुने जाते हैं और उनकी स्वादिष्ट जेली बनाई जाती है। पके फल में चीनी ८ से १३% तक पाई जाती है। अम्ल की मात्रा ५ से १.७५% तक पाई जाती है जिसकी उपस्थिति के कारण फल खट्टा लगता है।

रोग और कीड़े—लोकाट का फल लगभग हानिकारक रोगों और कीड़ों के प्रभाव से वंचित है। स्टेम राट और स्केब दो रोग साधारण कोटि के पाये जाते हैं जिन्हें बोर्डामिश्रण द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। फल की मक्खी और स्केल इन्सेक्ट दो ऐसे कीड़े हैं जो लोकाट पर आक्रमण करते हैं पर इनसे कोई अधिक क्षति नहीं होती।

अध्याय २९

शीतोष्ण कटिबन्धीय कुछ अन्य फल

कटहल (Jack-fruit)

इस फल का जन्म स्थान भारतवर्ष है। पश्चिमी घाट में यह जङ्गली अवस्था में पाया जाता है। इसकी खेती बंगाल, बिहार, बम्बई, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पंजाब तथा उत्तर-प्रदेश में की जाती है। देहरादून में ३००० फीट से अधिक ऊँचाई इसके लिए अच्छी नहीं पड़ती। उत्तर-प्रदेश में, दयालचन्द्र के अनुसार, इसकी खेती ६६० एकड़ क्षेत्र में की जाती है। विदेशों में कटहल उगाने वाले देश बर्मा, मलाया और ब्राजील अधिक प्रसिद्ध हैं।

भूमि और जलवायु—कटहल के वृक्ष गहरी भूमि, हल्की दोमट, रेतीली दोमट और कछार तक में उगाये जाते हैं। किन्तु इसके लिए हल्की दोमट भूमि ही उत्तम मानी जाती है। पथरीली भूमि में इसे उगाया जा सकता है किन्तु पौधे नाटे किस्म के होते हैं। इसके लिए जलवायु गरम और नम होनी चाहिये।

वानस्पतिक विवरण और जातियाँ—कटहल सदैव हरा-भरा रहने वाला छायादार वृक्ष है, जिसकी ऊँचाई लगभग ५० फीट तक पायी जाती है। इसके वृक्ष १५ वर्ष की आयु से फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। इसे मोरेसी (Moraceae) कुल से सम्बन्धित किया जाता है। इसका जीनस आर्टोकार्पस और स्पेसीज इनटेगरीफोलिया (Artocarpus Integrifolia) है। इसके जीनस में ब्रेडफ्रूट तथा बड़हल (Monkey-jack) भी सम्मिलित किये जाते हैं। जातियाँ दो किस्म की पाई जाती हैं—प्रथम कड़े छिल्के वाली जिसके फल बड़े, गूदा अधिक और बीज छोटे होते हैं। दूसरी जाति कोमल छिल्केवाली होती है। इसके फल छोटे, गूदा कम और बीज बड़े होते हैं।

पौधे तैयार करना और उनका स्थानान्तरण—कटहल के पौधे प्रायः बीजों द्वारा ही तैयार किये जाते हैं। बीज अच्छे और स्वस्थ चुनकर बीयड़ में लगा दिये जाते हैं। कुछ स्थानों पर इन्हें बीयड़ में न लगाकर स्थायी स्थानों पर ही लगाया जाता है। बीयड़ में ये १½ इंच की गहराई और १ से २ इंच की दूरी पर रोप दिये जाते हैं। बीज लगभग दो सप्ताह में अंकुरित हो जाते हैं और ५″-६″

के होने पर इन्हें गमले में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। एक वर्ष की आयु होने पर फिर ये उद्यान में रोप दिये जाते हैं। अंकुरण के पश्चात् इनमें से एक होनहार और स्वस्थ पौधा चुन लिया जाता है और अन्य गड्ढे से निकाल दिये जाते हैं। जावा में कटहल के पौधे चश्में की रीति द्वारा भी तैयार किये गये हैं। चश्मे के अतिरिक्त कटिंग और दाब का भी प्रचलन है। तैयार किये गये पौधे ऋतु में एक निश्चित आकार के गड्ढे में रोप दिये जाते हैं। गड्ढों की वानस्पतिक दूरी ३० फीट से कम नहीं रक्खी जाती है। ऐसा देखा गया है कि इस दूरी पर पौधे घने हो जाते हैं। अतः ३६ से ४५ फीट की दूरी अच्छी होती है।

फलों की तोड़ाई—बीज द्वारा तैयार किये गये पौधे नवम्बर-मार्च में फूल देना प्रारम्भ कर देते हैं और फल मार्च से सितम्बर तक प्राप्त किये जाते हैं। इसके फल तनों और मोटी शाखाओं पर उत्पन्न होते हैं। एक-एक फल लगभग १५-२० सेर से लेकर १ मन तक पाये गये हैं। जावा में इन्हें बहुत छोटी ही अवस्था से खाना प्रारम्भ कर देते हैं। किन्तु इन्हें इस दशा में खाना उपज के ध्येय से अच्छा नहीं होता। उस स्थिति में जबकि वृक्ष पर फलों की संख्या अधिक हो तब ही ऐसा करना ठीक होता है। जावा में इसके फल वर्ष भर प्राप्त किये जाते हैं।

खाद्य-अंश—कटहल का फल सभी फलों से बड़ा कहा गया है जिसका छिलका अत्यन्त मोटा और काँटोंयुक्त होता है। इसके काटने से एक प्रकार का दुग्ध स्रवित होता है। इसे तरकारी, अंचार आदि बनाने के काम में लाते हैं। विदेशों में इससे चाप और कटहल बनाया जाता है। कटहल की उपज खाद की मात्रा, सिंचाई आदि पर निर्भर करती है। उत्तर भारत में इसकी खेती सफल सिद्ध हुई है। एक वृक्ष एक फसल में ५० से ७५ रुपये प्रदान कर सकता है। इसमें कार्बोहाइड्रेट लगभग २३·५३% और चीनी १·८७% पायी जाती है। इसके फल बल-वीर्यवर्धक और स्नायुविक दुर्बलता दूर करने वाले होते हैं। पके फल का स्वाद रोचक होता है, किन्तु यह अधिक गरिष्ठ होता है।

रोग और कीड़े—जिन स्थानों पर जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध नहीं रहता वहाँ कटहल के वृक्ष सूख जाते हैं। भूरे रंग की पत्तियों पर दाग अधिकाँशतः पाया जाता है, जो फोमोप्सिस (Fomopsis) आटोकार्विना के फँफूदी से उत्पन्न होता है। किन्तु अधिक भयंकर रोग न होने के कारण इससे क्षति नहीं उठानी पड़ती। इसके वृक्ष पर एक प्रकार का घुन पाया जाता है। तना-छेदक कीड़े भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं।

फालसा (Phalsa)

फालसा की जन्मभूमि भारत वर्ष है। यह विश्व के अनेक ऊष्णकटिबन्धीय

भागों में उगाया जाता है। किन्तु कहीं भी यह अधिक प्रसिद्ध नहीं हुआ है। भारत वर्ष में इसे मध्य प्रदेश पंजाब, उत्तर प्रदेश और अहमदाबाद में उत्पन्न किया जाता है। अहमदाबाद के फल अधिक प्रसिद्ध हैं किन्तु फालसा के फल व्यापारिक तौर पर अधिक क्षेत्र में उगा ये जाते हैं।

इसके वृक्ष लगभग २० फीट ऊँचे होते हैं। फूल और फल अप्रैल-मई से जून-जुलाई तक देखे जाते हैं। इनके फल शरबत बनाने के काम आते हैं जो बहुत ठंडा होता है। फालसा टिलीएसी (Tiliaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। इसका जीनस ग्रेविया (Grewia) और स्पेसीज एसियाटिका (Asiatica) है।

फालसा के लिये साधारण भूमि चाहिये। इसके बीज ही पौधे तैयार करने के लिए बहुधा प्रयोग किये जाते हैं। स्वस्थ बीज चुनकर बीयड़ में लगा दिये जाते हैं। और जब ये रोपाई के योग्य हो जाते हैं तो उद्यानों में स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। स्थानान्तरित करते समय पौधों की आयु लगभग एक या दो वर्ष की होनी चाहिये। रोपाई करने के लिए बरसात की ऋतु उत्तम पड़ती है। कुछ स्थानों पर इसे कटिंग और चश्में द्वारा भी तैयार किया जाता है। पौधे उद्यान में १० फीट की दूरी पर गड्ढों में रोपे जाते हैं। यदि भूमि अधिक उर्वर होती है तो खाद देने की अधिक आवश्यकता नहीं रहती किन्तु अनुर्वर भूमि में रोपाई के समय गोबर की सड़ी खाद २० पौण्ड प्रति पौधे के हिसाब से दे देनी चाहिये। पंजाब में इतनी ही मात्रा फरवरी के माह में देना स्वीकार किया गया है। सिंचाई की क्रिया फल-फूल आने के समय अधिक महत्वपूर्ण होती है किन्तु कुछ स्थानों पर फालसा के उद्यानों में इसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कभी-कभी बिना सिंचाई के ही अच्छी फसल देता हुआ पाया गया है। किन्तु जनवरी से मई तक के महीने में पौधों में पानी दे देना उत्तम होता है। इससे उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

वृक्षों की समय-समय पर छँटाई करनी आवश्यक होती है। यह क्रिया प्रति वर्ष जाड़े के दिनों में करनी चाहिये। फालसे के वृक्ष में कभी-कभी बुरी तरह से छँटाई की जाती है। ३½ से ४ फीट की ऊँचाई पर शाखाओं की छँटाई कर देना अच्छा पड़ता है क्योंकि इससे नई कोपले अधिक संख्या में निकलती हैं और उपज भी अच्छी मिलती है। ऐसा देखा गया है कि बिना छाँटे गये पौधे अपेक्षाकृत कम फल उत्पन्न करते हैं। छँटाई की क्रिया दिसम्बर के प्रारम्भ में नहीं करना चाहिये क्योंकि इस समय निकलने वाली कोपलों पर पाले के प्रभाव पड़ने का भय रहता है। अतः इसके लिए दिसम्बर से जनवरी का समय अच्छा सिद्ध होता है।

स्थानान्तरण के लगभग दो वर्ष पश्चात् वृक्षों में फल आना प्रारम्भ हो
फूल अप्रैल मई में निकलते हैं और जून-जुलाई में पकने लगते हैं।

फलों का पकाव धीरे-धीरे होता है जिससे पके फल अधिक दिनों तक प्राप्त किये जा सकते हैं। इन फलों की तोड़ाई प्रति दिन की जाती है, इससे तोड़ाई का व्यय अधिक पड़ता है। फल बहुत छोटी आकृति के होते हैं और बहुत जल्दी सड़ना प्रारम्भ कर देते हैं। अतः इन्हें तोड़ने के शीघ्र पश्चात् बाजारों में बेंच देना चाहिये। फालसा के फल नास्ते में अधिक काम आते हैं। इसके रस को प्रिजर्व रखने की विधि भी निकाली गई है।

फालसा की दो जातियाँ सकरी और शरबती मुख्य हैं। पहली जाति के वृक्ष ऊँचे होते हैं, किन्तु फल खट्टे पाये जाते है, शरबती फालसे के वृक्ष छोटे होते हैं किन्तु इनका फल स्वाद में अधिक मीठा होता है। छिलका खाने वाला कीड़ा फालसे का भयंकर शत्रु है, जो इसका आश्रय लेकर अन्य पौधों पर भी आक्रमण करता है।

आँवला (Aonla)

आँवला सर्व प्रथम एशिया में उगाया गया। इसका जन्म-स्थान सम्भवतः दक्षिणी एशिया ही है, अधिकतर लोग इस पक्ष में हैं कि यह भारत वर्ष का ही देशी फल है। इसे शिवालिक पर्वत माला, तराई के जिलों तथा दक्षिण भारत में उत्पन्न किया जाता है। उत्तर प्रदेश में बनारस का आँवला अधिक प्रसिद्ध है, जिसका मुरब्बा बहुत स्वदिष्ट बनता है।

आँवला फाइलेन्थस (Phyllanthus) जीनस का सदस्य है जो इफोर बिएसी (Euphorbiaceae) कुल में सम्मिलित किया जाता है। इसका वैज्ञानिक नाम फाइलेन्थम इम्बलिका (Emblica) है। इसके फूल बसन्त ऋतु के अन्त में उत्पन्न होते हैं और जाड़े में पकना प्रारम्भ करते हैं।

आँवले के वृक्ष हल्की भूमि पसन्द करते हैं और लगभग ३०-४० फीट की ऊँचाई तक बढ़ते हैं। इन्हें बीज और कलम द्वारा तैयार किया जा सकता है। कुछ स्थानों पर कटिंग और चश्में की क्रिया भी सफल हुई बतलाई जाती है। इनके पौधे उद्यानों में व्यापारिक ढंग पर बहुत कम उगाये जाते है। उत्तर प्रदेश में इनका क्षेत्र फल केवल १२० एकड़ हैं। किन्तु जब इन्हें अधिक पैमाने पर उगाना होता है तो ३५ फीट की दूरी पर स्थानान्तरित करते है। गोबर की खाद प्रति वर्ष कुछ-न-कुछ मात्रा में देना अच्छा होता है। सिंचाई की क्रिया प्रायः नहीं की जाती है किन्तु फूल-फल आते समय एक दो सिंचाई कर देने से उपज अच्छी मिल सकती है।

आँवले के फल पकने पर हरे रंग से कुछ-कुछ पीले हो जाते हैं। इनका आकार जातियों पर निर्भर करता है क्योंकि उत्तम किस्म की जातियाँ, बड़े फल उत्पन्न करती हैं और घटिया जातियाँ अपेक्षाकृत छोटे फल। इनके फल में अम्ल की मात्रा अधिक होती है। इसलिए इन्हें कच्ची अवस्था में नहीं खाया जा सकता। इसमें विटामिन C बहुत अधिक परिमाण में पाया जाता है। यह जितनी मात्रा में विटामिन C उत्पन्न करता है सम्भवतः उतना किसी अन्य प्राकृतिक साधन से नहीं उपलब्ध हो पाता। आँवले का मुरब्बा प्रसिद्ध है। इसकी जेली भी अधिक स्वादिष्ट बनती है।

बेल (Bel)

बेल का फल भारतवर्ष में जंगली ढंग पर पाया जाता है। किन्तु साथ ही इसे कृषि द्वारा भी अधिक क्षेत्र में उत्पन्न किया जाता है। इसकी जन्म भूमि भारत वर्ष है और इसके वृक्ष लगभग सभी स्थानों पर प्राप्त किये जाते हैं। यह पर्वतों पर ४००० फीट की ऊँचाई तक उत्पन्न होता है। इसके लिए प्रत्येक भूमि अच्छी होती है; किन्तु जलवायु गर्म-तर आवश्यक है। यह पहाड़ों पर अधिक सर्द जलवायु में नहीं उगाया जा सकता। यह रूटेसी (Rutaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। इसका वैज्ञानिक नाम एगिल मारमेलाज (Aegle marmelos) है। एक दूसरा फल जिसे वुडएपिल अथवा एलीफैन्ट एपिल कहते हैं इसी कुल में सम्मिलित किया जाता है, जो फेरोनिया लिमोनिया (Feronia limonia) नाम से सम्बोधित किया जाता है। बेल की दो प्रसिद्ध जातियाँ हैं। प्रथम कागजी, जिसके फल बड़े, छिलका पतला, गूदा स्वादिष्ट और बीज रहित होते हैं। दूसरी जाति कठिया नाम से पुकारी जाती है जिसके फल छोटे और आकार छोटा होता है। इनका गूदा निम्न-कोटि का होता है। जो प्रायः खमीर तैयार करने में प्रयोग किया जाता है इनमें बीज अधिक पाये जाते हैं।

बेल के पौधे प्रायः बीज द्वारा तैयार किये जाते हैं। कुछ स्थानों पर इन्हें दाब द्वारा भी तैयार किया जाता है। इन्हें उद्यानों में क्रम से नहीं उगाया जाता किन्तु यदि क्रमवार उगाया जाय तो इनकी पारस्परिक दूरी ३० फीट रखनी चाहिए। इन्हें खाद और सिंचाई समय-समय पर दे देने से उपज अच्छी मिलती है। फूल जाड़े के अन्त में आते हैं और फल अप्रैल-जून में तैयार हो जाते हैं। बेल की उपज प्रति वृक्ष २०० से ३०० फल है। इसका गूदा हल्का, शीतल और दस्तावर होता है। इसमें ७.२५% चीनी और २·३% अम्ल उपस्थित होता है। बेल के फल

वुड एपिल की अपेक्षा कुछ बड़े होते हैं। वुड एपिल चटनी और जेली बनाने के काम आता है।

शहतूत (Mulberry)

शहतूत पर्वतीय प्रदेश में लगभग ५००० फीट की ऊँचाई पर उगाया जा सकता है। यह उष्ण कटिबन्ध और समशीतोष्ण कटिबन्ध की अपेक्षा शीत कटिबन्ध में अधिक सफलतापूर्वक उगता है। इसे रेशम के कीड़े पैदा करने के लिए मुख्यतः उत्पन्न किया जाता है, किन्तु इसके फल भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसे चीन का प्रारम्भिक फल माना जाता है क्योंकि यहाँ यह २६६० ई० पू० से ही उत्पन्न किया जाता है। इसे मोरेसी कुल और मोरस (Moras) जीनस में सम्मिलित किया जाता है। काली शहतूत, जो प्रायः फल लेने के प्रयोग में लायी जाती है, मोरस निगरा (Moras nigra) के नाम से पुकारी जाती है। इसे साधारण भूमि में भी उगाया जाता है। किन्तु भूमि का जल-निकासयुक्त होना आवश्यक होता है। शहतूत के पौधे बीज और कलम द्वारा तैयार किये जाते हैं। कटिंग और चश्में का भी प्रयोग बहुतायत से होता है। चश्मे में शील्ड और रिंग विधियाँ अधिक प्रचलित हैं। जब पौधे बीज से तैयार किये जाते हैं तो उन्हें मार्च से मई तक बो देना चाहिये। लगभग १५ दिनों पश्चात् बीज अंकुरित हो जाते हैं। जब अंकुर ४-६ इंच के हो जायँ तो उन्हें छोटे गमलों में स्थानान्तरित कर देना चाहिए। इन गमलों में पौधे लगभग १ वर्ष तक रक्खे जाते हैं। तत्पश्चात् उन्हें उद्यान में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। कलमें दिसम्बर-जनवरी में स्थानान्तरित की जाती हैं, किन्तु इन्हें वर्षा ऋतु में रोपना उत्तम होता है।

शहतूत की दो जातियाँ प्रचलित हैं। एक सफेद फल वाली, जिसका आकार १ इंच से १½ इंच लम्बा या गोला होता है। दूसरी जाति काले फल वाली होती है।

शहतूत के उद्यान में छँटाई की क्रिया अधिक महत्व रखती है। इन्हें फूल-फल निकलने से पूर्व पूरी तरह से छाँट देते हैं। छाँटने पर इनका बढ़ाव तेजी से होता है और फल बड़े आकार के उत्पन्न होते हैं। सिंचाई की क्रिया फूल आने के प्रारम्भ से लेकर फलों की तोड़ाई के समय तक की जाती है।

खाद का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता, किन्तु प्रतिवर्ष गोबर की सड़ी खाद कुछ मात्रा में छोड़ने से फल अच्छे उतरते हैं। शहतूत के वृक्ष से फल अप्रैल और मई के महीने में प्राप्त किये जाते हैं। इनके फल ताजे खाये जाते हैं। इनका रस भी तैयार किया जाता है।

करौंदा (Karonda)

करौंदे के वृक्ष का अधिकतर प्रयोग उद्यान के चारों ओर प्रतिरोध (हेज-Hedge) रूप में किया जाता है। यह झाड़ीदार पौधा है जो लगभग ८ से १२ फीट की ऊँचाई तक बढ़ता है। इसे एपोसाइनेसी (Apocynaceae कुल में सम्मिलित किया जाता है। इसका नाम वैज्ञानिक भाषा में कैरिसा करन्दास (Carissa-Carandas) है।

करौंदे के पौधे बीज द्वारा तैयार किये जाते हैं किन्तु बीज बहुत मन्द गति से बढ़ते हैं। इसलिए इसके स्थान पर कटिंग और इनार्चिंग का प्रयोग किया जाता है। मलाया में इटियोलेशन विधि द्वारा करौंदा के पौधे तैयार किये जाते हैं। इसके लिए भूमि अथवा जलवायु का अधिक महत्व नहीं। लगभग प्रत्येक भूमि में यह उग सकता है। सिंचाई कदाचित् ही की जाती है, किन्तु छँटाई की क्रिया अधिक महत्वपूर्ण है। छँटाई किये हुये वृक्ष अधिक बढ़ाव करते हैं और अच्छे फल भी पैदा करते हैं।

करौंदे की दो जातियाँ भारतवर्ष में उगाई जाती हैं। प्रथम जाति के फल गहरे पीले और लगभग काले होते हैं। किन्तु दूसरी जाति के फल लाल और सफेद होते हैं। इसके पौधे में फल बसन्त ऋतु में आते हैं और फलों का पकाव बरसात में होता है। करौंदा के कुछ छोटे फल ग्रीष्म ऋतु में अधिक वृद्धि नहीं कर पाते, जिससे वर्षा ऋतु के अन्त में पकते हैं।

करौंदे के फल की चटनी बनती है। यह कच्चे-पक्के दोनों फलों से तैयार हो सकती है। इसकी जेली अधिक प्रसिद्ध है, जिसका स्वाद खट्टा-मीठा होता है। पौधा झाड़ीदार प्रकृति का होने के कारण केवल प्रतिरोध के लिये ही उगाया जाता है; किन्तु सावधानी रखने पर इससे फल भी अधिक मात्रा में प्राप्त किये जा सकते हैं।

करौंदे के अतिरिक्त हमारे देश में नेटाल प्लम (Natal plum) या अमातुङ्गला भी कुछ स्थानों पर उगाया जाता है, किन्तु इसका कोई व्यापारिक महत्व नहीं है। यह हमारे देश की जाति नहीं है क्योंकि इसके नाम से ही प्रगट होता है कि यह नैटाल में, जो अफ्रीका में है, उगाया जाता है।

मकोय या तिपारी (Cape gooseberry)—मकोय का पौधा जंगली बेर से मिलता-जुलता है। इसके फल पीले रंग के सूखे पत्ते-जैसे फूल की पंखुड़ियों से ढके होते हैं। फल पीले रंग के होते हैं। इसे साधारण भूमि में उगाया जा सकता है। किन्तु उर्वर दोमट भूमि अधिक सफल सिद्ध होती है। इसके लिए ठंडे स्थान, जहाँ पाला पड़ने के अधिक अवसर हों, उचित नहीं होते। इसे प्रायः बीज द्वारा तैयार किया जाता है। स्वच्छ और स्वस्थ बीज बीयड़ में बो दिये जाते हैं और जब वे ४-५ इञ्च की ऊँचाई के हो जाते हैं तो उन्हें स्थानान्तरित कर दिया जाता है। स्थानान्तरण बरसात के पश्चात् पँक्तियों में किया जाता है। पँक्तियों से पंक्तियों की दूरी ३ फीट और पौधों से पौधों की दूरी २ फीट रक्खी जाती है। उद्यान की भूमि में खाद की अधिक मात्रा देना अच्छा पड़ता है। गोबर की सड़ी खाद इसके लिए उपयुक्त होती है। पौधों की सिंचाई आवश्यकतानुसार करनी चाहिये। छँटाई भी उपज की वृद्धि में सहायक सिद्ध होती है। मकोय के फल जाड़े में तैयार हो जाते हैं और लगभग मार्च तक मिलते हैं। इनका मुरब्बा भी स्वादिष्ट बनता है।

ब्लैकबेरी (Black berry)—यह झाड़ीदार पौधा है जो पहाड़ों और मैदानों - दोनों स्थानों पर उत्पन्न किया जाता है। इसके फूल मार्च में आना प्रारम्भ हो जाते हैं और फल मार्च से जून तक उतरते हैं। फल छोटे-छोटे, गहरे, बैंगनी या काले रङ्ग के होते हैं। ये रसभरी से मिलते-जुलते हैं। इन्हें हल्की दोमट भूमि, जिसमें पानी रोकने की अधिक शक्ति होती है, उत्पन्न किया जा सकता है। ब्लैक बेरी के लिए पानी की अधिक आवश्यकता होती है। किन्तु तीक्ष्ण धूप वाले स्थानों पर इसे सफलतापूर्वक नहीं उगाया जा सकता। ब्लैक बेरी के पौधे दाब द्वारा तैयार किये जाते हैं और बरसात में पँक्तियों में रोप दिये जाते हैं। पँक्तियाँ ४ फीट के अन्तर पर होती हैं और उनमें पौधे ३ फीट की दूरी पर लगाये जाते हैं। इसकी उपज बहुत कम मिलती है। सम्भवतः ½ से १ सेर फल प्रति पौधे प्राप्त होते हैं। ब्लैक बेरी के प्रसिद्ध रोग रस्ट, लीफ-स्पाट, मोजैक और विल्ट हैं। लीफ-स्पाट की रोक-थाम के लिए बोर्डो मिश्रण का प्रयोग किया जाता है।

अध्याय ३०

सेब (Apple)

सेब एक शीतकटिबन्धीय फल है जो ठंडे स्थानों पर उगाया जाता है। बाजारों में यह ताजे फलों के रूप में ही पाया जाता है और इसकी खपत भी इसी रूप में होती है। सेब की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया अथवा यूरोप बतलायी जाती है। इन्हीं स्थानों से यह विश्व के अन्य भागों में लाया गया। भारतवर्ष में इसकी खेती बहुत सीमित क्षेत्र में होती है। सेब उगाने वाले प्रमुख स्थान काश्मीर, पंजाब और हिमालय के पर्वतीय भाग हैं जहाँ की ऊँचाई लगभग ५००० फीट से कम है। उत्तर प्रदेश में हिमालय के निकट के भाग सेब की खेती के लिए अच्छे पड़ते हैं। कमायूँ के सरकारी बगीचों में यह अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है और वहाँ से बाहर भेजा जाता है। सहारनपुर और देहरादून भी सेब उगाने वाले स्थान हैं जहाँ इसकी देशी जातियाँ अधिक सफल हैं। कुल और काँगरा घाटी में भी सेब की अच्छी उपज होती है। दक्षिणी भारत में बंगलौर व उटकमण्ड में इस फल की खेती की जाती है किन्तु यहाँ उगने वाले सेब हिमालय के निकट के सेबों से भिन्न पाये जाते हैं।

भूमि और जलवायु—सेब के उद्यान दोमट-मटियार भूमि में अच्छी उपज देते हैं। उन स्थानों पर जहाँ इसे समतल भूमि में उगाया जाता है। भूमि की तैयारी उसी प्रकार से की जाती है जैसा कि हमने अन्य फलों के साथ देखा है। भारतवर्ष में इसे अधिकांशतः पर्वतीय भागों में उगाते हैं जहाँ की भूमि ढालवाँ है। भूमि के ढालवाँ होने से पानी तो नहीं रुकने पाता किन्तु भूमिक्षरण के अधिक अवसर होते हैं। यह अवसर कम करने के लिए कहीं-कहीं सिढ़ीदार (Feressing) कर लिये जाते हैं और वृक्षों से कुछ दूरी पर कवर क्राप (Cover crop) या घासें लगा दी जाती हैं; किन्तु घास लगाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि उद्यान के वृक्षों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। सेब के उद्यान उन स्थानों पर सफल नहीं हो पाते जहाँ पाले के अधिक अवसर होते हैं, क्योंकि पाले के प्रभाव से वृक्ष अपनी वृद्धि रोक देते हैं। अधिक पानी बरसने वाले स्थान सेब के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है। इसके लिए सर्द स्थान ही अच्छे पड़ते हैं जहाँ पाले के कम अवसर रहें। अधिक गर्म स्थान इसके लिए बिल्कुल ठीक नहीं होते।

जातियाँ—सेब की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। विश्व में इसकी सैकड़ों जातियाँ प्रचलित हैं। आर० एस० सिंह ने इन जातियों में से १० जातियाँ भारतवर्ष के लिए स्वीकृत की हैं। सेब की जातियाँ फल देने और उनके पकने के अनुसार तीन भागों में विभक्त की जाती हैं।

शीघ्र तैयार होने वाली—समरगोल्डेन, पेपिन, सनबेरी।

औसत समय पर तैयार होने वाली—पेपिन, पेपिन का राजा (King of Pepin) और ओरेंज।

देर में तैयार होने वाली—बिसमार्क, स्टरमर पेपिन, रोमब्यूटी और देशी।

पौधे तैयार करना—सेब के पौधे प्रायः बीज से नहीं तैयार किये जाते क्योंकि ऐसे पौधे उपज और फल के आधार पर बिल्कुल उपयुक्त नहीं होते। इन्हें तैयार करने की प्रचलित विधियाँ कलम या बन्द और चश्मा हैं। पैवन्द लगाने की विधि मार्च में की जाती है। किन्तु कुछ लोग इसे बसन्त ऋतु में करने की राय देते हैं। जीभी पैवन्द (Tongue Grafing) अधिक प्रचलित है। कमायूँ में यही विधि प्रायः प्रयोग की जाती है। चश्में की क्रिया सितम्बर के दिनों से जब वातावरण नम होता है, सफल होती है। कलम तथा चश्मा लगाने में रूट स्टाक के लिए साधारणतया सेब के बीजू पौधे ही प्रयोग किये जाते हैं किन्तु कुछ स्थानों पर कुछ अन्य किस्म के रूट स्टाक काम में लाये जाते हैं जिनमें नाशपाती और बीही (Quince) अधिक प्रसिद्ध हैं।

स्थानान्तरण—पौधे तैयार कर लेने के पश्चात् उन्हें उद्यानों में स्थानान्तरण कर दिया जाता है। उद्यान की भूमि स्थानान्तरण के पूर्व जोत-गोंड़ कर ठीक कर ली जाती है और उसमें एक निश्चित दूरी पर गड्ढे भी तैयार कर लिए जाते हैं। गड्ढों के आपस की दूरी सेब की जातियों, स्थान की भूमि, जलवायु तथा रूट स्टाक के अनुसार निश्चित की जाती है। लम्बे तने वाले वृक्ष अधिक दूरी पर अच्छा बढ़ाव करते हैं किन्तु बौने किस्म या छोटे तने वाले वृक्ष कम ही अन्तर पर सफलता पूर्वक उत्पन्न किये जा सकते हैं। भारतवर्ष में अधिकतर छोटे तने वाले वृक्ष ही पाये जाते हैं, अतः इनके बीच की दूरी २०-२५' से अधिक नहीं रखनी चाहिए। किन्तु यदि पौधे के रूटस्टाक होनहार और अधिक लम्बाई तक बढ़ने वाले हों तो यह दूरी बढ़ाई भी जा सकती है। अमेरिका में जहाँ बड़े तने वाले वृक्ष ही अधिकता से उत्पन्न होते हैं, पौधों की पारस्परिक दूरी ५०' तक रखी जाती है। गड्ढों की दूरी निश्चित कर लेने के पश्चात् ३ घन फीट आकार के गड्ढे खोद लिए जाते हैं और उनमें पुरानी मिट्टी के साथ गोबर की लगभग ५ टोकरी सड़ी खाद डाल

दी जाती है। पौधों के स्थानान्तरण का समय नवम्बर से फरवरी के मध्य तक माना जाता है क्योंकि इस अवधि में पौधे सुषुप्तावस्था में होते हैं।

खाद और सिंचाई—उद्यान में खाद की पहली मात्रा गड्ढों में दी जाती है। दूसरी मात्रा यदि सम्भव हो तो हरी खाद की देते हैं। इन्हें पौधे के बीच उगा लेते हैं और फिर भूमि में पलट कर सड़ा लेते हैं, किन्तु जहाँ उनका प्रयोग सम्भव नहीं है वहाँ गोबर की खाद २० पौण्ड, हड्डी की खाद ४ पौण्ड और राख ८ पौण्ड देनी चाहिए। फर्सिंगर के मैन्युवल के अनुसार गोबर की खाद १ टन, लकड़ी की राख ८०० पौण्ड और बोनमील ४०० पौण्ड प्रति एकड़ के हिसाब से देनी चाहिए। किन्तु अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि खाद की इतनी मात्रा पौधे ले सकेंगे या नहीं। कुछ प्रयोगों से विदित हुआ है कि पौधे पोटाश और नाइट्रोजन की अपेक्षा फासफोरस की अधिक आवश्यकता रखते हैं। बर्न्स ने सेब के उद्यान में घासों और पत्तियों की मल्चिंग करना स्वीकार किया है क्योंकि इससे भूमि में जीवाशों की वृद्धि तो होती ही है, नमी भी अधिक दिनों तक बनी रहती है क्योंकि सेव के वृक्ष बहुधा वर्षा पर आधारित रहते हैं। पौधे जब कम आयु के होते हैं अर्थात् उनकी आयु २ वर्ष या इससे कम की होती है तो इन्हें लगातार पानी दिया जाता है किन्तु इससे अधिक आयु वाले पौधे सींचे नहीं जाते। फूल आने के पूर्व की सिंचाई फसल पर अच्छा प्रभाव डालती है। शुष्क ऋतु या सूखा पड़ने के समय सिंचाई करनी आवश्यक हो जाती है क्योंकि ऐसा न करने से पौधों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

छँटाई—सेब के वृक्ष में छँटाई की क्रिया बड़ी सावधानी के साथ करनी चाहिए, अन्यथा थोड़ी-सी भी त्रुटि हो जाने से प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। अतः छँटाई के पूर्व सेब की जाति, पौधे की स्थिति आदि का भलीभाँति अध्ययन कर लेना चाहिए। यदि पौधे अत्यधिक घने हों और धूप की समान मात्रा निचली शाखा को उपलब्ध न हो पाती हो तो ऐसी स्थिति में छँटाई अवश्य होनी चाहिए। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि पौधों की छँटाई करते समय वे टहनियाँ न काट दी जायँ जो ऋतु में फल-कलियाँ उत्पन्न करने वाली हों क्योंकि इससे पौधे की उपज पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कुछ स्थानों पर कुछ बड़ी शाखाओं के काट देने से छँटाई की क्रिया पूरी हो जाती है और उपज भी बढ़ जाती है। पौधे की आकृति सुडौल और सुन्दर बनाने के लिए स्थानान्तरण के पश्चात् से ही छँटाई प्रारम्भ की जाती है और उस समय तक जारी रहती है जब तक कि लगभग ४ वर्ष की आयु के न हो जायँ। छटाँई की ओपेनसेन्टर (Opencentre) विधि अच्छी पड़ती है।

फलों की तोड़ाई—वृक्ष में फूल फरवरी-मार्च के महीने में लगना प्रारम्भ हो जाते हैं और लगभग अगस्त-सितम्बर से पकना प्रारम्भ कर देते है। कमायूं में फल उसी समय पकते हैं किन्तु काश्मीर में पकने का कार्य लगभग अक्टूबर से प्रारम्भ होता है और दिसम्बर तक जारी रहता है। चूँकि सेब के फल एक ही साथ पकने लगते हैं, इससे बाजारों में इनकी ढेर लग जाती है। फलतः उत्पादक अच्छी आय करने से असमर्थ हो जाता है। अच्छी आय प्राप्त करने के लिए फलों का संचय आवश्यक है। सेब के फल अन्य अधिक फलों की अपेक्षा अधिक दिनों तक संचित किये जा सकते हैं। शीत-जलवायु वाले स्थानों पर ये जाड़े भर तो खुले ही रखे जाते हैं किन्तु गर्मी के आने पर शीतागारों में रख दिये जाते हैं। ऐसा देखा गया है कि बड़े फलों की अपेक्षा छोटे फल अधिक समय तक टिक सकते हैं। शीतागारों के अतिरिक्त इन्हें अधिक खुले गोदामों या भण्डारों में भी रखा जा सकता है जिनमें ऊपर और नीचे पर्याप्त खिड़कियों तथा रोशनदानों का प्रबन्ध हो। फलों के रखने के लिए रेक प्रयुक्त होते हैं और वे इन्हीं पर सजा कर रख दिये जाते हैं। दिन में खिड़कियाँ बन्द कर दी जाती हैं किन्तु रात में उन्हें खुला छोड़ दिया जाता है। कमरे में नमी की उपयुक्त मात्रा बनाये रखने के लिए फर्श पर पानी का छिड़काव करते रहना चाहिए। रोमब्यूटो जाति के सेब अधिक टिकाऊ होते हैं। फल बाजारों में बक्से में बन्द करके भेजे जाते हैं। दूर के बाजारों में भेजने के लिए इन्हें अलसी के तेज में भिगे कागजों में लपेट दिया जाता है क्योंकि इससे इनके सड़ाव की कम आशंका होती है।

रोग और कीड़े—सेब के वृक्ष पर अनेक प्रकार के रोग और कीड़े आक्रमण करते हैं। रोगों में स्टेम ब्लैक (Stem black), स्टेम ब्राउन (Stem brown), सड़ाव आदि प्रसिद्ध हैं। स्टेम ब्लैक कोनोथीसियम कोनोटोस्पोरम (Conothecium Chonatosporum) फगंस द्वारा उत्पन्न होता है। ये फंगस छटाँई के समय कटे हुये स्थानों से शाखाओं के भीतर प्रवेश कर जाते हैं और इस प्रकार शाखाओं के तन्तुओं का रंग काला पड़ जाता है। प्रभावित शाखाएँ कुछ दिनों बाद सूख जाती हैं। यह रोग बिलोचिस्तान, कुमायूँ और उत्तर भारत के अन्य स्थानों पर फैला है। डे और सिंह का कथन है कि इस रोग की रोकथाम के के लिए रोगी शाखाएँ काट देनी चाहिए। लाइम-सल्फर का छिड़काव भी अच्छा प्रभाव दिखाता है। छटाँई के पश्चात् कटे भागों पर एक लेई लगा देनी चाहिए जो कापर कार्बोनेट, रेड लेड और अलसी के तेल से बनाई जाती है। यह लेई एक दूसरे रोग पर भी सफल सिद्ध हुई है जो छटाँई की क्रिया में छँटे स्थानों से फगंस (बोट्रियोस्फेरिया रिबिस—Botryospheria ribis) द्वारा उत्पन्न होता

है। इन रोगों के अतिरिक्त मिंक रोग और कोलर-राट (Collar-rot) रोग भी सेब के पौधों पर आक्रमण करते हैं। मिंक रोग का प्रभाव मध्य-भारत के सन्तरे पर भी देखा जाता है। कमायूँ में देर से उगायी जाने वाली जातियों में पकने के समय फल के ऊपर एक रोग पाया जाता है जो लिप्टोथीरियम पोमी (Liptothirium pomi) नामक फगंस द्वारा उत्पन्न होती है। इसे रोकने के लिए लाइम सल्फर या कोलायडल सल्फर का प्रयोग किया जाता है। इन्हें भण्डारघरों में रखने के पूर्व ५% ब्लीचिंग पाउडर से धो लेने से भी रोग का प्रभाव जाता रहता है क्योंकि फंगस भण्डार घरों में अधिक क्रियाशील हो जाता है। चोट लगे हुये या फटे फलों पर सड़ाव का रोग उत्पन्न हो जाया करता है जो पेनिसीलियम एक्सपेन्सन द्वारा पैदा होता है। अतः संचय करते समय ऐसे फल छाँटकर निकाल देने चाहिए।

सेब पर लगने वाले कीड़ों में काडलिग माथ (Laspereysia pomonella) अधिक भयंकर कीड़ा है। यह सर्वप्रथम बिलोचिस्तान में पाया गया। इसके अतिरिक्त यह अफगानिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश और क्वेटा में भी पाया जाता है। इसे रोकने के लिए लेड आर्सिनेट का छिड़काव अच्छा सिद्ध हुआ है। कुछ स्थानों पर सड़ा हुआ शीरा भी प्रयोग किया जाता है। उत्तर प्रदेश, पंजाब, काश्मीर तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश में सेन जोस स्केल (Aspidistus perniciosus) कीड़ा पाया जाता है। इन्हें मारने के लिए एक प्रकार का छिड़काव प्रयोग किया जाता है जिसमें डीजेल आयल, मछली का तेल और रोजिन रहते हैं। डब्ल्यू० हेज अनुसार इस कीड़े को मारने के लिए यह छिड़काव १६३२ ई० से काश्मीर में आवश्यक कर दिया गया है और वहाँ प्रत्येक वर्ष लगभग ७५०,००० पौधे इससे छिड़के जाते हैं। एपिल रूट बोरर नामक एक अन्य कीड़ा कमायूँ में पाया जाता है। इसका प्रभाव नैनीताल और अल्मोड़ा जिलों में देखा जाता है। ये जड़ों पर प्रभाव डालते हैं और एक जड़ से दूसरी तक घूमते रहते हैं। इन्हें रोकने का कोई उपाय अभी तक ज्ञात नहीं है। ऊली अफिस (Wooly aphis—Eriosoma lanigerum) एक अन्य कीड़ा है जो पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी भागों में पाया जाता है। इन्हें दूर करने के लिए अच्छे रूट स्टाक प्रयोग किये जाने चाहिए जिन पर कीड़ों का कोई प्रभाव न पड़ सके। रोजिन सोप तथा सल्फ सोप-निकोटिन सल्फेट का छिड़काव इनकी रोकथाम के लिए अच्छा सिद्ध हुआ है।

आड़ (Peach)

आड़ का पौधा अमेरिका, जापान, ईरान, आस्ट्रेलिया और भारतवर्ष में उगाया जाता है। भारतवर्ष में इसे मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश के कुछ भागों और

दक्षिण भारत में उगाया जाता है। इसका वैज्ञानिक नाम प्रूनस परसिका (Prunuspersica) है। इसे पर्वतीय प्रदेशों में सफलतापूर्वक उत्पन्न कर सकते हैं। मैदानों में भी इन्हें कुछ भागों में उगाया जाता है। आड़ू की कई प्रसिद्ध जातियाँ हैं। इनमें चायना फ्लेट, निकिल्स लार्ज एन्डसन्सन अधिक महत्वपूर्ण हैं। देशी में सहारनपुर, लार्ज आगरा, पेशावरी, हरदोई, बम्बई, बंगलोर आदि हैं जो मैदान और पर्वतीय भागों में अच्छी उपज दे सकती हैं। इनमें पेशावरी क्वेटा जातियाँ महत्वपूर्ण हैं जो दोनों स्थानों पर अच्छे फल पैदा करती हैं। विदेशी जातियों में अलेक्जेन्डर शीघ्र फल देने वाली और प्रिन्स आव वेल्स देर में फल देने वाली जाति हैं।

आड़ू के लिए गहरी बलुआर दोमट भूमि उत्तम पड़ती है। भूमि में जल-निकास का उपयुक्त प्रबन्ध आवश्यक होता है। इसे कलम द्वारा तैयार किया जाता है। इनमें चश्में की भी क्रिया सफल सिद्ध हुई है। इस क्रिया में रिंग बडिंग अप्रैल और मई के महीने में की जाती है। तैयार पौधे लगभग १८ फीट की दूरी पर उद्यान में स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। इनका स्थानान्तरण दिसम्बर, जनवरी या वर्षा ऋतु में किया जाना चाहिए। पौधे समय-समय पर छाँटते रहने चाहिए ताकि पौधे के सभी भाग आवश्यक धूप प्राप्त कर सकें। छँटाई गत वर्ष की शाखाओं की ही की जाती है। इसके लिये उपयुक्त समय पतझड़ का महीना होता है। पौधे जब छोटे होते हैं तो उनकी ट्रेनिंग भी की जाती है। फूल लगभग फरवरी-मार्च में लगने प्रारम्भ हो जाते हैं। इस समय सिंचाई और खाद का प्रयोग उपज की वृद्धि में सहायक होता है। पर्वतों पर जनवरी के महीने में पौधों की जड़ें कुछ काल के लिए खोल दी जाती हैं जिससे फल अधिक उतरते हैं।

फलों की तोड़ाई जुलाई-अगस्त में उनके पकने पर प्रारम्भ होती है। लगभग दो या तीन वर्ष की आयु वाले पौधे फल देना प्रारम्भ करते हैं और १५ वर्ष से २७ वर्ष तक जीवित रहते हैं। आड़ू के वृक्ष अनेक प्रकार के रोग और कीड़ों से से प्रभावित होते हैं। रोगों में पाउडरी मिल्डयू, लीफ कर्लरस्ट, ब्राउनराट, स्केब, पीचएलो आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें लीफकर्ल अधिक प्रसिद्ध है जो टैफ्रीना डेफारमेन (Taphrina deformans) फँफूदी द्वारा उत्पन्न होता है। इसे रोकने के लिए बोर्डो मिश्रण, अथवा बरगंडी प्रयोग करते हैं। कीड़ों में आड़ू का माहू अधिक प्रसिद्ध है।

स्ट्राबेरी (Strawberry)

यह फल उत्तरी भारत के पर्वतीय प्रदेशों में अधिकता से उगाया जाता है। उत्तर-प्रदेश के मेरठ, सहारनपुर और मुजफ्फर नगर जिले तथा पंजाब में गुरदासपुर और जलन्धर जिले स्ट्राबेरी के लिए प्रसिद्ध हैं। दक्षिण भारत में इसे महाबलेश्वर के

निकट उत्पन्न किया जाता है। इसके लिए जल-निकासयुक्त उर्वर भूमि की आवश्यकता होती है। जलवायु गरम नहीं चाहिये जिसके कारण इसे ऊँचे स्थानों पर ही उत्पन्न किया जाता है। इसके पौधे रनर (Runner) द्वारा तैयार किये जाते हैं। ये पौधे बरसात में स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। किन्तु पहाड़ी स्थानों पर इसके लिए यह ऋतु उपयुक्त नहीं होती अपितु इसे मार्च-अप्रैल में भली प्रकार स्थानान्तरित किया जाता है। पंजाब में पौधों की रोपाई जनवरी-फरवरी में उपयुक्त पड़ती है। पौधों की आपस की दूरी लगभग १ फुट और पंक्तियाँ २ से ३ फीट के अन्तर पर बनाई जाती हैं।

स्ट्राबेरी के पौधे प्रथम वर्ष ही बसन्त ऋतु में फूल देना प्रारम्भ कर देते हैं। फूल आते समय प्रति तीसरे-चौथे दिन सिंचाई करना अच्छा होता है। उद्यान में जुताई, गुड़ाई करते रहना अच्छी उपज देने में सहायक होता है। क्योंकि इससे अधिक नर नहीं निकल पाते। स्ट्राबेरी की उपज हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा कम मिलती है। फल जब तक पूर्ण रूप से पक न जायँ उनकी तोड़ाई नहीं होती। इसके फल पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं। फलों की तोड़ाई पकने पर शीघ्र करनी चाहिए क्योंकि पक्षी इन पर अधिक धावा बोलते हैं और चूँकि फल बिना वाह्य छिलके के होते हैं इसलिए ये शीघ्र प्रभावित भी हो जाते हैं।

तोड़ने के पश्चात् फल छिछली और छोटी टोकरियों में रक्खे जाते हैं और बाजारों में भेज दिये जाते हैं। ताजे खाने के अतिरिक्त इनके फलों से जैम भी बनाया जाता है।

तेंदू (Persimmon)

तेंदू फल का जन्म स्थान जापान और चीन स्वीकार किया जाता है। यह भारतवर्ष में बहुत कम क्षेत्र में उगाया जाता है। इसे पंजाब और बंगाल में अपेक्षाकृत अधिक उत्पन्न किया जाता है। तेंदू का फल डायोस-पायरस (Diospyros) जीनस का सदस्य है, जो वेनेसी (F. Benaceae) कुल में सम्मिलित किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम डायोसपाइरस काकी है। इसका फल छोटे सेब के आकार का होता है। इसका स्वाद मीठा पाया जाता है। इसे लगभग प्रत्येक प्रकार की उर्वर भूमि में उत्पन्न किया जा सकता है; किन्तु भूमि में जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध आवश्यक होता है। भूमि का अधिक उर्वर होना भी ठीक नहीं है। नाइट्रोजन की अधिक मात्रा वाली भूमि उत्तम मानी जाती है क्योंकि इसे नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि इसे कम गहराई वाली भूमि अधिक गहरी भूमि से अच्छी पड़ती है। तेंदू के लिए

जलवायु सामान्य होनी चाहिए। चीन में यह ०° फा० का तापक्रम सहन कर लेता है। इसे पर्वतीय प्रदेशों, जहाँ जलवायु सम पायी जाती है, उगाया जा सकता है। पंजाब में जमालपुर के निकट जहाँ अधिकतम तापक्रम १००° फा० के लगभग होता है। इसकी अच्छी उपज प्राप्त की जाती है। इसका पौधा डायोसियस टाइप, अर्थात् नर फूल वृक्ष पर और मादा दूसरे पर, का होता है। इसके फल बसन्त ऋतु में निकलना प्रारम्भ होते हैं। इस समय फूल पैदा करने से यह सर्दी अधिक बरदाश्त कर सकता है।

तेंदू की अनेक जातियाँ प्रचलित हैं। किन्तु भारत के लिए टेनीनिसी जाति उपयुक्त मानी गई है। इसे उत्पन्न करने के लिए वानस्पतिक उत्पादन का प्रयास किया जाता है। तेंदू कलम अथवा चश्में द्वारा तैयार किया जाता है। इसे बीज द्वारा भी सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जा सकता है। पौधों की आपस की दूरी २० से ३० फीट रक्खी जाती है। इनका स्थानान्तरण वर्षा ऋतु में करना उचित होता है। अच्छी उपज लेने के लिएखाद का प्रयोग कर देना चाहिए। इसे सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं होती किन्तु आवश्यकतानुसार पौधों को पानी दे देना उपयुक्त होता है। फलों के पकते समय पानी कम देना चाहिए। तेंदू के पौधे में छँटाई की क्रिया अधिक लाभकर होती है। जापान और चीन में फलों की छँटाई (Training) भी की जाती है किन्तु यह उस समय की जाती है जब कि वृक्ष में फल अत्यधिक उतर आते हैं। फल अगस्त-अक्टूबर में तैयार मिलते हैं।

तेंदू के वृक्ष स्थानान्तरण के लगभग ४-५ वर्ष पश्चात् फूल-फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह डायोसियस पौधा है, अतः उपयुक्त सेंचन के लिए उद्यान में नर और मादा दोनों फलों का होना आवश्यक होता है। कुछ पौधे मानोसियस औरकुछ पूर्ण होते है। अतः उद्यान में स्थानान्तरण करते समयइ स बात का ध्यान रखना चाहिये कि सेंचन क्रिया उचित रूप से सम्पन्न करने के लिए वृक्षों का मेल उचित है।

तेंदू के फल में चीनी की मात्रा १४ से १८% पायी जाती है, जिससे यह अधिक मीठा होता है। इसे ताजे रूप में खाया जाता है। इसका मुरब्बा भी बनता है।

पनियाला (Paniala)

इसका जन्म-स्थान भारतवर्ष बतलाया जाता है। इसकी अनेक किस्में हैं जो विभिन्न स्थानों पर उगाई जाती हैं; किन्तु भारतवर्ष में जो किस्म उगाई जाती है उसे फ्लेकोर्शिया केटाफ्रैक्टा (Flacourtia Cataphracta) के नाम से सम्बोधित

किया जाता है और इसे फ्लेकोरांटियेसी (Flacourtiaceae) कुल में सम्मिलित किया जाता है। इसे भारतवर्ष में आसाम, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के तराई के जिलों में, जहाँ की जलवायु गर्मतर है, उत्पन्न किया जाता है। इसके वृक्ष २० से ३० फीट की ऊँचाई के होते हैं और फल चेरी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

पनियाला के पौधे लगभग प्रत्येक भूमि में उत्पन्न किये जाते हैं। उनके पौधे तैयार करने के लिए प्रायः बीज ही काम में लाये जाते हैं। स्वस्थ बीज गमलों में लगा दिया जाते हैं और एक माह में जब इनका अंकुरण हो जाता है तो स्थान बदल देते हैं। इसके पौधे दाब, चश्में तथा कलम द्वारा भी तैयार किये जा सकते हैं और इनका प्रयोग भी सफल सिद्ध हुआ है। पौधों का स्थानान्तरण बरसात अथवा फरवरी में करना चाहिये। उद्यान में इनकी दूरी लगभग १५ फीट रक्खी जाती है। अच्छी उपज लेने के लिए आवश्यकतानुसार सिचाई तथा खाद का प्रबन्ध करना चाहिये। पनियाला में छँटाई की क्रिया उस समय की जाती है, जब कि पौधे अधिक घने होते हैं।

पौधों में फूल फरवरी-मार्च से आना प्रारम्भ हो जाते हैं और फल सितम्बर-अक्टूबर में तैयार होते हैं। इनके फल आकार में ½ से १ इंच व्यास के होते हैं और रंग लाल या पीला-काला होता है। ये अच्छा किस्म के होने पर मीठे होते हैं और कच्चे ही खाये जाते हैं। पके फलों की जेली और जैम तैयार किया जाता है।

नाशपाती (Pear)

नाशपाती का फल भारतवर्ष में काश्मीर, पंजाब, दार्जिलिंग, आसाम, काँगड़ा-घाटी, कुलु-सहारनपुर, शिमला तथा हिमालय की नीची पहाड़ियों में बहुतायत से उगाया जाता है। इसके लिए मैदानों में गहरी जल-निकासयुक्त उर्वर दोमट बलुआर भूमि उत्तम पड़ती है। अंग्रेजी जाति के नाशपाती केवल पहाड़ी प्रदेशों में ही उगाये जा सकते हैं। इनके पौधे कलम द्वारा तैयार किये जाते हैं। कलमें नवम्बर दिसम्बर में लगाई जाती हैं। कलम की रिंग-ट्यूबलर विधि अधिक प्रचलित है। जब पौधे स्थानान्तरण योग्य हो जाते हैं तो इन्हें ३×३×३ फीट आकार वाले गड्ढों में लगा दिया जाता है। स्थानान्तरण के पूर्व गड्ढों में गोबर की पुरानी खाद का प्रयोग कर देना अच्छा होता है। वृक्षों के आपस की दूरी अंगूर के वृक्षों की अपेक्षा कम रक्खी जाती है, क्योंकि इनके तने सीधे होते हैं और स्थान कम घेरते हैं। वृक्षों की समय-समय पर छँटाई करते रहना चाहिये। सुषुप्तावस्था के पश्चात् १०-१२ दिन के लिए वृक्षों की जड़ें खोल देने तथा जड़ों की मामूली छँटाई कर

देने से फल अधिक उतरते हैं। जब वृक्ष अधिक विकसित हों और उनमें फल कम आते हों तो भी जड़ों की छँटाई कर देना लाभकर सिद्ध होता है। सिंचाई की क्रिया कपने के समय अधिक प्रसिद्ध है। नाशपाती के फल पकने पर अधिक गर्मी नहीं सहन कर पाते। इन्हें संचित रखने के लिये शीतागार अच्छा पड़ता है। ये ३२° फा० पर ४-५ महीनों तक सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं।

नाशपाती की कई जातियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें फ्रान्स में उगाई जाने वाली विलियम अथवा बार्टलेट जाति अधिक स्वादिष्ट और रसदार होती है। काश्मीर की प्रसिद्ध जाति काश्मीरी नाख गरम स्थानों के लिए उपयुक्त होती है। बाबू गोशा काश्मीर की दूसरी प्रसिद्ध जाति है। मैदानों में देशी और विदेशी जातियों में चाइना स्मिथ, लाकोट या नार्वे उगाई जाती हैं।नाशपाती की एवोकेडो जाति उपज के लिए अधिक प्रसिद्ध है। नाशपाती के फल में विटामिन A, B और C उपस्थित होता है। ताजा खाने के अतिरिक्त इसका अँचार और मुरब्बा भी तैयार किया जाता है।

अलूचा (Plum)

अलूचा के फल गोल आलू की भाँति होते हैं। इसे मैदानों में लगभग प्रत्येक स्थानों पर उगाया जाता है। किन्तु भारतवर्ष में इसका महत्व बहुत कम है। केवल पर्वतीय प्रदेशों में ही यह थोड़े-से क्षेत्र में उगाया जाता है। गरम जलवायु सहन न करने के कारण इसे भारतवर्ष के मैदानी भागों में नहीं उगाया जा सका है। पर्वतीय प्रदेश में इसे लगभग १६ से १८ फीट की दूरी पर लगाया जाता है। इसे सिंचाई की अधिक आवश्यकता पड़ती है। छँटाई भी कुछ मात्रा में की जाती है। इसके फल पकने के पश्चात् टिक नहीं पाते, अतः इन्हें बाजारों में शीघ्र पहुँचाना चाहिये। इसकी प्रसिद्ध जातियाँ देशी, जापानी और बिलायती हैं। देशी में काल और बैगनी, पीला-लाल और चित्तीदार जातियाँ सम्मिलित की जाती हैं। जापानी जाति में कैल्से जामान अधिक उत्तम मानी जाती है। आलुबुखारा अलूचा से मिलता हुआ एक दूसरा फल है।

बीही (Quince)

बीही का फल उत्तरी फारस और एनेटोनिया का मौलिक फल है। भारतवर्ष में इसे बहुत कम क्षेत्र में उगाया जाता है। यहाँ केवल काश्मीर में ही यह अधिक क्षेत्र में उगाया जाता है। इसके वृक्ष लगभग ८ वर्ष की आयु में फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। पहाड़ी प्रदेशों की जलवायु इसके लिए अच्छी पड़ती है। अतः अफगानिस्तान और सीमा प्रदेश में यह बहुतायत से उत्पन्न होता है। इससे फल

उत्पन्न करने के अतिरिक्त सेव और नाशपाती की कलम भी तैयार की जाती है। क्योंकि इसकी कलम बहुत जल्दी लगती है और सेव और नाशपाती के पौधों को छोटा करने में भी सफल सिद्ध होती हैं। बीही के पौधे रेतीली दोमट भूमि में जिसमें जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध हो उगाये जाते हैं। इनकी कलमें मैदानों में दिसम्बर जनवरी और पहाड़ों पर फरवरी अप्रैल में लगाई जाती है। इन्हें बीज द्वारा भी तैयार जाता है। स्वच्छ बीज बक्सों में लगा दिए जाते हैं, जो एक निश्चित ऊँचाई तक बढ़ जाने पर उद्यानों में स्थानन्तरित कर दिये जाते हैं। इनका स्थानान्तरण १५ फीट की दूरी पर किया जाता है। इसे सिंचाई की अधिक आवश्यकता होती है। ग्रीष्म-ऋतु, में १५ दिनों में लगभग ३ सिंचाई की जाती है। फल आने पर इसकी संख्या ४ तक बढ़ा दी जाती है। वृक्षों की आवश्यकतानुसार छँटाई की जानी चाहिए। इनके फल मीठे और रसदार होते हैं। ये खाने और मुरब्बा बनाने में प्रयोग किये जाते हैं।

बादाम (Almond)

बादाम उत्तरी अफ्रीका, मिश्र, एशियामाइनर, अफगानिस्तान तथा भारत में उत्पन्न किया जाता है। काश्मीर में इसकी गणना वहाँ की मुख्य फसलों में की जाती है। कागजी बादाम कुछ मात्रा में पंजाब में भी उत्पन्न किया जाता है। देशी या कठिया बादाम भारतवर्ष में मलाया से लाया गया। यह जाति उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानों, बंगाल. बिहार में उत्पन्न की जाती है। बादाम का फल बहुत स्वास्थ्यकर होता है। इसमें विटामिन A B C उपस्थित होते हैं। फल खाने के अतिरिक्त इसे पलुआ बनाने, मिठाइयाँ बनाने और ठंडई बनाने में प्रयोग करते हैं।

बादाम बीज और चश्मे तथा कलम से तैयार किया जाता है। बीज- दिसम्बर-जनवरी अथवा जुलाई सितम्बर तक बो दिये जाते हैं। चश्मे की क्रिया अधिक प्रचलित है। इसे तैयार करने के लिए आलूचा या आलूबोखारा के रूट-स्टाक पर चश्मा बाँधा जाता है। स्थानान्तरण गड्ढों में जुलाई-सितम्बर के महीनों में किया जाता है। बादाम की दो जातियाँ प्रचलित हैं। प्रथम मीठी, जिसमें कागजी और मोटे छिल्के वाली जातियाँ सम्मिलित होती हैं। दूसरी जाति कड़वी है जिसे प्रायः तेल निकालने के काम में लाया जाता है।
